माध्यम

वर्ष २ : अंक ९
जनवरी १९६६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

जनवरी १९६६
वर्ष २ : अंक ९
पूर्णांक : २१

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैंकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

कविता

कहानी

सहवर्ती साहित्य

माध्यम

अंक २२ में :

प्रतिपत्तिका

समीक्षा

●●

सूचना

कई व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण 'माध्यम' का 'केरल विशेषांक' फ़रवरी '६६ में न निकल कर मई '६६ में प्रकाशित होगा।

●●

बालकृष्ण राव

खुल गये निर्गम के द्वार

आज सत्रांत हुआ
वर्षों की एकनिष्ठ साधना की
सारी उपलब्धियाँ
गुरु को समर्पित कर
शिष्य कृतकार्य हुए।
खुल गये निर्गम के द्वार,
लंबी साँस छोड़ी अजगर ने:
एक और पीढ़ी नये स्नातकों की
निकली,
और पिछले पदचिह्नों को रौंदती चली गयी।

यों ही साँस छोड़ता है अजगर
हर सत्रांत पर,
यही द्वार खुलते हैं;
सारी अर्जना का भार गुरु को समर्पित कर,
हल्की हो,
इसी देहली को लाँघ,
इन्हीं पदचिह्नों को रौंदती,
स्नातकों की एक नयी टोली हर बार चली जाती है।

घटता नहीं है ज्ञान, दान कर देने से
प्रत्युत बढ़ जाता है:
हर सत्रांत पर
विदा कर उत्तीर्ण शिष्यों को
गुरु कुछ और ज्ञानवृद्ध नजर आते हैं।
आयु बढ़ती है गुरु की ही यहाँ,
शिष्यता अजर है।

अभी-अभी
अजगर फिर खींचेगा साँस,
कुलपति का आँगन
फिर भर जायगा।

सेठ गोविन्ददास

मैं कौन हूँ

(आचार्य रजनीश जी से हुई एक चर्चा के आधार पर)

महर्षि रमण से किसी ने पूछा, "मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हूँ, क्या आप करा सकेंगे?" श्री रमण ने कहा, "ईश्वर के दर्शन नहीं, लेकिन तुम्हें ईश्वर बना सकता हूँ।" वस्तुतः हम जिसे देख सकते हैं, वह हमारा स्वरूप नहीं हो सकता और यदि परमात्मा हमारा स्वरूप है, तो उसका दर्शन असंभव है। परमात्मा के नाम से जो दर्शन हमें होते हैं, वे हमारी ही कोई कल्पनाएँ होंगी। आत्म-दर्शन असंभावना है। यह शब्द ही असंगत है।

धर्म के साहित्य में बहुत स्थानों पर कहा गया है—'स्वयं को जानो।' वैसे जो भी जाना जा सकता है, वह 'परे' होगा। 'स्व' तो वह है, जो जानता है। 'स्व' अनिवार्य रूप से ज्ञाता है। उसे किसी भी उपाय से ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता। जहाँ भी ज्ञान की घटना संभव होती है, वहाँ कुछ जाना जाता है और कोई जानता है। जो जानता है, उसे ही जानने की चेष्टा आँखों को उसी आँख से देखने के समान है। खेल में कुत्ते अपनी पूँछ पकड़ने की चेष्टा करते हैं। वे जितनी तीव्रता से झपटते हैं, पूँछ उतनी ही शीघ्रता से हट जाती है। यह हो भी सकता है कि कुत्ता अपनी पूँछ पकड़ ले किंतु स्वयं को ज्ञेय बनाना संभव नहीं है।

फिर आत्म-ज्ञान का क्या अर्थ होगा? क्या आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता? क्या आत्म-ज्ञान की सारी बातें व्यर्थ हैं? नहीं, आत्म-ज्ञान हो सकता है, लेकिन ज्ञान का सामान्यतः ज्ञेय से जो संबंध है और जो अर्थ है उससे बहुत ही भिन्न और विपरीत अर्थों में। जगत की सारी वस्तुएँ ज्ञेय की भाँति जानी जाती हैं। स्वयं को तो ज्ञेय की भाँति जानने का प्रश्न ही नहीं। उसे जानने की विधि तो यह है कि चित्त के समक्ष यदि कोई ज्ञेय न रह जाय तो उस निर्विषय चैतन्य में जो अनुभूति होती है, वही आत्म-ज्ञान है। यद्यपि उसे आत्म-ज्ञान कहना ज़रा भी उचित नहीं, क्योंकि वहाँ न कोई ज्ञाता है और न कोई ज्ञेय है। वहाँ कोई भी द्वैत नहीं है। ज्ञान तो दो के बीच का संबंध है। वहाँ न दो है, न कोई संबंध। इसलिए उसे, अच्छा हो कि 'जानना' न कह कर 'होना' कहा जाय। वह ज्ञान न हो कर अनुभूति है। चूँकि मनुष्य की सारी भाषा द्वैत पर खड़ी है, और अद्वैत अनुभूति से प्रकट करने के लिए उसके पास कोई संकेत नहीं है, इसलिए कहा गया है कि सत्य के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। लावोत्से का वचन है: 'जो भी कहा जायगा वह असत्य होगा।' फिर कहे बिना कोई उपाय नहीं और जिन्होंने सत्य को अनिवर्चनीय कहा है, वे जीवन

भर सत्य के ही विषय में बोलते रहे हैं। इस असंगति के पीछे बड़े गहरे कारण हैं। ज्ञान कहा नहीं जा सकता, इसे वे जानते हैं और प्रेम बिना कहे रहने नहीं देता। जो उन्होंने जाना है, जो उन्होंने पाया है, गूँगे के इशारे ही सही, किसी भी भाँति जीवन के अंधकारपथ पर लड़खड़ाते सद्यात्रियों को अपनी अनुभूति जता देना चाहते हैं। उनके शब्दों को जो पकड़ लें, वे नासमझ हैं। शब्दों को फेंक दें, इशारे को पकड़ लें। शब्दों को पकड़ने से संप्रदाय बन जाते हैं और इशारों को पकड़ने से साधना का जन्म होता है। कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, कन्फ़्यूशियस या लावोत्से के शब्द तो भिन्न हैं किंतु इशारा एक है।

आत्मज्ञान की खोज में जो व्यक्ति आत्मा को एक ज्ञेय पदार्थ की भाँति खोजने निकलते हैं, वे भूल में पड़ जाते हैं। जैसे आत्मा को ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता, वैसे ही उसे किसी आकांक्षा का लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि जिसे पाना है, वह पाने वाला ही है। खोज और खोजी भिन्न नहीं हैं। और आत्मा को केवल वे ही जान पाते हैं जो सब जानने से शून्य हो जाते हैं। जब जानने को कुछ भी शेष नहीं रहता तो चेतना स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाती है और जब पाने की कोई भी दौड़ नहीं रह जाती, तब हम उस स्थान को जान जाते हैं, जहाँ हम सदा से खड़े हैं। बुद्ध को जब समाधि उपलब्ध हुई और किसी ने उनसे पूछा कि उन्हें समाधि से क्या मिला तो उन्होंने कहा, "मिला कुछ भी नहीं, और खोया बहुत कुछ। वासना खोयी, विचार खोये, सब भाँति की दौड़ खोयी और पाया वही जो सदा से पाया हुआ है और जिसे कभी भी खोया नहीं था।" जो सदा से पाया हुआ है, जिसे कभी खोया भी नहीं जा सकता, उसका ही नाम 'स्वरूप' है। इस 'स्वरूप' को जानना है तो उसका उपाय यही है कि जो कभी खोया हो, या कि जिसे खोया जा सकता हो, उन सबसे स्वयं ही छोड़ दिया जाय। फिर जो शेष रह जाता है, वही 'स्वरूप' है। वेदांत के नेति-नेति के महावचन का यही अर्थ है, वह स्वरूप को पाने की विधि है। जो-जो प्रज्ञा में विषय बनता है, जानता है कि 'यह भी मैं नहीं, 'यह भी मैं नहीं'। इस भाँति जब कोई भी विषय कहने को न रह जाय कि 'यह भी मैं नहीं', तब उस निर्विषय और निर्विकल्प बोध में जो मैं हूँ, उसका उद्घाटन अथवा अनुभूति होती है और यह मान लिया जाता है कि मैं कौन हूँ।

—अध्यक्ष, प्रथम शासन निकाय,
हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

कुमार विमल

'बीट जेनरेशन'

कुछ लोगों का कहना है कि 'बीट जेनरेशन' अमरीकी तरुणों की अश्लील वृत्ति,[1] नैतिक या मानसिक अशक्तता और भ्रांत जीवन-दृष्टि का एक साहित्यिक प्रतिफलन है। इन अमरीकी तरुणों को कई आलोचकों ने 'अविकसित आत्मा का मनुष्य' कहा है, क्योंकि इन्हें ऐसे काम बहुत रुचिकर हैं—मोटर-गाड़ियों को ख़ूब तेज़ी से हाँकना, कामुक व्यापारों में लीन रहना, 'मारिजुआना'[2] या 'पेयोट'[3] जैसे नशीले पदार्थों का सेवन करना।[4] 'बीट जेनरेशन' के कवियों को जिस प्रकार 'मारिजुआना' या 'पेयोट' जैसे नशीले पदार्थ का सेवन प्रिय है; उसी प्रकार फ़्रेंच कवियों के बीच बॉद्लेयर को अफ़ीम और 'हशिश' के सेवन की लत थी। इन नशीले पदार्थों की कृत्रिम उत्तेजना के द्वारा बॉद्लेयर को जीवन के दैनंदिन यथार्थों से पलायन करने में सुविधा होती थी और उसे कई प्रकार के मानसिक इंद्रजालों से गुज़रने का रोमानी अनुभव होता था, जिसका काव्यात्मक अंकन उसने 'दु में एत दु हशिश' और 'ले पारादिस आर्तिफ़िसिये' शीर्षक रचनाओं में किया है। किंतु, 'बीटों' और बॉद्लेयर या गोतिये जैसे कवियों के मादक द्रव्य-सेवन में यह अंतर है कि ये लोग ध्वनि और रंग या गंध और वर्ण इत्यादि से संबद्ध ऐंद्रिय बोधों के विपर्यय के लिए, अर्थात 'साइनेस्थेसिया' के लिए नशे का सहारा लेते थे। इसका प्रयोग बॉद्लेयर ने 'पोएम दु हशिश' और रिंबॉ ने 'ले इल्युमिनेशंस' शीर्षक रचनाओं में किया था। किंतु, 'बीट जेनरेशन' के लिए 'मारिजुआना' या 'पेयोट' जैसे मादक द्रव्य-सेवन का उद्देश्य काव्यात्मक प्रेरणा अथवा मानसिक

---

१. उदाहरण के लिए एलेन गिंसबर्ग की 'द लॉयन फ़ॉर रियल' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं।

२. इसे 'मारिहुआना' भी कहते हैं। यह प्रमीली—(अफ़ीम के सार से निर्मित एक उपशामक औषधि) या कोकेन से भिन्न पदार्थ है। यह मलबेरी परिवार के 'कनाबिस सटिवा' या 'हेंप' नामक पौधे के सूखे फूल से बनाया जाता है और नशीले धूम्रपान के उपयोग में आता है।

३. यह 'मारिजुआना' से भी अधिक नशीला होता है। यह मेक्सिको देश का एक प्रकार का मादक द्रव्य है, जो नागफनी की फुनगियों से बनाया जाता है: इन दोनों नशीले पदार्थों के सेवन से 'बीट जेनरेशन' के कवि चेतन और अचेतन की विभाजक दीवार को तोड़ते रहते हैं; साथ ही अबुद्धिवाद एवं सहजानुभति की दशा में रहना चाहते हैं।

४. 'आइ स्मोक मारिजुआना एव्री चांस आइ गेट'।—एलेन गिंसबर्ग।

इंद्रजाल की प्राप्ति नहीं है। उसका एकमात्र उद्देश्य सामाजिक अधीक्षणों से आक्रांत मस्तिष्क और स्मृति के कठोर नियंत्रण से भावुक मुक्ति की प्राप्ति है—पलायन या छुटकारा है। मतलब यह कि इस 'बीट[1] जेनरेशन' के सदस्य मूलतः 'बुर्जुवा रिबेल्स' हैं, जिन्हें 'न्यू बोहेमियंस' भी कहा जा सकता है। इन्हें समय-समय पर कई नामों से पुकारा गया है। जैसे—'साइलेंट जेनरेशन', 'वेटिंग जेनरेशन', 'गो जेनरेशन' इत्यादि। कुछ लोगों का आक्षेप है कि 'बीट जेनरेशन' के सदस्य अपने व्यक्तित्व की तलछट पर जीते हैं और एक तरह से अस्तित्ववादी हैं। यद्यपि इनका अस्तित्ववाद सार्त्र से भिन्न और 'कीर्कगार्द' के निकट है। दूसरी ओर 'बीट जेनरेशन' के एक-दो विचक्षण सदस्यों का कहना है कि उनकी पीढ़ी तो निर्मम रूप में एक धार्मिक पीढ़ी है, क्योंकि 'बीट जेनरेशन' के कवि ऐसी पंक्ति भी लिखते हैं—'आइ हैव मिस्टिकल विज़ंस एंड कॉस्मिक वाइब्रेशंस'। किंतु 'बीट जेनरेशन' के पास, सही मानी में, आध्यात्मिक मूल्यों और अभौतिक सत्यों के अन्वेषण की कोई भूख नहीं है। वे परंपरा का खुल कर विरोध करते हैं और आत्मसुख को ही आचरण का प्रमाण मानते हैं। वैसे इनका रुचि-विस्तार कम प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि इनका 'बॉप',[2] 'गोटा गो', 'रॉक एंड रॉल', 'हिप्स्टेरिज़्म',[3] और 'मेथड एक्टिंग' से ले कर 'ज़ेन बुद्धिज़्म' एवं नशीले चमत्कारों तक में मन लगता है। अतः इन्हें अतियथार्थवादियों (सुर्रियलिस्टों) की तरह 'एंटी रैशनल' या अतिस्फीत बुद्धिवाद का विरोधी और 'प्रिमिटिव वाइटैलिटी' का उपासक कहा जा सकता है। शायद 'प्रिमिटिविज़्म' के प्रति आसक्ति रख कर 'बीट जेनरेशन' अपनी अबुद्धिवादी प्रवृत्तियों की रक्षा करना चाहता है, क्योंकि यह प्रवृत्तिमार्गी है, 'इंसटिंक्ट्स' की अबाधित प्रेरणाओं पर चलता है, अज्ञानता को ज्ञान से अधिक महत्व देता है तथा विवेकशील चयन या विधि-निषेध की धारणा को मृत्यु का पर्याय मानता है। शायद इसीलिए 'बीट जेनरेशन' को अपचारी या विध्यतिक्रमी भी कहा जाता है।

'बीट ज़ेनरेशन' की भोगवादी प्रवृत्ति और जगत-जीवन के प्रति अनास्था का एक सबल कारण आणविक अस्त्र-युग का हठात आगमन है, क्योंकि आणविक अस्त्र-युग ने 'भविष्य' और 'मृत्यु' की पूर्वप्रचलित धारणाओं को—इन दोनों की अर्थ-व्याप्ति को बदल दिया है। इस संहारक अस्त्र-युग के पहले 'भविष्य' हमारी काल-चेतना और जीवन-दृष्टि का आवश्यक अंग था और उसका घटित होना अनिवार्य था। इसलिए मनुष्य को वैयक्तिक और सामाजिक धरातल पर यह सोचना पड़ता था कि उसका भविष्य कैसे अच्छा या बुरा होगा। किंतु संहारक अस्त्रों के आविष्कार के बाद भविष्य की अच्छाई या बुराई पर सोचना ही व्यर्थ है, क्योंकि अब 'भविष्य' का अस्तित्व ही प्रश्नास्पद हो गया है—भविष्य के अस्तित्व पर ही एक बड़ा प्रश्नवाचक चिन्ह लग

---

१. 'बीट' शब्द का कोशार्थ है—ताल। बैंडमास्टर के डंडे की चोट से व्यक्त होने वाला ध्वनि या संगीत का परिमापित क्रम।

२. इसके आधार पर इन्होंने कई शब्द बनाये हैं—'बेबॉप', 'बॉप प्रोसोडी' इत्यादि।

३. 'हिप्स्टेरिजम' की भाषा को 'नॉन कम्यूनिकेशन' का माध्यम कहा जाता है। इस तरह 'हिप्स्टेरिजम' की भाषा 'चुप्पी का संकेत' है।

गया है। संभव है, एक गजर के बाद व्यक्ति या समाज के लिए—समूची मनुष्यता के लिए किसी 'भविष्य' का कोई अस्तित्व ही नहीं रहे। अतः आज भविष्य की चिंता एक अनावश्यक प्रश्न है। भविष्य के सौकर्य और उज्वलता के लिए वर्तमान की बलि देना व्यर्थ है। इस संहारक शक्ति का परिपार्श्विक प्रभाव 'मृत्यु' संबंधी धारणा पर भी पड़ा है, क्योंकि मृत्यु की विनाशक शक्ति एक पूर्णता पर पहुँच गयी है। आधुनिक महासंहारक अस्त्रों के आविष्कार के पूर्व 'मृत्यु' व्यक्ति के लिए एक विराम मात्र थी। कारण, मनुष्य मृत्यु के बाद भी अपनी संतति, साहित्य, कला-सृष्टि अथवा ऐतिहासिक कृत्यों के माध्यम से जीवित रहता आया है। किंतु अब मृत्यु के पास इतनी शक्ति आ गयी है कि वह संपूर्ण मानव-जाति और उसकी सभ्यता-संस्कृति, इतिहास, साहित्य एवं कला को एक बार निगल सकती है। अतः संवेदनशील मनुष्यों का मृत्यु-भय से त्रस्त रहना स्वाभाविक है। 'बीट जेनरेशन' के कवि इसे ही 'फ़ाइनेलिटी ऑफ़ डेथ' कह कर अपने साहित्य में चित्रित करते हैं।

कुल मिला कर 'बीट जेनरेशन' का साहित्य-सर्जन सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक बंधनों से सर्वथा मुक्त है। उनकी रचनाओं में असाधारण वैयक्तिकता का विस्फोट है, जिसके द्वारा उन्होंने आधुनिक युग में प्रचलित 'सामूहिकता के उन्माद' का विरोध किया है। फलस्वरूप उनकी साहित्य-साधना निर्बंध वैयक्तितकता की अपरंपरित अभिव्यक्ति का उन्मत्त प्रयास है और उनका जीवन रागी मन के आदेशों पर चलने वाला आत्मविनाश का कटु-मधु साधन है। अभिव्यक्ति-माध्यम की दृष्टि से संगीत-कला के क्षेत्र में उन्हें 'जाज़'[1] अत्यंत प्रिय है; क्योंकि 'जाज़', उनके अनुसार, आत्मा की आंतरिक स्वतंत्रता का संगीत है और साहित्य के क्षेत्र में उनकी अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम, कुछ विशिष्ट अपवादों को छोड़ कर, कविता है—किंतु ऐसी कविता, जिसका कोई संबंध साहित्य की परंपरित मनःस्थितियों, छंद और व्याकरण से नहीं है। इतना ही नहीं, यह कविता रूप-रंग में भी अभूतपूर्व है। जैसे गिंसबर्ग की अनियमित कविता, जिसे 'हाउल' कहा गया है या जैक मिशेलाइन की 'स्ट्रीट कॉल न्यू ऑर्लियंस' शीर्षक कविता।

अब यह 'बीट जेनरेशन', जो वैयक्तिकता और सामूहिक मृत्यु-भय के अंतर्द्वंद्व से उत्प्रेरित है, अमरीका से बाहर अन्य देशों में विविध नामों से अपना प्रसार पा रहा है। इंग्लैंड के 'क्रोधी तरुण'—'टेड्डी ब्वायज़', जापान के—'सन ट्राइबर्स' और हिंदुस्तान की 'भूखी पीढ़ी' के युवक साहित्यकार[2] इस तथ्य को उदाहृत कर रहे हैं। इसलिए 'बीट

---

१. ऐसा बैंड बाजा, जिसमें पियानो, तुरही, सक्सोफोन, बेंजो और ढोल आदि सम्मिलित रहते हैं। इसके उद्भव का संबंध अमरीकी नीग्रो जाति के उस लोक-संगीत के साथ है, जो 'श्वेत संस्कृति' के साथ उनके पार्थक्य का सूचक था। किंतु, 'बीट जेनरेशन' को जाज़ इसलिए प्रिय है कि इसका संगीत विवेकवर्जित अयौक्तिक होता है।

२. जो भुक्खड़ हो कर भी 'अविश्वास्य क्षमता' से युक्त हैं, 'आमिषाशी यौन भावना' के 'आत्मंभर' पुजारी हैं, आधुनिक युग की द्वंद्वविलासिता में रस लेते हैं, नांदनिक एवं नैतिक के समांतराल संघर्ष को व्यर्थ मानते हैं और चित्रानुग स्निग्धता से युक्त अपनी उत्कविता के द्वारा

जेनरेशेन' के पक्षधरों का कहना है कि 'बीट जेनरेशन' आधुनिक युग की अंतरराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि है और वह हमारे युग की अस्तव्यस्तता को प्रतिबिंबित करता है।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि अमरीकी 'बीट जेनरेशन' जिस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व कर रहा है—चाहे वह 'जाज़' के प्रेमियों का बेलग़ाम संगीत हो या चालू फ़ैशनों में अश्लीलता के समावेश का आग्रह हो, उसका प्रतिपक्ष हमें रूस की तरुण प्रवृत्ति में मिलता है, जो रूसी जन-जीवन, शासन-यंत्र, साहित्य और कला के नैतिक संस्कारों का द्योतक है। रूस में 'रॉक एंड रॉल' को वह छूट नहीं है, जो अमरीका में है। 'प्रावदा'[1] के एक लेख[2] से तो यही पता चलता है कि रूस के लोग संगीत तक को नैतिकता के निकष पर परखना चाहते हैं। अमरीका के 'बीट जेनरेशन' को जो 'जाज़'-वादन बहुत प्रिय है और जो 'जाज़'-वादन 'व्वायस ऑफ़ अमेरिका' का सबसे अधिक जनप्रिय कार्यक्रम माना जाता है, उसका रूस में 'जाज़ोमेनिया' कह कर बहुत विरोध किया गया है। रूसी विचारक अमरीकी 'बीट जेनरेशन' की तरह यह मानने को तैयार नहीं है कि 'जाज़ोमेनिया' आधुनिक काल की मूल चेतना का प्रतीक है। रूसी विचारक इसे 'सामाजिक मानस' की रुग्णता मानते हैं और इसे 'बुर्जुआ आर्ट फ़ॉर्म' कह कर हिक़ारत की नज़र से देखते हैं। इस धारणा को व्यक्त करने वाले अनेक निबंध रूस की प्रतिष्ठित समसामयिक पत्रिकाओं[3] में मिलते हैं, जिनमें आधुनिक साहित्य और कला के अंतर्गत व्याप्त अश्लीलता का और उसकी सैद्धांतिक पृष्ठभूमि में काम करने वाले जीवन-दर्शन का घोर विरोध किया गया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह पता चलता है कि 'बीट जेनरेशन' ने आधुनिकता के एक प्रमुख अभिशाप को अपना समाज-दर्शन बना लिया है। आधुनिकता का प्रमुख अभिशाप यह है कि उसने समाज में सांस्थिक अस्थिरता को फैला दिया है, जिसके चलते 'व्यक्ति' कुछ निराश्रित सा हो गया है। पहले पुत्र पिता के धंधे को उत्तराधिकार में प्राप्त कर जीवन-यापन कर लेता था—नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के कंधों पर आराम से बैठी रहती थी, किंतु अब यह स्थिति बदल गयी है। प्रौद्योगिकी के बिकास ने व्यवसाय की दुनिया में आशु और तीव्र परिवर्तन को फैला रखा है। गलाघोंट प्रतियोगिता के कारण आज एक व्यवसाय दूसरे व्यवसाय को निगलने के लिए सुरसा की तरह मुँह बाये रहता है। इस तरह आज अधिकांश व्यक्ति और परिवार जीविका की अस्थिरता के ज्वालामुख पर बैठे हुए हैं। दूसरी ओर बृहत पैमाने पर किये गये उत्पादन और सामूहिक संचार एवं आवागमन के साधनों ने व्यक्ति के रुचि-वैचित्र्य को दबोच दिया है। एक प्रकार की और एक प्रयुक्ति की चीजें उत्पादित होती हैं और संचार-सुविधा के कारण एकाएक फ़ैशन की तरह फैल कर

क्षुधार्तवाद या 'हंग्रियलिज्म' को तूल देते हैं। फलस्वरूप इनके काव्यदर्शन को मृत्युमेधी शास्त्र कहा जा सकता है।

१. अगस्त, १९५८ ईसवी।

२. 'इरैडिकेट वल्गैरिटी इन म्यूजिक'।

३. 'प्रावदा', सोविएत्स्क्या', 'युस्तितसिया', 'सोविएत्स्क्या कुल्तुरा' इत्यादि।

समूचे समाज को एकरंग बना देती हैं। फलस्वरूप आज का व्यक्ति 'स्वेच्छा' या 'आत्मरुचि' को आंशिक रूप में भी संतुष्ट नहीं कर पाता है। इन्हीं कारणों से आधुनिक मानव-समाज (सोसाइटी) अपनी प्राणवत्ता और जीवंतता को खो कर धीरे-धीरे 'समूह' (मास) बनता जा रहा है। अतः आज के युवकों में अपने आपको समाज से अलग या असंबद्ध (डिसएफ़िलियेट) करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यही सब देख कर और सोच कर 'बीट जेनरेशन' समाज को 'फ़ोनी' कहता है तथा समाज से पृथक रह कर जीवन के अभिप्राय और यथार्थ को ढूँढ़ना चाहता है। उदाहरणार्थ, एलेन गिंसबर्ग की 'पोएम रॉकेट' शीर्षक कविता में कुछ ऐसा ही प्रयास है।

—द्वारका साहू लेन,
मुसल्लहपुर, पटना-६।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रतिक्रिया

'युगवाणी'-काल में छायावाद का स्वप्न भंग हो जाने पर कविश्री सुमित्रानंदन पंत ने नये जीवन के निरूपण के लिए सन १९३८ में 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन और संपादन किया था। उसके प्रथम अंक के संपादकीय में उन्होंने लिखा था :

कविता से स्वप्न-भवन को छोड़ कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आये...! इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर वास्तविकता के उस नग्न रूप से सहम गयी है। अतएव, इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं चल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ा है। और युग-जीवन ने उसके चिर संचित सुखस्वप्नों को जो चुनौती दी है उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।

उस समय पंत जी की उक्त पंक्तियों की ओर मैं गंभीर रूप से आकृष्ट नहीं हुआ था, वयस्क हो जाने पर भी मुझमें मेरा कैशोर्य बना हुआ था, अभाव और वेदना का अनुभव करता हुआ भी छायावाद के भाव-जगत में ही भ्रमण करता था। मैं भी कविता लिखता था, किंतु 'हिमानी' में हिमजल की तरह ढुलक कर मेरा काव्य-स्रोत सूख गया। उस समय इसका कारण व्यक्तिगत ही समझता था। अब इतने वर्षों बाद समझने लगा हूँ कि कारण व्यक्तिगत नहीं, सार्वजनिक था। शोषण और पीड़न ने असमय ही मुझे विरस कर दिया था। चाहे जीवन में हो, चाहे कविता में, रस तो गोरस की तरह रक्त-मांस का ही आसव है, जब शरीर को भरण-पोषण नहीं मिलता तब न तो 'पत्रों का मर्मर संगीत' रह जाता है, न 'पुष्पों का रस-राग-पराग'।

जीवन में नीरस सूनेपन का अनुभव तो छायावाद के युग में भी करता था, 'देवदास' के माध्यम से मैंने अपने ही लिए लिखा था—'तुम महाशून्य के अधिवासी', किंतु उस समय यथार्थ को भी भावात्मक दृष्टि से ही देखता था। सन १९३९ में शरच्चंद्र की दिव्यात्मा देवियों जैसी बहन का देहावसान निराला जी की 'सरोज' की तरह निःसहाय परिस्थिति में हुआ, तब मैं जीवन में पहली बार एकाएक विक्षुब्ध हो उठा, मेरा विक्षोभ समाजवाद का स्वर ले कर 'युग और साहित्य' (सन १९४०) में फूट पड़ा।—कुछ समय बाद श्मशान-वैराग्य की तरह जब मेरा विक्षोभ शांत हो गया, और मैं फिर दैनंदिन जीवन में दत्तचित्त हो गया, तब जस का तस रह गया—यथार्थ का भुक्तभोगी होते हुए भी भाव और आदर्श का अनुरागी।

पृथ्वी पर मैं स्वयं कोई भावादर्श बना कर नहीं आया था, और न जीवन का कोई 'मॉडल' बना कर चला था। जन्म की तरह ही मेरा नवजात हृदय भी कोरा था। उस पर परिव्राजक पिता और मीराँ की-सी साधिका बालविधवा बहन की संस्कृति, कला और करुणा की छाप मेरे अनजाने ही पड़ गयी। देहाती मदरसे में पढ़ते समय गुप्त जी की कविता और महात्मा गांधी के सात्विक नाम ने मुझमें भाव और आदर्श का अनुराग जगा दिया। नगर में आने पर अग-जग से अनजान ऐसे शिशु-हृदय को ब्रह्मलीन स्वामी रामतीर्थ के मधुर अध्यात्म और स्वामी सत्यदेव के ओजस्वी साहित्य से उद्बोध और उत्साह मिला। सन १९२१ में (गांधी-युग के आरंभ में) मेरे ग्रामीण हृदय के अनुरूप ही खादी अनायास मेरा परिधान बन गयी। बालहंस की तरह मैं इधर-उधर डोलता रहा, आजीविका के लिए जम कर किसी लोकोद्यम में नहीं लग सका। जान पड़ता है, मेरा स्वभाव असांसारिक अथवा रोमांटिक था। सृष्टि में नैसर्गिक प्राणियों (खग-मृग) की तरह स्वच्छंद विचरण करता था। सन १९२४ में निराला जी के मुक्त छंद और मर्मस्पर्शी राग से प्रभावित हो कर छायावाद की ओर उन्मुख हो गया। उन्हीं दिनों एक चित्रावली में किशोरमुख कृष्ण के ललित-कलित केश देख कर मैं भी लंबे बाल रखने लगा। अपने केशकलाप में मैंने मानो कला को ही शिरोधार्य कर लिया। बाद में लंबे बाल छायावादियों की पहचान हो गये।

किशोरावस्था में ही मेरा जैसा बहिरंतर निर्माण हो गया वह एक दैवी संयोग था। क्या यह मेरा स्नायविक दौर्बल्य था कि कोमल प्रभावों को ही ग्रहण कर सका? भिन्न परिस्थितियों और भिन्न उपादानों में मैं क्या से क्या हो जाता, जैसे अन्य लोग हो जाते हैं। हाँ, सबकी तरह मेरे साथ भी जन्मजात दैहिक प्रवृत्तियाँ थीं। उन्हें पल्लवित-पुष्पित-रसान्वित होने का आजीवन सुअवसर नहीं मिला। मैं अविकच कुड्मल ही रह गया, वायव्य भाव-जगत के वायुमंडल में ही साँस लेता रहा, ठोस अभावों की ओर ध्यान नहीं दे सका। कालांतर में, ('युग और साहित्य' के लेखन-काल में) मेरा भी ध्यान अभावों की ओर चला गया। उसमें उद्धृत बच्चन जी की इन पंक्तियों में मुझे भी अपना उद्गार मिल गया :

मेरा तन भूखा, मन भूखा
मेरी फैली युग बाँहों में
मेरा सारा जीवन भूखा!

वास्तव में तन-मन की भूख प्रगतिवादियों द्वारा प्रतिपादित 'रोटी और सेक्स' की भूख थी। आदर्शवादी होते हुए भी 'सामयिकी' (सन १९४३) में मैंने भी इस हल्के-फुल्के शब्द का प्रयोग कर लिया।

क्या अव्यावहारिक भावुक होने के कारण मेरा जीवन शोकजनक हो गया? तो फिर आज व्यावहारिक जगत भी अभावग्रस्त क्यों हो गया है? चतुर्दिक व्याप्त खाद्य-संकट किस वस्तु-स्थिति का संकेत कर रहा है? यह अन्न का तात्कालिक अकाल मात्र नहीं है। यह तो उस

रसाभाव का द्योतक है जो आगे-पीछे सबके जीवन को रिक्त करता आ रहा था। वही रसाभाव साहित्य में अतृप्ति और कुंठा के रूप में व्यक्त हुआ था, जिसका रूढ़िवादियों द्वारा उपहास किया गया था। किंतु उपहास और उपेक्षा से वह यथार्थ परांमुख नहीं हुआ, बंगाल के नये भुक्तभोगी तरुण कवियों द्वारा 'हंग्री जेनेरेशन' में उद्वेलित हो गया। आज निराला जी और नवीन जी जीवित होते तो 'हंग्री जेनेरेशन' में विक्षुब्ध पीढ़ी का साथ देते। ओह, वे भी साहित्य और समाज को अपना बलिदान दे कर भूखे ही चले गये।...

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय बंगाल में जैसा अकाल फैला था आज वैसा ही अकाल सारे देश में फैल गया है, और अब सारे संसार में फैलने जा रहा है। यह औद्योगिक युग का अभिशाप है। अतएव बंगाल की 'भूखी पीढ़ी' के नवयुवक कवियों की कविता को केवल पाश्चात्य प्रभाव की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, क्योंकि पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण सभी दिशाएँ अपनी समस्याओं में एक सी हो गयी हैं। अमरीका के 'बीटनिक' और बंगाल की 'भूखी पीढ़ी' के नवयुवक कवि एक ही अभिशप्त वातावरण से उद्विग्न हैं। गुनाहों के इन देवताओं अथवा पवित्र पापियों की भर्त्सना उन मर्यादावादियों द्वारा की जाती है जिनका स्वार्थ विषमता में भी अभी सुरक्षित है। वे समाज में अपना आरक्षित स्थान सदा-सर्वदा के लिए बनाये रखना चाहते हैं, इसीलिए नैतिकता की दुहाई देते हैं। पार्वती, सुरबाला, अन्नदा जीजी, राजलक्ष्मी, चंद्रमुखी जैसे दिव्य चरित्रों के चित्रकार शरद ने जब 'चरित्रहीन' लिखा तब मर्यादावादियों द्वारा उन पर भी अनैतिकता का लांछन लगाया गया था। शरद के कलंकित पात्र सामाजिक विडंबना के विद्रूप थे। 'भूखी पीढ़ी' के कवि आर्थिक विडंबना के विद्रूप हैं। शरद के युग में नर-नारी का स्नेह और सौहार्द शेष था, अतएव आर्थिक विषमता ने मानवता को सर्वथा ग्रस नहीं लिया था। अब आर्थिक विषमता ने केवल वर्ग-संघर्ष ही नहीं उत्पन्न कर दिया है, स्त्री-पुरुष में अप्रेम भी उत्पन्न कर दिया है। अप्रेम का कारण स्वभाव-जन्य और कामजन्य भी हो सकता है, किंतु विकृत आर्थिक युग का भी प्रभाव स्वभाव और काम पर पड़ता है। इस युग में जब कि अर्थ विकृत हो गया है तब 'काम' सुकृत कैसे रह सकता है? वास्तविकता यह है कि इतिहास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है, अकाल और भ्रष्टाचार से कृत्रिम आर्थिक मूल्यों (बाज़ारू मूल्यों) और उन पर अवलंबित नैतिक मूल्यों का उन्मूलन होने जा रहा है।...

आप्त युगों का आस्थावान होते हुए भी मुझे जीवन कुछ ऐसा मिला कि मैं भी सर्वहारा की सतह पर आ गया। जीवन तो 'बीटनिकों' का-सा मिला किंतु उसके साथ 'बीटल' गायकों जैसा संगीत मानो मुक्त छंद के साथ गीतकाव्य की तरह ले कर लोकपथ पर चलता रहा; गद्य को राग से लयमान करता रहा, ऊबड़-खाबड़ पथ को चाँदनी से स्निग्ध बनाता रहा, गति को आरोह-अवरोह का तालमेल देता रहा, लड़खड़ाते क़दमों को सम्हालने के लिए गीत की टेक लेता रहा। किंतु यह सब भी तो भावना और कल्पना की तरह भुलावा था, हवा में ग़ुब्बारे की तरह तैरना था, जीवन तो जस का तस एकरस नीरस था, श्मशान की तरह अवसन्न था। आश्चर्य है कि अब तक मुझमें प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न हुई थी, किंतु इस असह्य स्थिति ने एकाएक मेरे भीतर ऐसी उथल-पुथल मचा दी कि मैं अंतर्द्वंद्व से अत्यंत आंदोलित हो उठा। मेरा स्वप्न ही भंग नहीं हो गया, मेरी

मान्यताओं का मान भी भंग हो गया। अब इतने वर्षों बाद 'रूपाभ' में प्रकाशित पंत जी के वक्तव्य की सार्थकता समझने लगा।

घोर उदासी में मेरे सामने यह विषण्ण प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि जिस खादी, संस्कृति, कला और उससे प्रभावान्वित केश में अपना अंतर्वाह्य रूप ले कर युगयात्रा कर रहा हूँ, नव जीवन पाने के लिए उसमें से किसे छोड़ूँ ? किसी एक को छोड़ना सबको छोड़ना है, क्योंकि ये अन्योऽन्य और अनन्य हैं। प्रश्न का उत्तर मुझे उस पितृपक्ष में मिला जिसमें श्रद्धालु हिंदू अपने केश मुड़वा देते हैं। लीजिए, जीवन के शोक-पर्व (युग-संकट) में मैंने भी केश मुड़वा दिये। क्या यह केवल प्रतिक्रिया मात्र है, इसमें भी कोई प्रक्रिया नहीं है ? मैं यदि वीतराग संन्यासी नहीं हूँ तो मेरे केश फिर उगेंगे। मुझमें राग अभी शेष है, तभी तो विक्षोभ और अंतर्द्वंद्व है। गृहस्थ नहीं, वानप्रस्थ नहीं, संन्यासी नहीं, चिरकुमार हूँ। यदि काल की निष्ठुरता से अस्तमित नहीं हो गया तो मेरे नये केशों में फिर कैशोर्य लहरायेगा।

—लोलार्क कुंड, भदैनी, वाराणसी।

विष्णु खरे

पुनरवतरण

(द सेकेंड कमिंग)

हालाँकि इस धरती पर हमें तुम्हारी ज़रूरत है यीशु
हालाँकि हम तुम्हारा वचन याद करते हैं और तुम्हारी सख्त जरूरत है
लेकिन मैं वह जगह सोच नहीं पाता जहाँ तुम अवतरित होओ
और सुरक्षित रह सको।

अमरीका में लोग तुम्हें 'बीटनिक' समझेंगे
जब कि 'मारिजुआना', 'बीटल्स' और गर्भ-निरोधकों के
तुम्हारे अज्ञान की वजह से 'बीटनिक' तुम्हें अस्वीकार करेंगे।
और यदि तुम घोषित करोगे कि तुम भगवान के बेटे हो
तो दुनियादार इंसान इसे एक और शिगूफ़ा समझ कर कंधे झटक लेंगे।
मनचले रिपोर्टर हर संभव कोण से तुम्हारा चित्र लेंगे
और शायद हॉलीवुड से एकाध आकर्षक प्रस्ताव भी आ जाय !
तुम शायद अपनी अँगुलियों की छाप न दो, समवेदी या सहयात्री बनो
और 'वॉल स्ट्रीट' के मंदिरों के पुजारियों को खदेड़ना चाहो।
अमरीका-विरोधी गतिविधियों में यूँ हिस्सा लेने का पुरस्कार
देशनिकाला तुम्हें शीघ्र ही मिल जायगा।
मुझे नहीं मालूम तुम काले थे या गोरे थे या रंगीन थे
लेकिन मैं जानता हूँ कि तुम कहे बिना न रहोगे
कि काले और गोरे और रंगीन पड़ोसी हैं
'कू-क्लक्स-क्लान' तथा भगिनी संस्थाएँ ऐसे उपदेश बर्दाश्त न कर सकेंगी।
अमरीका स्वचालित राइफ़लों का देश है
और ऊँची इमारतों पर से निशाना आसानी से लगता है।

समाजवादी देशों में तुम्हारा स्वागत मुस्कराहटों से होगा
किंतु तुम्हारी बातचीत चुपचाप रिकॉर्ड की जायगी
तथा वैज्ञानिक तरीक़ों से तुम्हारा पीछा किया जायगा।

तुम्हारे भाषणों की पांडुलिपियाँ माँगी जायगी ताकि
सांस्कृतिक मंत्रालय उनकी अनुमति दे सके
और निस्संदेह उनमें से 'ईश्वर', 'आत्मा,' 'मानव रोटीके लिए ही न जियेगा' सरीखे
निरुपयोगी बूर्जुआ शब्द और वाक्य हटाने होंगे।
लेकिन तुम तो वाणी का प्रचार करोगे और वे
तुम्हें पूछताछ के लिए रोक लेंगे, फिर तुम कुछ बरस तक
किसी 'कम्यून' में स्वेच्छा से श्रम करोगे।
भारत के विषय में भी कुछ कह नहीं सकता
तुम तो जानते हो तुम्हारे हिं_ शिष्य का खून अभी सूखा नहीं है!

कोई जगह तुम्हारी नहीं है यीशु
क्योंकि तुम हर अन्याय के खिलाफ़ अपना गुस्सा ज़ाहिर करोगे।
हिरोशिमा और हंगरी, क्यूबा और तिब्बत
अल्जीरिया और अंगोला, कश्मीर और कांगो
पास्तरनाक और ट्राटस्की, रोब्सन और रोज़ेनबर्ग!
तुम एक अत्यधिक अलोकप्रिय मसीहा सिद्ध होओगे!

फिर भी एक दिलासा है, एक संतोष है।
मानवीय पीड़ा कम करने की दिशा में
'पोंटियस पाइलेट' के ज़माने से अब हमने जो प्रगति की है
उसे महसूस कर तुम्हें आश्चर्य होगा।
इस बार या तो गोली होगी या बिजली की कुरसी
या ज़हरीली गैस का कमरा।

●

आंग्लभाषा विभाग,
शासकीय महाविद्यालय, रतलाम।

अमीक़ हनफ़ी

उर्दू की नयी कविता—२

(गतांक से आगे)

इन आशंकाओं ने आज के अस्त-व्यस्त जीवन के हंगामों को अर्थहीन और सारी दौड़-धूप को निरर्थक बना दिया है। रास्ते और मंज़िल दोनों समय के धुँधलकों में लुप्त हैं। एक घुटन है कि अंतरतम तक फैल गयी है:

इस सफ़र में रास्तों के ज़ख्म हैं और कुछ नहीं

(अहमद फ़राज़ : अनदेखे दयारों के सफ़ीर)

मैं बालरूमों में बुझ रहा हूँ, शराबख़ानों में जल रहा हूँ
जो मेरे अंदर धड़क रहा था,
वो मर रहा है

(साक़ी फ़ारुक़ी : नोहा)

मैं भी अपनी सोच में गुम हूँ
पागल हो कर नाच रही है होटल की रक़्क़ासा भी

(मुनीर नियाज़ी : साहिली शहर की एक रात)

हवा का झोंका भटक रहा है
दयारे ख़ुशबू की जुस्तुजू में

(फ़ारिग़ बुख़ारी : रोग)

मुझे शब के ज़िंदाँ से बाहर निकालो
मैं दिन के समंदर की गहराइयाँ नापना चाहता हूँ

(शहरयार : इल्तिजा)

और फिर इक नया दिन
पुराने मकानों की गंदी छतों पर
बरहना फिरेगा

(मुहम्मद अलवी : नया दिन)

आज की रात कुछ नहीं होगा
आज की रात है हिमाक़त की
आज सी रात कल भी आयी थी
आज सी रात कल भी आयेगी

(शहरयार : आज की रात)

रोज़ ये आफ़ताबे आलमताब
एक गर्दिश में मुब्तिला रह कर
मंज़िले सब्र के क़रीं आ कर
सुर्ख़रू हो के डूब जाता है

(बाक़र महदी : शाम)

लब पे इक बावज़्न लय की थाप पड़ती है मगर
रक़्स करते ही नहीं अल्फ़ाज़
साज़े मअना से निकलती ही नहीं आवाज़

(अमीक़ हनफ़ी : रात)

और मैं
एक काग़ज़ जिसकी सादा सी इबारत
कोई पढ़ता ही नहीं

(अमीक़ हनफ़ी : शबगश्त)

हमारा तर्ज़े शायरी भी लज़्ज़ते सुकूत है
उसे सुनायें किस तरह कि होंट भी पराये हैं

(वहीद अख़्तर : ख़ामोशी की आवाज़)

यांत्रिक तनाव, स्नायविक खिंचाव, अपने-अपने दुख-सुख की चहारदीवारियों में बंद नागरिक समूह, सामूहिक सामाजिक तानाशाही, प्रकृति से टूटने और मशीनों से न जुड़ पाने का एहसास और नये युग-संकेतों को न समझ पाने का दुख उर्दू के नये कवि को व्याकुल रखता है :

फ़र्द जब दो से ज़ियादा हों तो बन जायें अवाम
हाथ में जिनके वही फ़र्द फिर इक कठपुतली
तालियाँ, दारोरसन, बारिशे-संग
या कोई और भयानक अंजाम

(अहसन अहमद अश्क : हेमलेट)

मंज़िले मक़सूद उनकी, और मैं महवे सफ़र!

(अमीक़ हनफ़ी : सिंदबाद)

आहनी पहियों ने फ़ौलादी ज़ुबाँ में अपनी
बात दुहरायी, ये आवाज़ थी जानी-बूझी
ऐसी मानूस ज़ुबाँ थी कि जिसे उम्र तमाम
सुनते रहते हैं मगर सीख नहीं पाते हैं

(काज़ी सलीम : रफ़्तार)

इक आग-सी जलती रहती है रग-रग में मेरी
इक बेमअनी-सा दर्द मेरा एहसास जगाता रहता है
इस तरह कि मैं सब कुछ यूँ ही महसूस करूँ और कुछ न कहूँ
जब तक ये जहन्नुम रोशन है
मैं ज़िंदा हूँ

(बाक़र महदी : जहन्नुम)

गूँजते शहर, रवाँ और दवाँ राहगुज़र
कारख़ानों के धड़कते हुए सीने का धुआँ
मक़तबे-ए-अहले-हुनर, मदरस-ए-फ़िक्रो-नज़र
ज़िंदगानी से छलकते हुए मैदानो मकाँ
अरक़-जहद से महकी हुई किश्ते-दहक़ाँ
दश्ते महनत में पिघलती हुई रोशन घातें
जागते-दौड़ते दिन, नींद में लिपटी रातें
लाती हैं रोज़ सुख़नवर के लिए सौग़ातें

(वहीद अख़्तर : दुआए-नग़मा)

ये नया शहर नज़र आता है ख़ाबों का दयार
शायद इस वास्ते ऐसा है कि इस बस्ती में

कोई ऐसा नहीं जिस पर हो मेरी ज़ीस्त का बार
कोई ऐसा नहीं जो जानता हो मेरे उयूब
आश्ना, साथी, कोई दुश्मने जाँ, दोस्त-शिआर

(अख़्तरुल ईमान : नया शहर)

वो जानी-पहचानी रहगुज़र थी
मगर वहाँ अब ग़लीज़ चेहरों का कारवाँ
चीथड़ों के अंबार
आने वाली मुहीब जंगों के ज़ायचे
हफ़्तरंग ख़ाके उठाये
चुपचाप जा रहा था

(बलराज कोमल : अजनबी)

इसी प्रकार और भी आधुनिक, यांत्रिक, नागरिक जीवन की चेतना और पीड़ा की संवेदना प्रकट हुई है:

नाच ऐ रात के सीने में धड़कते हुए शहर
मरते जाते हैं क्लब, जाज़ की तानें हुईं सल्ब
सुबह की चाप से अंधे हुए जलते हुए बल्ब
ज़हर की तरह सुरंगों में चली ट्यूब की लहर

(साक़ी फ़ारूक़ी : कासनी रोशनी)

नगर-पीड़ा से सचेत हो कर मैंने एक लंबी कविता 'शहरज़ाद' लिखी है जिसमें एक आधुनिक औद्योगिक नगर का नख-शिख-वर्णन इस तरह किया है:

देख रहा हूँ एक हस्तपा
शीशे की आँखों वाला
ताँबे की नब्ज़ों वाला
लोहे के दाँतों वाला
पत्थर की आँतों वाला
अपने तेज़ नुकीले पंजे फैलाता है
खेतों के लहँगों की गोटें नोच रहा है
देहातों को नंगा करने की तरकीबें सोच रहा है।

बलराज कोमल ने अपनी नज़्म 'नारियल के पेड़' में गाँवों के प्रति आज के नागरिक दृष्टिकोण पर यूँ व्यंग्य किया है :

गाँव वो नन्हें खिलौने हैं जिन्हें
देखने आते हैं शहरों के सताये लोग कितनी चाह से

मूल्यों के गत्यवरोध से उत्पन्न जड़-स्थिति का भी उर्दू के नये कवियों को पूरा एहसास है और वे नयी गतिशीलता की तलाश कर रहे हैं :

पेड़ के नीचे
तन्हाई की घोर गुफा में तुम बैठे थे
थकी-थकी पलकों में तुम्हारी ओस के मोती
चिमटे थे
पवन रुकी... सब बिखर गये

(वज़ीर आग़ा : मुलाक़ात)

अब आओ ये भी कर देखें तो जीने का मज़ा आये
कोई खिड़की खुले इस घर की और ताज़ा हवा आये

(ख़लीलुर्रहमान आज़मी : बदलते मौसम)

एक वीरानी का एहसास, न-कुछपन का एहसास, कुछ न होने का एहसास, बेमज़ा कुंठा-ग्रस्त आत्मपीड़न का एहसास उर्दू की नयी कविता में जगह-जगह और तरह-तरह से अभिव्यक्त हुआ है :

जिधर देखो वही सुनसान गलियाँ
गया था तेरी बज़्मे रंगोबू में
कहाँ ले आयी ये शामे ग़रीबाँ

(मुनीबुर्रहमान : एक नज़्म)

मगर आज जिस सिम्त देखो
निगाहों के कश्कोल में
सूने बामोदरो सक़फ़
सूखे दरख़्तों से झड़ कर गिरे ज़र्द पत्तों, चटख़ती हुई
टहनियों के सिवा कुछ नहीं है

(मुनीर नियाज़ी : माज़ी)

मैं, मेरी जलती हुई आँखें
मेरे बेजान होंट
कितने पत्थर हैं जो तेरे हाथ के मुहताज हैं

(शहज़ाद अहमद : संगरेज़)

यूँ टूट कर हयात से करता रहा हूँ प्यार
जिस तरह ब्याहता से मुहब्बत करे कोई

(शाज़ तमकिनत : शजरे ममनूआ)

नहीं, नहीं मैं रोती कब हूँ
इसका मुझको ध्यान कहाँ है
मुझ पर तुम उँगली न उठाओ
ये गीली लकड़ी का धुआँ है

(फ़हमीदा रियाज़ : अंदेशा)

यही बहुत है
कभी-कभी झिलमिलाते पैकर
हटा के घूँघट झलक दिखायें
ठुमक ठुमक कर दिये जलायें

(क़ाज़ी सलीम : झलकियाँ)

इस अवस्था में मनुष्य अपने आपको एक अजीब अप्रस्तुतपन और निष्क्रियता से दो-चार पाता है। वह सोचता बहुत है पर करता कुछ विशेष नहीं, तटस्थ है; उदासीन है; अकर्मण्य है।

हयात अपनी मंजिल पे गो आज भी गामजन है
मैं खामोश
तनहा खड़ा सोचता हूँ
कोई दूर से आ के मुझको पुकारे

(बलराज कोमल : मैं शायर, मैं फ़नकार)

खुदफ़रामोशी में जीना भी कोई जीना है
कोई हसरत
कोई अरमाँ

कोई उम्मीद तो हो
इतनी ख़ामोशी में जीना भी कोई जीना है

(ज़हूर नज़र : सन्नाटा)

ऐ मेरी नामुस्तइद, मजहूल ज़ात
कोई फ़िक्र !
कोई काम !
कोई बात !

(अमीक़ हनफ़ी : आईनाख़ाने के क़ैदी से)

इस विचित्र नीरवता और स्तब्धता के चट्टानी वातावरण में कोई किसी की नहीं सुनता। अपनी ही आवाज़ पलट कर सुनायी देती है या आकाश में विलीन हो जाती है।

और फिर यूँ हुआ
इब्ने-मरियम ने देखा
तो मैदान में
चंद भेड़ें खड़ी थीं

(मुहम्मद अलवी : इब्ने मरियम)

ये तसव्वुर जिस तरह अंधा कुआँ हो
'तुम कहाँ हो आओ, मैं घबरा रहा हूँ'
'आ रहा हूँ'

(विमलकृष्ण अश्क : गूँज)

'अश्क' की इस तीन पंक्ति की कविता में तकनीकी चमत्कार भी विचारणीय है। दूसरी पंक्ति का अंतिम चरण प्रतिध्वनित हो कर तीसरी पंक्ति बन गया है। आधुनिक यथार्थ का यह मृगजल मनुष्य को 'नार्सीसस' की तरह बावला बना देता है जिसका पीछा करती हुई उसकी अपनी प्रतिध्वनियाँ उसे मौत के मुँह में ढकेल आयी थीं। आत्म-स्मृति का दूसरा रुख है आत्म-विस्मृति से खुद को पाना :

मेरी मेज़ के पास रद्दी की जो टोकरी थी, उसे साफ़ करने लगा तो मैं चौंका
मेरे नाम का इक लिफ़ाफ़ा था जिसमें बड़ा ख़ूबसूरत सा ख़त था
और ये ख़त वही था, जो इक रोज़ मैं बैठ कर अपने ही आपको लिख रहा था

(ख़लीलुर्रहमान आज़मी : एक ख़त)

अजन्मे स्वप्नों का गर्भपात, अनकहे की घुटन, अपने आपके व्यर्थ व्यय हो जाने का दुख इन कवियों की संवेदनशीलता को तरह-तरह से उत्तेजित करता है और तब एक विलय-भावना जाग उठती है:

जो न लिक्खे गये
और न बोले गये
ऐसे अल्फ़ाज़...क़स्बे के पुल से गुज़रते हुए दिन की मानिंद
उखड़ते हुए फ़ासिलों की तरह
लरज़ती हुई धुंध में खो गये हैं

(अहमद हमेश: मुड़ते हुए उफ़ुक़)

राहे-महताब में ख़ाबों के परीशाँ साये
आग ही बन के यकायक रगे जाँ तक आये

× × ×

कौन सी शाख़ से पूछूँ मैं नशेमन उनका
हर किरन बन गयी मसकन उनका
वो मुझे छोड़ गये और मैं तकता ही रहा
मैं अकेला था, अकेला ही रहा

(मुनीबुर्रहमान: एक नज़्म)

सर्द पलकों की सलीबों से उतारे हुए ख़ाब
रेज़ा-रेज़ा हैं मेरे सामने शीशों की तरह

(अहमद फ़राज़: नींद)

दूर आकाश के उस कोने में
इक मैली चादर में लिपटी
शाम खड़ी है
आओ चलें उस शाम की चादर में छुप जायें
शाम—जो हम दुखियों की माँ है

(अहमद हमेश: शाम)

नयी उर्दू कविता में, शाम, रात, अँधेरा, जंगल, रेगिस्तान आदि प्रतीकों को समसामयिक परिवेश के उद्दीपन के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है।

बंद कमरों में तड़पती
शह्वतों की लाल आँखें
शाहराहों पर गुजरती लड़कियों की
नीम उरियाँ छातियों को
डस रही हैं।
शाम इक-इक पेड़ पर चिल्ला रही है।
दिन गया
रात आ रही है

(मुहम्मद अलवी : रात आ रही है)

नयी उर्दू कविता अब यौन-प्रक्रियाओं और प्रतीकों से किसी प्रकार की झिझक महसूस नहीं करती। जलील हाशमी तो न केवल यौन-प्रतीकों को प्रधानता देते हैं बल्कि संभोग की विभिन्न प्रक्रियाओं और स्थितियों को अनेक स्वनिर्मित प्रतीकों में छिपा कर अभिव्यक्त करने को अपनी कला की विशिष्टता मानते हैं।

होता है सफ़र शुरू
रेशम की लहरों में से होते हैं कमल तुलू
बजता है दीवानी दस्तक से शहरे-ममनू
उठता है मौज-ए-ख़ूँ
मरमर-से, सांचे में ढले हुए रोशनियों के सुतूँ
अपने चौड़े-चकले कंधों पर रख लेता हूँ

(जलील हाशमी : सूली और गुलाब)

उर्दू की नयी कविता अपनी प्रश्नाकुलता और संदेहात्मकता के बावजूद विश्वास और आस्था से सर्वथा विमुख नहीं। आस्था का संवादी स्वर उसकी हर रागिनी में अनुकंपित रहता है :

मैं तो सूरज का साथी हूँ
साथ चलूंगा
अंतिम किरनों से पूछूंगा
और कोई आवाज़ है मेरी

(अहमद हमेश : चलते-चलते)

हमारे जिस्मों की वुसअतों में
वो मौसमे-गुल है जिसकी कोई खिज़ाँ नहीं है

(बलराज कोमल : मौसमे गुल)

फिर भी दुनिया कितनी हसीं है
ऐसी मुक़द्दस जैसे मरियम
ऐसी उजली जैसे झूट

(फ़हमीदा रियाज़ : सच)

जलने दो ये दिये पुराने ख़ुद ही ठंडे हो जायेंगे
बह जायेंगे आँसू बन कर रोते-रोते सो जायेंगे

(अख़्तरुल ईमान : नयी सुबह)

बादल में रुपहली सी लकीर अब भी है बाक़ी
ईमान सलामत है ज़मीर अब भी है बाक़ी

(अमीक़ हनफ़ी : दिलासा)

मेरे उदास दिल न रो
सच है कि मुझमें क्या रहा
ढेर हूँ जैसे ख़ाक का
फिर भी कुरेद कर तो देख
इसमें है कुछ छुपा हुआ
जो मेरे साथ खो गया ये वही आदमी न हो

(ख़लीलुर्रहमान आज़मी : मेरे उदास दिल न रो)

बारहा तुंद हवाएँ चलीं तूफ़ाँ आये
लेकिन इक फूल से चिमटी हुई तितली न गिरी

(मजीद अमजद)

इस परिचयात्मक लेख में उर्दू की नयी कविता की भावभूमि का एक विहंगम दृश्य प्रस्तुत किया गया है और मूल प्रवृत्तियों ही का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। सामयिक घटनाओं पर रची हुई अनेक सुंदर कविताओं को नज़र अंदाज़ करना पड़ा है। कवियों की व्यक्तिगत विशेषताओं की समीक्षा यहाँ नहीं की गयी है। कविताओं में जो कुछ समान नज़र आया है, युगसंपृक्त और आधुनिक भावबोध में डूबा हुआ है। उसे उपयुक्त खानों में सूचीबद्ध कर दिया गया है। ज़ाहिर है कि मेरा उद्देश्य यहाँ प्रमुख तथा विशेष कवियों का परिचय प्रस्तुत करना नहीं है। मैं

तो इस भ्रांति को दूर करना चाहता हूँ कि उर्दू में नयी कविता नहीं है। मेरे इस लेख के हिंदी भावकों को न केवल उर्दू में नयी कविता के अस्तित्व का एहसास होगा बल्कि उसकी मूल प्रवृत्तियों की झाँकी भी मिल जायगी। यह बहुत ज़रूरी था। उर्दू और हिंदी बहुत निकट की दो भाषाएँ हैं और दोनों के नये कवियों के प्रयासों और प्रयोगों के परिणामस्वरूप रही-सही दूरियाँ भी उनके दरमियान से मिट जाती हैं। उर्दू की नयी कविता में भारतीय नगरों, क़स्बों और देहातों का वातावरण और हिंदू पौराणिक तथा भक्तिकालीन प्रतीकों को देख कर लोग सहर्ष आश्चर्य प्रकट करते हैं। मेरे ख़याल में यह न आश्चर्य की बात है न गर्व की। बड़ी सीधी सी बात है। परंपरागत कविता में एक प्रकार की वायवीयता थी और प्रेरणा के स्रोत अरबी और फ़ारसी कवियों के दीवान थे। इसलिए उसमें न केवल भारतीयता बल्कि पार्थिवता और इहलौकिकता भी कम थी। कुछ शायरों के यहाँ भारतीय दृश्य और मेले-ठेलों, त्योहारों आदि का चित्रण उस दौर में भी मिलता है लेकिन ऐसा केवल वर्णन या अलंकरण के लिए ही मिलता है। नयी कविता केवल 'ज्ञान' और 'बोध' को पर्याप्त नहीं समझती। और फिर नयी कविता यथार्थ और पार्थिवता के आधार पर सर्जनशील है और व्यक्ति तथा समष्टि के बीच सीधे रिश्ते की क़ायल है। व्यक्तिगत अनुभव और अनुभूति ही कवि को प्रेरित तथा सर्जन के लिए उत्तेजित करते हैं। इसलिए सहज ही वे अपनी कविता का परिप्रेक्ष भारतीय रखते हैं। इस दिशा में राही मासूम रज़ा, अमीक़ हनफ़ी, अहसन अहमद अश्क, माधव (एक पाकिस्तानी कवि का उपनाम), ताज सईद, सहबा अख़्तर, मुस्तफ़ा ज़ैदी आदि ने विशेष प्रयोग किये हैं। राधा, कृष्ण, गोपी, गोकुल, वृंदावन, जमुना, शिव, काली, सरस्वती, कामदेव, यम, गंगा, बुद्ध, मंदिर, आश्रम आदि अनेक शब्दों को प्रतीकवत या बिंबस्वरूप प्रयुक्त किया जा रहा है—केवल चित्रण या अलंकरण के लिए नहीं, गहरी संवेदनशीलता और सौहार्द के साथ। इन प्रयोगों से उर्दू की नयी कविता में एक नया आयाम खुला है। पुराने पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों और प्रसंगों को नये अर्थ-संदर्भ देना नये शायरों की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। कुछ नये शायरों ने भक्ति-काव्य से भी प्रेरणा ग्रहण की है। उत्तर प्रदेश, पंजाब और बंगाल की लोककथाओं और जन-जीवन से भी फ़ायदा उठाया गया है। फ़हमीदा रियाज़ और शफ़ीक़ फ़ातिमा शैरा ने घरेलू नारी के दुख-सुख और नारी-मन की विशिष्ट स्थितियों को पार्थिव परिवेश में अभिव्यक्त किया है और उनके प्रयोगों में एक असाधारण ताज़गी और नयापन मिलता है। बलराज कोमल ने गृहस्थ-जीवन से संबंधित प्रतीकों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। वे व्यक्तिगत जीवन के इन प्रतीकों का ऐसा सफल और कुशल प्रयोग करते हैं कि इस छोटे से दायरे में देश-काल भी सिमट आते हैं। उनके इस 'घरेलू' आईने में विश्व अपना रूप निहारता है। नये कवियों के पास कहने को नयी बात भी है और बात कहने का नया ढंग भी। उर्दू की नयी कविता के रूप-विधान, तंत्र, शब्दावली, शिल्प आदि का अंदाज़ा ऊपर के उदाहरणों से लगाया जा सकता है। तुकांत छंदोबद्ध कविताओं का चलन भी जारी है। अतुकांत छंदोबद्ध कविताओं की रचना भी जारी है। रबर छंद का प्रयोग भी हो रहा है और भावप्रवाह के अनुसार गति और यति के नियंत्रण का ढंग भी अनेक कवियों ने अपनाया है। गद्य की लय और गति का प्रयोग कम किया गया है

और जितना हुआ है, पसंदगी की निगाह से नहीं देखा गया। प्रतीक, अप्रस्तुत, बिंब, स्थानांतरित विशेषण और समसामयिक जीवन-बोध से प्रेरित तथा युगसंपृक्त उपमाओं और रूपकों के बड़े सफल और उपयोगी प्रयोग किये जा रहे हैं। अधिकांश नये शायर अधिकतर अपनी अनुभूति और भाव का सीधा बयान ही पसंद करते हैं। अत्यंत जटिल और उलझी हुई सांकेतिक या प्रतीकात्मक शैली अब कम प्रयुक्त होने लगी है। बिंबों तथा प्रतीकों की तलाश, भारतीय संस्कृति और आंचलिक जीवन में भी की जाने लगी है और वैज्ञानिक और यांत्रिक सभ्यता में भी। भाषा सरल, सुलभ और सहज होती जा रही है क्योंकि अब जीवन से शायर का रिश्ता अधिक निकट का और सीधा है। शब्द-चयन में अंग्रेज़ी, हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं के तौर-तरीक़े भी अपनाये जा रहे हैं।

उर्दू की नयी कविता को मुशायरों और राजनीतिक मंचों का मोह बिल्कुल नहीं है। इसलिए उसमें काव्येतर पूर्वग्रहों की छाया भी नहीं है। उर्दू का नया कवि अपने अंदर सिमटा है; अपने व्यक्तित्व की गुफा में बंद हो गया है लेकिन उसने 'व्यक्ति' को केंद्र मान कर एक ऐसा दायरा खींचा है जिसमें समष्टि का संपूर्ण अस्तित्व घिर गया है:

ख़िलवते ज़ात के महबस में ये बेनाम उमंग
जिस पे कौनैन हैं तंग

\+ \+ \+

यहीं ख़ुद साख़्ता फ़ानूस में है क़ैद वो शोले की लपक
हमनफ़स जिसकी है सदगूना जहन्नुम के अज़ाबों की कसक
फिर भी दिखलाती है हर आँख को जो जन्नतें फ़रदा की झलक

(वहीन अख़्तर : शायरी)

—१४०, गांधी पार्क कॉलोनी,
इंदौर।

रामदेव आचार्य

शहीद सैनिक के प्रति

ऐ अपने वतन पर
और मेरे वतन पर
शहीद सैनिक!

तुझे मेरा चिंतन समर्पित है,
तुझे मेरी बौद्धिकता अर्पित है।

तेरे हर घाव पर
एक महाकाव्य ज़िंदगी पाता है,
तेरे घायल दर्द से
मीरां और कबीर का घायल दर्द
लंबी उम्र पाता है।
तू रामायण और गीता,
क़ुरान और बाइबिल,
गुरु-ग्रंथ साहिब और इंजील
से भी अधिक पवित्र है,
क्योंकि तुमने मर कर
इन्हें ज़िंदगी दी है!

हमारी परिभाषाएँ
तेरे दम से हैं।

लोकतंत्र का प्रकाश
तेरे बाज़ुओं की मशाल में है,
समानता तथा नागरिक अधिकारों
की गति तेरे क़दमों में है,
संविधान तथा संसद की भाषा
तेरे मोर्चों के संघर्षों में है
और हमारी धर्म-निरपेक्षता
तेरे पैटन टैंकों
तथा जेट विमानों
को कुचल देने की ताक़तों में है।

तेरे ख़ून की रंगीनी में
पंचशील और विश्व-बंधुत्व
पल रहे हैं
और मेरी आज़ादी की ज़िंदगी
तेरी हर मौत में है,
तेरी हर कराह में है।

ओ शहीद सैनिक!
मेरा चिंतन तुझे समर्पित है,
मेरी बौद्धिकता तुझे अर्पित है।

●

प्रवक्ता,
अंग्रेज़ी विभाग,
लोहिया गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज,
चूरू (राजस्थान)

केशवचंद्र वर्मा

मेरी छोटी सी बगिया और छोटे-छोटे मन-छाप

● सुनो भई,
लाओ कहीं से कुछ 'कैक्टस' की 'वेरायटी' !
बेले और गुलाब को दो नयी 'सोसायटी' !
नये और पुराने की गोष्ठी जमे संग-संग !
('वै डौलें रस आपुने, इनको फाटैं अंग ! !')

● शायद किन्हीं गदेलियों की तलाश में
मैंने मेंहदी की रविश लगवायी थी !
गदेलियों के संस्मरण बिना मेंहदी लगवाये
लिखे जा सकते हैं—
यह मैं झाड़-झंखाड़ उग आने के बाद जान सका !

● बेले से मेरी इधर प्रीत है गयी जाग !
लेकिन कभी दिखता है अजब ही खटराग—
एक खुली भैंस और उसका कामाध्यात्म,
मुँह मारने को बोलती आत्मा के 'डॉयलॉग'।

● ओ प्रभु !
क्या तुम गद्दर अनार और नतनेबुला को जन्मजात पका नहीं सकते ?
इतनी मुग्धाओं के ज्वार
ओ पिता जी !
मेरी ही बगिया पर क्यों ?

● लिपट-लिपट छज्जे पर चढ़ती हुई बेल
जब मुझे
ग़रारा पहने रसवान आलिंगनबद्ध नायिका की तरह दिखी—
तब मेरे पढ़े-लिखे दिमाग़ ने कहा कि
आप चोर हैं!
और एक कायर की तरह
मैंने धमकी में आ कर
अपनी बेल को निरुपमेय छोड़ दिया!

● सूखी कँटीली झाड़ियाँ
'क्रुद्ध युवकों' की तरह कुड़बुड़ाती हैं,
चरचराती हैं,
अपना खोखला यश दुहराती हैं,
अकड़ कर घसिट जाती हैं,
कहीं चूल्हा सुलगाती हैं।

●

६५, टैगोर नगर, प्रयाग।

शांति मेहरोत्रा

तीन कविताएँ

एक नये दिन का स्वागत

चुने जाने की प्रतीक्षा में
हरसिंगार झर रहा है

वीरान सड़कों से
बवंडर गुज़र रहा है

रंगीन तारीखों से घिरे
रीते वर्ग
अपनी निरर्थकता पर
सिर धुनते हैं

समृद्ध क्षण
पुराने धागे से
नये सपने बुनते हैं

झेलने को
फिर एक नया दिन !

सूरज निकल रहा है :
पिघला हुआ फ़ौलाद
साँचे में ढल रहा है।

तीन पग

आमंत्रित नहीं किया था मुझे
दुर्गम ऊँचाइयों ने,
मैंने ही समझा था
कि बढ़ने वाला हर पग
वामन का होता है।

सामने खुलती गयीं
घाटियाँ दरकी हुई
औरों का दाय जो
स्वयं ही सोख रही थीं,
चट्टानें, जो केवल कुछ करने को
राहें रोक रही थीं,
खिले टेसू से दहकते चीड़-वन,
बादलों के फटे परदे
में छुपा नीला गगन,
सब आत्मलीन !
सब दयनीय !
नप गये जो एक ही पड़ाव में।

क्या रहा अब शेष
बाक़ी दो पगों के हेतु ?

विरह : रेडियो शिल्प में

तुमसे दूर बीता
यह मनहूस दिन
एक मार्मिक नाटक के बीच
बहुत लंबा पॉज़ है।

इसे 'टेप' काट कर
निकाला नहीं जा सकता ?

●

२० ए, घोष बिल्डिंग्स,
जवाहरलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद।

● ●

रमेशचंद्र कौशिक

गुलाब और राजा की बकरियाँ

हमारे गुरु ने गुलाब का एक बिरवा
घर के आँगन में रोपा था
अस्सी करोड़ हाथों में सौंपा था
और सोचा था, सांसारिक शूलों को वहन कर
एक दिन पूर्णता पर पहुँचेगा
उल्लास और आनंद के प्रतीक
लाल-लाल फूलों से दमकेगा
मादक सुगंध से पड़ोस भी गमकेगा।

पौधा बढ़ता है
किंतु फूल खिलने से पहले ही
पत्ते और कलियाँ
खा जाती हैं राजा की बकरियाँ
शेष रह जाते हैं केवल शूल
जो मेरे और तुम्हारे
यानी सभी के पाँवों में चुभते हैं
घावों से दुखते हैं।

●

दिल्ली परिवहन,
सींधिया हाउस, नयी दिल्ली-१।

विद्यानंदन 'राजीव'

टूट रहे देशांतर

दूरियाँ सिमट रहीं
टूट रहे देशांतर
उठ रही धरती गगन की ओर
उतरता है भूमि पर आकाश !
मृत्तिका का आत्मज
पदन्यास करने चल दिया है
अभ्रभेदी पर्वतों के मस्तकों पर
दूरवर्ती अगम चंद्रदिक-गृहों में !
निमिष भर में व्यक्ति का
संसार भर में गूँजता हर शब्द
विश्व-आँगन, नभ-चँदोवा
अखिल संसृति
एक ही परिवार
आज प्रतिपल में बदलता
दिख रहा संसार !

वे पुरातन मान्यताएँ
जीर्ण हो कर टूटती हैं
उठ रहे हैं और
चिंतन के नये अंबार !
बदलते हैं पथ
पगों के बदलते विश्वास
उदित होता है
नवागत का नया दिनमान !
लेखनी भी छोड़ विरस परंपराएँ
पहनती अपना नया परिधान
आज कायाकल्प में रत हो रहे हैं प्राण—
उसके अद्यतन संकल्प—
'परिभाषित करेगी
समय के बदले हुए आयाम'
शब्द जननी को कहाँ विश्राम !

●

शासकीय बहुउद्देश्यीय विद्यालय
पो० ऑ० बरेली (भोपाल) म० प्र०।

इक़बाल बहादुर देवसरे

कहानी

गेंदे का झाड़ और चार फूल

"सुनिए, ज़रा यहाँ आइए।" उत्साहभरी आवाज़ में मेरी श्रीमती सुनीता ने अँगनाई से मुझे पुकारा।

मैं अपने कमरे में बैठा एक कहानी लिखने की मुद्रा में था, इसलिए वहीं से पूछा—"क्या बात है? अभी कुछ लिख रहा हूँ।"

"फिर लिख लीजिएगा। एक मिनट के लिए यहाँ आइए। देखिए, ये कितने सुंदर हैं।" अबकी बार उसकी पुकार और अधिक उत्साह से भरी थी।

आख़िर लिखना बंद कर के अँगनाई में गया। तुलसी-चौरे के पास लगे गेंदे के झाड़ में चार बड़े-बड़े फूल खिले थे। शायद आज ही खिले होंगे, क्योंकि अभी उनके केंद्र वाली पंखुरियां संकुचित ही थीं। फिर भी फूल आकार में असाधारण दिखायी पड़ रहे थे; रंग भी अच्छा था।

सुनीता झाड़ के सामने बैठी फूलों को प्रसन्न मन से निहार रही थी। मेरे वहाँ पहुँचते ही मुस्कराती हुई बोली—"देखिए, कितने सुंदर हैं गेंदे के ये चार फूल! चारो हज़ार पंखुँरियों वाले हैं। और रंग देखिए, तपे सोने को मात कर रहा है! इतना छोटा झाड़ और इतने बड़े फूल! विचित्र सी बात है।"

मैंने सहज भाव से कहा—"लेकिन कौतूहल की क्या बात है। बड़े-छोटे फूल पौधों में खिला ही करते हैं और सुंदर भी होते हैं। उसी तरह ये फूल भी हैं।"

मेरी यह उपेक्षा सुनीता को कुछ खटकी; बोली, "ठीक है। पौधों में बड़े-छोटे फूल ज़रूर खिला करते हैं। लेकिन आपको शायद इस बात का पता नहीं है कि फूलों के आकार-प्रकार और सुंदरता में कुछ विशेषताएँ भी हुआ करती हैं। मुझे वे सभी विशेषताएँ इस झाड़ के इन चार फूलों में दिखायी दे रही हैं।" उसने एक फूल की डाल को हिला कर कहा—"देखिए, कितना आकर्षण है इन फूलों में। सौंदर्य तो जैसे बिखरा पड़ता है। गेंदे के इतने बड़े फूल पहले मैंने कहीं नहीं देखे थे। शायद यह पौधा किसी विशेष जाति का है, तभी तो हथेली के बराबर फूल इसमें खिल रहे हैं। साधारण गेंदे के झाड़ में इस आकार के फूल कहाँ देखने को मिलते हैं! इसकी नस्ल ही कोई दूसरी है। देखिए न, इसकी पत्तियाँ भी कितनी बड़ी-बड़ी हैं। मेरा तो ख़्याल है कि ऐसा गेंदे का झाड़ बड़े-बड़े बाग़ीचों में भी ढूँढें नहीं मिलेगा।"

इस भूमिका को सुन कर मुझे हँसी आ गयी। हँसते हुए मैंने कहा—"शायद गेंदे का यह झाड़ इसीलिए किसी विशेष जाति का है कि इसे श्रीमती सुनीता जी ने लगाया और पाला-पोसा है।"

इस व्यंग्य से सुनीता कुछ लजा सी तो ज़रूर गयी, लेकिन उसके उत्साह में कोई अंतर न पड़ा। वह अब भी बड़ी तन्मयता से फूलों का निरीक्षण कर रही थी। कभी किसी फूल को छूती, कभी किसी की डाल हिलाती और कभी समूचे झाड़ को हिला कर खुश हो रही थी।

वर्षा के आरंभ में सुनीता ने गेंदे का एक चार अंगुल का मरा-सा पौधा जाने कहाँ पा कर, यहाँ तुलसी-चौरे के पास लगा दिया था और फिर नियमित रूप से नहा-धो कर जब तुलसी को जल चढ़ाने बैठती, गेंदे के पौधे की सेवा करना कभी न भूलती थी। आज उसकी सेवाओं का फल उसके सामने था। उस मरे पौधे ने हरे-भरे झाड़ का रूप धारण कर के चार फूल खिलाये थे।

सुनीता को वहीं बैठा छोड़ कर मैं अपने कमरे में आ गया। इस झंझट में कहानी लिखने वाली मुद्रा ग़ायब हो गयी थी। बैठ कर भरसक कोशिश की, लेकिन मुद्रा न बनी और बनती भी कैसे! मेरी मेज़-कुर्सी के सामने जो खिड़की थी, अँगनाई का सारा दृश्य उससे दिखायी पड़ता था। तुलसी-चौरा और गेंदे का झाड़ तो ठीक आँखों के सामने ही था। निगाह उधर ही घूम रही थी। सुनीता अब भी वहाँ आसन जमाये बैठी थी। झाड़ और फूलों के साथ खेलने से अभी जी नहीं भरा था। उसका मुख भी प्रसन्नता के कारण फूल की तरह ही खिला दिखायी दे रहा था। होठों की मुस्कानें अंतर के सुख को स्पष्ट कर रही थीं। मुझे ऐसा लग रहा था मानो वह पौधे के संपूर्ण सौंदर्य को अपनी आँखों में भर लेना चाहती है।

सुनीता को मैंने आज की तरह प्रसन्न पहले कभी नहीं देखा था। अभी पिछले दिनों जब हम दोनों आगरा गये थे, ताज देखने भी गये। वहाँ का सुंदर 'लॉन', हरे-हरे वृक्षों की पंक्तियाँ, फूलों के समूह, जलाशय तथा सजीवता का बोध कराने वाली फूल-पत्तियों की पच्चीकारी, सभी कुछ आँखों देखा और हाथों छुआ था। सुनीता वहाँ की एक-एक कलाकृति पर मुग्ध थी लेकिन किसी से चिपटी नहीं थी। शायद उन सबमें वह चुंबक-शक्ति न थी जो इस गेंदे की तरह सुनीता को अपने से चिपटा लेती।

जाने कहाँ से एक हरे रंग की बहुत छोटी सी चिड़िया आ कर उस गेंदे के झाड़ पर बैठ गयी। उसके फुदकने से झाड़ और फूल हिलने लगे। सुनीता के लिए यह नया आकर्षण था। उसने इस नये आनंद में मुझे भी शरीक़ करना चाहा। आवाज़ दी—"सुनिए, ज़रा जल्दी से यहाँ आइए। एक नया तमाशा दिखायें।"

मैं खिड़की से वह तमाशा देख ही रहा था, इसलिए कमरे के अंदर से ही बोला—"नये तमाशे को देख कर तुम्हीं खुश हो लो। मुझे क्यों बार-बार परेशान करती हो।"

वह कुछ क्षुब्ध सी हो कर बोली, "बड़े नीरस हैं आप!" फिर अपने आप धीरे-धीरे बड़-बड़ाने लगी, "बड़े लेखक और कवि बनते हैं। जाने कहानी, कविता कैसे लिखते हैं। कहाँ से भाव पाते होंगे। कैसे अनुभूतियाँ जागती होंगी! जिसे सौंदर्य-बोध नहीं, जिसके हृदय को ये

झाड़ और ये सुंदर बड़े-बड़े फूल नहीं गुदगुदा पाते, वह कवि या लेखक कैसा ! भावुकता तो इनसे कोसों दूर जान पड़ती है।"

मेरे कान उधर ही लगे थे। झुँझला कर आवाज़ दी—"आज खाना नहीं मिलेगा क्या ? मालूम होता है भूखे ही दफ़्तर जाना पड़ेगा।"

उसका स्वप्न टूटा। उठी और रसोईघर की तरफ़ चल पड़ी, लेकिन गर्दन मोड़-मोड़ कर झाड़ को निहारती जाती थी।

जिस मकान में हम लोग रह रहे थे, एक मारवाड़ी सेठ का था। सेठ कुछ भला आदमी न था। हर तीसरे-चौथे महीने कोई न कोई बहाना ले कर किराया बढ़ाने की चेष्टा करता रहता था, इसलिए इस मकान को छोड़ने-बदलने की बात एक अर्से से चल रही थी। थोड़ी परेशानी के बाद दूसरा मकान मिल गया था। नया बना मकान था। काफ़ी गुंजायश के बावजूद किराया कम था। मकान-मालिक बहुत भले थे। और सबसे सुविधा की बात तो यह थी कि वहाँ से मेरा दफ़्तर क़रीब था। सुनीता को मकान का यह सब क़िस्सा मालूम था। भोजन करते समय मैंने उससे कहा—"आज मैं एक-डेढ़ बजे तक दफ़्तर से मनुवाँ को भेज दूँगा। सब सामान बँधवा लेना। कल शाम तक नये मकान में पहुँच चलना होगा; क्योंकि परसों पहली तारीख़ है।"

"किसी दूसरे शहर में थोड़े ही जाना है। इस मुहल्ले से दो मुहल्ले आगे ही तो जाना है; ट्रक का प्रबंध कर लीजिएगा। एक बार में सब सामान आसानी से चला जायगा। बाँधने की भी विशेष ज़रूरत नहीं है। ट्रक के साथ जाने वाले को सामान पर निगाह रखने की ज़रूरत होगी। यों तो क़ीमती तथा टूटने-फूटने वाली चीज़ें मैंने बहुत पहले से बक्सों में बंद कर रखी हैं।" सुनीता ने कहा।

"तब ठीक है। आज दफ़्तर से लौटते समय मैं ट्रक वाले सरदार जी से कह दूँगा। कल दोपहर बाद वे ट्रक भेज देंगे। छुट्टी का दिन भी है; सब काम सहूलियत से हो जायगा।"

खाना खा कर मैं बैठक में आया और दफ़्तर जाने की तैयारी करने लगा। सुनीता भी रसोईघर से आ कर खिड़की के पास खड़ी हो गयी और वहाँ से गेंदे के झाड़ को निराहती हुई बोली—"हाँ, ये तो बताइए, मेरे इस गेंदे के झाड़ का क्या होगा ?"

"क्या होना है। यहीं लगा रहेगा।" मैंने सहज भाव से उत्तर दिया।

"वाह, आप कितने नीरस हैं। सौंदर्य से थोड़ा भी प्रेम नहीं। इसमें कितने बड़े-बड़े फूल खिले हैं। इतने सुंदर फूल उस मकान में कहाँ देखने को मिलेंगे ?"

"अगर तुम्हें फूलों का बहुत ज़्यादा मोह है, तो तोड़ कर साथ लिये चलना।"

"आप कैसी बात कहते हैं ? पेड़ पर से तोड़ लेने पर फूल मुर्झा कर सूख न जायँगे। ये ताज़गी कहाँ रहेगी ? फूलों की सुंदरता तो झाड़ पर लगे रहने में ही दिखायी देती है।"

"तो क्या तुम समझती हो कि वे हमेशा ऐसे ही तरोताज़ा बनें रहेंगे। पेड़ पर लगे रहने पर भी दो-चार दिन में सूख कर झड़ जायँगे। फूलों की ज़िंदगी ही कितने दिन की होती है ! खिले और सूखे और झड़े।"

"आपको पता नहीं है। गेंदे के फूल अगर झाड़ पर लगे रहें और पौधे को खाद-पानी मिलता

रहे, तो फूल महीनों ज्यों के त्यों ताज़े दिखायी पड़ते हैं। फिर गेंदे के फूलों की पँखुरियाँ तो कभी झड़ कर गिरती ही नहीं।" उसने दृढ़ता के साथ कहा।

"तब तुम चाहती क्या हो?" मैंने एक प्रकार से उसकी दलील को मान कर पूछा।

"मैं इस झाड़ को यहाँ लगा नहीं छोड़ जाना चाहती। किसी भी उपाय से इसे नये मकान में ले चला जाय।"

"ठीक है, उखाड़ कर लिये चलना।"

"फिर वही बेतुकी बात। उखाड़ कर ले चलने पर समूचा झाड़ नष्ट हो जायगा। इसे तो इसी तरह हरा-भरा वहाँ पहुँचना चाहिए।"

मैं सोचने लगा, कितनी ममता है इसे गेंदे के झाड़ से। जैसे का तैसा उठा ले चलना चाहती है। किसी को मकान से मोह हो जाता है। छोड़ने पर दुख होता है। किसी को मुहल्ले-पड़ोस के मिलने-जुलने वालों का बिछोह सताता है। फिर जिस तुलसी के पौधे को ये नियमित रूप से सवेरे जल चढाया करती, संध्या में आरती उतार कर अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पण किया करती थी, उस तुलसी को नये मकान में ले चलने का कोई मोह नहीं। केवल गेंदे के झाड़ के प्रति इतना ममत्व क्यों? मैंने उससे पूछा--"पहले ये तो बताओ कि गेंदे के झाड़ से तुम्हें इतनी ममता क्यों है?"

वह कुछ न बोली। मैंने कहा—"शायद तुम्हें गेंदे के झाड़ से इसीलिए प्रेम है कि वह तुम्हारा पाला-पोसा है या उसमें बड़े-बड़े फूल खिल रहे हैं, जिनका रूप-रंग तुम्हें भा रहा है। अगर यही है, तो नये मकान में पहुँच कर किसी दूसरे फूल के पौधे को लगा लेना। उसमें भी समय पर फूल खिलेंगे। मैं श्री मेहता के बग़ीचे से गुलाब के जड़ोंधे ला दूँगा। लाल फूल वाला हज़ारी-बाग़ का गुलाब है। उसके फूलों को देख कर तुम गेंदे के इन फूलों को बिलकुल भूल जाओगी।"

सुनीता अनमनी सी हो कर बोली—"नहीं चाहिए मुझे आपका वह गुलाब का जड़ोंधा और उसके फूल।"

"क्यों? तुम्हें गुलाब के फूल सुंदर नहीं प्रतीत होते?"

"सुंदर-असुंदर लगने की बात नहीं है। अपनी-अपनी रुचि है।"

मुझे याद आया। एक पुस्तक में सौंदर्य-बोध के विषय में पढ़ा था—'सौंदर्य एक मानसिक अवस्था है, जो किसी वस्तु विशेष में नहीं, मानव-हृदय में विद्यमान है। उसी का नाम रुचि है। मनुष्य के हृदय में वास करने वाली वह रुचि जिस वस्तु को सुंदर समझ कर उसकी ओर आकृष्ट होती है, उस वस्तु में भी मानव-मन को अपनी ओर खींचने की एक विशेष शक्ति या आकर्षण हुआ करता है। मानवी रुचि तथा वस्तु-शक्ति जब आपस में मिल जाती हैं तो उससे सौंदर्य-बोध की उपज होती है। और मनुष्य को वह वस्तु सुंदर प्रतीत होने लगती है।'

मुझे सुनीता और गेंदे के झाड़-फूलों में यही रहस्य छिपा जान पड़ा। उसे अनमना देख कर मैंने दिलासा के भाव में कहा—"इस समय तो मैं दफ़्तर जा रहा हूँ, लौट कर सोचूँगा कि वह झाड़ किस प्रकार नये मकान में ले जाया जा सकता है।"

वह कुछ सोच कर बोली—"मेहता का बंगला तो आप के दफ़्तर के रास्ते में है!"

"हाँ, क्यों, गुलाब का जड़ोंधा चाहिए?"

"नहीं, उसकी ज़रूरत नहीं है। इस झाड़ के विषय में एक उपाय मेरी समझ में आया है। मेहता के बाग़ीचे के माली से इसे उखाड़ ले चलने के बारे में पूछा जाय। वह ज़रूर कोई सुगम उपाय बता देगा। माली ठहरा, पौधों को इस क्यारी से उखाड़ कर उस क्यारी में लगाना उसका रोज का काम होगा। और अगर हो सके तो ज़रा देर को यहाँ आ कर पौधे को देख-समझ ले।"

"सोचा तो ठीक है। ख़ैर, दफ़्तर से लौटते समय उससे बात करूँगा।"

दफ्तर से लौटते समय मैंने माली से बात की, उसने पौधे को उखाड़ कर गमले में जमा देने का वादा किया। मैंने सुनीता को बता दिया और उसे ढाढ़स बँध गया।

दूसरे दिन सवेरे ही बूढ़ा माली मिट्टी का एक गमला ले कर आ गया। उसने पहले झाड़ के चारों ओर की मिट्टी को पानी से अच्छी तरह तर किया और फिर खोदना शुरू किया। सुनीता पूर्ण सतर्कता के साथ उसका हाथ बँटाने को मौजूद थी। चेतावनी भी देती जा रही थी—"देखना, बहुत सँभाल कर खोदना, पौधे की कोई जड़ न टूटने पाये! देखना, वह डाल लचक सी रही है। उस किनारे वाले फूल को धक्का न लगे। ठहरो, मैं उसे सँभालती हूँ।"

माली ने पूरी सावधानी के साथ मिट्टी सहित झाड़ को उखाड़ कर गमले में बैठा दिया। उसकी ताज़गी में थोड़ा भी फ़र्क़ न पड़ा। सुनीता माली के कार्य से बहुत ख़ुश हुई। पाँच रुपया का नोट ला कर उसके हाथ में रख दिया।

उसी दिन तीसरे पहर नये मकान में जाने की व्यवस्था होने लगी। ट्रक आ कर दरवाज़े पर खड़ा हो गया। सामान लादा जाना आरंभ हो गया। जब सब सामान ट्रक पर रख गया, मैंने सुनीता से कहा—"अपने इस झाड़ को भी ट्रक पर रखवा दो। सामान के साथ ये भी वहाँ पहुँच जायगा।"

"नहीं, इसे सामान के साथ ट्रक पर नहीं भेजूँगी।" वह बोली।

"क्यों, क्या हर्ज है।"

"रास्ते में जाने कैसा क्या हो। ट्रक के धक्कों और मनुवाँ की असावधानी से गमला टूट-फूट जाय, कोई डाल नष्ट हो जाय या किसी फूल को कुछ हानि पहुँच जाय।"

ट्रक सामान ले कर चला गया। मैंने कुछ रूखे स्वर से पूछा—"अब ये किस तरह जायगा?"

वह भी कुछ खीझ सी गयी, बोली—"जिस तरह मैं जाऊँगी उसी तरह ये भी जायगा।"

मैं समझ गया, गेंदे का यह झाड़ सुनीता की दुखती हुई नस है। अनहोनी घटनाओं की आशंका के कारण ये अपने झाड़ की ज़िम्मेदारी किसी दूसरे को नहीं सौंपना चाहती।

संध्या निकट थी, मैंने टैक्सी लाने के लिए आदमी भेज दिया। टैक्सी आ जाने पर मैंने कहा, "जल्दी सवार हो जाओ। अँधेरा होने से पहले वहाँ पहुँच जाना ठीक होगा।"

सबसे पहले उसने गमले को उठा कर सावधानी से पिछली सीट के सामने रखा और फिर ख़ुद आप सीट पर बैठ गयी। मैं उसकी बगल में बैठ गया। टैक्सी चल दी।

सुनीता का ध्यान पूर्ण रूप से झाड़ पर जमा था। एक हाथ से गमला पकड़े थी और दूसरे से फूल-पत्तियों को सहला रही थी। आँखें तो मानो संपूर्ण झाड़ का संतुलन साधे हुए थीं। उसे इस प्रकार व्यस्त देख कर मैंने कहा—"क्यों इस क़दर परेशान हो रही हो, गमला गिरा थोड़े ही जाता है।"

उसने एक बार मेरी तरफ़ देखा और फिर झाड़ पर दृष्टि जमा ली।

नये मकान में पहुँचते ही सुनीता गमले की व्यवस्था करने में पागल सी हो गयी। समस्त कमरों-बरामदों में घूम कर बार-बार मुझसे पूछती—"इसे कहाँ रखें? कौन सा स्थान ठीक होगा! अँगनाई तो इस मकान में है नहीं। खुले बरामदों में रखना ठीक न होगा। ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ यह सुरक्षित भी रहे और धूप-हवा भी पाता रहे।"

दो-एक स्थान मैंने बताये, लेकिन वे उसे पसंद न आये। दो-तीन बार अपने कमरे में आयी-गयी, फिर बोली—"मेरे कमरे में पूर्व की ओर जो बड़ी खिड़की है, उसके पीछे तो बहुत अच्छा खुला मैदान है। अगर उस खिड़की के सामने छोटी मेज़ लगा कर उस पर गमले को रख लिया जाय तो कैसा रहे? वहाँ झाड़ को धूप और हवा दोनों मिल सकेंगे। साथ ही मैं भी हर वक़्त देख-भाल कर सकूँगी?"

ट्रक से उतरा हुआ सारा सामान इधर-उधर बेतरतीब पड़ा था। मेरा ध्यान उसे ठिकाने से रखवा देने की तरफ़ था। इसलिए मैं कुछ खीझ सा गया, बोला, "तुम तो झाड़ के पीछे पागल हो रही हो। सारा असबाब बिखरा पड़ा है, उसकी कोई चिंता नहीं है। सिर्फ़ गमला ठिकाने से रखने की धुन सवार है। अपना भी समय बर्बाद करती हो और मेरा भी। इतने बड़े मकान में जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, जो जगह तुम्हें पसंद आये, वहाँ रख लो।"

उसने अंत में अपने कमरे की बड़ी खिड़की के सामने मेज़ पर गमले को रख लिया।

नये मकान में आये आठ-दस दिन हो गये थे; सुनीता अपने झाड़-फूलों पर पूर्ववत मुग्ध थी। नियम पूर्वक गमले में पानी डाला जाता था, तीसरे चौथे दिन खाद डाली जाती थी और दिन में बीसियों बार फूल-पत्तियों को सहलाया-दुलराया जाता था। झाड़ में खिले हुए फूल भी सुनीता को अपने सौंदर्य-पाश में बाँध लेने पर तुले हुए थे। दिन-प्रतिदिन उनका आकार और आकर्षण बढ़ता चला जा रहा था। केंद्र वाली संकुचित पंखुरियाँ भी अब बड़ी हो कर खिल रही थीं।

एक दिन मैं दफ़्तर से लौटा तो मुझे सुनीता बहुत अधिक प्रसन्न नज़र आयी। अभी कपड़े ही बदल पाया था कि उसने मुस्कराते हुए कहा—"मुँह-हाथ धोने के पहले एक मिनट के लिए मेरे कमरे में चलिए।"

"क्यों, कोई ख़ास बात है?" मैंने पूछा।

"चलिए तो सही, ख़ास ही बात है।" उसने आग्रह से कहा।

उसके साथ कमरे में पहुँचा। झाड़ के पास ले जा कर वह मुस्कराती हुई बोली—"अब इसकी सुंदरता और बहार देखिए!"

गेंदे का वह झाड़ मिट्टी के गमले की अपेक्षा, बहुत ही सुंदर, रँगी बेल-बूटे वाले चीनी

६

मिट्टी के बड़े से गुलदान में लहलहा रहा था। उस गुलदान के कारण वास्तव में झाड़-फूलों का सौंदर्य दूना बढ़ गया था। मैंने पूछा—"ये गुलदान कहाँ था?"

"पहले ये कहिए कि अब ये झाड़ कैसा दिखायी दे रहा है?"

"बहुत सुंदर नज़र आ रहा है। लेकिन इतना ख़ूबसूरत गुलदान तुम्हें मिल कहाँ से गया?"

"आज ही कलकत्ते से आया है।" वह हँस कर बोली।

"मज़ाक छोड़ो। सच कहो, कहाँ पाया। ये तो बहुत क़ीमती गुलदान मालूम होता है। इस डिज़ाइन और कारीगरी के गुलदान आजकल बाज़ार में कहीं नहीं दिखायी पड़ते।"

"आप सरला माथुर को तो जानते होंगे?"

"कौन सरला माथुर?" मैंने अनभिज्ञता से पूछा।

"मेरी सहेली सरला माथुर को आप नहीं जानते? सरला उन्हीं की तो पत्नी है, जो कभी-कभी आपके पास आया करते हैं और घंटों बैठ कर ग़ज़लें सुनाया करते हैं, जिन्हें आप फ़िज़ा साहब कहा करते हैं।"

"समझ गया, निरंजनलाल माथुर 'फ़िज़ा' लखनवी।"

"हाँ, उन्हीं की तो पत्नी है सरला।"

"तो वह तुम्हारी सहेली हैं। हाल ही में व्याह कर आयी हैं।"

"हाल में व्याह कर आयी हैं तो क्या हुआ। हम और सरला एक साथ ही पढ़ते थे। साथ-साथ ही संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। वह तो मेरी बहुत पुरानी सहेली है।"

"ख़ैर, इस गुलदान के मिलने की बात कहो।"

"वही तो बतला रही हूँ। सरला को मालूम था कि मैं यहाँ हूँ। इसलिए आज दोपहर में मकान का पता लेती हुई वह आयी थी। मिलने-मिलाने के बाद मैंने उसे अपना ये झाड़ दिखलाया। इतने बड़े फूल देख कर अचंभे में पड़ गयी। लेकिन वह मिट्टी वाला गमला उसे खटक गया, बोली—'इतने आकर्षक फूलों वाला झाड़ इस मिट्टी के गमले में अच्छा नहीं मालूम होता। बल्कि इस गमले के कारण झाड़-फूलों की चमक-दमक फीकी पड़ रही है। इस झाड़ को तो किसी सुंदर गुलदान में जमा कर रखना चाहिए।' मैं उसके कहने का कोई उत्तर न दे सकी। वह कहने लगी, 'मेरे यहाँ पुराने ज़माने का एक गुलदान खाली पड़ा हुआ है। मेरा ख्याल है कि वह इस झाड़ के लिए ठीक साबित होगा। अभी जा कर उसे भेज दूँगी।' कुछ देर बैठ कर सरला गयी और नौकर के हाथ उसे भेज दिया। इत्तफ़ाक़ से उसी समय मेहता साहब का वह बूढ़ा माली भी पौधे की हालत देखने आया। मेरे आग्रह पर उसने झाड़ को मिट्टी के गमले से निकाल कर इस गुलदान में बैठा दिया। मैंने उसे दो रुपये इनाम के तौर पर दे दिये।"

इसके बाद हम दोनों चाय पीने के लिए उसी कमरे में बैठे। कुछ इधर-उधर की बातों के बाद सुनीता एक क्षण झाड़ को लालसाभरी दृष्टि से देखती रही, फिर मुस्कराती हुई बोली —"मैं समझती हूँ, 'धर्मयुग' आदि सचित्र पत्रों में फूल-पौधों के जो रंगीन चित्र छपा करते हैं, वे ऐसे ही आकर्षक फूल-पौधों के फोटो ले कर छापे जाते होंगे।"

"हाँ, रंगीन फोटो उतारने के रंगीन फ़िल्म आते हैं। उन्हीं से फोटो ले कर और फिर बड़ा-छोटा ब्लॉक बनवा कर छापे जाते हैं। क्यों?"

"कुछ नहीं, यों ही पूछ लिया।" उसने सकुचाते हुए कहा।

"हमारे दफ़्तर के एक बाबू भी 'फोटोग्राफी' के शौक़ीन हैं। अक्सर सुंदर दृश्यों आदि के रंगीन फोटो खींच कर पत्रिकाओं में छपाते रहते हैं। पैसा भी मिलता है और शौक़ भी पूरा होता है। काम करते-करते अच्छा अभ्यास हो गया है उन्हें।"

"पत्रों में छपे हुए वे चित्र बिल्कुल सजीव से मालूम होते हैं।" सुनीता फूलों की तरफ़ देख कर बोली।

"तुम अपना मतलब कहो। इस जिज्ञासा के पीछे तुम्हारे दिमाग़ में ज़रूर कोई नयी बात चक्कर काट रही होगी।" मैंने मुस्कराते हुए कहा।

वह भी मुस्करायी, बोली—"बात कोई खास नहीं है। हाँ, ख्याल में ये ज़रूर आया है कि अगर इस पौधे का भी रंगीन फोटो उतारा जा कर उसी तरह का चित्र बने तो कितना सुंदर मालूम हो।" उसकी निगाह फिर झाड़ की ओर घूम गयी। फिर भी मेरी ओर देख कर बोली—"क्या आप के दफ़्तर वाले बाबू इस झाड़ का फोटो न उतार देंगे?"

"उतार क्यों न देंगे। लेकिन रंगीन 'फोटोग्राफी' बहुत महँगी पड़ती है।"

"महँगे-सस्ते का तो कोई प्रश्न नहीं है। यदि 'धर्मयुग' के चित्रों जैसा इसका चित्र बन सके तो 'फोटो', 'फ्रेम' आदि में सौ रुपया तक ख़र्च करने को मैं राज़ी हूँ।"

मैंने व्यंग्य किया—"इतना पैसा बेकार क्यों बर्बाद किया जाय। अगर तुम्हें गेंदे के फूलों का चित्र अपने पास रखना ही पसंद है तो पैसे की तरक़ीब मैं बता सकता हूँ।"

"हाँ, बताइए।" उसने उत्साह से भर कर पूछा।

"मेरे दफ़्तर में फूलों के बीजों की ढेरों सूचियाँ पड़ी हैं। उनमें हर प्रकार के फूलों के बड़े-बड़े रंगीन चित्र छपे रहते हैं। गेंदे के भी होंगे। आज दस-पाँच सूचियाँ लेता आऊँगा। देख कर अपनी पसंद का काट लेना। जी चाहे तो 'फ्रेम' भी करा लेना।"

वह मेरी ओर से मुख फेर कर दूसरी ओर देखने लगी। मैं समझ गया कि उसे मेरा व्यंग्य खटक गया है। फिर भी मैंने हँस कर पूछा—"क्यों, क्या सूचियों के चित्रों से तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण न होगी?"

सुनीता क्षुब्ध हो कर बोली—"रहने दीजिए। मुझे मजाक़ अच्छा नहीं मालूम होता। मजाक़ के मौक़े पर ही मजाक़ भला लगता है।"

मैंने सोचा—लोग तो अपनी श्रीमतियों का दिल रखने के लिए जाने क्या-क्या करते हैं। उनके अनुरोध के पीछे मर मिटते हैं। आगरे का वह ताजमहल शाहजहाँ ने अपनी बेगम के अनुरोध पर ही तो बनवाया था। और कुछ न सही, किंतु सुनीता का यह आग्रह पूरा करना तो कोई कठिन बात नहीं है। बाबू से ज़बान ही तो हिलाना पड़ेगी।

मैंने कहा—"खैर, मजाक़ खतम हो गया। अब सच कहो, क्या तुम इस झाड़ का रंगीन फोटो खिंचाना ही चाहती हो?"

"जी तो यही चाहता है। लेकिन आप तो मज़ाक़ करते हैं।"

"अच्छी बात है। कल दफ़्तर में बाबू से बात करूँगा।"

दूसरे दिन दफ़्तर में मैंने बाबू से सुनीता का अनुरोध स्पष्ट किया। बाबू सहर्ष तैयार हो गये। अगले दिन दूसरा शनिवार था। सबेरे ही कैमरा ले कर बाबू आ गये। गेंदे के झाड़ का फोटो खिंच गया। सुनीता ने उत्साह भरे स्वर में बाबू से पूछा—"चित्र कब देखने को मिलेगा?"

"पंद्रह-बीस दिन बाद। बंबई से बन कर आयेगा।" बाबू ने उत्तर दिया।

बाबू के चले जाने के बाद वह मुझसे बोली—"आप बाज़ार जायँ तो किसी 'फ़ेंसी' वस्तुओं के 'स्टोर' में कोई नये 'डिज़ाइन' का चाँदी का 'फ़्रेम' चित्र के लिए देख रखिएगा।"

"ओ हो, चाँदी के 'फ़्रेम' में चित्र रखा जायगा?" मैंने मुस्करा कर कहा।

वह भी थोड़ा मुस्करायी, बोली—"क्यों, इतने सुंदर फूल-पौधे का चित्र चाँदी के फ़्रेम में न सजाया जायगा, तो क्या चार पैसे वाले किसी काठ के चौखटे में रखा जायगा।"

अब गेंदे का वह झाड़ सुनीता के लिए केवल आकर्षण की वस्तु न था। बल्कि अकेले का साथी और मन को प्रफुल्लित रखने का साधन बन गया था। जब मैं दफ़्तर चला जाता, वह गुलदान के सामने बैठ कर झाड़-फूलों से खेला करती। पहले वह अवकाश के समय में अक्सर तानपूरा ले कर बैठ जाती थी और किसी न किसी गति का अभ्यास किया करती थी या कभी कोई पुस्तक ले कर बैठ जाती थी। लेकिन जिस दिन से गेंदे के फूलों का रोग उसके पीछे लगा था पिछले सभी मनोरंजन जाते रहे थे। दिन-दिन भर फूल-पत्तियों से खेलती रहती थी। इस खिलवाड़ से उसका जी कभी नहीं ऊबता था। दोपहर में अगर कोई सखी-सहेली मिलने आ जाती, तो उसे भी बरबस सुनीता के खिलवाड़ में शरीक होना पड़ जाता था। अक्सर जब मैं दफ़्तर से लौटता, सुनीता मुझे झाड़ के संमुख बैठी मिलती थी। यदि मैं कभी पूछ लेता—"इस खिलवाड़ से तुम्हारा जी नहीं ऊबता?" वह शीघ्र कहती—"दफ़्तर से आपका मन क्यों नहीं ऊबता।" कुछ भी हो, गेंदे के फूल-पौधे ने सुनीता के जीवन में एक नयी स्फूर्ति और उत्साह भर दिया था।

पंद्रह-बीस दिन बीत गये। एक दिन दफ़्तर में फोटो वाले बाबू ने एक 'पैकेट' ला कर मेरे सामने रख दिया, बोले—"बंबई से उस झाड़ का चित्र बन कर आ गया है।" मैंने पैकेट खोल कर देखा। दस-बारह के नाप में बहुत सुंदर चित्र बना था। बिलकुल सजीव सा दिखायी देता था। रंगों में तो ग़ज़ब की चमक-दमक थी। मुझे देखते-देखते मुझे स्मरण हो आया कि उस दिन सुनीता ने इस चित्र के लिए एक ख़ूबसूरत चाँदी के 'फ़्रेम' का आग्रह किया था। मैं दफ़्तर से कुछ पहले उठ कर सदर बाज़ार की तरफ़ चल दिया। बाज़ार में मुझे 'फ़्रेम' के लिए अधिक परेशान नहीं होना पड़ा। 'फ़ेंसी' वस्तुओं के 'स्टोर' में बहुत अच्छे 'डिज़ाइन' का 'फ़्रेम' चित्र ही के नाप का मिल गया। दाम ज़रूर कुछ अधिक देना पड़े, लेकिन सुनीता के आग्रह के आगे 'फ़्रेम' की महँगाई मुझे अखरी नहीं। चित्र को 'फ़्रेम' में 'फ़िट' करा कर घर लौटा। सुनीता पलंग पर तकिये में मुँह धँसाये पड़ी थी। आवाज़ दी—

"सुनीता?"

कोई उत्तर न मिला।

घवड़ा कर पलँग के पास पहुँचा और कंधा हिला कर पूछा—"सुनीता, क्या बात है? बेवक़्त कैसा मुँह औंधाये पड़ी हो?"

उसने धीरे से सिर उठा कर कातर दृष्टि से मेरी ओर देखा और फिर तकिये में मुँह छिपा लिया। उसका मुँह आँसुओं से भरा था।

"क्या तबीयत खराब है? सिर में दर्द हो रहा है? डॉक्टर वर्मा को बुलाऊँ।"

"नहीं।" वह धीरे से बोली।

"फिर तुम रो क्यों रही हो? मुख आँसुओं से क्यों भरा है?"

उसने सिर उठाया; बोली, "मेरा गेंदे का झाड़ और फूल"...गला भर आया; आगे कुछ न कह सकी।

"क्या हुआ तुम्हारा गेंदे का झाड़?" मैंने कौतूहल से पूछा।

"ख़तम हो गया...मेरी ही असावधानी के कारण उसे गाय खा गयी।...गुलदान भी टुकड़े-टुकड़े कर डाला।" उसने अपराधिनी की तरह कहा।

"अरे, ये सब कैसे हो गया? क्या तुम कमरे में नहीं थीं। वहाँ गाय कैसे पहुँच गयी?"

वह कुछ देर मौन रह कर बोली—"उसे समाप्त कर देने की अपराधिनी मैं स्वयं हूँ। गाय का कोई दोष नहीं। वह तो पशु ही है। दोषी मैं हूँ। झाड़ आदि की रक्षा करना मेरा काम था, मेरी ज़िम्मेदारी थी।"

"मगर यह सब हुआ किस तरह! मुझे तो इसी बात की हैरत है।" मैंने पलंग पर बैठते हुए कहा।

सुनीता आँचल से आँखें पोंछ कर बोली, "आज दोपहर में श्रीमती सक्सेना और श्रीमती शर्मा मिलने आयी थीं। मैं झाड़ के सामने बैठी फूलों से खेल रही थी, उन्हें भी वहीं बैठा लिया। झाड़ और फूलों को देख कर दोनों बहुत ख़ुश हुईं। बहुत देर तक वे दोनों भी झाड़-फूलों के साथ खेलती रहीं।"

मैंने बीच में टोका—"तब उसे उन दोनों की नज़र लग गयी।"

"नज़र क्या लग गयी। पूरी बात सुनिए। कमरे के अंदर फूलों की चमक-दमक कुछ धीमी सी मालूम पड़ती थी। श्रीमती शर्मा ने उसे बाहर वाले बरामदे में ले चलने का आग्रह किया। मैंने गुलदान को ले जा कर बाहर वाले बरामदे में रख दिया। प्रकाश में फूलों का रंग बिलकुल कुंदन की तरह चमक उठा। देख कर हम लोगों के मन में गुदगुदी पैदा होने लगी। बहुत देर तक वे लोग यहाँ रहीं। जाते समय मैं उन्हें छोड़ने के लिए फाटक पर गयी और बातों की धुन में सामने वाली सड़क को पार कर गयी। फाटक खुले होने का ध्यान बिलकुल दिल से उतर गया। शायद इसी बीच में गाय बरामदे में पहुँच गयी। जब मैं वापस लौटी, देखा, गुलदान टूटा-फूटा पड़ा है। गाय फूल-पत्तियों से पेट भर चुकी है। बचे हुए दो-चार डंठलों को चबा रही है।"

इसके बाद वह आँचल से मुँह ढाँक कर सिसकियाँ भरने लगी।

मेरी समझ में न आया कि सुनीता अपनी ज़िम्मेदारी को पूरा न कर सकने की ग्लानि को ले कर रो रही है अथवा गेंदे के झाड़ और उसके चार फूलों के मोह-पाश में बँध कर। साधा-

रण से फूल-पौधे के लिए इतना संताप क्यों ? जाने कितने सुंदर फूल प्रतिदिन खिलते हैं, मुरझाते हैं और सूख-झड़ कर मिट्टी में मिल जाते हैं। कौन उनके लिए रोता है ! प्रकृति का नियम ही कुछ ऐसा है।

मैंने उसे ढाढ़स दिया—"बेकार के दुख-दर्द से मन को क्यों बोझल बना रही हो ? आज नहीं, दस दिन बाद तो उसे सूख ही जाना था। उसके लिए व्यर्थ का दुख लिये बैठी हो। और अगर तुम्हें एक गेंदे के पौधे से ही प्रेम है तो दूसरा लगा लेना।"

वह भरे गले से बोली—"अब दूसरा लगा कर क्या करूँगी !"

मैंने 'पैकेट' खोला और 'फ़्रेम' में 'फ़िट' चित्र निकाल कर उसके हाथ में देते हुए कहा, "उस झाड़ का चित्र आज बंबई से बन कर आया है। 'फ़्रेम' भी चाँदी का, जैसा तुम चाह रही थीं, 'फ़ैंसी स्टोर' में मिल गया।"

सुनीता कुछ देर तक चित्र को लालसाभरी दृष्टि से देखती रही। फिर मेरे हाथ में दे कर बोली—"इस 'फ़्रेम' से यह चित्र निकाल कर कोई दूसरा लगा दीजिए।"

मैंने आश्चर्य से पूछा—"क्यों, तुमने तो बड़े उत्साह से रंगीन 'फोटो' खिचवाया था। उस पौधे के अभाव में इस चित्र से ही मन बहलाया करना।"

"नहीं।"

और उसने फिर तकिये में मुँह छिपा लिया। सिसकियाँ उभरने लगीं। मैं चुपचाप बैठा उसकी मासूम सिसकियों को बटोर कर अपने हृदय में भर लेने की चेष्टा करने लगा।

—द्वारा हरिकृष्ण देवसरे,
आकाशवाणी, भोपाल।

सूर्यप्रसाद दीक्षित

'साकेत' का प्रतिपाद्य

'साकेत' के प्रतिपाद्य तत्व पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। यह प्रश्न अनेक शंकाओं को जन्म देता है क्योंकि सारी समस्याओं का यही उद्गम है। प्रतिपाद्य का निर्णय हो जाने पर सारे रहस्य स्वयं ही सुलझ जाते हैं। इस प्रश्न के संबंध में निम्नलिखित विचार उठते हैं—

१. **उर्मिला के प्रति संवेदना**—'साकेत' का चरम प्रतिपाद्य कुछ विद्वानों की दृष्टि में उर्मिला के प्रति संवेदना व्यक्त करना है। इस कथन के पीछे दो तर्क हैं। एक तो उर्मिला इस काव्य की रचना में प्रेरणादायिनी रही है। रवींद्र के 'काव्येर उपेक्षिता नारी' और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक निबंधों ने गुप्त जी को इस ओर संभवतः प्रेरित किया होगा। गुप्त जी द्विवेदी जी के प्रिय शिष्य रहे हैं। वे इस ओर सामान्यतः प्रवृत्त न हुए होते—**महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद** और तब उर्मिला को प्राधान्य न मिला होता—ऐसा हम अनुमान कर लेते हैं। दूसरी ओर 'साकेत' में सर्वत्र, सप्रयास उर्मिला को उपस्थित किया गया है। अनेक सर्गों में वही कथा-सूत्र की संचालिका है; उसी के फलागम से काव्य की परिसमाप्ति की गयी है। कवि ने परंपरा से मूक पात्री उर्मिला को अत्यधिक गतिशील और मुखर बनाया है, उसके पात्रत्व को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है, इसलिए इस काव्य के प्रतिपाद्य के रूप में उर्मिला को स्वीकार करने का विचार मस्तिष्क में स्वभावतः उत्पन्न होता है।

२. **राम का चरित्रांकन**—'साकेत' में कथावस्तु के अनुपात को देखते हुए यह उक्ति भी उचित प्रतीत होती है कि साकेतकार का प्रमुख प्रतिपाद्य येन केन प्रकारेण राम-कथा का समग्र उपस्थापन करना है। कवि ने बड़ी प्रबंध-वक्रता के साथ, अनेक पात्रों के माध्यम से, अनेक घटनाओं के व्याज से राम-कथा का प्रतिपादन किया है। समस्त काव्य पर राम का 'चरित' आरोपित किया गया है। कवि को राम का वृत्त स्वयं ही काव्यमय ज्ञात होता है, वह राम के ईश्वरीय एवं मानवीय रूप में मनसा, वाचा, कर्मणा रमना चाहता है। इस प्रकार की आरंभिक उक्तियाँ कवि की आस्था का साक्ष्य प्रस्तुत कर के काव्य के केंद्र-बिंदु का संकेत करती हैं जिससे हमारी यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि राम-कथा ही वस्तुतः 'साकेत' का मुख्य प्रतिपाद्य है।

३. **चमत्कार-प्रदर्शन**—कुछ विद्वानों का यह भी अभिमत है कि साकेतकार कथा-कथन या वस्तु-प्रतिपादन की अपेक्षा चमत्कार-प्रदर्शन में अधिक प्रवृत्त हुआ है और यही मूलतः

उसका प्रतिपाद्य है। इस तर्क के पक्ष में 'साकेत' के कुछ स्फुट कथन हैं जिनमें कवि अपनी लेखनी, अपनी कल्पना-शक्ति या अपनी विलक्षण अलंकरण-वृत्ति उत्प्रेरित करता है, यथा—

लेखनी, अब किसलिए विलंब—। × चल चपल कलम, निज चित्रकूट चल देखें।
× ढाल लेखनी, सफल अंत में मसि भी तेरी। × उपमे, यह है साकेत यहाँ।
कहाँ है कल्पने तू देख आ कर, स्वयं ही सत्य हो यह गीत आकर।

आदि इस प्रकार की उक्तियाँ उपर्युक्त मत-स्थापन में सहायक हैं। इसके अतिरिक्त 'साकेत' की कथा अथवा पात्रों के प्रस्तुतीकरण में पूर्व परंपरा के परिप्रेक्ष में जो वैचित्र्य दिखायी देता है वह भी उक्त मत की परिपुष्टि में ग्राह्य है। कवि प्रत्येक सर्ग के आरंभ में अपना विषय प्रस्तावित करता है और संबंधित कवियों से कलात्मक प्रेरणा ग्रहण करता है, इसके पीछे भी चमत्कारिक वृत्ति की आशंका होती है। संपूर्ण काव्य में गुप्त जी उक्ति-वैचित्र्य, भाव-वैचित्र्य, लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक उक्तियों और शाब्दिक चातुर्य का आश्रय लेते हैं, विशेषत: नवम सर्ग में वे अपनी कलात्मक दक्षता का जो परिचय देते हैं वह भी इसी आशंका को जन्म देता है और फलत: 'रामचंद्रिका' की भाँति 'साकेत' को भी हम चमत्कृति-प्रधान कृति मान लेते हैं।

४. राम-काव्य का नवीकरण—'साकेत' की नवोद्भावनाओं अथवा मौलिक स्थापनाओं को देखते हुए यह भी अनुमानित होता है कि नवीकरण की प्रवृत्ति साकेतकार में प्रधान रही है। उसने परंपरा से पृथक एक नवीन धरातल पर अपने काव्य को प्रतिष्ठित किया है। रामकथा और तत्संबंधी पात्रों को भी कवि ने नया रंग दिया है। उसने प्रत्येक घटना की व्याख्या आधुनिक देश-काल के अनुरूप की है और प्रत्येक पात्र को युग-सापेक्ष दृष्टि से देखा है। 'साकेत' पर आधुनिकता का प्रभाव आद्यंत विद्यमान है। कवि ने अपने जीवन-मूल्यों के आधार पर पुरातन को नूतन आकार दिया है। काव्य में राष्ट्रीय विचारधारा, सामूहिक भावना, सुधारात्मकता तथा सांस्कृतिक जागरण आदि के प्रसंग इसी समसामयिक दृष्टि के कारण प्रतिफलित हुए हैं। गुप्त जी प्रधानतः राष्ट्रीय चेतना और भारतीय संस्कृति के आख्याता हैं, अतः यह अनुमान भी सहज है।

५. नारीत्व के प्रति निष्ठा—वर्तमान हिंदी कविता में नारी-भावना की आवाज़ उठाने वालों में गुप्त जी अग्रगण्य हैं। उन्होंने बड़ी आस्था के साथ अबलाओं के आँसुओं में झलमलाती हुई बेबसी की कहानी पढ़ी है। 'साकेत' में उनका यह प्रयास अत्यधिक भास्वर है। उर्मिला को तीव्र सहानुभूति देने के अतिरिक्त वह अन्य नारी-पात्रों के प्रति भी सदय एवं आस्थावान हैं। कौसल्या, सुमित्रा, सीता, मांडवी, श्रुतिकीर्ति आदि नारियाँ तो आदर्शस्वरूपा हैं ही, कवि ने कैकेयी जैसी दुर्मति नारियों को भी उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया है। यह नारी-भावना उसकी राष्ट्रीयता से उद्भूत है। प्रत्येक घटना के केंद्र में प्रायः यही नारियाँ हैं। राम के वनगमन के मूल में एक नारी का गृह-विद्रोह है, राम का युद्ध नारी-अपहरण से प्रेरित है, साकेतवासियों की व्यथा नारी के कारुणिक विरह से ही बलवती होती है—इस प्रकार पात्रियाँ प्रायः सूत्र-संचालिका रही हैं जिन्हें देख कर इसे काव्य का प्रतिपाद्य स्वीकार किया जा सकता है।

६. **आदर्श-स्थापन**--'साकेत' का प्रायः प्रत्येक पात्र आदर्शप्रवण है; वह अपने चारित्रिक गुणों का प्रतिनिधि है। कार्य-व्यापार और पात्रों द्वारा कवि ने सर्वत्र हमारे समक्ष अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। 'साकेत' को हम आदर्शप्रधान महाकाव्य स्वीकार कर सकते हैं; अस्तु, इस उद्देश्य-पूर्ति को काव्य का प्रतिपाद्य माना जा सकता है।

इसी प्रकार अतीत-गौरव, वियोग-भावना, सांस्कृतिक संचरण औ गांधीवादी विचारणा आदि से संबंधित और अनेक भावनाएँ हैं जिन्हें हम न्यूनाधिक मात्रा में 'साकेत' का प्रतिपाद्य मान सकते हैं किंतु इन अनेक सूत्रों में किसी एक को प्रमुख प्रतिपाद्य कहना दुष्कर है। काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य एक ही हुआ करता है और वह सर्वांगपूर्ण होता है। 'साकेत' के इन उपर्युक्त लक्षणों में किसी को भी प्रमुख प्रतिपाद्य कहना कुतर्क करना है, क्योंकि ये तत्व काव्य में आंशिक रूप से ही आये हैं, आद्योपांत रूप में नहीं। कोई भी अभिमत अपवादों के आधार पर स्थिर नहीं किया जा सकता, काव्य में उसके संपूर्ण अंतर्घटन एवं अन्विति का सम्यक निर्वाह अनिवार्य है। प्रतिपाद्य तत्व की स्वरूप-व्याख्या भी इस दृष्टि से उपयोगी है। हम प्रतिपाद्य को प्रेरक तत्व तथा उद्देश्य से पृथक मानते हैं। प्रतिपाद्य से मेरा तात्पर्य है—वह केंद्र-विंदु, वर्ण्य-विषय या आधार जिसमें कवि व्याप्त है, जिस पर वह लक्ष्य-संधान करता है जिसकी सीमाओं में वह आद्यंत घिरा है; अस्तु, कोई एक स्फुट धारणा प्रतिपाद्य नहीं वन सकती। प्रतिपाद्य के लिए आवश्यक है कि यह धारणा उसका एकमात्र मनोमंतव्य वन जाय। प्रतिपाद्य स्फुट भाव न हो कर समग्र भावभूमि हो जाता है; वह अंश न हो कर अंशी है और उसी से अनेक विचार प्रसूत होते हैं। 'साकेत' के प्रतिपाद्य का निरूपण करने के लिए हमें उसकी भावभूमि का निर्णय करना है।

उर्मिला के प्रति संवेदना व्यक्त करना 'साकेत' का परम प्रतिपाद्य नहीं है। यह काव्य का प्रेरक तत्व है, प्रतिपाद्य तत्व नहीं। साकेत में उर्मिला का प्राधान्य अवश्य है, पर कवि ने उसका सर्वांग समुस्थापन नहीं किया है। संवेदना के अतिरिक्त उसके विविध पक्षों का उद्घाटन और उसके चारित्रिक विकास का समग्र प्रस्तुतीकरण कवि का ध्येय नहीं है। 'साकेत' की अन्य विचारधाराओं में यह भी एक प्रमुख विचारधारा है, पर उर्मिला के साथ ही अन्य जो प्रसंगेतर उल्लेख हुए हैं (अर्थात राम, भरत, कैकेयी, शत्रुघ्न आदि के जो विस्तृत चरित्रांकन हुए हैं) उन्हें देखते हुए मात्र उर्मिला को प्रतिपाद्य नहीं कहा जा सकता। यही उक्ति राम पर भी चरितार्थ होती है। राम का भी कवि ने पूर्ण प्रतिपादन नहीं किया है, केवल एक विशेष देश-काल में ही उनकी चारित्रिक रेखाएँ निर्धारित की गयी हैं। वे निश्चय ही 'साकेत' के महानतम पात्र हैं, कवि के आराध्य हैं पर वस्तु-पक्ष के प्रसार के साथ-साथ उनका विस्तार नहीं हो सका है। अस्तु, एकमात्र उन्हें भी प्रतिपाद्य कहना एकांगी धारणा है। साकेत का लक्ष्य चमत्कार-प्रदर्शन भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। गुप्त जी में कलात्मक जागरूकता तो है पर स्थूल कला के अतिरिक्त वे गंभीर भावबोध के लिए भी तत्पर हैं। चमत्कृति या उक्ति-वैचित्र्य के जो अपवाद मिलते हैं वे 'प्रतिपाद्य' तत्व की सीमा में नहीं आते। गुप्त जी को हम केशव की श्रेणी में नहीं रख सकते। 'साकेत' में उनके विशिष्ट मनोमंतव्य हैं, उनके जीवन-दर्शन की विशिष्ट वैचारिक भावभूमि है। सर्गारंभ में कविवरों का स्मरण करने में कृतज्ञता-ज्ञापन का भाव है। चमत्कारिक उक्तियों

का कारण है—कवि की कला-दक्षता। राम-काव्य का नवीकरण भी प्रतिपाद्य नहीं कहा जा सकता। यह तो कारण है, कार्य नहीं। नवीकरण कवि का साध्य नहीं बन सकता, अन्यथा इसके पीछे चमत्कार-प्रदर्शन का ही आग्रह होता। यह तो गुप्त जी के विषय-प्रतिपादन की सहज परिणति है, या इन मौलिक उद्भावनाओं को हम काव्य की विशेषता के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रत्येक प्रवर्तनकारी एवं समर्थ कवि युगसापेक्ष दृष्टि से पूर्व वृत्तों में परिवर्तन करता ही है। वह युग-धर्म के अनुकूल पात्र का स्वरूपांकन तथा क्रिया-व्यापार की व्याख्या करता है पर यह उसका उद्देश्य नहीं होता। 'साकेत' की वस्तु में जो परिवर्तन आये हैं, वे सहज-स्वाभाविक हैं, प्रयास-साध्य नहीं। नारीत्व के प्रति निष्ठा व्यक्त करना काव्य की अनेक विचारधाराओं में एक धारणा है पर वह भी आधिकारिक विषय नहीं है। नारीत्व के अतिरिक्त कवि आदर्श पुरुषत्व की प्रतिष्ठा भी करता है। 'साकेत' की उर्मिला को हम उस कोटि में नहीं रख सकते, जिसमें 'विधृता' (द्वापर), 'विष्णुप्रिया' एवं 'रत्नावली' को रखते हैं। 'साकेत' की नारी पुरुष द्वारा परित्यक्त नहीं हो गयी है अपितु उसकी वियुक्ति परिस्थितिक प्रतिकूलता तथा महत्कर्तव्य के कारण होती है, इसलिए पुरुष की अपेक्षा नारी को अधिक सहानुभूति देना कवि का उद्देश्य नहीं रहा है। हाँ, नारीत्व के प्रति गुप्त जी उदार हैं पर संतुलन खो कर नहीं। आदर्श-स्थापन काव्य का उद्देश्य है, इसीलिए 'साकेत' काव्य आदर्शपरक है, किंतु उद्देश्य प्रतिपाद्य तत्व से भिन्न होता है, उसी तरह जैसे तुलसी का उद्देश्य है भक्ति, पर प्रतिपाद्य है रामचरित। इसीलिए अन्य सूत्र भी स्वयं में पूर्ण प्रतिपाद्य नहीं कहे जा सकते। उपर्युक्त कथन 'साकेत' की विशेषता के रूप में या उसके लक्षण, उद्देश्य अथवा काव्य के प्रेरक तत्व के रूप में स्वीकार किये जाने चाहिए। प्रतिपाद्य तत्व इन सभी मतों को आत्मसात कर के एकसूत्रता प्रदान करता है। उसमें पार्थक्य नहीं होता; परिपूर्णता होती है; सभी विचारांश उसमें समाविष्ट तथा अंतर्घटित हो जाते हैं और वह उन्हें समवेत रूप में अंगीकार करता है।

'साकेत' का प्रतिपाद्य है—**साकेत**। वह न केवल एक स्थान विशेष है, बल्कि उसकी एक भावात्मक सत्ता है। साकेत शब्द के अंतर्गत साकेत की भौमिक सत्ता (भौगोलिक एवं राजनीतिक), साकेत के निवासी (नागरिक) एवं साकेत की संस्कृति का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। इसी आधार पर राष्ट्र का स्वरूप-संघटन होता है। साकेत इसी प्रकार का एक राष्ट्रीय अस्तित्व है। उर्मिला या राम, काव्य के प्रतिपाद्य होते तो इसका शीर्षक व्यक्तिपरक हो जाता और 'साकेत' एक चरित-काव्य बन जाता। यदि कोई घटना, कार्य-व्यापार और विचारधारा को कवि प्रतिपाद्य बनाना चाहता तो प्रधानतया उसे ही अंगीकार किये होता। 'साकेत' में हमें तीन प्रकार के वर्ण्य-विषय मिलते हैं—

१. साकेत के पार्थिव वर्णन—इसमें कवि साकेत नगरी, राजप्रासाद, राजमार्ग, उपवन, दरबार आदि चित्रित करता है। साकेतकार ने यदा-कदा अपने केंद्र का वर्णन प्रायः प्रस्तुत किया है। साकेत की संपन्न स्थिति, विपन्न स्थिति, साकेत भूमि पर घटित क्रिया-व्यापार, संयोग-वियोग, वन-गमन, नृप-मरण, अंत्येष्टि-संस्कार, रण-प्रयाण, प्रशासन, स्वागत-सज्जा आदि विषय इसीलिए यथासंदर्भ वर्णित हुए हैं। घूम-फिर कर कवि ने विविध प्रकार से ये वर्णन प्रस्तुत किये हैं।

रामादि के वन जाने पर वह इस भावात्मक सत्ता (साकेत) का वन में भी निर्माण कर लेता है—**बने नूतन अयोध्या नाथ वन में।** साकेत के इस पार्थिव स्वरूप को सविस्तर प्रकट करने की दिशा में कवि प्रयासोन्मुख है, क्योंकि वही उसकी आधारभूमि है।

२. **साकेतनिवासी जनों का स्वरूपांकन**—साकेतवासी जन, विशेषत: राम-परिवार कवि का लक्ष्य है। इनका स्वरूपांकन युक्त न हो कर घटना एवं क्रिया-व्यापार से परिचालित है। इन निवासी जनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं—राम, क्योंकि वे आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम हैं। समस्त परिवार और प्रजावर्ग के वे श्रेय, प्रेय एवं ध्येय हैं। कौटुंबिक कलह के कारण वे साकेत का परित्याग कर वन को प्रस्थान कर जाते हैं, फिर भी अपनी चारित्रिक महत्ता के कारण वे चिर-स्मरणीय रहते हैं। कवि ने उन्हें **आदर्श, घट-घट के वासी** तथा **जन-जन में रमने वाला** कहा है इसलिए समस्त साकेत राज्य उनके वन-गमन से दुखी है। साकेत का आबालवृद्धनारी चौदह वर्षों तक राम की अनवरत प्रतीक्षा में रत है। प्रत्येक नागरिक, स्वजन तथा बांधव उनके वन्य जीवन की घटनाओं का उल्लेख करता है। राम चूंकि सभी की श्रद्धा के केंद्र-बिंदु हैं, इसलिए उनके संबंध में साकेत के अंतर्गत चर्चा चलती ही रहती है। कभी साकेतवासी (जैसे उर्मिला, भरत, शत्रुघ्न आदि) उनके पूर्व वृत्तों का स्मरण करते हैं, कभी कुछ बाहरी व्यक्ति (जैसे व्यापारी, हनुमान) आ कर उनके कार्यों की सूचना साकेत में दे जाते हैं और अंत में साकेतवासियों के भावावेश को शांत करने के लिए मुनि वसिष्ठ रामादि का दृश्य गोचरीभूत करा देते हैं। इस प्रकार इन सारे सूत्रों के संगुंफन से समस्त रामचरित संगठित हो जाता है। कवि का एकमात्र यह आग्रह नहीं है कि वह रामचरित का गायन ही करे पर साकेत का प्रतिपादन करते हुए यह स्वभावत: हो ही जाता है, क्योंकि राम के कारण ही 'साकेत' साकेत है। यदि राम का चरित्रांकन कवि का प्रतिपाद्य होता तो वह राम का संपूर्ण चरित्र प्रतिपादित करता, केवल सांकेतिक उल्लेख के रूप में नहीं, बल्कि वर्णन के रूप में। राम के वन-गमन पर कवि साकेत की सीमाओं का अतिक्रमण कर राम का ही पदानुगमन करता किंतु आलोच्य कृति में वह साकेत की सीमा में स्थित है। उसने राम का वही रूप सविस्तर निरूपित किया है जो साकेत में सविशेष सुना जाता है, देखा जाता है या चरितार्थ होता है। उर्मिला के संबंध में भी यही तथ्य है। वह साकेत की सर्वाधिक दुखिनी **रघुकुल की असहाय वधू** और **अभागिनी बाला** है। रामादि के वन-गमन के कारण सबसे बड़ा प्रत्यक्ष आघात उसी को लगा है इसलिए वह इस विरह से भावी पुनर्मिलन (१४ वर्ष बाद) तक के लिए वियोगिनी है। साकेतवासी होने के कारण उर्मिला इस काव्य में अधिक स्थान की अधिकारिणी है क्योंकि रामादि के वन चले जाने पर यहाँ के बचे हुए और व्यक्तियों में वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अपने औदार्य, कर्तव्य-बोध तथा मन:संताप के कारण वह साकेतवासियों की सहानुभूति की लक्ष्य है। प्रत्येक जानकार व्यक्ति उसके प्रति संवेदनशील है। इस व्याज से साकेतकार ने उसे तीव्र संवेदना अर्पित की है। उर्मिला का विरहिणी रूप चौदह वर्षों तक चलता है इसलिए 'साकेतकार' विस्तार से उसके दीर्घ वियोग का वर्णन करता है। इस विरह-काल में साकेत के अंतर्गत कोई गतिशील घटनाएँ घट नहीं रही हैं अत: यहाँ कथावस्तु भी मंद है। कवि ने यहाँ संकलनत्रय का निर्वाह किया है। लक्ष्मण के लौट आने पर उसका वियोग खंडित हो जाता

जाता है अतः कथा भी यहीं समाप्त हो जाती है। इस प्रकार राम का चरित्रांकन करना और उर्मिला के प्रति संवेदना व्यक्त करना 'साकेत' की आधिकारिक कथा-वस्तु की पूर्ति करना है। इन दो पात्रों के अतिरिक्त यथाप्रसंग कैकेयी, भरत, शत्रुघ्न आदि भी प्रमुखता प्राप्त करते हैं क्योंकि वे भी साकेतवासी हैं और अलग-अलग अवसरों पर वे घटना का सूत्र-संचालन करते हैं। कवि ने साकेत को समूहवाची संज्ञा के रूप में ग्रहण किया है इसलिए यत्र-तत्र प्रजावर्ग, लोक-पारावार, समुदाय, सभा, सेना आदि को भी समक्ष प्रस्तुत किया है, अतः निश्चित है कि इन चरित्रों के स्वरूपांकन के पीछे मूल प्रतिपाद्य है—साकेत। कवि ने साकेत की संस्कृति को प्रस्तुत करते हुए अपनी अनेक धारणाओं को अभिव्यक्त किया है। साकेत भारतीयता का प्रतिनिधित्व करता है। वहाँ के एक-एक निवासी में नारीत्व के प्रति गहन निष्ठा है; वहाँ का प्रत्येक नागरिक राष्ट्रीयता से संपृक्त है। वहाँ जन-जन में भक्ति, आस्था, आस्तिकता तथा आत्मोत्सर्ग की भावना है इसलिए काव्य में ये भावनाएँ उन्मुक्त रूप से प्रकट हुई हैं। साकेत शब्द से गुप्त जी के दोनों प्रयोजन जुड़े हुए हैं, प्रथम—उनका पुरातनवादी संकल्प, भक्ति-भाव, पुराख्यानक तत्व और दूसरी उनकी पुनरुत्थानवादी धारणा, समसामयिक राष्ट्रीयता तथा नव जागृति। पुनर्जागरण के लिए वे अतीत-गौरव का स्मरण कराना चाहते हैं और इसीलिए अतीत को वे आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं। आदर्शवाद उनका सिद्धांत है; उनके जीवन का दृष्टिकोण है; उनके काव्य का उद्देश्य है। प्रतिपाद्य रूप में हमें सारांशेन 'साकेत' को स्वीकार करना पड़ता है। इसी अभिप्राय से शीर्षक की रचना की गयी है, इसी के अनुसार वस्तु का संघटन और चरित्रों का निरूपण किया गया है। कवि ने प्रथम बार साकेत (स्थानवाची शब्द; एक विशेष देश-काल) को प्रतिपाद्य रूप में स्वीकार करते हुए अभिनव प्रयोग किया है। प्रतिपाद्य विषयक उक्त धारणा को स्वीकार कर लेने से सारे सूत्रों का सामंजस्य हो जाता है और सब शंका-समाधान इसी में सन्निहित प्रतीत होते हैं। किंतु इसके लिए आवश्यक है कि 'साकेत' शब्द की भावात्मक सत्ता, उसकी सीमा, उसके तात्पर्य और उसके प्रतिपादित स्वरूप से हम परिचित हो जायँ।

—हिंदी विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

कृष्णदेव शर्मा

हिंदी पौराणिक नाटक और 'कृष्णार्जुन-युद्ध'

हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अलग-अलग नाटकों को हिंदी का पहला नाटक माना है। इस प्रकार गिनाये गये नाटकों में बाबू गोपालचंद्र कृत 'नहुष', महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंदरघुनंदन', एक मुसलमान लेखक का लिखा 'इंदरसभा', अब्दुर्रहमान कृत 'संदेशरासक' आदि नाटकों की गणना होती है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ये रचनाएँ हिंदी में नाटक-प्रणयन की प्राचीन परंपरा मात्र सूचित करती हैं, इनमें पूर्णता का अभाव है। नाटकीय तत्वों की पूर्णता की दृष्टि से अनूदित नाटकों में राजा लक्ष्मण सिंह के 'शकुंतला नाटक' और मौलिक नाटकों में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक की गणना की जानी चाहिए। ये दोनों नाटक पुराण-प्रसिद्ध कथा पर आधारित अतएव पौराणिक हैं। इस बात को, साथ ही आगे की परंपरा को भी, ध्यान में रखते हुए आलोचकों ने यह मत स्थिर किया है कि **हिंदी नाटकों का आरंभ पौराणिक नाटकों से ही हुआ है।**[1] अपूर्णता की दृष्टि से विचार करने पर तो 'सत्य हरिश्चंद्र' से भी पहले पौराणिक नाटकों की एक अच्छी-खासी परंपरा है। दूसरी ओर आज के अति आधुनिक भौतिक युग में भी पुराणों की कथाओं को ले कर नाटक लिखे जा रहे हैं। प्रारंभ से ले कर अब तक के पौराणिक नाटकों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) भारतेंदु-पूर्व पौराणिक नाटक। (ख) भारतेंदुयुगीन पौराणिक नाटक।
(ग) प्रसादयुगीन पौराणिक नाटक। (घ) अधुनातन पौराणिक नाटक।

कुछ नाटक विशेष रूप से रंगमंच को दृष्टि में रख कर लिखे गये हैं, इसलिए रंगमंचीय पौराणिक नाटकों का एक अलग वर्ग स्वीकार किया गया है।

भारतेंदु से पूर्व जो पौराणिक नाटक लिखे गये, वे नाटकों के तत्वों की दृष्टि से पूर्ण नहीं हैं, इसीलिए कुछ विद्वान, जैसे डॉ० सोमनाथ गुप्त, इन कृतियों को नाटक न मानने के पक्ष में हैं,[2]

---

१. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', प्रस्तावना, पृष्ठ ३।
२. डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिंदी नाट्य-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६।

जब कि दूसरे विद्वान, जैसे डॉ० दशरथ ओझा, उन्हें नाटक की संज्ञा देते हैं।[१] इस युग के नाटकों प्राणचंद्र चौहान कृत 'रामायण महानाटक', कवि हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक', गुरु गोविंद सि कृत 'चंडीचरित्र', कवि नेवाज कृत 'शकुंतला नाटक', कवि कृष्णजीवन लच्छीराम कृत 'करुणा भरण, हरिराम कृत 'जानकीरामचरित नाटक', लक्ष्मणशरण 'मधुकर' कृत 'रामलीला-विहार महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद रघुनंदन', गोपालचंद्र कृत 'नहुष', गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्न विजय' और कुशल मिश्र कृत 'गंगा-नाटक' की गणना होती है। राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुंतला नाटक' भी इसी युग में आता है। राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुंतला' को छोड़ कर शेष नाट अधिकांश में ब्रजभाषा कविता में लिखे गये हैं। इन्हीं सब कारणों से डॉ० श्रीकृष्ण लाल हिं नाटकों का प्रारंभ राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुंतला नाटक' से ही मानते हैं।[२] इन नाटकों की मू प्रेरणा 'नाटक' की नहीं रासलीला और रामलीला की है। डॉ० नगेंद्र ने इस प्रवृत्ति को स्वाभा विक ठहराते हुए लिखा है, **रामलीला और रास से भिन्न अभिनय की कल्पना करना शाय हिंदी जनता के लिए आसान नहीं था।**[३]

जैसा पहले ही कहा जा चुका है, हिंदी का पहला और पूर्ण, मौलिक नाटक भारते बाबू हरिश्चंद्र का 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक है। पूर्व-भारतेंदु नाटकों के पश्चात हिंदी के पौराणि नाटकों का जो युग प्रारंभ होता है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण स्थान भारतेंदु बाबू का ही है। भारतेंदु ज **राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृत शैली तथा नवीन अंग्रेजी शैली का समन्वय कर नाटक-रचना प्रवृत्त हुए थे।**[४] 'सत्य हरिश्चंद्र', 'चंद्रावली', 'सती-प्रताप' भारतेंदु कृत पौराणिक नाटक हैं उनकी प्रेरणा से उन्हीं के युग में और भी पौराणिक नाटक लिखे गये, जिनमें शीतलाप्रसाद त्रिपाठ कृत 'जानकीमंगल', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत 'प्रयाग-रामागमन', अंबिकादत्त व्यास कृत 'ललिता', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'रुक्मिणी-परिणय', लाला श्रीनिवास दास कृत 'तप्ता-संवरण', बालकृष्ण भट्ट कृत 'दमयंती-स्वयंवर', 'बृहन्नला', 'वेणुसंहार' आदि नाटकों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस युग के नाटककारों में भारतेंदु का व्यक्तित्व बड़ा प्रेरणाप्रद था। आचार्य रामचं शुक्ल के अनुसार भारतेंदु जी के जीवन में ही, **लेखकों और कवियों का एक खासा मंडल चार ओर तैयार हो गया था।**[५] भारतेंदु जी के 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक का ऐतिहासिक और सार्व कालिक महत्व है। डॉ० दशरथ ओझा ने 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक के संबंध में लिखा है, **समाज की गति इतनी द्रुत है कि बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व लिखित नाटक आज प्राचीन और धूमिल पड़ ग**

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : 'हिंदी नाटक : उद्भव और विकास', पृष्ठ १६२-१७३।
२. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास', पृष्ठ २०४।
३. डॉ० नगेंद्र : 'आधुनिक हिंदी नाटक', पृष्ठ ३।
४. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ ११३।
५. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४६२।

हैं, किंतु ७५ वर्ष से अधिक हो गये हैं, इसकी ज्योति पूर्ववत जगमगा रही है।[1] इस युग के सब नाटकों को ध्यान से देखने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखकों की प्रवृत्ति संस्कृत नाट्य-प्रणाली के साथ-साथ नवीन अंग्रेज़ी नाट्य-प्रणाली के ग्रहण की ओर भी रही और पौराणिक कथाओं के साथ-साथ नाटकों में राष्ट्रीयता, समाज-सुधार और आधुनिकता का पुट भी दिया गया। इस युग की सबसे बड़ी देन हिंदी में खड़ी बोली के मौलिक और दृश्य-काव्य की कसौटी पर खरे उतरने वाले नाटकों की रचना है। डॉ० देवर्षि सनाढ्य के अनुसार **इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि चाहे सफलता मिली या न मिली, नाटककारों ने नाटक के दृश्य-काव्यत्व, उसकी अभिनेयता की ओर सजगता प्रकट की, अभिनय-प्रधानता को वे भूले नहीं।**[2]

भारतेंदु युग के पश्चात पौराणिक नाटकों में नवीन चेतना और युग-परिवर्तन का श्रेय बदरीनाथ भट्ट को दिया जाता है। यह वह युग था जब नाटक के क्षेत्र में बाबू जयशंकर प्रसाद का अप्रतिम स्थान था। हिंदी के आलोचकों ने, जिनमें डॉ० नगेंद्र, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, डॉ० सोमनाथ गुप्त, डॉ० दशरथ ओझा आदि नाम प्रमुख हैं, एकमत से प्रसाद को भारतेंदु के बाद नाट्य-साहित्य में युग-प्रवर्तक स्वीकार किया है। इसीलिए इस युग को सरलतापूर्वक प्रसाद-युग नाम देना समीचीन प्रतीत होता है, भले ही पौराणिक नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद से किसी अन्य नाटककार का स्थान अधिक महत्वपूर्ण हो। इस युग में आ कर भारतेंदु-युग की प्राचीन परिपाटी से हट कर नाटककारों ने जिस नवीन परंपरा का सूत्रपात किया, उसमें साहित्यिक सुरुचि की भावना को विशेष रूप से प्रधानता दी गयी। डॉ० देवर्षि सनाढ्य के अनुसार इस युग में **सबसे बड़ा काम तो यह हुआ कि नाटकों में नाटक के पाठच और दृश्य गुणों का ऐसा समन्वय हुआ कि आगे चल कर नाटक की अभिनेयता और पाठचता दोनों ही को समान स्थान दिया जाने लगा।**[3] इस युग के पौराणिक नाटकों में वियोगी हरि कृत 'छद्मयोगिनी', पं० माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन-युद्ध', बदरीनाथ भट्ट कृत 'कुरुवनदहन' और 'बेनचरित्र', मैथिलीशरण गुप्त कृत 'चंद्रहास' और 'तिलोत्तमा', 'विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'भीष्म', सुदर्शन कृत 'अंजना', गोविंदवल्लभ पंत कृत 'वरमाला', जयशंकर प्रसाद कृत 'जनमेजय का नागयज्ञ' और पं० कामताप्रसाद 'गुरु' कृत 'सुदर्शन' के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में पौराणिकता के साथ-साथ सामाजिक भावनाओं और आधुनिक राजनीति के भी दर्शन होते हैं। डॉ० सोमनाथ गुप्त के अनुसार **पुरातन को नूतन दृष्टि से देखना (इस युग के) अधिकांश नाटकों का प्रधान लक्ष्य है।**[4]

हिंदी के अधुनातन पौराणिक नाटक अपनी विचारधारा के अनुकूल पौराणिक विषय का प्रतिपादन करने में प्रसादयुगीन नाटकों से भी आगे बढ़ गये। साहित्यिकता की मात्रा बढ़ी और **बहुसंख्यक पौराणिक नाटककारों ने पौराणिक घटनाओं में वर्तमान जीवन के अनेक प्रश्नों,**

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : 'हिंदी नाटक : उद्भव और विकास', पृष्ठ २१७।
२. डॉ० देवर्षि सनाढच : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १४७।
३. डॉ० देवर्षि सनाढच : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १४९।
४. डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिंदी नाटक-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ २१२।

समस्याओं के चित्र खींचे, साथ ही अनेक पौराणिक घटनाओं को नवीन मानवतावादी दृष्टि से देखा।[1] सेठ गोविंददास कृत 'कर्तव्य', आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'मेघनाद', पं० पृथ्वीनाथ शर्मा कृत 'उर्मिला', सीताराम चतुर्वेदी कृत 'शबरी', सद्गुरुशरण अवस्थी कृत 'मझली रानी' रामवृक्ष बेनीपुरी कृत 'सीता की माँ' 'किशोरीदास बाजपेयी कृत 'सुदामा', कैलाशनाथ भटनागर कृत 'भीमप्रतिज्ञा' और 'श्रीवत्स', उदयशंकर भट्ट कृत 'सगर-विजय' और 'विद्रोहिणी अंबा', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' कृत 'गंगा का बेटा' डॉ० रांगेय राघव कृत 'स्वर्गभूमि का यात्री' और लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'नारद की वीणा' और 'चक्रव्यूह' इस युग की महत्वपूर्ण पौराणिक नाट्य-कृतियाँ हैं।

विशेष रूप से व्यावसायिक रंगमंच के लिए ही लिखे गये नाटकों में नारायणप्रसाद 'बेताब', आग़ा हश्र, राधेश्याम कथावाचक, विनायकप्रसाद 'तालिक', माधव शुक्ल, जमुनादास मेहरा आदि नाटककारों के विभिन्न नाटकों की गणना होती है। इन नाटकों का उद्देश्य मात्र मनोरंजन होता था, वह भी सस्ती कोटि का मनोरंजन। अतः भाव, भाषा, किसी भी दृष्टि से ये नाटक गंभीर नहीं होते थे। यदि इन्हें बाज़ारू कहा जाय तो भी उपयुक्त होगा। डॉ० श्रीकृष्ण लाल के शब्दों में **इन नाटकों का यथार्थवाद भद्दा और कुरुचिपूर्ण है।**[2] एक आलोचक का निम्नलिखित आक्षेप भी इन रंगमंचीय नाटकों के संबंध में शत-प्रतिशत सही है; **इन नाटककारों के हाथ से पड़ कर भीष्म, प्रह्लाद, भगीरथ जैसे पौराणिक पुरुष भी तुच्छ मनुष्य बन गये। पौराणिक युग के नाटक दिखाते हुए भी इन नाटककारों ने उनमें भद्दे प्रेम-प्रसंगों की भरमार कर दी।**[3]

'कृष्णार्जुन-युद्ध' श्री माखनलाल चतुर्वेदी का अकेला नाटक है। फिर भी केवल इस नाटक के कारण माखनलाल चतुर्वेदी को पौराणिक नाटककारों में प्रमुख स्थान दिया जाता है। कृष्ण चरित्र पर आधारित नाटकों में 'कृष्णार्जुन-युद्ध' का नाम आदर से लिया जाता है। आलोचकों ने मुक्त कंठ से 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक की प्रशंसा की है। डॉ० नगेंद्र ने अपनी आलोचनापरक कृति 'आधुनिक हिंदी नाटक' में 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक का नाम बड़े गौरव से लिया है। पौराणिक नैतिक नाटकों की विवेचना करते हुए वे इस नाटक को पौराणिक-नैतिक नाटकों की परंपरा में एक विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान देते हुए वे लिखते हैं, **इन (पौराणिक-नैतिक) नाटकों की परंपरा संस्कृत के 'महावीरचरित', 'बालरामायण' आदि महानाटकों से चल कर (यद्यपि इनमें अंकों की संख्या उतनी नहीं है) पं० माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन-युद्ध' में होती हुई 'सगर-विजय' और 'गंगा का बेटा' तक आती है।**[4] इसी प्रकार डॉ० देवर्षि सनाढ्य का यह निष्कर्ष भी द्रष्टव्य है **'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक की रचना १९१८ ई० में माखनलाल चतुर्वेदी ने की। 'कृष्णार्जुन-युद्ध' उनका अकेला नाटक है। द्वितीय युग के कृष्ण-चरित्राश्रित नाटकों में तो यह सर्वश्रेष्ठ नाटक**

---

१. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १७६।
२. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास', पृष्ठ २४७।
३. रामाधार शर्मा : 'श्री माखनलाल चतुर्वेदी', पृष्ठ १७४।
४. डॉ० नगेंद्र : 'आधुनिक हिंदी नाटक', पृष्ठ ४७।

है ही, अन्य नाटकों में भी इसका स्थान बड़ा ऊँचा है।[1] डॉ० सोमनाथ के शब्दों में, यह नाटक हिंदी की ठोस और अमूल्य निधि है। यदि माखनलाल जी ने दो-चार और ऐसे नाटक लिख दिये होते तो हिंदी साहित्य के लिए वे गर्व की वस्तु होते।[2]

'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक को ऐसा सम्मान मिलने का कारण उसका सुगठित वस्तु-विन्यास, अपेक्षाकृत गंभीर चरित्र तथा परिष्कृत भाषा[3] है। भद्दे प्रेम-प्रसंगों का अभाव होते हुए भी 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक में नीरसता नहीं है और उच्चतम कोटि की उपदेशात्मकता इसके मूल में है।[4] नाटक की कथावस्तु यद्यपि पौराणिक है, परंतु बीच-बीच में आधुनिक राजनीति का थोड़ा सा पुट[5] भी है, जिसके कारण नाटक का आधुनिक दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से सामने आया है। नाटक साहित्यिक दृष्टि से भी उत्कृष्ट है और रंगमंचीय दृष्टिकोण से भी सफल है।[6] डॉ० देवर्षि सनाढ्य के अनुसार हिंदी के गण्यमान नाटकों में इसका स्थान है।[7] तात्पर्य यह है कि 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक में हिंदी नाट्यकला का सुंदर रूप हमें देखने को मिलता है। कथानक के वैचित्र्य और सौंदर्य, हास्यपूर्ण दृश्यों की सुंदर अवतारणा, पर्याप्त मात्रा में कार्य, सरल और साहित्यिक भाषा, रसात्मकता और कवित्व, साथ ही चरित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण[8] आदि अनेक गुण इस नाटक को पौराणिक नाटकों के इतिहास में सामान्य स्थान का अधिकारी बना देते हैं। इस दृष्टि से यह नाटक हिंदी के पौराणिक नाटक-साहित्य को पं० माखनलाल चतुर्वेदी की अमूल्य देन है।

—यू० एफ़० १३, कॉलेज रोड,
नयी दिल्ली-१।

---

१. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १५१।
२. डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १३४।
३. डॉ० रामाधार शर्मा : 'श्री माखनलाल चतुर्वेदी', पृष्ठ १७५।
४. डॉ० रामाधार शर्मा : 'श्री माखनलाल चतुर्वेदी', पृष्ठ १७५।
५. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १५१।
६. डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १३३।
७. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : 'हिंदी के पौराणिक नाटक', पृष्ठ १५२।
८. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ २१६।

वीरेंद्र सक्से

कहानी

कहानी है पुरान

बहुत पुरानी बातें हैं वे सब—शायद छब्बीस-सत्ताइस साल पुरानी। हाँ, याद आय प्रदीप ने पच्चीस ही तो पूरे किये हैं इस साल, तो ठीक छब्बीस साल पहले की कहानी हुई यह और कहानी भी क्यों, इन सबको संस्मरण कहना ही अधिक ईमानदारी होगी !

शादी की शाम, अर्थात रात। स्वागत-समारोह के बाद मुझे एक बढ़िया सजे हुये सो पर बिठा दिया गया था। आस-पास लंबी-लंबी क़तारों में अन्य बाराती भी बैठे हुये थे औ जलपान शुरू हो गया था। उन दिनों हमारे यहाँ जयमाल डालने का रिवाज नहीं था, और न दूल के अपने हाथ से खाने का; अतः मैं नाश्ता सामने होने पर भी गुमसुम, न जाने क्या सोचता-स बैठा था।

इतने में कई बालक-बालिकाओं की एक टोली न जाने कहाँ से निकल कर मेरे सामने अ गयी और जीजा जी, फूफा जी की रट लगाने लगी। एक बच्चा उनमें पाँच वर्ष के आसपास का भ था। उसकी तोतली बोली मुझे इतनी प्यारी लगी कि मैंने विशेष स्थिति-अवसर की परवाह कि बिना ही उसे गोद में उठा लिया और एक गुलाबजामुन उसके मुँह में ठूँस दी। इस अपनत्व प्रदर्शन से उसका सारा संकोच तुरंत दूर हो गया और वह बड़ी बेतकल्लुफ़ी से मेरी तश्तरियों प हाथ साफ़ करने लगा। मेरी उदासी अब काफ़ी छँट गय़ी थी और मैं हँस-हँस कर अपनी सालियों सालों से बातें करने लगा। बीच-बीच में वे खिलाती भी जाती थीं और मैं स्वाद ले-ले कर खात जाता था। तभी जाने क्या हुआ—शायद मिठाई का टुकड़ा जो बच्चे ने अपने मुँह में रखा काफ़ बड़ा था, या शायद उसने मुझसे कुछ कहना चाहा था खाते-खाते; और उसे फंदा लग गया खाँसी के झटके से वह अपने को सम्हाल न सका और हटाते-हटाते भी मेरे नये सूट पर उलटी हो गयी।

पर मैं स्थिति को समझूँ और उससे मुक्त होने का उपाय करूँ, इससे पूर्व ही एक पतली दुबली-लंबी लड़की तेज़ी से आयी। आते ही उसने बच्चे के तड़ाक-तड़ाक दो थप्पड़ लगाये औ मेरी गोद से उठा कर एक अन्य बालिका की गोद में लगभग फेंक सा दिया, 'ले जाओ इस कमबख़्त को ! सारा सूट ख़राब कर दिया. . . .तमीज़ तक नहीं है बिल्कुल ! ज़रा किसी ने ंग ह बोल दिया तो उसके सिर पर सवार हो जाता है . . . .दुष्ट !' पहले तो मैं समझा शायद व बच्चे की माँ है, पर बच्चे के घटना-स्थल से हटते ही उसके स्वर में कुँवारेपन का सा संकोच अ

गया, 'क्षमा कीजिएगा, बहुत परेशानी हुई आपको. . . .।' वह अपने रुमाल में पानी लगा कर झुकी हुई मेरे सिल्क के सूट को साफ़ कर रही थी और मैं अभी-अभी देखे उसके कड़वे-मीठे रूपों के पीछे के रहस्य को सुलझाने में व्यस्त था।

पर वह रुकी बिल्कुल नहीं। सफ़ाई पूरी कर लेने के तुरंत बाद ही वह जितनी तेज़ी से आयी थी, उतनी ही तेज़ी से अंतर्धान भी हो गयी। और मैं सोचता ही रह गया, कौन थी वह ? संकोचवश उस समय किसी से पूछ भी न सका।

वह कल्याणी के ताऊ की लड़की थी; कल्याणी, अर्थात मेरी पत्नी। बाद में पता चला कि वह पत्नी से आयु में छह मास बड़ी है, इसी कारण मेरे सामने आने में संकोच करती है और इसी कारण शायद विवाहोत्सव के तीन दिनों में वह दुबारा नहीं दिखायी दी। कुँवर-कलेवे के समय भी जब सब स्त्रियाँ और लड़कियाँ मुझे घेरे खड़ी थीं और मैं सचमुच अपने को राजकुँवर समझ रहा था, वह सामने नहीं आयी। हाँ, विदा के समय अवश्य, जब वहाँ एकत्रित सभी स्त्री-पुरुष मेरी पत्नी के साथ रो-धो रहे थे, उसकी एक झलक दिखायी दी। पतले, पर अपेक्षाकृत लंबे शरीर पर एक सादी साड़ी और रोने के कारण लाल हुई नाक और आँखें। मुझे अपनी ओर देखते ही, वह द्वार से ही पीछे लौट गयी—अन्य सब की तरह 'कार' तक पहुँचाने नहीं आयी।

कल्याणी से ही बाद में यह पता चला कि उसका घर का नाम तन्नो है और स्कूल का स्नेहलता। उसके पिता कचहरी में क्लर्क थे। यद्यपि थोड़ी-बहुत ऊपरी आय भी हो जाती थी, पर गृहस्थी बड़ी थी। बड़ी लड़की की किसी प्रकार, दो वर्ष हुए, शादी की थी; बड़ा लड़का आवारा निकल गया था। तन्नो से छोटे पाँच भाई-बहन और थे और वे सब भी पढ़ायी-लिखायी के स्थान पर गुल्ले खेलने या पतंग की डोर लूटने में ही अधिक रुचि लेते थे। उस दिन उसने जिस बच्चे को पीटा था, वह उसका सबसे छोटा भाई था और, उसके अनुसार, अत्यधिक अनावश्यक लाड़-दुलार के कारण बहुत ज़िद्दी हो गया था।

पहली भेंट की भाँति ही पहली बातचीत भी मुझे ज्यों-की-त्यों याद है। इतने वर्षों बाद, आज भी मैं उस दिन का चित्र मन के पर्दे पर साफ़-साफ़ देख सकता हूँ। कुछ चित्र होते ही इतने-पक्के हैं कि समय की धूल उन्हें फीका नहीं कर पाती!

होली के बाद उस शाम मेरा तन्नो के घर खाने का निमंत्रण था। स्कूल (तब आज का इंटर कालेज हाई स्कूल ही था) के बाद मैं सीधा ही उधर चला गया था। कल्याणी वहाँ दिन में ही पहुँच गयी थी क्योंकि उन दिनों आजकल के नवविवाहितों की भाँति साथ-साथ घूमने-फिरने जाना अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता था। मैं तो इतने पर भी तनिक खुले दिमाग़ का था, क्योंकि मैंने शिक्षा एक अनिवार्य शर्त रखी थी विवाह के लिए। और कल्याणी बी० ए० पास थी—यह दूसरी बात थी कि लड़कियों का कालेज उस समय अलग न होने के कारण उसके माता-पिता ने घर पर पढ़ा कर ही उसे परीक्षा दिलायी थी। मित्रों और बराबर के संबंधियों के घर मैं साथ-साथ ही जाता और साथ-साथ ही खाता-पीता, किंतु यहाँ ससुराल की बात थी और वह भी पहली बार उन लोगों के

घर जा रहा था। सोच रहा था, काफ़ी ऊबना पड़ेगा आज। पहुँचूँगा; तन्नो की माता जी एकाध बार घिसे-पिटे ढंग से राजी-खुशी पूछेंगी और फिर मझले पुत्र के द्वारा कमरे में खाना भिजवा देंगी। जिस खाट या पलँग पर पैर लटकाये मैं बैठा होऊँगा, उसी के सामने किसी स्टूल पर भोजन की थाली और पानी का लोटा-गिलास रख दिया जायेगा। दो-चार बार चौके में से ही—'और लो लल्ला. . . .कुछ खाया भी तुमने ? . . . .' होगा और उसके बाद हाथ धुला कर टीका कर दिया जायेगा। 'इधर को घूम कर खड़े हो जाओ जरा. . . .पूरब इधर है. . .सिर पर हाथ रख लो, हाँ-आँऽ. . . .।' और फिर पान दिया जायेगा, 'तंबाकू लेते हो या नहीं ? . . . .नहीं ! चलो बड़ा अच्छा है. . . .' उसके बाद तन्नो और कल्याणी से चौके में ही खाने को कहा जायेगा। उनकी चपर-चपर और बीच-बीच में ही-ही. . .ठी-ठी. . .की आवाज़ें कमरे तक आती रहेंगी और मैं अकेला बैठा-बैठा सोचता रहूँगा कि अभी ताई आ कर कहेंगी—'अब बिटिया को हमारे पास ही रह लेने दो चार-छह दिन. . . .अच्छा कल शाम तक भिजवा देंगे।' और मैं न चाहते हुए भी कह पड़ूँगा—'तो मैं चलूँ अब. . . .'

पर हुआ यह कुछ नहीं। जिस कमरे में मुझे बिठाया गया वहाँ तन्नो पहले से उपस्थित थी। सोफ़ा तो नहीं था, पर पलँग पर स्वच्छ, हाथ की कढ़ी हुयी चादर बिछायी गयी थी। एक मेज और दो कुर्सियाँ भी पड़ी थीं। लैंप को शायद उसी दिन अच्छी तरह साफ़ किया गया था और बत्ती काटी गयी थी। कमरे में पर्याप्त प्रकाश फैला था। मेरे बैठते ही तन्नो भी सामने की कुर्सी खींच कर बैठ गयी। बात भी उसी ने शुरू की, "आप होली वाले दिन क्यों नहीं आये ? हम लोग रंग खेलने को इंतजार करते रहे। ऐसा लाल-हरा मुँह बनाते आपका कि याद करते. . .'

मुझे शरारत सूझी, "होली खेलने न आ सका, इसका मुझे अफ़सोस है, पर अब होली मिलने तो आ गया। आइए, पहले यही बात पूरी कर ली जाये। उठिए. . . .खड़ी होइए !" शादी के इतने दिनों बाद उसे छेड़ने का जो अवसर मिला था, उसे मैं खोना नहीं चाहता था।

"जाइए भी. . . .बात खूब बनाते हैं आप। कोशिश करें तो कहानी लिख सकते हैं आप तो।"

"कहानियाँ तो मैं लिखता ही हूँ कभी-कभी !"

"सच्ची !" उसने कुछ इतने ज़ोर से कहा कि स्वयं ही चौंक गयी। पिछले मज़ाक के कारण छायी लाली और बाद को उभरे बच्चों जैसे भोलेपन ने उसके चेहरे को चित्ताकर्षक बना दिया था। बोली, "मुझे कहानियाँ पढ़ने का बहुत शौक़ है, पर पत्रिकाएँ मिलें कहाँ से ? आपके पास तो आती होंगी ?"

पता नहीं क्यों, बी० ए० तक शिक्षित होने पर भी कल्याणी को कहानियों में विशेष दिलचस्पी नहीं थी; और मेरी कहानियों में तो बिल्कुल नहीं। जब भी लिखता तो कहती—'इसमें उसकी बात को इस ढंग से कह दिया गया है. . .इसमें अमुक की कहानी अमुक से जोड़ दी गयी है. . . .' और नतीजा यह होता कि मैं, जो अध्यापन के साथ लेखन को अपनाना चाहता था,

कुछ निराश-सा हो जाता। विवाह से पहले सोचता था, पढ़ी-लिखी बी० ए० पास पत्नी होगी तो कुछ तो साहित्य में रुचि लेगी––कम-से-कम प्रकाशन के लिए भेजते समय रचनाओं को ठीक से उतार ही दिया करेगी, पर विवाह के बाद के कुछ ही महीनों में मुझे पता चल गया था कि वह मेरे इस काम में बिल्कुल भी सहायक नहीं हो सकेगी। "क्या फ़ायदा यों कागज़ रँगने से? कुछ मिलता भी है. . .इससे अधिक तो किसी लड़के को पढ़ा कर पैदा कर सकते हो!" और सचमुच ही कुछ दिनों बाद एक विशेष घटना के कारण मेरा लेखन बंद हो गया। स्कूल के बाद का बचा समय घर पर लड़कों को पढ़ाने में लगाने लगा। . . . फिर कई वर्षों बाद एक मित्र के साथ असम से आलू के बीज मँगवा कर बिकवाये, जिसमें काफ़ी लाभ हुआ। . . . फिर कुछ सोच कर देशी खाँड का काम साझे में शुरू किया और आज तक वही कर रहा हूँ। अब तो नौकरी से इस्तीफ़ा दिये भी दस वर्ष होने को आये। नौकरी में मिलता ही क्या था! जितना मेरा वेतन था उससे अधिक तो मैंने प्रतिमास प्रदीप की पढ़ायी पर व्यय किये हैं। . . .पर यह सब तो बाद की बातें हैं, मैं तो तन्नो से उस दिन की भेंट की बात कह रहा था।

उन दिनों मैं भी सोचता था कि यदि मेरा लेखन इसी प्रकार सुचारु रूप से चलता रहा तो किसी दिन साहित्य-जगत में अवश्य नाम कमाऊँगा। कहानियों में मुझे बड़ी जल्दी सफलता मिलने लगी थी और शुरू की कहानियों की ही इतनी अच्छी प्रतिक्रिया हुयी थी कि बधाई के पत्र आये थे मेरे पास। उन दिनों हिंदी पत्रिकाओं की संख्या अब की चौथाई भी नहीं रही होगी। माना, लिखने वाले भी कम थे, पर अच्छी पत्रिकाएँ तो गिनी-चुनी ही थीं और उनमें मेरी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। सोचता हूँ, यदि उसी प्रकार आज तक लिखता रहता तो अवश्य ही मेरा नाम प्रतिष्ठित कहानीकारों के साथ लिया जाता। स्वाभाविक था, एक नये-नये लेखक का परिचय जब किसी ऐसे व्यक्ति से हो जो उसकी रचनाएँ पढ़ने में उत्सुकता दिखाये, तो यह उसके लिए मूल्यवान क्षण था। तन्नो ने भी मेरे लेखक के प्रति जब श्रद्धा और सम्मान का भाव व्यक्त किया तब मुझे बहुत भला लगा; बहुत ही सुखद और प्रेरणादायक! सोच ही रहा था कि मैं उसको किन शब्दों में धन्यवाद दूँ कि उसने कहा, "मेरी भी कहानी लिखिए न! लिखेंगे?"

"आपकी कहानी. . ." मैं कोई हलकी बात कह कर फिर से परिहास करने ही वाला था कि अनायास ही उसकी ओर दृष्टि उठ गयी। उसकी आँखों में एक विचित्र उदासी तैर गयी थी। कुछ क्षण पूर्व जो लाली और भोलापन था, वह अब ग़ायब हो चुका था। न जाने क्यों मुझे लगा, वह अब रोयी, अब रोयी। एक क्षण शांति रही। पलकें झपका कर उसने उमड़ते आँसुओं को पी लिया, फिर होठों को ज़बरदस्ती फैला कर बोली, "जानते हैं, मेरे बाबू ने ही चाचा को बताया था आपके बारे में। फिर चाचा के तय कर आने पर मैं भी गयी थी चाची के साथ आपको देखने। किराये पर मकान ढूँढ़ने का बहाना मैंने ही उन्हें सुझाया था। आपकी शादी मैंने करवा दी और अब लड़का होने वाला है, बोलिए मुझे मिठाई कब खिलवा रहे हैं आप. . .!" मैं समझ नहीं पा रहा था कि कहानी की बात के बाद यह विषय-परिवर्तन क्यों होने लगा अचानक, पर बाद में समझा वह विषय-परिवर्तन नहीं था, उसी के संदर्भ में सारी बातें थीं।

प्रदीप के जन्म के समय तन्नो का उत्साह देखने योग्य था। इधर स्वतंत्रता के बाद से तो मैंने खद्दर पहनना शुरू कर दिया है और अधिकतर कुर्ता-पाजामा ही पहनता हूँ, क्योंकि इस पोशाक से अफ़सरों और इंस्पेक्टरों को प्रभावित करने में जल्दी सफलता मिलती है। पर उन दिनों तो सूट-बूट में ही अधिक रहता था। उस समय का मेरा चित्र अब भी मेरे पास है। उस चित्र और आज के प्रदीप में मुझे बहुत समानता दिखायी देती है।

हाँ, तो जब मैं पुत्र-जन्म के समाचार पर ससुराल पहुँचा तब तन्नो द्वार पर ही मिल गयी। मुझे देख वह हर्षातिरेक से मुझसे लिपट-सी गयी। मेरा हाथ झँझोड़ती हुई बोली, "लड़का हुआ है जनाब! मैं कहती थी न. . .अब मुझसे निबटने के बाद ही अंदर जा सकेंगे. . .।" मैं कुछ कहूँ इससे पूर्व ही पत्नी की एक सहेली वहाँ आ गयी और हँस कर बोली, "हाँ, मिठाई तो हमें भी खिलाइए पहले। पर तन्नो, इस तरह चिरचिटा-सी उनसे चिपटी क्यों जा रही हो. . .!"

"तो क्या हुआ. . ." और न जाने किस भावोन्माद में वह मुझसे बिल्कुल सट गयी। अपने अपेक्षाकृत लंबे हाथों से उसने मुझे कस लिया और सिर एक क्षण कंधे से टिकाने के बाद उठा कर बोली, "अब बोलिए, छूट कर जा सकते हैं आप?"

यह सब अनायास ही हो गया और वह भी पलक झपकते। शायद आज के कुछ कहानीकार इसे थोपी हुयी भावुकता कहें और इस दृश्य और कथोपकथन पर विश्वास न करें, उन्हें मैं इतना स्पष्ट कर दूँ ये पच्चीस वर्ष से अधिक पहले की बातें हैं और तब जीवन में भावुकता बहुत काफ़ी थी। नये कहानीकार इस सत्य की वास्तविकता तो शायद न समझ सकें क्योंकि उन्होंने उस काल का जीवन नहीं जिया है, इसे तो हम मुक्तभोगी ही समझ सकते हैं। यह अलग बात है कि अब हम लोग भी उतने भावुक नहीं रहे हैं। समय और परिस्थिति के प्रभाव से इनकार कौन कर सकता है!

तन्नो के सामने सबसे बड़ी समस्या थी कि वह मुझसे कहे तो क्या कहे? पत्नी से अवस्था में कुछ मास अधिक होने के कारण मुझे 'भाभी' कहना चाहिए था और उसे 'लल्ला जी', पर एक अविवाहिता लड़की से भाभी कहना मुझे बिल्कुल नहीं जँचा। मुझे याद है शुरू-शुरू में हम लोग बिना किसी संबोधन के बातें करते रहे थे और जब एक दिन अचानक मेरे मुँह से 'भाभी' निकल गया तब वह संकोच से सिकुड़-सी गयी, "भई, भाभी-ऊबी मत कहा करो हमसे। हमसे भी लल्ला-उल्ला नहीं कह मिलेगा. . ."

"तो फिर आप क्या कहेंगी?" उत्सुकता से पूछा मैंने।

"हम तो नाम लेंगे—रघुबीर बाबू. . .या रघुबीर ही काफ़ी है. . ."

"तब ठीक है; मैं भी आपको नाम से ही पुकारूँगा—स्नेहलता? . . .स्नेह? . . .नहीं, सुनते-सुनते 'तन्नो' ही मुँह लग गया है। इसमें कोई बुरा तो नहीं मानतीं आप?"

उसने कोई आपत्ति न की। धीरे से मुस्करा कर स्वीकृति दे दी।

प्रसव के बाद कल्याणी दो मास तक मायके में ही रही। दूसरे-तीसरे नियमित रूप से

मैं उसे देखने जाता रहा। तन्नो घर पर ही मिलती थी। कभी बच्चे को खिलाती हुई या कभी पत्नी का मन बहलाती हुई। मेरे पहुँचते ही वह छत पर जाने का उपक्रम करने लगती (उसके माता-पिता ऊपर के भाग में रहते थे)। "लो, अब तुम बातें करो अपने साहब से!" कहती हुई वह उठने लगती, पर मैं उसे बैठाले रखता। फिर बातें छिड़ जातीं और घंटों चलती रहतीं। मैंने यदि कोई नयी कहानी लिखी होती तो मैं उसे साथ ले जाता था और वहाँ उसे सुनाता था। वह कहानी बड़े ध्यान से सुनती थी और उसमें रस लेती थी। सुनते-सुनते वह मन ही मन कोई ग़ज़ल गुनगुनाने लगती। फिर मैं ग़ज़ल सुनाने का अनुरोध करता और वह टालना चाहती। मेरे अत्यधिक अनुरोध पर ही वह ग़ज़ल सुनाती थी, पर जब सुनाने लगती तब पूर्ण तन्मयता से सुनाती थी।

एक दिन मेरे बहुत कहने पर भी उसने ग़ज़ल नहीं सुनायी। मुझे उसकी यह ज़िद बुरी लगी और मैं पत्नी के पास थोड़ी देर बैठ कर ही जाने को उठ पड़ा। यह देख उसका चेहरा उतर गया और द्वार के पास आ कर बोली, "आप नाराज़ हो गये? . . . बात यह है कि मैं दर्द से भरी ग़ज़लें ही पसंद करती हूँ, पर उन्हें गाते समय मुझे बड़ी पीड़ा होती है। यदि अकेले में गाऊँ तो निश्चय ही रो पड़ूँ। आपके सामने अभी तक रोयी नहीं हूँ, अपने आपको किसी प्रकार सम्हाले रहती हूँ। आज मुझे डर था कि अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख पाऊँगी, इसीलिए नहीं सुनायी . . . आज मन बहुत अधिक उदास है।"

"क्यों?" न चाह कर भी मैं पूछ ही बैठा।

"बहुत ज़िद कर के इस वर्ष मैंने हाईस्कूल की परीक्षा दी थी। आज उसका नतीजा आया और मैं फ़ेल हो गयी। सातवीं के बाद से ही मेरी पढ़ाई वर्षों पहले छुटा दी गयी थी, अब आप ही बताइए और सब विषय तो अपने आप पढ़ भी लेती, और पढ़े भी, पर अंग्रेज़ी की समस्या थी। फिर भी मैंने भरसक पूरी कोशिश की थी . . . पर शायद हर ओर से निराशा ही है मेरे जीवन में। सोचा था, हाईस्कूल पास हो जाती और प्रशिक्षण प्राप्त कर लेती तो प्राइमरी स्कूल में तो नौकरी मिल ही जाती . . ."

घर लौटते समय रास्ते भर, और शायद रात को भी, मैं तन्नो के बारे में ही सोचता रहा था।

दूसरे दिन मैंने कल्याणी से कहा, "तुम्हारी क्या राय है? अगर हम लोग तन्नो को इस वर्ष अपने साथ रख लें तो तुम्हें भी बच्चे के साथ कुछ सहारा हो जायगा और मैं उसे अंग्रेज़ी पढ़ा दिया करूँगा तो वह हाईस्कूल का इम्तहान भी दे सकती है।"

"मैं बताऊँ . . ." उसने जिस रूखेपन से उत्तर दिया, उससे मैं चौंक पड़ा, "आप तन्नो को ले जाइए और अपने साथ रख लीजिए। चाहे पढ़ाइए-लिखाइए . . . चाहे जो कीजिए। मैं यहीं रह जाऊँगी . . ." कहते-कहते वह रुआँसी हो गयी।

मैं चुप रहा। समझ में नहीं आ रहा था क्या कहूँ। मेरी चुप्पी को शायद उसने अपराध

की स्वीकृति समझा। समझाने के स्वर में बोली, "आपके दिल में पाप है, यह मैं नहीं कह पर यह भी तो सोचिए लोग क्या कुछ नहीं कह सकते हैं। और अभी ही क्या नहीं कहा जाता... वे तो यह नहीं जानते कि आप लिखने-पढ़ने की बातें करते हैं।"

'लोग! लोग!! लोग!!! लोगों की वजह से मैं कोई उचित काम करने से डरूँ' मैंने सोचा—'बकने दो भीड़ को...मैं अगर किसी को नेक समझता हूँ तो अवश्य उसकी मद करूँगा...' मेरा मन भीतर से उफनने लगा। चाहा कि कल्याणी को भी बहुत-कुछ सुना डालूं पर किसी प्रकार का विवाद बढ़ाना वहाँ ठीक न रहेगा, सोच कर मैं घर वापस चला आया।

मुझे बात लग गयी थी और मैंने सोच रखा था कि अवसर मिलने पर अपने घर तन्नो बुला कर बात छेड़ूँगा। कल्याणी भी मेरे साथ आ कर रहने लगी थी और छोटे बच्चे के का परेशान हो कर कभी मुझ पर कभी बच्चे पर झल्लाती रहती थी। गृहस्थी और नौकरी के झंझ के कारण मुझे भी समय नहीं मिल पाता था और कुछ नया लिख पाने में अपने आपको असम पा रहा था। मन में हर समय एक अवसाद-सा छाया रहता।

ऐसे ही समय वह विशेष घटना घटी।

हुआ यह कि मैंने एक कहानी लिखी थी और वह एक प्रतिष्ठित पत्रिका में प्रकाशित हुई। पत्रिका कहीं मेरे मौसा जी के हाथ लग गयी। उन्होंने उसे पढ़ा तो यह समझा कि वह कहा मैंने उनके ऊपर लिखी है। वे उसकी नक़ल कर-कर के मेरे सब संबंधियों को भेजने लगे। साथ लिखते—'यह कहानी मेरे ऊपर लिखी गयी है, पर मैंने सुना है आपके ऊपर भी एक कहानी लि जा रही है...' या इसी प्रकार का कुछ। मेरे विरुद्ध उनका प्रचार जब पूरा हो गया तब क मुझे पता चल पाया। औरतों-औरतों में होती हुई बातें कल्याणी तक पहुँचायी गयीं और उस एक दिन क्रोध में मेरा सब-कुछ चूल्हे के हवाले कर दिया।

आज भी सोचता हूँ और उस दृश्य की कल्पना करता हूँ तो हाथ-पैर काँपने लगते है मुझे अच्छी तरह याद है कि उस दिन स्कूल से लौटने पर जब कल्याणी ने मुझे बताया कि उस मेरी सारी की सारी कापियाँ जला दीं तब मेरा मस्तिष्क एक क्षण को सुन्न हो गया। इत हिम्मत!! मन हुआ आगे बढ़ कर गला घोंट दूँ या उसके ऊपर भी मिट्टी का तेल छिड़क कर दिय सलाई दिखा दूँ! "लानत है ऐसे बी० ए० पास कर लेने पर..." मैं पूरे ज़ोर से चीखा, " गोबर ज्यों का त्यों भरा रहे दिमाग़ में। पैसा था बाप के पास, सो दो-दो मास्टर रख दिये घर प पढ़ाने को और उन्होंने जो-कुछ रटा दिया वही उगल दिया जा कर इम्तहान की कापियों में औ नाम हो गया 'ग्रेजुएट' हैं। मरते बेचारे वे लोग हैं जिनके पास प्रतिभा है, पर साधन नहीं तन्नो..."

तन्नो से मिलने की मेरे मन में एकदम हूक-सी उठी। इसका कारण यह भी था कि मे मन में एकाएक इस समाचार से जो बहुत कुछ उमड़ने-घुमड़ने लगा था, वह यदि बाहर न निकाल तो न जाने क्या होता...शायद पागल ही हो जाता।

आज चाहूँ तो इस सब को अतिशयोक्ति मान सकता हूँ और अपनी भावुकता पर हँस भी सकता हूँ (और लोग तो हँसेंगे ही), पर उस समय मुझे कुछ न सूझा। कल्याणी की ओर घृणा से देख कर मैं एक झटके में घर से बाहर आ गया और रिक्शा खोजता सड़क पर चलने लगा।

संयोग केवल कहानियों में ही नहीं होते। अपने घर से थोड़ी दूर पहले ही मुझे तन्नो मिल गयी। रिक्शा रोक कर मैंने उसे रोका और अपने साथ आने को कहा। वह नगर में ही अपनी मौसी के घर जा रही थी। मैंने उससे कहा, "कल्याणी की तबियत अचानक खराब हो गयी है और प्रदीप रो रहा है—मैं आपको ही बुलाने जा रहा था. . ." मुझे डर था, कहीं वह इनकार न कर दे, इसीलिए प्रदीप का बहाना किया।

रास्ते में ही मैंने उसे सब बातें बता दीं। सुन कर वह चुप रही। मुझे उसकी चुप्पी कुछ रहस्यमय लगी, पर मैं अपनी धुन में कहता ही रहा, "मेरी समझ में नहीं आ रहा, मैं क्या करूँ? माँ-बाप तो व्याह रचा कर अलग हो जाते हैं, यह नहीं देखते कि पति-पत्नी के विचारों में साम्य है या नहीं! . . .जीवन बरबाद हो, एक दूसरे से घृणा करें, फिर भी उस ग़लती को सुधार न सकें, यही हमारा आदर्श है। . . .मैंने तो इस ग़लती को सुधारने का फ़ैसला कर लिया है अब. . ."

घर में घुसते ही तन्नो ने रोते प्रदीप को सम्हाला और उसके बाद बिस्तर पर औंधी पड़ी रोती हुयी कल्याणी को हाथ पकड़ कर उठाया। फिर उसका मुँह-हाथ धुलाया और चाय बना कर पिलायी। वह एक के बाद दूसरे काम करती जा रही थी और मैं मौन ठगा-सा देखता जा रहा था। प्रतीक्षा कर रहा था कि कोई बात शुरू हो और मैं बोलना शुरू करूँ। वातावरण में अजीब-सी उदासी छायी हुई थी।

पर जब सब काम से निबट कर तन्नो मेरे पास आ कर बोली, "सम्हल गया आपका घर। अब मुझे पहुँचा आइए।" तब मैं उसकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखता रह गया।

"आज यहीं रह जाओ न. .सुबह चली जाना।" मेरी समझ में न आया, इसके अतिरिक्त मैं क्या कहूँ।

उसने एक पल को मेरी ओर निर्निमेष दृष्टि से देखा फिर धीरे से बोली, "जाना ही ठीक है। आप नहीं चल सकते पहुँचाने तो अकेली ही चली जाऊँगी. . .।"

'तो चली न जाओ!' कुछ झल्ला कर मैंने मन ही मन कहा; प्रगट में बोला, "जैसी आपकी इच्छा।"

रात भर मैं बरामदे में पड़ी कुर्सी पर बैठा रहा और नींद आने पर शायद वहीं बैठे-बैठे सामने पड़ी मेज पर सिर रख कर सो गया। सोचता रहा न जाने क्या-क्या! न तो कल्याणी मुझे मनाने आयी और न मैंने उसे मनाना अपना कर्तव्य समझा। निश्चय कर लिया, तन्नो चली गयी तो क्या हुआ, कल कोई दूसरा मार्ग खोजूंगा।

अब सोचता हूँ तो हृदय तन्नो के प्रति अपनत्व से भर उठता है। उसने मेरे लिए, मेरे

९

बच्चे के लिए, मेरे परिवार के लिए अपना बलिदान कर दिया। लोगों ने तरह-तरह की बा उड़ायीं; किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। सुबह सिटी स्टेशन के पास मेल से जो लड़की क पायी गयी, वह तन्नो ही थी। समाचार सुन कर मैं भी दौड़ा गया था और एक बार मन हुआ कि मैं भी इसी प्रकार रेल के नीचे आ कर अपनी जान दे दूँ।

मुझे याद है तन्नो ने एक बार कहा था, 'मेरी भी कहानी लिखिए न! लिखेंगे?' मृ के बाद उसका यह प्रश्न कई बार मेरे मन में उभरा था, पर मैं लिख न सका। क्यों? शाय इसलिए कि उसके साथ मेरी भी कहानी जुड़ी हुई थी। मौसा जी मेरी एक कहानी पढ़ कर नारा हो गये थे क्योंकि उसमें उन्हें अपनी तस्वीर नज़र आ गयी थी। पता नहीं क्यों लोग बाह्य चि जैसा 'फ़ोटो' में होता है, देख कर तो प्रसन्न हो जाते हैं, किंतु आंतरिक चित्रण, जैसा कहानी होता है, देख कर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। मैं नहीं कहता कि मैं इसका अपवाद हूँ। हो सकत है, मैं भी अपना आंतरिक चित्रण देख कर भयभीत होने लगूँ।

मेरी भाँति ही, सुना है कहानी भी इस बीच कई मंज़िलों से हो कर गुज़र चुकी है। पहले ही कह चुका हूँ, उस घटना विशेष के बाद मैंने कहानी लिखना बिल्कुल त्याग दिया। बा में, कल्याणी ने अपनी ग़लती महसूस कर ली और क्षमा भी माँग ली, तब भी मेरा उचटा म कहानी लिखने में न लगा।

इतना सब भी कैसे लिख गया, आश्चर्य है। लगता है किसी ने हाथ पकड़ कर लिखव दिया है। कौन हो सकता है वह? कल्याणी? नहीं। तन्नो? लेकिन तन्नो इतने दिनों से क्यों न लिखवा सकी? प्रदीप? हाँ, प्रदीप हो सकता है। प्रदीप ने 'इंजीनियरिंग' पास की है; ए लड़की को पसंद किया है जिससे विवाह करने की मैंने सम्मति दे दी है। हो सकता है प्रदीप मनचाहे विवाह की प्रतीक्षा से प्रेरित हो कर ही मैं यह सब लिख गया हूँ। कभी मेरा भी विवा हुआ था...छब्बीस-सत्ताइस साल पहले की कहानी आज सजीव हो उठी है।

—केंद्रीय हिंदी निदेशालय
यू० जी० सी० भवन, कमरा नं० ५०७
नयी दिल्ली-१

है, इ
पृष्ठ
चित
मणि
नहीं
रचन
आये
इसी
प्रदा
रूप
साँचे
अंकि
तमक

सहवर्ती साहित्य

असमीया

●

हेम बरुवा

भारतीय पृष्ठभूमि: साहित्य-सर्जना की समस्या

राष्ट्रीय स्वतंत्रता की ज्योति ने वर्तमान भारतीय साहित्य-सर्जना पर कैसा प्रभाव डाला है, इस पर विचार करने का समय आ गया है। यह सच है कि वर्तमान युग में हमारी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में साहित्य-सर्जना की परिधि संकीर्ण और सीमित हो चली है। यह वस्तुतः परम चिंतनीय विषय है। जिस तरह पत्थर तोड़ने की गैंती की चोट से कभी-कभी पत्थरों से मणियाँ भी निकल पड़ती हैं, उसी तरह भारतीय भाषाओं में कुछ उच्च कोटि की कृतियाँ नहीं निकली हों ऐसी बात नहीं। परंतु चंद उच्च कोटि की कृतियों से ही क्या किसी युग की ऐतिह्य रचना संभव है? कार्तिक महीने में अगर कहीं अचानक काँस-फूलों के दो-चार गुच्छे निकल आयें तो क्या इसी को 'बैशाख आ गया' मान कर हर्ष-विभोर हो झूम उठना समीचीन है? इसी भाँति सिर्फ़ दो-चार उत्तम पुस्तकों का प्रकाशन किसी युग के ऐतिह्य को विशिष्टता नहीं प्रदान करता? इस प्रकार की कृतियाँ सार्थक रचनाएँ होने पर भी व्यक्तिगत कीर्ति-स्तंभ के रूप में ही परिगणित हो सकती हैं। किसी युग को रूपायित कर सकें, उसे विशिष्ट ऐतिह्य के साँचे में ढाल सकें, इनकी ऐसी सार्थकता नहीं होती। इसी कारण सामाजिक दृष्टिकोण से इन्हें अंकित करने लायक़ मूल्यवान सर्जना नहीं कह सकते। यहीं यह प्रश्न होता है—आखिर रचनात्मक साहित्य-क्षेत्र में हमारी इस दरिद्रता का कारण क्या है?

वर्तमान युग और इसके पूर्ववर्ती युग—इन दोनों में रचनात्मक साहित्य-सर्जना के क्षे में मौलिक भेद है। पूर्ववर्ती युग की साहित्य-सर्जना एक सुसंगठित मानसिक अभियान की दे है। यह एक इतिहाससम्मत सत्य है। इसके साथ तुलनात्मक विचार करने पर दिखायी पड़ता है कि वर्तमान युग की साहित्य-सर्जना ऐक्य तथा तारतम्यहीन, विक्षिप्त और भावावेग के उच्छ्वास के अलावा कुछ नहीं है। कृतियाँ चाहे कितनी ही चमकीली क्यों न हों, ये आवेगमूलक खंडित वस्तु-संरचना ही हैं, इसमें अत्युक्ति नहीं। इसका कारण क्या है। चंद शब्दों में इस प कोई फ़तवा दे देना या सिद्धांत स्थिर कर लेना अवश्य ही कठिन है। आधुनिक युग में विश्व-साहित्य पर प्रकाश डालते हुए प्रख्यात उपन्यासकार वर्जीनिया वुल्फ़ ने यही कहा है। उनके विचार से **वर्तमान युग प्रयत्न का युग है—प्रतिभा का नहीं।** अत्याधुनिक विश्व-साहित्य प यह तथ्य कितना लागू हो सकता है—कहा नहीं जा सकता। प ंतु वर्तमान भारतीय साहित्य प यह निःसंदिग्ध रूप से खरा उतरता है।

वस्तुतः हमारे देश में प्रयत्न का एक विराट अभियान चल रहा है, इसे सामाजिक स्वीकृति भी मिली है। परंतु क्या केवल प्रयत्न द्वारा ही किसी युग की महान सौध-रचना संभव है

सामाजिक उत्तरदायित्व से कतराने से काम नहीं चलेगा। शिल्पी-साहित्यकार समाज स्रोतस्विनी से ही जीवन-स्पंदन ले कर जीवित रहते हैं, हमारे देश में आजकल ऐसे सुसंगठित प्राण-स्पंदन का चिंतनीय अभाव परिलक्षित हो रहा है। हमारे पूर्ववर्ती और वर्तमान युग में यही मौलिक भेद है। पूर्ववर्ती युग उत्साह और जीवन-तृष्णा के अभियान से रंगीन है—यह ऐतिहासिक सत्य है। इसी अभियान के ज़रिये नवीन मानस और नवजीवन-उत्कर्ष-साधना एक तरह से स्वभावसिद्ध ही हो पड़ी थी। वर्तमान युग इस क्षेत्र में ऐसे ही बंजर और तरल हैं। इसमें न कोई सामाजिक आदर्श की स्थिति है और न कोई बड़ी उपलब्धि ही। जो कुछ धरोहर थी वह भी चिंतनीय रूप से पतनोन्मुख हो पड़ी है। नवीन-उत्साह-उद्दीपन का संचार तो बहुत दूर चला गया है।

मानसिक अभियान के परिप्रेक्ष में इन दोनों युगों का स्वरूप और ऐतिह्य विचार कर देखना वर्तमान युग में बहुत ही ज़रूरी हो पड़ा है। स्वतंत्रता-प्राप्ति हेतु पूर्ववर्ती युग के राष्ट्रीय आंदोलन आदि ने सिलसिलेवार ढंग से मानसिक-परिवेश-रचना के कार्य में महत्वपूर्ण भाग लिया था। साथ ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका प्रभाव निरंतर परिव्याप्त हो पड़ा था। यों राष्ट्रीय जीवन में सुसंगठित चेतना और मनोभावना का उदय संभव हुआ। राजनीतिक दृष्टि से खंडित भारतवर्ष को एकता के घनिष्ठ बंधन में बाँध कर केवल शक्ति का संचार ही नहीं बल्कि इसने स्वतंत्रता खो बैठी हुई पराधीन जाति को जड़ता के चंगुल से छुटकारा मिला कर उसमें नवीन प्राणशक्ति का भी संचार किया था। इसी प्राण-शक्ति ने नवीन सामाजिक शक्ति का उन्मेष किया और इसी से नवीन मूल्य-बोध का प्रकाश भी संभव हो सका था। अंग्रेज़ी शासन के उत्तरार्ध में जनमानस में जो अभूतपूर्व स्पंदन अनुभूत हुआ था, इसका प्रमुख कारण यही है। राष्ट्रीयता के इस सर्वव्यापी जीवन-स्फुरण ने समग्र राष्ट्र-जीवन को ही अपने में समेट लिया था, साथ ही समाज-जीवन की गति-शक्ति भी इसी के ज़रिये मुखरित हो उठी थी।

शिल्पी-साहित्यकार की कृति की विषय-वस्तु जितनी अधिक समाज-सचेतन होती है, कृति भी उतनी ही प्राणवती बन जाती है। जीवन-तत्व, जीवन-स्पृहा, जीवनोच्छ्वास समाज की मर्म वस्तु है। उसे अभिव्यक्ति प्रदान कर शिल्पी साहित्यिक समाज-जीवन को नया स्वरूप प्रदान करते हैं। इसीलिए देखा जाता है कि अधिकांश उत्कृष्ट, उच्च पर्याय की कृति की विषय-वस्तु सामाजिक मूल्य-बोध की अभिज्ञता से सिक्त होती है। सामाजिक शक्ति-स्रोत स मूल्य बोध को प्रवाह और प्राणशक्ति से भर देता है। इसी भाँति सीढ़ी दर सीढ़ी इतिहास के कुतुब-मीनार पर आरोहण कर ही जीवन-ऐतिह्य की संरचना होती है। ऐतिह्य और सामाजिक गति-संपदा सभी रचनात्मक कृतियों का जीवन-स्पंदन होती है। इसी जीवन-स्पंदन के कारण ही पूर्ववर्ती युग में महान प्रतिभाशाली साहित्यिक-शिल्पियों और चित्रकारों का उद्भव संभव हो सकता था। इस प्रकार सुसंगठित सामाजिक आदर्श ने ललित कला के आदर्श को 'लक्ष्य' की दिशा दी थी। महान विश्व-प्रतिभा, कविगुरु रवींद्रनाथ वस्तुतः इसी युग की उपज हैं। प्रतिभा बटन दबाते ही जल उठने वाली 'एवररेडी टॉर्च' नहीं है। एक-एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के अंतराल में एक-एक युग विशेष का हस्ताक्षर एवं आदर्श अंकित रहता है। सामाजिक चिंतन और प्रगति का प्रवाह युग-प्रयत्न और आदर्श को सीढ़ी दर सीढ़ी साकार करता है। सामाजिक गतिधारा के हस्ताक्षर के रूप में यह इसी क्रम से जीवन-यौवन प्राप्त करता है।

सिर्फ़ काव्य-क्षेत्र में ही नहीं, रचनात्मक साहित्य की अन्य विधाओं में भी पूर्ववर्ती युग ने महान सर्जनात्मक कृतित्व का उदाहरण प्रस्तुत किया है। नाटक, उपन्यास, गल्प, सभी क्षेत्रों में रचनात्मक प्रतिभासंपन्न साहित्यिक-शिल्पियों का आगमन हुआ था, स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष में उन्होंने जिस कलात्मक नैपुण्य-शिखर पर आरोहण किया था, आज के अधिकांश साहित्यकार-शिल्पियों के जीवन-काल में हिमालय-शिखर जैसा ऊँचा या रात की दीपशिखा के प्रकाश जैसा ही उज्वल दिखलायी पड़ता है।

इस अधोगति का कारण क्या है? क्या माता भारती की कोख बिलकुल बंजर हो गयी है? परतंत्रता-काल में अगर बंकिम, रवींद्रनाथ, प्रेमचंद जैसी प्रतिभाओं का जन्म हो सकता है, तो वर्तमान युग में चाहे उनके जैसा चाहे न भी हो, तो उनसे कुछ उन्नीस ही सही, किसी प्रतिभा का प्रकट न होना क्या अचरज में नहीं डालता? फिर राष्ट्रीय स्वतंत्रता ने हमारे चारों ओर विविध असंख्य संभावनाओं के दरवाजे न खोले हों, ऐसी बात भी नहीं है। फिर भी स्थिति इस तरह ज़ंग लगी हुई क्यों हो रही है, इसे दो-चार शब्दों में कह डालना कठिन है।

किसी-किसी के विचार से पूर्ववर्ती काल के साहित्यकारों की एक ही विषय-वस्तु थी—स्वदेश-प्रेम। स्वतंत्रता-आंदोलन के ज़रिये देश के जीवन, संस्कृति-ऐतिह्य आदि के प्रति मोहांध जन-समाज को उद्वेलित कर इस पृष्ठभूमि पर रचित साहित्य उसके अंतर को अनायास आकृष्ट करने में समर्थ हो सका था। कुछ हद तक सही होने पर भी यह तथ्य पूर्णतया सत्य नहीं है। निस्संदेह स्वदेश-प्रेम ने रचनात्मक साहित्यकारों को अनुप्रेरित और प्रोत्साहित किया था, परंतु इसी कारण रचना का एकमात्र साधन भी यही था, यह पूरी तरह सत्य नहीं है। स्वदेश-प्रेम ने नाविकों के दिग्दर्शन-यंत्र की भाँति उनके लक्ष्य को निर्देशित किया था तथा अनुप्रेरणा दी थी। इससे

अधिक उसका महत्व नहीं है। वस्तुतः उस काल के साहित्यकार-शिल्पियों का क्षेत्र जितना विस्तृत था, जीवन का क्षितिज भी उसी अनुपात से प्रसारित था। अगर ऐसा न होता तो उनकी कृतियों का वैभव भी इस प्रकार सार्थकता से मंडित नहीं हो पाता। संक्षेप में, स्वदेश के जीवन की संभावनाओं पर उनका असीम विश्वास और अविचल आस्था थी। इसी विश्वास और आस्था ने ही उनके सृष्टि-संचार को अपूर्व सौंदर्यमय और अनन्य बनाया था। जीवन पर गहरी आस्था व विश्वास के बिना सार्थक रचना असंभव है।

स्वदेश-प्रेम को विषय-वस्तु बना कर उत्कृष्ट साहित्य-रचना संभव नहीं, ऐसी कृतियाँ ज़्यादातर सामयिक मूल्य की वस्तु ही बनी रह जाती हैं। दूसरी ओर रोमांस के बुरके से ढँक कर ये कृतियाँ यथार्थ से भी दूर हट जायँ, ऐसी भी आशंका पूरी-पूरी रहती है। रचना जब जीवन से दूर हट कर, यथार्थ से भी दूर हट जाती है तभी वह निस्तेज हो जाती है। जिसमें जीवन का ओज नहीं है, ऐसी कृति के निस्तेज हुए बिना चारा ही क्या है? इसी कारण प्रायः देखने में यही आता है कि स्वदेश-प्रेम पर आधारित साहित्य-कृतियाँ किसी ख़ास युग-विशेष की सामग्री बनी रह जाती हैं। किसी खास अवधि में ही इसका उत्थान और पतन हुआ करता है। यह अधिक काल तक जीवंत भी नहीं रहता। क्योंकि जीवन-परिवर्तनशील है फिर जीवनादर्श और जीवन-लक्ष्य का भी परिवर्तन पूर्णतया स्वाभाविक है। अंततः चिंतन और दृष्टिकोण में परिवर्तन स्वभावसिद्ध ही है।

दूसरी ओर स्वदेश-प्रेम जहाँ व्यापक जीवन-तृष्णा और समाज-चेतना का आलिंगन कर लेता है तो गंभीर वैचित्र्यमय सर्जना का द्वार अपने आप खुल जाता है। जहाँ यह व्यक्ति व समाज जीवन के अंतस्तल में प्रविष्ट हो जाय तभी अभूतपूर्व सर्जना का वह द्वार स्वयमेव खुले बिना नहीं रहता। रवींद्रनाथ के क्षेत्र में जैसे यह सही है उसी प्रकार प्रेमचंद या शरद चटर्जी के क्षेत्र में प्रयुक्त है। इनके सपनों में जो सामाजिक यथार्थ निहित है, वह राष्ट्रीय आंदोलन की सार्थक उपज है। ऐसी पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण ही पूर्ववर्ती युग की रचनात्मक कृतियाँ इस भाँति सजीव हो सकी थीं। प्रश्न यह है, वर्तमान स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि पर रचनात्मक साहित्य कितना आगे बढ़ सका है? आज की सामाजिक अनुप्रेरणा का उत्स कहाँ है? स्वतंत्रता के अनुराग ने हर झोपड़ी में ओज और उद्दीपना की जो शिखा जलायी थी—आज उसका प्रकाश कहाँ हैं? अफ़सोस है कि स्वतंत्रता के प्रकाश में जिस स्वदेश-प्रेम का प्लावन वह जाना आवश्यक था—एक संघबद्ध अभियान में जिसे रूपांतरित होना चाहिए था, उसका आज चिन्ह तक बड़ी मुश्किल से मिलता है। अगर ऐसा कोई प्रयत्न होता भी है तो वह खंडित प्रकाशन प्रयत्न मात्र ही बन कर रह जाता है। इसके हेतु न कोई संगठित आंदोलन चलाया जाता है और न कोई अभियान ही होता है। स्वतंत्रता के बाद सामाजिक परंपरा की गतिधारा में किसी तरह की तरंगें नहीं उठीं। फलस्वरूप यह निरंतर खंडित हो कर विलीन होने की स्थिति में आ गयी है। सामाजिक गतिधारा के प्रसारित हुए बिना कोई भी रचनात्मक प्रयास सार्थक नहीं हो सकता। जीवन-जिज्ञासा और मूल्यबोध के जिस सामाजिक अभियान से पूर्ववर्ती युग प्राणवंत, आलोड़ित तथा उद्भासित हो उठा था, आज वह मूल्य-बोध और जीवन-जिज्ञासा कहाँ है?

यह दुख की बात है;—कुछ अस्वाभाविक लगने पर भी सच है कि स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष में भारतीय जीवन-संग्रामी युग का प्रण-प्रवाह ही खो बैठा है। वह तत्परता, वह आग्रह, स्वतंत्र भारत के क्षितिज पर अब कहीं दिखायी नहीं पड़ता। कभी-कभी संदेह होता है—क्या भारतीय जीवन का क्षितिज ही खो चुका है? यह निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जब तक राष्ट्रीय चेतना के आदर्श, उत्साह-उद्दीपन का पुनर्जागरण नहीं होता तब तक कोई रचनात्मक आदर्श भी सार्थक नहीं हो सकता। इसके अभाव में साहित्य-रचना प्रयत्न का स्तर पार कर प्रतिभा और कृति के पर्याय तक नहीं पहुँच सकती।

वर्तमान युग में मूल्य-बोध की समस्या विश्वव्यापी हो गयी है। आम जनता को ही इसने स्पर्श किया हो, यही नहीं, कलाकार-साहित्यिक-समाज को भी यह प्रभावित किये बिना नहीं रहा है। इसके संघात से परंपरागत मूल्य-बोध की कगार धीरे-धीरे ढहती जा रही है। आस्था और स्थिति भी खोती जा रही है। प्रचलित मूल्य-बोध की खाई नि तर बढ़ती गयी है और इस शून्य को भरने के लिए किसी नवीन मूल्य-बोध का भी उदय नहीं हुआ है। हमारी सारी जटिलताओं और उलझनों के मूल में यही है।

मूल्य-बोध के संबंध में जन-हृदय में स्थैर्य की भावना नहीं रह गयी है। कुछ लोग प्राचीन संस्कृति, मूल्य-बोध, ऐतिह्य आदि का पुनरुद्धार चाहते हैं—केवल ऐतिहासिक युग के ही नहीं, अपितु प्रागैतिहासिक पौराणिक युग के भी। वे भूल जाते हैं कि सार्विक सत्य के चंद विषयों के अलावा किसी युग की प्रकृति और विचारधारा ही मूल्यों का स्वरूप निर्धारित करती है। सामंती युगीन मूल्य-बोध पूँजीवादी युग का मूल्य-बोध नहीं हो सकता। इनके अलावा भी विचारधारा को भ्रमित करने वाले और भी कई प्रश्न हैं। प्राचीन ऐतिह्य और संस्कृति की बात जब उठती है, वस्तुतः वहीं यह भी प्रश्न होता है कि प्राचीन युग का कौन सा अंश पुनरुद्धार कर वर्तमान युग में प्रतिष्ठित किया जा सकता है! क्योंकि प्राचीन युग भी किसी विशिष्ट ढाँचे में ढला हुआ सुसंगठित 'पिरामिड' नहीं है। वह भी वस्तुतः कुछ खंडित समष्टियों का ही समावेश है। धारा-प्रवाह की दृष्टि से इस युग के साथ उसका कुछ संबंध होने पर भी वस्तुतः दोनों में प्रकृतिगत संबंध बिल्कुल क्षीण है। इसमें भी कुछ तत्व रूप, सौंदर्य, गुण आदि से भी बिल्कुल हीन हैं। सिर्फ़ कुछ ही ऐसे हैं—जो वर्तमान के लिए भी सौष्ठवपूर्ण और आदर्श हो सकते हैं। अगर प्राचीन का पुनरुद्धार आवश्यक है, तो स्वभावतः ग्रहण व त्याग विचार और वर्णन आदि का प्रश्न उठे बिना नहीं रह सकता। दुख है, इनका निर्णय अब तक नहीं हो पाया। आदर्श और लक्ष्य का हममें आज अभाव हो गया है, यह तथ्य अप्रिय होने पर भी यथार्थ है।

संघर्षशील शक्तियों के संघात से उद्भूत ऐसी स्थिति में रचनात्मक साहित्यकारों व शिल्पियों का क्या चारा है? समाज-जीवन की नींव जब छिन्नमूल या खोखली हो जाय, आदर्श-च्युत हो जाय, तो साहित्यिक-शिल्पी किस उपकरण से सर्जना में लगें? यही नहीं, समाज-जीवन की बुनियाद कँपा देने वाले पश्चिमी संस्कृति से जो संघात उपस्थित हुआ है, उसकी चुनौती भी अनसुनी कर देना संभव नहीं है। पश्चिमी विज्ञान, दर्शन और यांत्रिक बुद्धि भारतीय दर्शन, धर्म और विचारधारा पर निरंतर चोटें कर रहे हैं। प्राचीन जीवन अनुशासन से आज हम बहुत

दूर हट आये हैं। दूसरी ओर इस खाईं को पाटने वाला कोई जीवनादर्श भी नहीं रह गया। हम पश्चिमी संस्कृति व विचारधारा को भी पूरा-पूरा अपना नहीं सके हैं। अपनाना कठिन है। फिर इसे पूर्णतया अस्वीकार भी नहीं कर सके; ऐसा करना भी कम कठिन नहीं। वर्तमा युग की जीवन-धारा के संबंध में नेहरू ने कहा था--**आज के युग की घटनाएँ--मानव-मन अपेक्षा भी तेज़ी से प्रवाहित हो रही हैं। आज का मानव-मन अपने ही घेरों में आबद्ध हो दिग्भ्रान्त हो गया है--इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। यही सारी उलझनों की में है!**

वर्तमान युग के रचनात्मक साहित्य की समस्याओं को इस पृष्ठभूमि पर विचार कि बिना उपलब्ध करना कठिन है। समाज-जीवन के रस से ही साहित्य जीवित रहता है। उस सौष्ठव बढ़ता है। उसमें स्पन्दन आता है। जीवन के संगतिहीन होने की स्थिति में जब कि सामाजि संगठन भी भार-साम्य खो बैठे तब सर्जनधर्मा शिल्पी-साहित्यिक को नवीन जीवन-प्रवा कौन प्रदान करे? नदी के तटों का बंधन अगर हटा दिया जाय तो उसका अस्तित्व ही क रहे! उसी भाँति समाज अगर अपना भार-साम्य खो दे तो जीवन का अस्तित्व ही कहाँ रह है!

वर्तमान स्वतंत्रता-काल में साहित्य अकादमी, 'नेशनल बुक ट्रस्ट्र' आदि संस्थाएँ भाँति भाँति के ग्रंथों का प्रकाशन कर रही हैं। इनके अलावा राज्यिक स्तर की भी अनेक संस्थाएँ इ दिशा में काम कर रही हैं। सिर्फ़ अंग्रेज़ी और हिन्दी में ही अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई हों ऐस बात नहीं, प्रांतीय भाषाओं में भी तरह-तरह की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। परंतु अब तक यह स्थिति हमारे सामने है कि अंग्रेज़ी में अनूदित हुए बिना राज्यिक भाषाओं की पुस्तकों के प्रचा का क्षेत्र बिल्कुल संकीर्ण ही है। ये संस्थाएँ भी जो पुस्तकें प्रकाशित करती हैं उनमें से ज़्यादात पुस्तकें किसी सुचारु योजना के बिना ही छप जाती हैं। इसीलिए अगर इन्हें 'सूचनात्मक साहित्य कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। ज़्यादातर यही देखा जाता है कि ये संस्थाएँ जिन पुस्तकों क प्रकाशित करना चाहती हैं और स्वीकृत करती हैं, 'लाल धागे' की उलझन से उन्हें प्रकाशन उजाले में आते-आते अर्सा लग जाता है। इसके अलावा पुस्तक-निर्वाचन और प्रकाशन-पद्धि भी कभी-कभी हद दर्जे की त्रुटिपूर्ण होती है। अतः तत्वहीन तथा नीरस होने के कारण ही इ संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पुस्तकें पाठक-समाज की दृष्टि कदाचित ही आकृष्ट कर पाती हैं।

इन संस्थाओं द्वारा प्रकाशित तमाम पुस्तकें निम्न कोटि की हैं, ऐसा कहना मेरा अभिप्रा नहीं है। कुछ उत्कृष्ट उच्च कोटि की पुस्तकें भी प्रकाशित न हुई हों, ऐसी बात नहीं परंतु ऐस पुस्तकों की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक़ ही है। यह स्थिति वस्तुतः चिंतनीय है।

निरुद्देश्य या अटपटे ढंग से कुछ पुस्तकें छाप भर देने से ही क्या इन संस्थाओं के कर्तव की इतिश्री हो जाती है? ऐसा साधारण काम तो कोई भी प्रकाशन-संस्था कर सकती हैं। सर कारी अर्थ-सहायता पर चलने वाली इन संस्थाओं का लक्ष्य तथा उद्देश्य और भी व्यापक हो चाहिए। आवेग-उद्दीपना को जाग्रत करने, लक्ष्य तथा आदर्श को निश्चित करने संबंधी एक सुग ठित अभियान चलाने का प्रेरणा-संचार करने में ही इनकी सफलता निहित है। राष्ट्रीय पृष्

पोषण प्राप्त होने पर भी इन संस्थाओं के ज़रिये किसी अभियान की प्रेरणा क्या हमें मिल पा रही है? राष्ट्रीय प्रयत्न जब 'रूपहीन निष्क्रिय-सूचना' मात्र में पर्यवसित हो जाता है, तभी जीवन का क्षितिज भी धुँधला हो जाता है। जीवन जीवन नहीं रहता, जड़ हो जाता है। मृत्यु ही इस जड़ता का अंतिम मील-पत्थर है।

आकाशवाणी ने देश भर के कुछ शीर्षस्थ साहित्यकारों को नौकरी में मुक़र्रर किया है। इसके सदुद्देश्य पर संशय न करने पर भी यह समझ पाना बड़ा मुश्किल है कि इस संस्था में नियुक्त होते ही प्रतिभावान लोगों की प्रतिभा भी कुंठित क्यों हो जाती है। मानो आकाशवाणी प्रतिभा की क़ब्रगाह हो। सुनने में कठोर लगने पर भी यही यथार्थ है। संभवतः इसी कारण किसी प्रतिभासंपन्न व्यक्ति की आकाशवाणी में नियुक्ति का समाचार पाते ही लोगों के मुख से यही सुनने में आता है——

मूठ भर चाँदी की चमक
उसी के लिए, उसी के लिए
द्वार में लग चुकी जंग
खुले कैसे फिर द्वार!
खोले ही कौन बंद द्वार!

कोई-कोई कह सकते हैं कि ऐसा मंतव्य अनुचित है। परंतु ऐसी उक्ति ग़लत है, इस तथ्य को प्रमाणित करने के हेतु क्या तर्क का अभाव नहीं है? हमारे देश में औद्योगिक क्रांति की शुरुआत हो चुकी है। यही क्रांति नयी सामाजिक शक्ति और नये मूल्यों को भी जन्म देने वाली है। इसी के ज़रिये विषय-वस्तु के विस्तार, समाज के नवीन संगठन की रूप-रेखा आदि के उद्भव के साथ नवीन सर्जना का मार्ग भी खुलेगा। युगधर्म नवीन मूल्यों की स्वीकृति देने को बाध्य है। वह उसका स्वागत भी करेगा। हमारी स्वतंत्रता की अवधि में बहुत थोड़े से उत्कृष्ट अर्थात जिन्हें सुरुचिसंपन्न कहा जा सके——ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। पुस्तकों का कोटि-निर्धारण करते हुए आस्कर वाइल्ड ने 'उत्तम शैली में लिखित और बुरी शैली में लिखित' ये दो ही भेद माने हैं। विषय-वस्तु पर उन्होंने बहुत कम महत्व दिया है। हो सकता है, हमारे यहाँ भी कुछ उत्तम कोटि की पुस्तकें प्रकाशित हुई हों। परंतु प्रश्न यह है कि साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में क्या हम कुछ महती कृतियाँ प्रस्तुत कर सके हैं? ऐसी सर्जना जिन्हें 'यूलिसिस' या 'दि ओल्ड मैन एंड दि सी' की कोटि में रखा जा सके? अगर नहीं, तो यहीं हमारी अक्षमता भी प्रकट है।

——अनु०: नवारुण वर्मा।

नवारुण वर्मा

असमीया साहित्य की गवेषणा और शोधमूलक विधाएँ

भाषा-साहित्य की गहराई और ऊँचाई गवेषणा और शोधमूलक रचनाओं की संपन्नत से प्रकट होती है। चिंतनमूलक निबंधों से बौद्धिक दिशा-बोध के दर्शन के साथ-साथ तात्वि सूचना और ज्ञान भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार हृदय-अनुभूतियों के संप्रसारण के हेतु रचना त्मक साहित्य आवश्यक है, उसी भाँति रचनात्मक साहित्य के दिशा-दर्शन-विचारों के विस्ता तथा मनन व युक्ति के प्रदर्शन हेतु गवेषणा और शोधमूलक साहित्य की अनिवार्य आवश्यकत होती है।

आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्य की बुनियाद ही मनन और युक्ति-तर्कमूलक गवेषणा त्मक रचनाओं से पड़ी है। भाषिक रूप-ग्रहण के प्रारंभिक काल में यूरोपीय संस्कृति और धर्म चेतना के साथ भारतीय संस्कृति का संघात बड़े ही प्रबल वेग से हुआ। फलतः आत्म-संस्कृ की संरक्षा तथा प्रसार की भावना से उसी प्रथम युग में संस्कृति संबंधी शोधात्मक और विचारात्म रचनाएँ सामने आयीं। हालाँकि उनमें गहराई की अपेक्षा खंडन-मंडन की प्रवृत्ति तथा प्रचार मूलक मनोभावना ही अधिक दिखायी पड़ती है।

असमीया साहित्य में प्रचारात्मक निबंधों की नींव ईसाई मिशनरियों ने ही डाली 'अरुणोदय युग' मुख्यतः धार्मिक प्रचार का ही युग है। परंतु 'अरुणोदय' में जिस लेखक-मंड का आगमन हुआ, उन्होंने ही तथा उनके अनुवर्ती अन्य साहित्यकारों ने परवर्ती काल में गंभी शोधात्मक रचनाओं का पथ प्रशस्त किया। धार्मिक आलोड़न के धीमा होने पर स्वभावतः उन उन समन्वयमूलक विचारों की भावना आयी और साथ ही आत्म-मूल्यांकन की नयी दृष्टि भी पश्चिमी शिक्षा के प्रसार से पश्चिमी चिंतनधारा से बुद्धिजीवियों का परिचय हुआ। साहित्य नये भावनात्मक आंदोलन पनपे और उस वैचारिक जागरण में शोध और मननशील निबंधों क महत्वपूर्ण हाल रहा है।

धार्मिक-सांस्कृतिक संघात के साथ-साथ उसी प्रारंभिक काल में असमीया भाषा को अप अस्तित्व की रक्षा का संग्राम भी करना पड़ा। इसके फलस्वरूप भाषा-तात्विक शोध की नींव उसी काल में पड़ी। खासकर 'असमीया साहित्य के जनक' आनंद राम ढेकियाल फुकन असमीया भाषा की स्वतंत्रता और ऐतिह्य को प्रकट करते हुए रचना कर ली। इस विद्वत

पूर्ण रचना में असमीया भाषा के उद्भव और वैभव पर बड़े ही युक्तिपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला गया है।

भाषिक संघात-काल में जहाँ असमीया साहित्य में गवेषणात्मक निबंधों की नींव पड़ी वहाँ 'जोनाकी' (१८८९) के प्रकाशन-काल तक असमीया गद्यशैली जितनी प्रौढ़ता प्राप्त करती गयी उतना ही उसमें अधिकाधिक विस्तार आता गया। गंभीर मननशीलता के साथ-साथ वैभव-पूर्ण प्राचीन साहित्य का अध्ययन और उन पर शोध आरंभ हुआ। हेमचंद्र बरुवा और गुणाभिराम बरुवा जैसे लेखक नयी दृष्टिभंगी के अग्रदूत बने।

प्रारंभिक युग की भाषा-शैली का बचपना अधिक आवेगप्रवण होने पर भी उसमें ठोस-पन नहीं था। मननशील और शोध-निबंधों की रचना जितनी आगे बढ़ी भाषा में भी संश्लिष्टता, सघनता और संबद्धता अधिक प्रकट हुई। अनुभूतियों के संप्रसारण के नये क्षेत्र खुलने लगे। वैज्ञानिक विश्लेषण और युक्ति-तर्कों का समावेश होने लगा। विचारों में श्रृंखला अधिक घनी हुई। फिर भी प्राथमिक युग की भाव-प्रवणता से यह पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया था। कमला-कांत भट्टाचार्य के व्यक्तिगत निबंध-संग्रह 'कः पंथाः', इंदीवर बरुवा का 'जीवनादर्श' आदि ग्रंथों में यही प्रवृत्ति अधिक दिखायी पड़ती है। इनमें भावना की तीव्रता और प्रवाह का आतिशय्य है परंतु तथ्यों की संश्लिष्टता का अभाव है। जीवनी-लेखन की नींव भी इसी काल में पड़ने पर भी चरित्र-विश्लेषण की सूक्ष्मदर्शिता और तटस्थ चित्रण का अभाव खटकने लगता है।

'रोमांटिक युग' असमीया साहित्य में सर्वसंपन्नता का काल है। इस काल में शोध की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ी और प्रतिभाशाली लेखकों द्वारा समालोचना और साहित्यिक निबंधों का भंडार परिपूर्ण होने लगा। पश्चिमी कलात्मक विचारधारा और भारतीय काव्य-सिद्धांतों का अध्ययन तथा उनमें समन्वय-साधना की प्रवृत्ति का प्रसार हुआ। खासकर लक्ष्मीनाथ बेज-बरुवा, वेणुधर शर्मा, वाणीकांत काकति, सूर्यकुमार भुयाँ, डिंबेश्वर नेओग, नीलमणि फुकन जैसे प्रतिभाशाली गवेषकों का उदय इसी काल में हुआ और गवेषणामूलक रचनाओं का सर्वांगीण विकास हुआ। लक्ष्मीनाथ बेज बरुवा ने मननशील निबंधों के अलावा व्यंग्यात्मक शैली की निबंध-रचना का पथ-प्रदर्शन भी किया। राजनीतिक तथा सामाजिक विषमताओं पर आपके चुटीले व्यंग्यात्मक निबंध असमीया साहित्य की विभूति हैं।

'बुरंजी' या इतिहास-लेखन के क्षेत्र में प्राचीन असमीया साहित्य भारतीय अन्य सभी भाषाओं से आगे रहा है। इन 'बुरंजियों' में न केवल असम की तत्कालीन स्थिति का ही चित्रण है बल्कि उनमें भारत तथा एशिया की राजनीतिक व सामाजिक स्थिति भी स्पष्ट है। इन बुरं-जियों के उद्धार व उन पर नये दृष्टिकोण से विचार के क्षेत्र में वेणुधर शर्मा तथा डॉ० सूर्यकुमार भुयाँ की देन बहुत अधिक है। खासकर 'आहोम काल' पर इनके शोध-निबंध मूल्यवान कृतियाँ हैं।

भाषा-तत्व पर गवेषणा का बहुत बड़ा क्षेत्र असम है। मंगोल, बर्मी, द्रविड़ तथा आर्य इन सभी भाषा-गोष्ठियों का जन-समुदाय असम में निवास करता है और इन सबके समन्वय से असमीया भाषा का स्वरूप निखरा है। इसलिए भाषिक शोध की अपार सामग्रियाँ यहाँ बिखरी

पड़ी हैं। भाषा-तत्व पर असम के कई मूर्धन्य विद्वानों ने शोध किया है जिनमें डॉ० वाणीकांत काक का नाम सबसे पहले आता है। आपका 'असमीया भाषा—इसकी रचना और विका मूल्यवान शोध-कृति है। इसमें लेखक की विद्वत्ता तथा स्वतंत्र दृष्टिकोण प्रकट हो उठा है ख़ासकर असमीया शब्द और ध्वनि-तत्व पर डॉ० काकति का शोध-कार्य देशी-विदेशी विद्वानों द्वा प्रशंसित है। इनके शोध-कार्य द्वारा ही असमीया भाषा को स्वकीय मर्यादा प्राप्त हुई। पारिभाि शब्दों के निर्माण, प्रयोग तथा तत्व-विश्लेषण की सूक्ष्म तथा सरस शैली के द्वारा आपने असमी साहित्य-भंडार को अपूर्व वैभव प्रदान किया। हिंदी के आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाँति आ असमीया साहित्य में समालोचना का मानदंड भी निर्धारित किया। 'पुरणि असमीया साहि जहाँ डॉ०काकति के समीक्षात्मक लेखों का संग्रह है वहाँ 'पुरणि असमर धर्मर धारा' उनकी संस्कृ गवेषणा संबंधी दृष्टि का परिचायक है।

इसी काल में 'असमीया साहित्य का इतिहास' लिखने की ओर भी विद्वानों का झुकाव हुआ प्राचीन ग्रंथों के संग्रह और उनका नव मूल्यांकन होने लगा। इस दिशा में डिंबेश्वर नेओ की विशिष्ट देन है। आपने ही 'असमीया साहित्यर बुरंजी' नामक असमीया साहित्य का प्राम णिक इतिहास प्रस्तुत कर दिया है। निरपेक्ष विश्लेषण-दृष्टि, प्राचीन और नवीन साहित्य-धा का सतर्क मूल्यांकन नेओग के इतिहास की विशेषता है।

स्वतंत्रता-आंदोलन के दौरान असमीया पत्रकारिता भी विकसित हुई और अनेक प्रका के सामयिक निबंध लिखे गये। इनमें अनेक ऐसे भी निबंध हैं जो सामयिकता की सीमा को पा कर चुके हैं। नीलमणि फुकन की 'चिंतामणि' उनके दार्शनिक और विचारात्मक निबंधों का संग्र है। 'साहित्य-कला' में फुकन के साहित्यिक विचारों की भावात्मक अभिव्यक्ति है।

पुरातत्व, गवेषणा और मानव-विज्ञान के क्षेत्र में राजमोहन नाथ ने अनेक निबंध लिखे हैं

जीवनी तथा आत्मकथा-लेखन भी इस युग की एक विशिष्ट साहित्यिक विधा के रूप पनपा। भावुकता, पूजा-वृत्ति तथा शब्द-चमत्कार के बजाय इस दिशा में विश्लेषण की प्रवृ व यथार्थ दृष्टिकोण अधिक देखा गया। प्राचीन महापुरुषों के जीवनी-लेखन के अलावा 'आत्म चरित' भी लिखे गये।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में डॉ० विरिंचिकुमार बरुवा की देन भी अविस्मरणीय है बहुमुखी प्रतिभा के अधिकारी डॉ० बरुवा ने संस्कृति, गवेषणा तथा समालोचना की नवीन दिशा का उद्घाटन किया। 'काव्य आरु अभिव्यंजना', 'असमीया भाषा अरु संस्कृति', 'असमर लोक संस्कृति' आदि ग्रंथों में प्राच्य और पाश्चात्य शोधात्मक पद्धतियों का समन्वय है, साथ ही डॉ० बरुवा की प्रतिभा का स्वरूप तथा व्यापक दृष्टिकोण इनमें स्पष्ट है। डॉ० बरुवा के अलावा श्री प्रफुल्ल दत्त गोस्वामी, डॉ० सत्येंद्र नाथ शर्मा का नाम भी आधुनिक समालोचकों में आता है।

जनजातीय भाषा तथा संस्कृति असमीया संस्कृत के अविच्छेद्य अंग हैं, जिसने विविध रूपं से सदा इसको विकसित करने व व्यापक रूप देने में योग दिया है। इन जनजातीय संस्कृति तथ भाषाओं का सुचारु अध्ययन अब तक नहीं हो पाया है। यद्यपि डॉ० वाणीकांत काकति, डॉ विरिंचिकुमार बरुवा आदि ने इस दिशा में प्रकाश डाला है। इनका बहुविस्तृत क्षेत्र सूना ही पड़

है। हालाँकि लीलागगै ने 'आहोम जाति आरु असमीया संस्कृति' में तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका 'सीमांतर भाटि आरु मानुह' में उर्वसीयम अंचल के जनजातीय लोगों पर प्रकाश डाला गया है। डॉ० प्रमोदचंद्र भट्टाचार्य ने हाल ही में 'बड़ो' जनजाति पर एक शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है। उनका 'असमीया जनजाति' एक संपादित ग्रंथ है।

हेम बरुवा आधुनिक असमीया गवेषकों में प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। आपकी समीक्षा-शैली 'प्रभाववादी' होने पर भी उन पर आधुनिक पश्चिमी आलोचकों का प्रभाव बहुत अधिक है। आपने यात्रा-साहित्य पर भी बहुत कुछ लिखा है। उनके 'साहित्य आरु साहित्य', 'आधुनिक साहित्य' आदि उच्च कोटि के समालोचनात्मक निबंधों का संग्रह है, वहाँ लौहित्य और नीलाचल में असमीया भाषा और संस्कृति पर प्रकाश डाला है। 'रङा करवीर फुल', 'सागर देखिछा' आदि आपकी सरस यात्रा-पुस्तकें हैं।

गुवाहाटी विश्वविद्यालय की स्थापना होने के बाद जनजातीय संस्कृति तथा लोक-संस्कृति पर शोध-कार्य आरंभ हुआ है। परंतु अब तक इसकी कोई बड़ी उपलब्धि सामने नहीं आयी है।

असमीया कविता के रूप पर भी कई आलोचनात्मक कृतियाँ निकली हैं। त्रैलोक्यनाथ गोस्वामी का 'साहित्य-समालोचना' और महेंद्रवरा का 'असमीया कवितार 'छंद' दो विशिष्ट ग्रंथ हैं।

वस्तुत: आज का असमीया शोध-साहित्य बहुव्यापकता को अपनाये हुए निरंतर आगे बढ़ रहा है।

—खारघुली हिल,
गुवाहाटी (असम)

प्रतिपत्तिका

●●

निर्देशन की समस्या

भारतीय रंगमंच के संदर्भ में जब हम विभिन्न प्रादेशिक नाट्य-प्रस्तुतियों की समस्या की परख करते हैं तो अनेक विशिष्ट अभावों के बीच कुशल निर्देशन की कमी इतनी व्याप लगती है कि उस अकेली धुरी पर दूसरी अनेक छोटी-मोटी ख़ामियाँ ख़ुद ही घूमती हुई दिखा पड़ती हैं। निर्देशन को इतना सरल और सहज मान लिया गया है कि नाटक के क्षेत्र में बहुत ऐसे हैं जिन्होंने अपना प्रवेश ही निर्देशन के साथ किया है। रंगमंच के जीवंत तत्वों से अपरिच और उनके प्रति अरुचि, नाटकों को उनका वांछनीय प्रभाव डालने से रोक लेता है। कुशल नि शन कहाँ तक एक साधारण नाट्य-कृति को उल्लेखनीय उपलब्धि बना सकता है, इसे नाटक वे पारखी जानते हैं जिन्होंने इस कला को पश्चिम में विकसित होते देखा है।

बहुत काल तक यह मान्यता रही कि नाटककार के नाटक रच देने के बाद तो नाट केवल अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। इंग्लैंड में शेक्सपियर और उसके बा कुछ दिनों तक नाटककारों और अभिनेताओं का ही युग रहा है। नाटककार अपने सुविधानु सार और कुछ हद तक अभिनेताओं के सुविधानुसार नाटक रचते थे। उनमें से अधिकांश पुस्त कालयों की निधि बन जाते थे या शिक्षित वर्ग के घरों में आलमारी या मेज़ की शोभा बढ़ाते थे। नाटक कार के हाथों से नाटक कलाकारों के हाथ में आ जाता था। इन दोनों के मध्य कोई तीसरा प्राणी नहीं होता था। संस्कृत नाटकों में 'सूत्रधार' का नाम बराबर आता है जो लेखक, अभिनेता और दर्शक के मध्य आता है और सारे आयोजन का प्रबंध करता है। अब प्रश्न यह है कि जब नाट्य कला के स्वर्ण युग में भारत को छोड़ कर, अन्यत्र नाट्य-प्रस्तुति में नाटककार और अभिनेता के अतिरिक्त किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ी तब आज यह पश्चिम का प्रस्तोता (प्रोड्यूसर) या निर्देशक (डाइरेक्टर) कौन है, कहाँ से आ टपका? इंग्लैंड में शेक्सपियर के बाद उसकी टक्कर की रचनाएँ लिखने वाला कोई नाटककार नहीं जन्मा! नाट्य-प्रस्तुति कला धीरे-धीरे बढ़ती भी गयी और उच्च कोटि के नाटककारों के अभाव के कारण धीरे-धीरे अभिनेताओं ने इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाना शुरू कर दिया। विलायत में 'कामेदिया दे-लार्ते' आदि की प्रस्तुतियाँ होनी आरंभ हो गयीं जिनमें लिखित कृति के नाम पर कुछ नहीं होता था। सब कुछ अभिनेताओं के हाथों में होता था। परिणामस्वरूप नाट्य-जगत में अभिने

ताओं का युग आ गया। इसका फल यह हुआ कि नाटक का साहित्यिक और बौद्धिक तत्व धीरे-धीरे निचले स्तर की ओर जाने लगा और मात्र आंगिक अभिनय ही नाटक में मुख्य और प्रधान हो गया।

पश्चिमी देशों में वह स्थिति आ गयी थी जिसके परिणामस्वरूप नाट्य-प्रस्तुति निरंतर पतनावस्था की ओर जाती रही; नाट्य-प्रस्तुति जिसमें हर चीज़ एक समग्र चित्र न दे कर छोटी-छोटी इकाइयों में अभिव्यक्ति पाते थे। इसे सर्वप्रथम १९वीं शताब्दी में ड्यूक ऑफ़ सेक्स मेनिनजिन ने अनुभव किया। इस समय तक पश्चिम में मंच पर प्रकाश की विभिन्न व्यवस्थाओं की खोज हो गयी थी और चित्रकला का प्रभाव भी नाटक में प्रयुक्त सज्जा पर पड़ने लगा था। ड्यूक ऑफ़ सेक्स मेनिनजिन ने यह अनुभव किया कि नाट्य-प्रस्तुति में अभिनय, मंच-सज्जा, वेश-भूषा, प्रकाश-व्यवस्था आदि सब कुछ स्वयं अपने में उच्च कोटि की कला का प्रदर्शन तो करते हैं किंतु वह सब मिल कर एक समग्र तथा प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत करने में प्रायः अक्षम रहते हैं।

नाट्य-प्रस्तुति में विभिन्न कलाओं का समावेश अवश्य होता है किंतु उन सब कलाओं में कोई संतुलन नहीं होता था। कारण यह था कि नाटककार की दृष्टि पूरे नाटक पर रहती तो थी किंतु यह संभव नहीं होता था कि वह स्वयं लगातार पूर्वाभ्यास में रहे और सब इकाइयों में संतुलन और सामंजस्य लाने के लिए सुझाव दे और वांछित सुधार कराये। प्रत्येक कलाकार अपने ढंग से उस नाटक के बारे में सोचता और अक्सर केवल अपने योग्यता-प्रदर्शन के ही अवसर की खोज में रहता। अतः कोई नाटक-प्रदर्शन अभिनेता-प्रधान, कोई प्रकाश-प्रधान, कोई सज्जा-प्रधान, कोई वेश-भूषा-प्रधान हो कर अपनी मूल प्रकृति खोने लगे। इस अति ने ही नाट्य-जगत में निर्देशक नामक प्राणी को जन्म दिया। फिर स्टेनिसलाविस्की और ऐंटोनी जैसे सजीव कलाकार और सर्जनात्मक विचारों के निर्देशक आगे आये जिन्होंने नाट्य-जगत में 'कलात्मक एकता' को स्थान दिलाने के लिए नाट्यांदोलन आरंभ किया। इन महान कलाकारों ने यह सिद्ध कर दिया कि नाट्य-प्रस्तुति में नाटककार, अभिनेता और दर्शक के मध्य एक और महत्वपूर्ण सर्जनकारी कलाकार भी आता है जो निर्देशक है, परंतु उस समय एक प्रश्न यह उठा कि क्या निर्देशक मात्र परिचालक ही है या संयोजक और व्याख्याता भी है? यदि निर्देशक सरकस का परिचालक मात्र है तब उसका कार्यक्षेत्र क्या होगा? नाट्य-प्रस्तुति के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण होगा? यदि वह भी नाटककार और अभिनेता की भाँति एक रचनात्मक कलाकार है, जो नाटक को समग्र, संतुलित और कलात्मक एकता के साथ दर्शक के सामने प्रस्तुत करता है, उसे नया अर्थ देता है, तो उसका कार्यक्षेत्र, उद्देश्य, योग्यताएँ और दृष्टि क्या होगी?

निर्देशक सरकस का परिचालक मात्र नहीं है, इस पर विवाद नहीं है। आज निर्देशक के संबंध में सर्वमान्य मत यह है कि वह नाटककार की रचना को अपनी कल्पना में पुनःसर्जित करता है। बल्कि कहना चाहिए कि वह नयी रचना-प्रक्रिया में उस सारे नाटक को फिर से ढालता है—उन पात्रों को वह स्वयं भी जीता है। इस प्रेरणा और अनुभूति की अभिनेता तथा अन्य कलाकारों के संयुक्त सहयोग और प्रयास द्वारा दर्शक के सामने वह पुनः रचना करता है। वह केवल

पूर्वाभ्यास परिचालित कराने वाला ही नहीं है वरन वह हर पूर्वाभ्यास में नाटक को क्रमशः रूप ग्रहण करते देखता है। वह देखता है कि काग़ज़ पर रचा गया, संपूर्ण जीवन का आभास देता हुआ वह चित्र कहाँ तक प्राणवान हो पा रहा है। अभिनेता तथा अन्य कलाकार उस कृति को कहाँ तक रूप, आकार और आत्मा दे पा रहे हैं, इस तथ्य को सामने रख कर जहाँ वह नाटक अपनी मूल प्रेषणीयता में कमज़ोर पड़ रहा है, वहाँ वह नये क़दम उठाता है। इस तरह वह धीरे-धीरे नाटक को अपनी परिकल्पना के अनुसार ढालता जाता है। उसके लिए अपने माध्यम को अच्छी तरह जानना, उसके गुण-दोषों को भली प्रकार समझना, उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखना एवं हर कलाकार के विचारों के प्रति सद्भावना और सम्मान का भाव रखना आवश्यक है। उसका सुलझा स्वभाव, मान्य मूल्यों का गहन अध्ययन, दर्शकों की माँग एवं मनोविज्ञान का ज्ञान तथा साहित्य तथा संबंधित कलाओं के प्रति पैनी दृष्टि उसकी कुशलता में नये आयाम जोड़ देती है।

नाटक भी अन्य कलात्मक चित्रों की भाँति जीवन के एक 'अंश' मात्र को प्रस्तुत करता है किंतु सफल निर्देशक जीवन के उस छोटे से टुकड़े को इस तरह दर्शक के सामने प्रस्तुत करता है कि दर्शक को उसमें संपूर्ण जीवन का बोध मिलता है। दर्शक यह अनुभव कर पाते हैं कि 'हाँ ऐसा जीवन में प्रायः घटित होते देखते हैं'। सफल निर्देशक उस चित्र को जीवन के अधिक निकट लाता है, अधिक वास्तविक या यथार्थ और कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। प्रस्तुतीकरण एक सामूहिक कला की अभिव्यक्ति का प्रतीक है। निर्देशक सभी कलाओं के समन्वित प्रयोग से जीवन की संपूर्णता प्रदर्शित करता है। निर्देशक को जीवन का बृहत अनुभव होना आवश्यक है। उसे जीवन में घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं, उनके परिणामों और व्यक्तियों की विचार धारा में आते हुए प्रत्येक परिवर्तन का क्रम जानना वांछनीय होगा। इसी परिवर्तन-क्रम का बोध तथा संपूर्ण जीवन के प्रति पैनी दृष्टि निर्देशक की रचना-प्रक्रिया में भावात्मकता जगाता है साथ ही पूरे आयोजन को अधिक जीवंत बनाता है।

निर्देशक के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि जीवन में किस प्रकार मनुष्य आनंद से विषाद की ओर अनायास बढ़ता है, या निराशा आशा में कैसे बदलती है। वस्तुतः जीवन में यह सब कुछ अपनी निश्चित गति के अनुसार पर्याप्त समय ले कर होता है लेकिन निर्देशक को यही अनुभूति थोड़े से समय में करानी होती है। अतः यह आवश्यक है कि वह इस कुशलता से इसे प्रस्तुत कराये जिससे दर्शक को यह न लगे कि सब कुछ बहुत जल्दी हो गया, या जीवन में ऐसा नहीं होता है। तब वह प्रस्तुति मात्र प्रदर्शन बन कर रह जायगी, जीवन की अनुभूति संभवतः नहीं करा सकेगीं।

निर्देशक को अनेक समस्याएँ और मर्यादाएँ चुनौती देती हैं। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम जीवंत प्राणी—अभिनेता है। निर्देशक ने नाटक को जिस रूप में घटित होते देखा है वैसे ही अभिनेता भी देखे, यह आवश्यक नहीं है। अभिनेता कहीं स्वयं भी सर्जनकारी कलाकार है। वह अपने अनुभव, विचार और संस्कार, विभिन्न घटनाओं, सामाजिक वातावरण आदि के प्रभाव से पूर्ण होता है। अतः निर्देशक के लिए कठिनाई होती है कि किस प्रकार वह अपनी अनुभूति को अभिनेता तथा उसी के समान संबंधित अन्य कलाकारों के माध्यम से कैसे 'फ़ुटलाइट'

के उस पार बैठे दर्शक तक पहुँचाये। प्रायः निर्देशक 'तानाशाह' बन जाते हैं और अपनी नादिरशाही चलाते हैं। वे हर पग पर अभिनेता और अन्य कलाकारों पर अपने विचार लादना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि अन्य सभी कलाकार उनके हाथ में कठपुतली की तरह नाचें। निःसंदेह वे दर्शक को कलात्मक एकता का या एक संपूर्ण चित्र का भ्रम दे सकते हैं किंतु वे चित्र आत्माहीन एवं एकरस हो जाते हैं और इस प्रकार अपनी रोचकता खो देते हैं। सब कुछ बड़ा यांत्रिक, ऊपर से थोपा हुआ लगता है। इसके विपरीत वे निर्देशक होते हैं जो स्वयं बहुत कुछ सोच-विचार नहीं सकते, जिनके कोई मौलिक विचार नहीं होते, न ही जिन्हें जीवन का बृहत् और गहन अनुभव ही होता है। वे अपनी मर्यादाएँ तोड़ देते हैं और अभिनेताओं तथा अन्य कलाकारों को 'पूर्ण' स्वतंत्रता दे देते हैं और उन्हीं के द्वारा चालित होते हैं। इस स्थिति में दर्शक के संमुख बिखरा हुआ या टुकड़ों में बँटा हुआ चित्र आता है। निर्देशक को इन दोनों अति की स्थितियों से बचना आवश्यक है। उसे अपने विचार दूसरों पर लादने नहीं हैं परंतु अपनी परिकल्पना के अनुसार सबको आवश्यक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देते हुए भी एक नियंत्रण में परिचालित करना है, क्योंकि नाटक का पूरा चित्र वही निष्पक्ष रूप से या तटस्थ भाव से खींच सकता है। अन्य कलाकार सारी स्थिति के बारे में भावुक हो जाते हैं और प्रायः व्यक्तिगत रूप से अधिक सोच सकते हैं। निर्देशक के अतिरिक्त कोई भी तटस्थ भाव से सारी कृति का मूल्यांकन नहीं कर पाता है।

दूसरी सीमा निर्देशक के सामने होती है नाटक की। रचनाकार ने जब नाटक रचा, तब उसने एक चित्र खींचा। काग़ज़ पर अक्षरों द्वारा खींचे गये चित्र को निर्देशक को विभिन्न कलाकारों के सहयोग से दर्शक के सामने खींचना है। इस चित्र को आकार देने के लिए ही उसे विभिन्न वस्तुओं जैसे सज्जा, वेश-भूषा, रंग-रेखा, संगीत-प्रकाश आदि का प्रयोग करना पड़ता है। जब निर्देशक निश्चित या पारंपरिक साधनों के प्रयोग में किसी प्रकार की हेर-फेर करता है और उनके प्रयोग में किसी प्रकार का परिवर्तन करना चाहता है तो उसे प्रायः कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यहाँ उसे इस बात के लिए बहुत स्पष्ट रूप से विचार कर लेना चाहिए कि वह वास्तव में चाहता क्या है। उसे यह भी विचार करना चाहिए कि नाट्य-कृति कितने प्रयोग की संभावना उसे देती है। क्या नाटक संकेतों के प्रयोग का अवसर देता है? जब निर्देशक मंच की सीमाएँ तोड़ना चाहता है तब दर्शक की अभिरुचि, प्रयोग और परिवर्तन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया एवं कलाकारों के मानसिक विकास आदि सभी बातों का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। यहाँ उसे अपने साधनों को भी ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। किसी प्रयोग के प्रति बहुत भावुक हो कर विचार करना घातक हो जाता है, प्रायः प्रभावहीन भी।

एक और समस्या निर्देशक के संमुख आती है, 'स्वतंत्रता' की। निर्देशक को हर अभिनेता के 'अहं' को मान्यता देनी है; हर कलाकार के 'अहं' को संतुष्ट करना है और सबकी अभिव्यक्ति को समुचित अवसर प्रदान करना है। उसके सामने समस्या यह आती है कि वह सबको कितनी स्वतंत्रता दे कि वे नाटक को जी भी लें, उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति भी निरंतर क्रियाशील रहे और नाटक को संतुलित रूप से प्रदर्शित भी कर दें। हर अभिनेता और हर कलाकार व्यक्ति होने के साथ ही साथ एक बड़ी सी वस्तु का अंग भी है और हर छोटे टुकड़े का एक दूसरे से भी संबंध है।

११

ये बातें निर्देशक को हर कलाकार के दिमाग़ में बहुत स्पष्ट रूप से बैठा देनी हैं। हर कलाका को कुछ कल्पित सीमाओं में सर्जन करना है जहाँ वह इन कल्पित सीमाओं का उल्लंघन करे व निर्देशक को बड़ी कुशलता से अंकुश लगा देना आवश्यक है क्योंकि उस पूरे समूह में नाटकका के बाद वही ऐसा व्यक्ति है जिसने नाटक की हर घटना, हर पात्र को एक दूसरे से संबंधित हो क क्रमशः आगे बढ़ते देखा है। उस कलाकृति का समग्र संतुलित रूप उसी के मस्तिष्क में है। व ऐसा व्यक्ति है जो इस सबसे अपने को अलग कर के इसका मूल्यांकन कर सकता है। एक बा नाटककार भी अपनी रचना के प्रति अतिरिक्त भावुक हो सकता है। उसे मोह हो जाता है कि निर्देशक अपने को वहाँ बचा सकता है। वह उस स्थिति में दोहरा जीवन जीता है। वह इस रचनात्म दल का एक अंग भी है और दर्शक वर्ग का भी सक्रिय प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रसंग में नाटक कार का स्वयं निर्देशक भी होना प्रायः चिंत्य हो उठता है।

हिंदी रंगमंच के संदर्भ में जब हम निर्देशन की इस बहुमुखी प्रतिभा की माँग करते हैं त प्रायः नकारात्मकता ही हाथ आती है। उसके बहुतेरे कारण हैं। निर्देशक में पृष्ठभूमि का सर्व अभाव उसकी रचनात्मक प्रक्रिया को सक्रिय मंच के योग में प्रायः हास्यास्पद सिद्ध कर देता है वस्तुतः निर्देशक को जिस प्रकार मंच की तथा नाटक की हर मौलिक प्रक्रिया से हो कर गुज़र उसके अनुभव के लिए अत्यंत आवश्यक है वह यदि पूरी तरह से किया जाय तो उसके लिए ब समय की अपेक्षा होगी। इसीलिए उसके प्रशिक्षण की आवश्यकता है। किंतु तब भी यह समस उतनी ही ज्वलंत रहेगी कि प्रशिक्षण ले कर आगे आने वाले इन निर्देशकों की खपत कहाँ है उनका जीवन-यापन कैसे होगा ?

और तब फिर वही पुराना प्रश्न-चिन्ह सामने आता है——सफल नाट्य-प्रस्तुति का अ है कुशल अभिनेता, कुशल निर्देशक और कुशल नाटककार और उन सबका अर्थ है एक जीव रंगमंच जो अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

——हीरा चड्ढ

२१, गुजराती मुहल्ल

इलाहाबाद

काव्य-नाटक या नाटक-काव्

दुष्यंत कुमार द्वारा प्रस्तुत 'एक कंठ विषपायी' के प्रकाशन के बाद अनेक पत्रों में प्रकाशि गोष्ठी-संवादों में काव्य-नाटक पर चर्चाएँ देखने को मिलीं। डॉ० धर्मवीर भारती कृत 'अं युग' के माध्यम से 'काव्य-नाटक' को एक नवीन विधा का स्वरूप प्रदान किया गया था। यद्य

कविवर पंडित सुमित्रानंदन पंत ने आकाशवाणी के लिए 'रजत-शिखर', 'शिल्पी' जैसी कृतियों का लेखन-कार्य संपादित किया था और उन कृतियों को 'भाव-नाट्य' ही कहा गया किंतु विधा रूप में नामकरण की दृष्टि से मुझे आपत्ति है, क्योंकि नाटक के शिल्प में ही परिसीमित कर लेने की स्थिति को कोई भी काव्यकार स्वीकारेगा नहीं। 'काव्य-नाटक' के नामकरण से काव्य की स्थापना न हो कर नाटक की हो जाती है। हिंदी नाटक में गद्य ही मान्य रहा इसलिए 'नाटक' संज्ञा में गद्य को विशेषण रूप में जोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई, किंतु नाटक को जब भाव एवं अनुभूति से जोड़ने की चेष्टा हुई तब काव्य की सामान्य स्वीकृत रूढ़ शैली पद्य रूप दे कर पद्य-नाट्य (या नाटक), छंद-नाट्य (या नाटक), गीति-नाट्य (या नाटक) आदि संज्ञाएँ दी गयीं। पद्य के स्थान पर भाव-गुण-विशेष्यबोधक बन कर नाटक के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा है।

टी० एस० इलियट एवं फ़्लारेड ने निश्चय ही 'काव्य-नाटक' को विधा रूप में मूर्त रूप दिया, और साहित्यिक मूल्यों की भी संवृद्धि की। यदि भारतीय मान्यताओं के परिप्रेक्ष में काव्य-नाटक देखा जाय तो अनुचित न होगा। 'पोयट्री ड्रामा' के मात्र आधार पर 'काव्य-नाटक' को सैद्धांतिक आधार देना अनुचित होगा। काव्य, बोध (फ़ार्म) है, नाटक दृश्यमूलक (काव्य-नाटक श्रव्यमूलक होने के कारण पठनीय है), वस्तु-संगठन प्रधान होने के कारण स्वरूप प्रकार (कंटेंट) है। बोध एवं प्रकार के परिप्रेक्ष में रचनाकार प्रकार के बाह्य उपादानों में काव्य-बोध को अवस्थित करता है। नाटक की अभिनेयता गुण की सत्ता 'नाट्य' पर अधिक आधारित है अतएव वह दृश्यमूलक है, किंतु काव्य-नाटक पठनीय एवं श्रव्य है तथा नाट्य-गुण का परिप्रेक्ष यदि काव्य-नाटक में रंगमंचीय होगा तो वह अभिटिप्पण तथा भाव-मुद्रा-प्रधान मात्र आंगिक होगा। यहाँ समझना होगा कि समस्त वस्तून्मुखी विधाओं में प्रबंध-गुण होता ही है। जैसे—यथार्थवादी एवं आदर्शवादी परिप्रेक्ष में प्रस्तुत सामाजिक जीवन की दार्शनिक व्याख्या यदि गद्य में प्रबंधत्व से संपन्न हो तो वह उपन्यास कहा जायगा, वह पद्य में भावात्मक सत्ता पर आधारित होने के कारण महाकाव्य कहा जायगा और अभिनेयता गुण (नाट्य) से संपन्न हो कर 'नाटक' हो जायगा। तो प्रश्न उठेगा कि नाटक का कथ्य काव्य है अथवा नहीं? नाटक के कथ्य में वस्तु की सोद्देश्यता ही काव्यमूलक होती है, काव्य जीवन की उदात्तता में है और काव्य एक मानवीय गुण है। नाटक का, वस्तु में स्थित अभिप्रेत अर्थ काव्य की संज्ञा रूप में जाना जायगा। स्पष्ट है कि नाटक में काव्य की भाव सत्ता है तथा संप्रेषणीयता भी है। नाटक में काव्य उसी प्रकार निहित है जैसे उपन्यास में काव्य निहित होता है। इस प्रकार काव्य का एक व्यापक अर्थ है। प्रश्न होगा कि नाटक विधा को काव्य से पृथक क्यों किया जा रहा है? 'काव्य-नाटक' नामक भ्रामक नामकरण द्वारा साध्य व साधन रूपों में भेद उत्पन्न कर देखा जा रहा है, अथवा साधन शिल्प को साध्य व साध्य-गुण को साधन रूप क्यों दिया जा रहा है? जब कि दोनों स्वयं में अविभाजित हैं। यदि सूक्ष्म विश्लेषण हो तो स्पष्ट किया जा सकता है।

नाटक के संदर्भ में 'काव्य' शब्द प्रयोग या भाव-बोध-प्रधान नाटकों के कारण तथा प्रतीक-परंपरा के वैशिष्ट्य से पूर्ण नाटकों के कारण होता है। यहीं साहित्येतिहास के परिप्रेक्ष में देखा जाय

तो द्विवेदी-युग में विशुद्ध इतिवृत्तमूलकता के कारण प्रबंध-काव्य की रचनाएँ संपादित हुईं और 'छायावाद-युग' में प्रबंध को स्थूल (ऐतिहासिक अस्तित्व) रूप में स्थान देते हुए भी 'कामायनी' के माध्यम से रूपक-काव्य की रचना की गयी, किंतु 'नयी कविता' के युग-संदर्भ में बदलते हुए मूल्यों में परिवर्तन हुआ टी० एस० इलियट द्वारा प्रदत्त काव्य-नाटक। (जिसे मैंने आगे 'नाटक-काव्य' कहा है) का आविर्भाव हुआ। 'कामायनी' अपने रूपकत्व के कारण वस्तु से पृथक एवं अन्य मानव-मन-व्यापारों का अर्थ 'आनंद' को ले कर गतिशील हुई। उक्त बात काव्य-रचनाकारों के बारे में हुई, किंतु नाटककारों का भी ध्यान नाटक में काव्य को खोजने की ओर आकृष्ट हुआ (नाटक भले ही दृश्यमूलक हो या श्रव्यमूलक पठनीय हो) जब कि वह नाटक में ही अर्थ रूप में आविर्भूत रहा है। एक क़दम आगे दृष्टि बढ़ा कर देखा गया कि प्रतीक-संदर्भ में मूल विधा नाटक में पृथक् काव्य का अस्तित्व है। विधा एवं काव्य को पृथक रूप में दृष्टिगोचर करने के लिए रूपक एवं प्रतीक साधन बने। प्रतीक के माध्यम से अभिप्रेत अर्थ तो काव्य है और अन्यथा स्थूल वस्तु विधान श्रव्यमूलक (ध्वनि-प्रधान) होने के कारण नाटक माना गया। आत्मा एवं शरीर को पृथक रूप में देखने की चेष्टा है––'काव्य-नाटक'। जहाँ जीवित शरीर है वहाँ आत्मा की चेतना-गति के संबंध में संदेह उत्पन्न होने की दशा है––'काव्य-नाटक'। वस्तु काव्य का सामान्य उपादान है, मात्र ढाँचा है, यह संगठनमूलक है और नाटक भले ही पठनीय हो किंतु है अनुभूति-प्रधान तथा है तकनीक। अतएव 'काव्य-नाटक' का शब्द-प्रयोग टी० एस० इलियट के लिए उनकी दृष्टि में उचित रहा हो, किंतु भारतीय साहित्य-परंपरा के परिप्रेक्ष में यह प्रयोग वैसे ही उल्टा ही कहा जायगा जैसे 'मुक्तक काव्य' के स्थान पर 'काव्य-मुक्तक' का कहा जाना या 'प्रबंध-काव्य' के स्थान पर 'काव्य'-प्रबंध' का कहा जाना।

इस संबंध में मेरा मत है कि नाटक को शिल्प-साधन रूप में स्वीकारा जाय और उसके अंतर्गत दृश्य की शर्तों को ले कर एक पक्ष तथा श्रव्य की (पठनीय) शर्तों को ले कर दूसरा पक्ष, दोनों स्थितियाँ अपने वर्गीकरण में काव्य के लिए साधन ही स्वीकारी जायँ। उक्त शिल्प-साधन के साध्य 'कथ्य', प्रतीकों में अभिप्रेत 'अर्थ' को काव्य माना जाय। मेरे कहने का आशय है कि 'काव्य-नाटक' में नाटक रहे और उसका विषय कथ्य अर्थात काव्य हो।

सही नामकरण से नये संदर्भ भी खुलेंगे इसलिए मेरा कहना है कि 'काव्य-नाटक' को 'नाटक-काव्य' कहा जाय, उसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष में––यथा प्रबंध-काव्य, रूपक-काव्य, नाटक-काव्य। काव्य साध्य है और साधन है नाटक। जिस प्रकार किसी प्रबंध पद्य-संगठन (इतिवृत्त) में औदात्य के संदर्भ में काव्य-रसात्मा की स्थापना की जाती है तो वह सर्वप्रथम प्रबंध-काव्य कहा जा कर महाकाव्य संबोधित किया जाता है, इसी प्रकार नाटक शिल्प के परिप्रेक्ष में श्रव्यमूलक पठनीय भाव रचनाकार का अभिप्रेत कथ्य काव्य कहा जा कर, नाटक-काव्य शब्द-प्रयोग द्वारा महा-काव्योचित सीमा-स्पर्श में समर्थ होगा। 'नाटक-काव्य' अपने कथ्य में काव्य को श्रेष्ठतम मानव-मूल्य-प्रधान सौंदर्य-बोध एवं भाव-बोध-प्रधान रूप दे सकने पर महाकाव्य सहज ही कहा जा सकेगा। प्रबंध-काव्य के अंतर्गत वस्तु-पात्रों में जो प्रतीक को महत्ता दी गयी तो वह रूपक-काव्य हुआ। ('कामायनी' के माध्यम से) और जब प्रबंध के साथ प्रतीक को नाटक से संयोग-स्थापन का

अवसर प्राप्त हुआ तो वह 'नाटक-काव्य' कहा जाय, ऐसी मेरी मान्यता है। प्रबंध-संगठन में नाटकीय व्यापार अंशतः विद्यमान ही रहता है और 'नाटक-काव्य' में प्रबंध एवं प्रतीक दोनों अवस्थित रहेंगे। प्रबंध (कथा) रूढ़िवश एवं स्थूलवश 'एपिक ऑफ़ ग्रोथ' प्रधान हो जाता है, किंतु महाकाव्योचित स्तर तो 'एपिक ऑफ़ आर्ट' द्वारा ही पा सकना संभव है। कलात्मक भाव-बोध एवं काव्य-भाव-बोध का अद्भुत सामंजस्य है--'नाटक-काव्य'। टी० एस० इलियट के मोह से मुक्त होने की बात शेष है, अन्यथा उपर्युक्त विवेचन संदर्भ के अभाव में 'अंधा युग' को काव्य-नाटक की सीमा में रख कर उसके मूल्य को निर्धारित नहीं किया जा सका है और उसके महाकाव्यत्व की उपेक्षा की गयी है। आगे विचारों के आदान-प्रदान में बहुत सी अन्य बातें रखी जा सकती हैं।

--विजय कुमार शुक्ल,
हिंदी विभाग, हितकारिणी सिटी कॉलेज,
जबलपुर।

औद्योगिक नीति, समस्याएँ एवं साहित्य

आधुनिक युग में आर्थिक गतिरोध को विनष्ट करने का साधन औद्योगीकरण माना जाने लगा है। अनेक व्यक्तियों का विश्वास है कि आर्थिक समता की प्राप्ति पर भारतीय अनेक समस्याओं से छुटकारा पा लेगा—जाति-व्यवस्था, वर्ग-भेद, द्विज-शूद्र-दृष्टिकोण एवं जड़बद्ध संस्कारिता आदि। परंतु क्या आर्थिक गतिरोध के विनष्ट हो जाने से जाति-व्यवस्था का विघटन संभव है? या जाति-व्यवस्था की विघटनकारी सूक्ष्म कुप्रवृत्तियों पर अंकुश लग जायगा? उक्त प्रश्नों का स्वीकारात्मक हल उन्हीं व्यक्तियों के लिए सुलभ हो सकेगा जो दीर्घकालिक क़यामत का इंतज़ार कर सकें अन्यथा अधुनातन भारतीय औद्योगीकरण नीति इस विकृत व्यवस्था को समाप्त करने में सफल होगी, संदिग्ध है। दीर्घकालिक प्रतीक्षारत तार्किक व्यवित जाति-व्यवस्था का निदान पश्चिमी तथा अन्य औद्योगिक देशों की परिस्थितियों में खोजते हैं जो भारत के समसामयिक परिवेश में अनुपयुक्त ही नहीं, अकल्पनीय भी हैं। जिन पूर्व परिस्थितियों एवं सुविधाओं का उपयोग अमरीका, इंग्लैंड आदि औद्योगिक देशों ने किया, भारतीय उद्योग को अप्राप्य रहीं। पूर्व विकसित देशों ने अविकसित राष्ट्रों की स्थिति का (जायज़ अथवा नाजायज़) लाभ उठा 'कच्चे माल' को अपेक्षाकृत कम मूल्य पर ख़रीद 'पक्के माल' को इच्छानुसार मूल्यों पर बेचा और 'व्यापार-रहस्य' (ट्रेड-सिक्रेट) बनाये रखा। विश्व का अधुनातन 'औद्योगिक बाज़ार' प्रतियोगी होता जा रहा है, पूर्ण औद्योगिक राष्ट्रों को अपनी उत्पादन-सामग्री

को खपाने के लिए जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ रहा है। विकसनशील राष्ट्रों ने औद्योगिक की एकच्छत्रता (मोनापली) पर अंकुश लगा दिया है अतः औद्योगिक राष्ट्रों के संमुख एक स 'बड़े पैमाने पर उत्पादन' आ खड़ी है। जापान, चीन, जर्मनी आदि देशों में लघु उद्योगों प्रोत्साहित किया जा रहा है; ऐसी परिस्थिति में भारतीय औद्योगीकरण नीति जिस वि स्तर पर कार्य कर रही है, कहाँ तक अधिक लाभ उठा सकेगी जब कि अमरीका के संमुख खाने बंद करने, रूस के सामने काम के घंटे कम करने के प्रश्न हैं क्योंकि माँग और पूर्ति की सीमा होती है। पश्चिमी तथा अन्य विशाल औद्योगिक राष्ट्र औद्योगीकरण की पूँजी समाजवाद और साम्यवाद की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके हैं। अतः वहाँ उपयोगिता का घट कर विविधता का फ़ैशन बढ़ रहा है। अब ये देश अर्धविकसित या अविकसित देशों संमुख इसी विविधता का चारा फेंकते रहते हैं।

भारत में वास्तविक औद्योगीकरण 'द्वितीय पंचवर्षीय योजना' से ही कार्यरत है; पि १०० वर्षों में जो औद्योगिक नगरियाँ बसी हैं वे नगण्य थीं। उनका देश-व्यापी प्रसार न होने अधिकांश जनता इस अभियान से अनभिज्ञ रही। पिछलग्गूपन की आदत ने क्या संकट खड़े नहीं किये हैं। इससे प्रायः सभी अभिज्ञ हैं। भारतीयों की लाचारी भी इस में कम नहीं है। उद्योगीकरण के गुण-अवगुण पूर्णरूपेण संमुख नहीं आये हैं; कुछ आ हैं, कुछ आ रहे हैं और कुछ आने वाले हैं। लेकिन 'धनवाद' की शाखा 'भविष्य कलाकारों ने यूरोपीय रचनाओं में यांत्रिक जीवन की दुरूहताओं एवं दुर्गुणों का अंकन दिया है।

पश्चिमी विविधता और उपयोगिता में एक अप्रच्छन्न असंबद्धता दृष्टिगोचर हो रही उनके लिए विविधता का खेल आवश्यक है। जीवन की एकरसता, एकतानता को भंग के लिए वैविध्य-रंग के कारण ही 'बीटता' का जन्म हो रहा है; आदिम युगीन परंपरा एवं प्र और स्थिति एक नये आयाम में उपस्थित है मगर रचना-परंपरा की विविधता प्रच्छन्न या अप्र रूप से जीवन-परंपरा की विविधता के साथ ही चली है अतः कुंठा का विकृत, अनियमित, अ रूप देखने को नहीं मिलता। विविधता की उपयोगिता और प्रयोग में भारत के लिए उपयो आज आवश्यक है। प्रत्येक उपयोगी प्रयोग से कुछ बोध-मूल्य की प्राप्ति नितांत आवश्य अन्यथा परिस्थितियाँ अनुपयोगी प्रयोगों की क्या दुर्दशा कर सकती हैं, स्पष्ट है। साहि परिस्थितियों में आज साहित्य समाज से अलग हट रहा है मगर वस्तुतः साहित्यकार सामा ही है। कुंठाओं और ग्रंथियों की जो दुर्दशा हो रही है उसे क्या कहा जाय ! हम जीवन-पर में विविधता का उपभोग न कर रचना-परंपरा में बराबर प्रयोग कर रहे हैं और चूँकि जी परंपरा में वैविध्य है ही नहीं, अतः कथनी और करनी के अंतर के कारण एक संकुचित, वि कुंठा छा रही है। पश्चिम की नक़ल में भारतीय रचना-परंपरा जीवंत परंपरा से बहुत या हट कर चल रही है अतः आज का कलाकार भी वास्तव में अपने कथन से सापेक्षतः स नहीं रहा। हम अपनी परंपरा से हट पश्चिमी परंपरा की नक़ल करते हैं किंतु बात परंपराओं तोड़ने की करते हैं—यही एक मज़ाक़ है।

ऐसे अस्थिर वातावरण में किसी अच्छे श्रमिक लेखक की अनुपलब्धि आश्चर्य की बात नहीं है। और अभी भारत को औद्योगीकरण से पाला ही कहाँ पड़ा है; फ़िलहाल तो जाति-व्यवस्था, वर्ग-व्यवस्था, सांप्रदायिकता, भाषा-विवाद आदि से ही मुक्ति नहीं है। कला और साहित्य के क्षेत्र में मठों का बोलबाला हो रहा है। पश्चिम की होड़ में पिछड़ जाने की भाव-संकुलता से प्रेरित हो लेखकों ने कंगारू-छलाँग लगायी कि छायावादी युग के पश्चात; प्रथम, द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका तथा पूँजीवाद की उन परिस्थितियों को जिन्हें भुगत कर यूरोपीय देश 'क्रुद्ध युवक वर्ग' और बीट युग तक आ सके हैं, छोड़ दिया। इस बीच की परिस्थितियों की प्रक्रिया भारत के लिए अन्योऽन्य प्रकार की हो सकती थी, उसके नतीजे बीटता या क्रुद्ध युवक वर्ग न हो कर अन्य किसी दूसरे प्रकार के हो सकते थे। यहीं साहित्य की क्रमागत प्रक्रिया में एक बड़ी खाईं रह गयी जो आज साहित्य में पीढ़ियों के झगड़े के रूप में फलीभूत हो रही है। ये झगड़े दो पीढ़ियों के हैं। और एक तीसरी पीढ़ी है जो इन झगड़ों को स्तब्ध हो कर देख रही है। प्राचीन पीढ़ी के बोध-मूल्य तथा मानदंड कुछ अलग हैं जो वर्तमान जन-जीवन और युग के उपयुक्त नहीं तथा अर्वाचीन पीढ़ी के मानदंड एवं बोध-मूल्य भी वर्तमान युग के उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि यह पीढ़ी समस्याओं से बहुत हट कर अलग या आगे है। तीसरी पीढ़ी जनता-माध्यम (मास-मीडिया) जो दोनों पीढ़ियों की अनुभूति से हट कर 'कुछ' और ही भुगत रही है। नयी और पुरानी पीढ़ी के झगड़े ऊष्मा-विकिरण पद्धति से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं जहाँ माध्यम या बीच के किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती, इसीलिए भारतीय जन-जीवन का अधिकांश भाग इन रचनात्मक झगड़ों से दूर तथा साहित्य की उपलब्धियों से दूर तथा उदास हैं।

पश्चिम के पास विलास के पर्याप्त साधन हैं; द्रव्य अधिक और काम कम, अतः उनका प्रयोगशील अवस्था में रहना ठीक ही है। उनके पास जब मुद्रा की कमी थी, जी-तोड़ मेहनत से मुद्रा-अर्जन किया और अब उनके लिए नित-नवीन मूल्यों का सर्जन और विसर्जन एक क्रीड़ा मात्र है। हमारी चेतना और भावना भी पश्चिमी प्रायोगिक रूपी हो चली है, परंतु इस प्रकार की प्रयोगशील अवस्था में आने के पूर्व हमने जी-तोड़ परिश्रम नहीं किया। जीवन और साहित्य में एक अधूरापन रह गया है जो आज उद्भ्रांत और उत्तेजित अवस्था में बढ़ रहा है। भारतीय परिस्थितियाँ इस प्रकार के खेल के लिए हमें कोई अवसर नहीं देतीं। हम स्थितियों का अंतर नहीं देखते, समानता की माँग करते हैं। उन्नति की तीव्र इच्छा एवं भावना के साथ कामचोरी की आदत अर्थात नैतिक ईमानदारी (इसमें व्यावसायिक बेईमानी भी कुछ लोग उचित समझते हैं) का अभाव हमारी विशेषता है। हमारी यही साँप-छछूंदर की नियत गति है। अतः काव्य की आत्मा के अंतराल को देशज परिस्थितियों के अनुकूल भरना होगा अन्यथा इस विषम अवस्था से मुक्ति संभव नहीं। देशीय अनुकूलताओं के आधार पर किस प्रकार के पुराव-भराव की आव-श्यकता है यह विज्ञ व्यक्तियों के सोचने-समझने का विषय है। क्रमबद्ध एवं उचित रूप से एक 'चक्राकार-क्रम' पूरा करना होगा। पश्चिमी विविधता के आयाम अनिश्चित तथा अनियोजित संघात में एक अपेक्षाकृत शिथिल और अनौपचारिक शैली का विन्यास करते हैं जबकि हमारे वैविध्य आयाम एक सुनियोजित और निश्चित आयाम में अपनी ही दृष्टि के नियोजन से एक

गत्यात्मक तीव्र प्रभाव की, नवविकसित संवेदनशीलता के आधार पर रूपात्मक स्थाना की आवश्यकता प्रतीत करते हैं।

--गोविंद
४५५, बी सेक्टर, ए
गोविंदपुरा, एच० इ० ए
भोपाल (म० प्र०)

वयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय वि

अंतर्राष्ट्रीय विधि राज्यों के बीच की चीज़ है। प्राय: एक राज्य का दूसरे स्वतंत्र रा की प्रजा के साथ शांतिकाल और युद्धकाल में समान रूप से राजनीतिक, सामाजिक और आर्थि व्यवहार करना पड़ता है। शांतिकाल में तो भिन्न-भिन्न स्वतंत्र राज्यों की प्रजा के साथ के व्य हार में विभिन्नता की आवश्यकता नहीं पड़ती, किंतु युद्धकाल में शत्रुराज्य की प्रजा और तट राज्य की प्रजा के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का बर्ताव करना पड़ता है। यह अवस्था दो प्रकार उत्पन्न होती है। युद्धकाल में तटस्थ देशों के निवासी युद्ध-सामग्री समान रूप से दोनों पक्ष हाथ बेंच कर रुपया कमाने का प्रयत्न करते हैं, किंतु कोई भी राज्य यह नहीं चाहता कि श राज्य की ताक़त बढ़े। अत: युद्धकारी राज्य इस खोज में रहता है कि वह तटस्थ राज्य द्वा जाने वाले सामान को पकड़ ले। युद्धकारी राज्य जहाज़ को पकड़ कर अपने देश में ले जाते है वहाँ उनके स्वामी पर अदालत में अभियोग लगाया जाता है, यदि उसे अपराधी पाया गया उसका सारा माल ज़ब्त कर लिया जाता है। कभी-कभी जहाज़ भी ज़ब्त कर लिया जाता है यह कार्य अंतर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध नहीं समझा जाता। तटस्थ राज्य, जिसकी प्रजा का मा ज़ब्त कर लिया गया हो, किसी प्रकार विरोध नहीं कर सकता। किंतु पकड़ने की प्रणाली अथव न्यायालय का निर्णय पक्षपातपूर्ण होने पर विरोध किया जा सकता है और कभी-कभी उस ले कर तटस्थ राज्य और पकड़ने वाले राज्य में युद्ध छिड़ जाता है।

एक राज्य का दूसरे राज्य की प्रजा के साथ का शांतिकालीन और युद्धकालीन व्यवहा अंतर्राष्ट्रीय विधि का विषय है। किंतु एक राज्य के नागरिक का दूसरे राज्य के नागरिक के सा का व्यवहार और तज्जनित दीवानी और फ़ौजदारी न्यायालयों का निर्णय वैयक्तिक अंतर्राष्ट्री क़ानून का विषय है। जब किसी देश का नागरिक दूसरे देश में जा कर व्यापार करता है अथव अपने देश के सामान दूसरे देश में भेजता है, उस समय कभी-कभी सामान मार्ग में नष्ट-भ्रष्ट हो

जाता है अथवा पहुँचने पर खोटा पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में उस पर पराये राज्य के न्यायालय में अभियोग चल सकता है। संभव है कि इस संबंध में दोनों देशों के क़ानून में फ़र्क़ हो। ऐसी दशा में प्रश्न उठता है कि किसी देश के क़ानून के अनुसार न्याय किया जाय। इसी प्रकार विदेश में अस्थायी रूप से रहने वाले नागरिक के व्यक्तिगत व्यवहार को ले कर भी अदालत में जाने का अवसर उपस्थित हो सकता है। उदाहरणार्थ दक्षिण अफ्रीका की राष्ट्रीय विधि का नियम है कि अदालत द्वारा पति-पत्नी का वैवाहिक संबंध टूटने पर जिस पक्ष को अदालत दोषी क़रार देती है वह दूसरे पक्ष के विवाह कर लेने के पूर्व अपना पुनर्विवाह नहीं कर सकता। किंतु बर्तानिया में ऐसा नियम नहीं है। अतः दक्षिण अफ़्रीका का निवासी अपने देश के न्यायालय द्वारा दोषी ठहराये जाने पर भी बर्तानिया की सीमा में आने पर दूसरे पक्ष द्वारा विवाह करने के पूर्व स्वयं विवाह कर सकता है, क्योंकि इंग्लैंड के प्रवास-काल में उसके साथ अफ़्रीका की विधि के अनुसार व्यवहार न हो कर बर्तानिया की विधि के अनुसार व्यवहार होगा। अतः संसार के प्रायः समस्त विद्वानों ने वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि को स्वतंत्र स्थान दिया है। मनुष्य का जीवन चाहे वह वैयक्तिक हो चाहे सामूहिक, किसी को एक शास्त्र की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। उसके विभिन्न पहलू विभिन्न शास्त्रों का विषय होने पर भी एक दूसरे से संबंधित होते हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय विधि तथा वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न अंश पर प्रकाश डालती है। मुख्य अंतर यही है कि जहाँ अंतर्राष्ट्रीय विधि एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र अथवा एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र के नागरिकों के व्यवहार से संबंध रखती है वहाँ वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि में व्यक्ति-व्यक्ति का संबंध रहता है। दूसरे शब्दों में राष्ट्र-राष्ट्र के व्यवहार में अंतर्राष्ट्रीय लिखित अथवा अलिखित विधि का व्यवहार होता है किंतु वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में राष्ट्रीय विधि के अनुसार विदेशियों के साथ व्यवहार होता है। अंतर्राष्ट्रीय विधि स्वतंत्र राज्यों के बीच की विधि है, अतः वैयक्तिक व्यवहार में राज्य का स्थान न रहने के कारण वह वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि का स्वतंत्र विषय हो गयी है। संसार के विद्वानों ने अंतर्राष्ट्रीय वैयक्तिक विधि को स्वतंत्र विषय मान कर अंतर्राष्ट्रीय संबंधी अपने ग्रंथ में इसको स्थान नहीं दिया है।

एक राज्य के नागरिक का दूसरे राज्य के नागरिक के साथ विवाद उपस्थित होने पर यदि दोनों राज्यों का क़ानून में भिन्नता हो तो उस परिस्थिति में यह प्रश्न उठेगा कि न्याय किस देश के क़ानून के अनुसार किया जाय। न्यायालय को अधिकार रहता है कि अपने देश के क़ानून के अनुसार निर्णय करे अथवा दोनों देशों के क़ानून को मिला-जुला कर काम चलाये अथवा दूसरे देश के नागरिक के राज्य के क़ानून के अनुसार निर्णय दे। जिन सिद्धांतों पर ऐसे अवसरों पर काम लिया जाता है वह वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि का विषय हो जाता है। यद्यपि यह सिद्धांत सामान्य व्यक्तियों के साथ बरते जाते हैं तथापि सभी देशों में माने जाते हैं। अधिकांश विषयों के संबंध का राष्ट्रीय क़ानून आज प्रायः समस्त सभ्य राज्यों में एक दूसरे के सदृश होते जाते हैं। अनेक सभ्य राज्य तो आपस में संधि कर के कुछ विषयों पर अपने यहाँ सर्वथा एक सा ही क़ानून बना लेते हैं। आजकल अनेक प्रकार की सरकारी और ग़ैरसरकारी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का संघटन होता जा रहा है और इनके निश्चयों के परिणामस्वरूप सभ्य देशों में बराबर क़ानून बनते

रहते हैं। वर्तमान काल में संसार के समस्त राज्य के नागरिक दूसरे राज्यों से व्यापार में संलग्न हैं, अतः वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय क़ानून की आवश्यकता और उपयोगिता दिन-दिन बढ़ती जा रही है।

किसी राज्य के राष्ट्रीय क़ानून का अंश वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि का रूप तभी ग्रहण करता है जब ग़ैरनागरिक के संबंध का मुक़दमा न्यायालय के संमुख विचारार्थ उपस्थित होता है। जब तक उभय पक्ष अथवा एक पक्ष विदेशी नहीं रहता वैयक्तिक अंतर्राष्ट्रीय विधि की परिधि में विचारणीय विषय नहीं आता। निम्न परिस्थितियाँ आवश्यक समझी जाती हैं—

(१) यह निर्णय करना कि किस परिस्थिति में न्यायालय को दो राज्यों के नागरिकों के बीच के झगड़े का निर्णय करने का अधिकार है।

(२) यह निर्णय करना कि निर्णय के लिए किस-किस राष्ट्रीय क़ानून की शरण ली जाय।

(३) यह निश्चित करना कि किस परिस्थिति में (अ) दूसरे देश के न्यायालय का निर्णय मान्य समझा जाय और (ब) दूसरे देश के न्यायालय के निर्णय के अनुसार प्राप्त हुए अधिकार को किस प्रकार प्रयोग में लाया जाय।

—सावलिया बिहारीलाल व
गीता भवन, सीतामढ़ी को
मुज़फ़्फ़रपुर

वाद-विधि : स्तरीय भाषा की समस्या

विधि के क्षेत्र में प्राविधिक शब्दावली अथवा प्राविधिक साहित्य पर विचार-विमर्श करने के लिए, आवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य भी है कि हम संपूर्ण विधि संबंधी वाङ्मय को दो भागों में विभक्त कर लें। यह विभाजन अध्ययन की सुविधा के लिए किये गये विभाजन से सर्वथा भिन्न होगा क्योंकि विधि के क्षेत्र में यह विभाजन सैद्धांतिक स्तर पर ही प्रभिन्न नहीं है किंतु व्यावहारिक स्तर पर भी उनका स्वतंत्र अस्तित्व मान्य है। दोनों के निर्माण-स्रोत भी भिन्न हैं, जिनमें यदा-कदा परस्पर संघर्ष भी दृष्टिगोचर होते हैं। परिनियम-विधि का निर्माण-स्रोत विधान-मंडलों और संसद की संप्रभुता है और वाद-विधि के रूप में की गयी व्यवस्थाओं की मान्यता न्यायतंत्र के स्वातंत्र्य से निःसृत है। इसके अतिरिक्त, जब हम विधिक साहित्य के संबंध में

प्राविधिक शब्दावली और साहित्य की चर्चा करते हैं, तो परिनियम-विधि और वाद-विधि—दोनों से संबंधित सामग्री की प्रकृति में भी, हमें सुस्पष्ट और सुनिर्धारित सीमा-रेखा मिलती है। परिनियम-विधि का स्वरूप ही इस प्रकार होता है कि उसमें तद्विषयक प्राविधिकता स्वतः सन्निहित रहती है। इसकी प्रकृति में ही आज्ञापक व्यवस्था का समावेश रहता है। किंतु वाद-विधि की प्रकृति, इससे किंचित भिन्न होती है। वाद-विधि में उक्त आज्ञापक व्यवस्था के, विवेचन, विश्लेषण और उसके द्वारा प्रदत्त प्रवर्तनकारी प्रभाव के प्रकाश में की गयी, एक दूसरे प्रकार की व्यावहारिक व्यवस्था की परंपरा स्थापित की जाती है। और भी सुस्पष्ट शब्दों में न्यायतंत्र द्वारा परिनियम-विधि के निष्पादन की दीर्घ प्रक्रिया से इस परंपरा का निर्माण होता है। अस्तु।

जब हम वाद-विधि के संदर्भ में प्राविधिक भाषा और शब्दावली पर विचार करते हैं, तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम उसकी आधारभूत सामग्री की प्रकृति का भी अवकलन कर लें। वैधिक स्तर पर वाद-विधि और परिनियम-विधि के मूल विभाजक तत्वों की ओर संकेत कर दिया गया है। किंतु यह भिन्नता वैधिकता तक ही सीमित नहीं रहती। उक्त भिन्नता परिणामस्वरूप, भाषा और शब्दावली के चयन, उसकी रचना और संघटन में भी पर्याप्त अंतर हो जाता है। वाद-विधि की भाषा, विवेचन और विश्लेषणपरक होने के साथ तथ्यनिरूपक, वर्णनात्मक तथा जीवन की अत्यंत ही सामान्य घटनाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। न्यायतंत्र का वास्तविक प्रशासन वाद-विधि द्वारा ही संपन्न किया जाता है। किंतु परिनियम-विधि की अवस्था सर्वथा भिन्न होती है। आज्ञापक प्रकृति के कारण, उसमें अधिकारपूर्ण तथा अवश्य पालनीय व्यवस्था विधि-निषेध के साथ सन्निहित रहती है। स्वभावतः इस प्रकार की सामग्री की भाषा, विश्लेषणात्मक और सरल न हो कर, संयुक्त वाक्य-विन्यास वाली, और प्राविधिक प्रकार की होगी। परिनियम-विधि की ऐसी जटिल और प्रत्येक शब्द के सोद्देश्य एवं सप्रयोजन प्रयोग के कारण ही उसकी भाषा अंतरापेक्षी, दुर्बोध और संयुक्त वाक्य-रचना वाली होती है। भाषा के गुणों (प्रसाद, ओज आदि) का स्थान, उसमें सर्वथा गौण होता है और विधि-निषेधों की महत्ता का प्राधान्य होता है। ऐसी भाषा के प्रयोग के कारण ही, न्यायतंत्र को व्यावहारिक विधि-व्यवस्था देते समय, परिनियम-विधि का विवेचन और विश्लेषण, विशुद्ध रूप से तथ्यात्मक और अर्द्धतथ्यात्म विवादों के संदर्भ में करना पड़ता है। परिणामस्वरूप, वाद-विधि की सामग्री में हमें अनन्य रूप से, प्राविधिक और अर्द्धप्राविधिक शब्दावली का ही प्रयोग नहीं मिलता। वाद-विधि के, विशेष रूप से आपराधिक विवादों की अवस्था में, हमें अनेक ऐसे निर्णय प्राप्त होते हैं, जिनमें एक चौथाई भाग प्राविधिक होता है तथा शेष तथ्य-निरूपण से ही संबंधित होता है।

उक्त विवेचन से परिनियम-विधि और वाद-विधि का भाषा संबंधी अंतर, पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है। किंतु वाद-विधि के संबंध में यदि हम भाषा के दृष्टिकोण से, तनिक गहराई से विचार करें, तो एक बात प्रमुख रूप से हमारे सामने आती है। वाद-विधि में तथ्यनिरूपण करने वाली भाषा भी विशुद्ध रूप से तथ्यात्मक नहीं होती है। भाषा के स्तर पर हम ऐसी स्थिति की तुलना, गद्य और पद्य में किये गये किसी बिंबात्मक अथवा प्राकृतिक वर्णन से कर सकते हैं।

तथ्य-निरूपण दोनों में रहता है, किंतु अंतर्वस्तु (कंटेंट) की संज्ञेयता और ध्वनितार्थ संप्रेषणीयता के कारण, दोनों में एक मौलिक अंतर आ जाता है। स्पष्टीकरण के लिए हम ल साहित्य और विधि, दो क्षेत्रों से उदाहरण लेंगे। अपने निर्णय, रामस्वरूप तथा अन्य ब बृजनंदन प्रसाद तथा अन्य में, उच्च न्यायालय प्रयाग के न्यायमूर्ति श्री धवन द्वारा समय-निर्धा के एक विवादास्पद प्रश्न पर विवेचन और विश्लेषण किया गया है; स्थानाभाव के कारण जिस अल्पांश हम उद्धृत करेंगे।

"तथापि अधिवक्ता ने यह संकथन किया कि, एक दिन की समाप्ति तथा दूसरे दिन आरंभ के बीच समय का अंतराल है, और इससे इस नोटिस में, जिसमें यह कहा गया है 'एक मा के अंदर खाली कर दो' तथा वह नोटिस जिसमें कहा गया है कि 'मैं तुम्हें खाली करने के लि एक महीने की नोटिस देता हूँ।' महत्वपूर्ण भेद है। मेरे विचार से एक दिन के अंतिम क्षण त आगामी दिन के प्रथम क्षण के बीच कोई सारवान अंतराल नहीं है। समय, आकाश के बीच की गति से नापा जाता है जिसे हम समय का बीतना कहते हैं। वह पृथ्वी के अपनी धुरी पर चक्क काटने में, उसके किसी विंदु अथवा तल की उत्तरोत्तर स्थितियाँ हैं। इस विंदु का एक पू चक्कर दिन कहलाता है।"

प्रस्तुत उद्धरण में जिस नोटिस को ले कर विवाद की सृष्टि हुई है—भाषा की दृ से उसे भी उद्धृत करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। नोटिस की भाषा यों है—

आपको नोटिस दी जाती है कि आप रक़म मज़क़ूर अंदर एक माह अदा कर दीजिए वरना आप क़ानूनन मुस्तौजिब बेदख़ली होंगे और ऐसी सूरत में नोटिस हाजा को नोटिस क़ानू मुतसव्वर कीजिएगा और आहाताजात खाना ख़शपोश मज़क़ूर को तामील नोटिस से अंदर ए माह ख़ाली कर दीजिएगा वरना नालिश बेदख़ली व किराया मज़क़ूर व हरजा इस्तेमाल आयं आपके ख़िलाफ़ दायर की जावेगी।

प्रथम उद्धरण में दिये गये आंशिक विवेचन का लक्ष्य यह है कि समय की एक निश्चि इकाई के अंतिम रूप से निर्णीत हो जाने की अवस्था में, विवादास्पद विषय का न्याय्य विनिश्चय भी निर्विवादित रूप से हो जायगा और समय की उस निश्चित इकाई का निर्णय प्रामाणिक रू से तभी हो सकता है, जब उस विषय का काल से संबंधित किसी सर्वमान्य सिद्धांत के प्रकाश विवेचन किया जाय और तत्संबंधी निर्णय, पर्याप्त परीक्षण के उपरांत किया जाय। काल संबं उस विशिष्ट प्रश्न का निबटारा हो जाने के उपरांत, उस वाद-विशेष में न्याय्य विनिश्चयन सर हो जाता है। इस उद्धरण में विद्वान न्यायमूर्ति द्वारा इसी विषय का तथ्यपरक विवेचन औ विश्लेषण वाद-विशेष के संदर्भ में किया गया है। इसमें लक्षण और व्यंजना का चमत्कार न है वरन व्यावहारिक जीवन की कुछ विवादपूर्ण घटनाओं का एक निर्णयास्पद प्रश्न के संदर्भ विद्वत्तापूर्ण और तटस्थ विवेचन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे निर्णयों की एक दी कालीन परंपरा, एक-एक कर के जोड़ी गयी ईंटों के समान, न्यायतंत्र के लोक-कल्याणकारी भ भवन का निर्माण करती है। पुनश्च, न्याय संबंधी प्रशासन के अतिरिक्त ऐसे निर्णयों द्वारा वा विधि का भाषा संबंधी एक स्वरूप भी निर्धारित होता है, जिसे हम वैधिक साहित्य की सं

से अभिहित कर सकते हैं। गुणिता के स्तर पर ऐसे साहित्य की स्वस्थ परंपरा, किसी भी प्रजातांत्रिक देश के सुप्रशासन और सुव्यवस्था का मेरुदंड होती है।

प्रतिपाद्य विषय की संदर्भगत समीचीनता को ध्यान में रखते हुए, दूसरे उद्धरण के संबंध में विस्तृत व्याख्या अप्रासंगिक होगी। किंतु यहाँ इतना कहना अनुचित न होगा कि विधि के क्षेत्र में कार्य करने वाला हिंदी भाषाभाषी जो वर्ग, 'मज़कूर', 'मुस्तौजिब',' मुतसव्वर', 'आहाताजात', 'ख़ाना ख़शपोश' आदि अरबी-फ़ारसी मिश्रित भाषा को समझ सकता है, उसके लिए प्राविधिक विवशता के कारण प्रयोग में लायी जाने वाली संस्कृतनिष्ठ शब्दावली को समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

अब इसी क्रम में साहित्य का भी एक उदाहरण लीजिए —

अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच-समझ कर कंदर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़ कर, सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देख कर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुंदर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में, मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अंतिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि उतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देख कर उदास हो जाता है। असली कारण तो अंतर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

(अशोक के फूल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

इस उद्धरण में भी मूलतः एक तथ्य का ही निरूपण है। किंतु इसमें न तो व्यावहारिक जीवन का कोई विवादास्पद प्रश्न ही अंतर्ग्रस्त है और न ही कोई ऐसी जटिल समस्या ही उत्पन्न हो गयी है, जिसके न्यायपूर्ण समाधान के न होने की अवस्था में किसी व्यक्ति को सारवान क्षति पहुँचे। किंतु यह उद्धरण सांस्कृतिक विरासत की अपार निधि का एक ऐसा माणिक्य है, जिसकी ज्योति से मानवता सदा प्रकाश प्राप्त करती है। इसमें रागात्मक संप्रेषणीयता मुख्य है; बौद्धिक संज्ञेयता गौण।

उपर्युक्त उद्धरणों के संक्षिप्त विवेचन का अभिप्राय वैचारिक, भावगत और तदनुरूपिणी भाषा की प्रकृति को बुद्धिग्राह्य रूप में, समझने-समझाने के लिए तो है ही किंतु इस संबंध में सर्वाधिक महत्व की विचारणीय बात यह है कि जिस प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भाषा के गुणों और उसकी शैली-विशेष आदि से एक परंपरा और युग की स्थापना होती है, उसी प्रकार विधि के क्षेत्र में भी, तद्विषयक व्यावहारिक जीवन के अनेक रूप तथ्यों के संदर्भ में, विचारों, भावों और उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम भाषा की एक परंपरा का निर्माण होता है और स्तरीय प्राविधिक भाषा के बिना ऐसी परंपरा का निर्माण असंभव है। इस दिशा विशेष में संपूर्ण विधि संबंधी साहित्य, अंग्रेज़ी भाषा में ही प्राप्य है। भारत में यह परंपरा लगभग दो सौ वर्षों की है और राष्ट्र-

भाषा के रूप में हिंदी को मान्यता प्राप्त हो जाने के उपरांत भी, यह दीर्घकालीन परंपरा औ के माध्यम से ही गतिमान है। यहाँ पर यह बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि भाषा दृष्टि से प्राविधिक, अर्द्धप्राविधिक अथवा सामान्य स्वरूप वाले वाङमय का कोई भी ऐसा नहीं है, जिसमें हिंदी भाषा में व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए, कार्य न हुआ हो। किंतु वाद-वि के क्षेत्र में, तत्संबंधी भाषा के स्वरूप की एक स्तरीयता का निर्धारण ही, समस्या के रूप में का अवरोध बना हुआ है। यह सत्य है कि इस क्षेत्र में भाषा के स्तरीय स्वरूप के निर्धारण की सम ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की तुलना में, अपेक्षाकृत कठिन है, क्योंकि विधि के क्षेत्र में, प्रावि अधिकारियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा, न्यायतंत्र के ऐसे यंत्रों के समान है, जिनके प्र में की गयी थोड़ी सी असावधानी भी, जन-जीवन को हानि-लाभ के रूप में प्रभावित कर सक है। अतः ऐसी भाषा के निर्माण में वैज्ञानिक और प्राविधिक दृष्टिकोण की अपेक्षा तो है ही, कि समस्या का समाधान इतने से ही नहीं हो जाता। प्राविधिक शब्दावली के रूप का स्थिरीक और समीचीन अर्थों के साथ, उनके व्यवहार में लाये जाने के लिए, सक्षम तथा प्राधिकार मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। किंतु प्रश्न यह है कि क्या वैज्ञानिक स्तर पर, प्राविधिक भाषा निर्माण के निमित्त, वाद-विधि के क्षेत्र में, कुछ कार्य हिंदी भाषा-भाषियों द्वारा किया भी गया इस संबंध में वस्तु-स्थिति बहुत स्पष्ट है। केंद्रीय और राज्य-सरकारों द्वारा, विधि के क्षेत्र राष्ट्रभाषा के माध्यम से, जो कुछ भी कार्य हुआ है, वह पूर्णतः परिनियम-विधि और प्रशा संबंधी टिप्पणियों तक ही सीमित रहा है। किंतु हिंदी के माध्यम से किये जाने वाले इस में भी, शब्दों के अर्थ का न तो स्थिरीकरण हो पाया है, और न प्राविधिक शब्दावली की अर्थव के संबंध में, इस क्षेत्र के प्राधिकारियों और विद्वानों में मतैक्य ही है। सरलीकरण और वै निकता की सीमा-रेखाओं के बीच, संतुलनरहित यह मतभेद बहुत सारवान नहीं है। वाद-वि के क्षेत्र में प्राविधिक हिंदी भाषा के निर्माण की समस्या निरपेक्ष रूप से सैद्धांतिक वाद-विव का विषय नहीं है। अनुवाद कार्य की प्रक्रिया में, जो प्राविधिक कठिनाइयाँ सामने आती उनके संदर्भ में ही, भाषा के स्वरूप संबंधी सैद्धांतिक वाद-विवाद का महत्व है। इसी संदर्भ वाद-विधि के क्षेत्र में, स्तरीय भाषा के निर्माण की समस्या का समाधान हमें प्राप्त होगा। दिशा में कोई वैकल्पिक उपाय नहीं है।

—हीराप्रसाद त्रिपा
द्वारा श्री गणेश
अधिकार प्रेस, २२, क़ैसर बाग़, लखनऊ

हमें इसका बहुत खेद है कि अनेक अनिवार्य काठिनाइयों के कारण हम न पिछले अंक में ही 'विवेचना' की सामग्री दे पाये, न इस अंक में ही दे सके हैं। पाठकों से इस प्रमाद के लिए क्षमा माँगते हुए हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि इन दो अंकों के इस अभाव की पूर्ति आगामी दो-एक अंकों में ही कर दी जायगी।—संपादक।

समीक्षाएँ

मार्क्स और गांधी का साम्य दर्शन

नारायण सिंह की विवेचनात्मक कृति। हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। १८८५ शकाब्द। मूल्यः १५.००।

लगभग ६०० पृष्ठों के इस ग्रंथ में मार्क्सवाद और गांधीवाद के विभिन्न सिद्धांतों और क्रिया-पद्धतियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस तरह का विवेचन आज की परिस्थितियों में आवश्यक है। गांधी जी की विचारधारा ने देश की जनता पर गहरा प्रभाव डाला है। मार्क्स की विचारधारा भी जनता के एक कर्मठ भाग को प्रभावित करती रही है और वह प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जाता है।

विवेचन सहानुभूतिपूर्ण है; सहानुभूति गांधीवाद के लिए ज़्यादा है, मार्क्सवाद के लिए कुछ कम है। फिर भी लेखक ने आग्रहमुक्त हो कर मार्क्सवाद के गुण-दोषों को समझने का प्रयत्न किया है। पुस्तक की मौलिकता इस बात में है कि लेखक ने अनेक साम्यवादी सिद्धांतों की पूर्वकल्पना प्राचीन भारतीय चिंतन में देखी है। पुस्तक के अध्ययन से सहृदय पाठक पर यह प्रभाव पड़ेगा कि वह प्राचीन भारतीय ग्रंथों को नयी दृष्टि से देखेगा, मार्क्सवाद के प्रति यदि पहले से उसके मन में दुराग्रह होगा, तो वह कुछ कम होगा और वह प्रयत्न करेगा कि गांधीवादी और मार्क्सवादी विचारक मिल कर देश की वर्तमान परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न करें। यह प्रभाव सभी के लिए हितकर होगा।

आजकल गांधीवाद के दो रूप हैं। एक रूप सर्वोदयवादियों के पास है, दूसरा दिल्ली सरकार के पास। गांधीवादी सिद्धांतों की समझ और उन्हें व्यवहार में लाने के ये दो रूप काफ़ी फ़ासले पर हैं। मोटे रूप से मार्क्सवाद के भी दो रूप दिखायी देते हैं। एक वह रूप है जिसका प्रतिपादन सोवियत संघ और अधिकांश अन्य देशों के साम्यवादी करते हैं। दूसरा रूप वह है जिसका प्रतिपादन चीन तथा अन्य देशों के कुछ साम्यवादी करते हैं। ऐसी स्थिति में किसी के लिए यह कहना कि यही मार्क्सवाद है और यही गांधीवाद है, बड़े साहस का काम होगा। इससे इस विषय के विवेचन की कठिनाई स्पष्ट है।

पुस्तक की अनेक मान्यताओं को अवैज्ञानिक और कपोलकल्पित कहा जा सकता है। कहाँ द्वंद्ववाद, कहाँ गीता, कहाँ मार्क्स और लेनिन का साम्यवाद और कहाँ ऋग्वेद, कहाँ क्रांतिकारी सर्वहारा आधिपत्य का सिद्धांत, कहाँ सुधारवादी 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत। ऊपर से देखने में लगता है कि नारायण सिंह जी बड़ी दूर की कौड़ी लाये हैं। फिर भी इतना तो असंदिग्ध है कि उन्होंने भारतीय विचारधारा के संबंध में जो नया दृष्टिकोण प्रस्तुत

किया है, वह सार्थक है। जिसे हम भारतीय विचारधारा कहते हैं वह यूरोप की विचारधारा से उतनी पृथक नहीं है जितनी बहुत से लोग सोचते हैं और उसमें अनेक तत्व ऐसे हैं जो आज के सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी हैं। भारतीय विचारधारा के नये मूल्यांकन का यह प्रयास उपयोगी है, अपने ढंग का पहला प्रयास है, इसलिए उसमें अपूर्णता भी हो सकती है।

मार्क्सवाद उत्पादन और वितरण की पद्धतियों का विश्लेषण कर के सामाजिक विकास-क्रम में मनुष्य को अपनी स्थिति पहचान कर आगे बढ़ने का रास्ता दिखलाता है। पूंजीवाद का नाश करने वाली क्रांति पहली सामाजिक क्रांति नहीं है। इससे पहले स्वयं पूंजीवाद ने सामंतवादी व्यवस्था को बदला था। मुख्य वस्तु है उत्पादन और वितरण की पद्धतियों का बदलना। मेरी समझ में सामाजिक विकास-प्रक्रिया के बारे में गांधीवाद और मार्क्सवाद में मौलिक भेद है और लेखक ने उस भेद की समुचित व्याख्या नहीं की। उसने पंजीवादी समाज में संपत्तिशाली वर्ग द्वारा हिंसा के प्रयोग की ओर भी ध्यान नहीं दिया। मज़दूर हड़ताल करते हैं, पुलिस गोली चलाती है। हिंसा कौन करता है? कांगो, अल्जीरिया, क्यूबा, वियतनाम।—हर महाद्वीप में साम्राज्यवाद अन्य देशों की जनता को गुलाम बनाये रखने के लिए हिंसा का सहारा लेता है। संसार में मुख्य अंतर्विरोध हिंसक साम्राज्यवाद और शांतिप्रेमी जनता के बीच है। लेखक ने इस अंतर्विरोध का समुचित विवेचन नहीं किया।

पुस्तक आकार में कुछ बड़ी है। आशा है, पाठक धैर्य से उसे एक बार पढ़ जायँगे। यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी यदि गांधीवाद, मार्क्सवाद या अन्य विचारधारा के लोग ले की स्थापनाओं से असंतुष्ट हो कर प्र समस्याओं पर गंभीरता से विचार न करेंगे पुस्तक को निरर्थक मान कर एक ओर उठा रख देंगे। आगे-पीछे हमें इन समस्याओं विचार करना ही होगा और उस दिशा इस पुस्तक के ऐतिहासिक महत्व को स्वी करना होगा।

—रामविलास
अंग्रेजी वि
बलवंत राजपूत कॉलेज, आग

अंग्रेज़ी उपन्यास का विका और उसकी रचना-पद्धति

श्रीनारायण मिश्र की विवेचनात्मक कृति। प्रकाशन शाखा, सूचना विभा उत्तर प्रदेश, लखनऊ। सन १९६१। मूल्य ८००।

प्रस्तुत पुस्तक हिंदी समिति ग्रंथमा की ५३वीं रचना है। विविध विषयों पर हिं का ज्ञान-कोष समृद्ध बनाने में हिंदी समि का कार्य सराहनीय रहा है, यद्यपि शायद कार्य विज्ञापित कम हुआ है। हम नहीं जान कहाँ तक यह कार्य योजना-बद्ध है और क तक प्रतिक्षण की प्रेरणा से परिचालित है विज्ञापित ग्रंथ-सूची में हम निम्न विषयों पुस्तकों के नाम पाते हैं: आपेक्षिकता अभिप्राय; हरिवंश पुराण का सांस्कृति विवेचन; इब्ने खलदून का मुक़दमा, शब्द

वर्तमान और भविष्य; काच विज्ञान; पतन की परिभाषा; आदि। कहने की आवश्यकता नहीं कि अधिक उपयोगी विषय सोचे जा सकते हैं जिन पर हिंदी तुरंत प्रकाशन की अपेक्षा रख सकती है।

स्वर्गीय श्रीनारायण मिश्र अंग्रेज़ी साहित्य के मर्मज्ञ थे और दो विश्वविद्यालयों में उच्च पद पर शिक्षक रहे थे। प्रस्तुत पुस्तक उनके अपार ज्ञानकोष का प्रमाण है।

अंग्रेज़ी उपन्यास के इस इतिहास में प्रारंभिक काल की रचनाओं पर तो विस्तार से लिखा गया है, किंतु अद्यतन काल पर सामग्री नहीं है। पहले चार परिच्छेदों की सामग्री का सारांश एक परिच्छेद में आ सकता था। इन परिच्छेदों में पुराने काल की रचनाओं का सारांश सविस्तर दिया गया है। अंग्रेज़ी उपन्यास का आरंभ वास्तव में अट्ठारहवीं सदी के लेखक रिचर्डसन से होता है। आगे चल कर स्कॉट, डिकिंस, थैकरे, मैरैडिथ आदि के साहित्य पर समुचित प्रकाश डाला गया है। अंतिम परिच्छेद है—'उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में अंग्रेज़ी उपन्यास'। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के लेखकों की चर्चा पुस्तक में नहीं हुई है। आर्नल्ड बैनेट , वेल्स और गाल्ज़वर्दी की चर्चा बहुत कम है। जो है भी, वह इसलिए कि उनका जन्म-काल उन्नीसवीं शताब्दी थी।

अंग्रेज़ी उपन्यास के लंबे इतिहास में पहले प्रभावशाली उपन्यासकार फीलिंडग, जेन ऑस्टिन और स्कॉट थे। जेन ऑस्टिन की चर्चा पृष्ठ २१३ से शुरू होती है। सामान्य हिंदी पाठक और विद्यार्थी के लिए आधुनिक अंग्रेज़ी उपन्यासकारों का परिचय उपयोगी होता। पुस्तक में ऑल्डस हक्सले, डी० एच० लारेंस, समरसेट मॉम, जैम्स जौयस, वर्जिनिया वुल्फ़ आदि के नाम भी नहीं आये हैं। इन लेखकों को आजकल अंग्रेज़ी साहित्य के पाठ्य-क्रमों में रखा जाता है।

पुस्तक में मुद्रण की अनेक अशुद्धियाँ हैं। साहित्य के विद्यार्थी की दृष्टि से वर्तनों की भूलें किसी प्रामाणिक ग्रंथ में होना अक्षम्य है। ऐसे ग्रंथों के अंत में अनुक्रमणिका भी आवश्यक होती है, ताकि विद्यार्थी वांछित रचनाओं का हवाला शीघ्र ही खोज सके।

इन दुर्बलताओं और सीमाओं के बावजूद इस उपयोगी और पांडित्यपूर्ण प्रकाश के लिए हिंदी समिति बधाई की पात्र है।

—प्रकाशचन्द्र गुप्त,
१८९।४०३ मम्फ़ोर्डगंज
इलाहाबाद।

क्रांति-पथ का पथिक

बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद की आत्मकथा। प्रज्ञा प्रकाशन, चंडीगढ़ (पंजाब)। सन १९६४। मूल्य : १५.००।

आये दिन पद, प्रतिष्ठा और धन की छीना-झपटी और भ्रष्टाचार की शिकायतों से समाचारपत्रों के 'कॉलम' भरे रहते हैं। परिणामत: एक व्यापक कलुष जनता के मन पर चढ़ता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में बाबा पृथ्वी-सिंह जैसे प्रसिद्ध क्रांतिकारी जीवित शहीद की यह आत्मकथा स्वार्थ की विषैली वायु

से मूच्छित जन-मन को सत्य, साहस, त्याग और बलिदान की भावना से पुनः स्वस्थ बनाने की दिशा में योग देगी।

बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद उन सुप्रसिद्ध क्रांतिकारियों में हैं जिन्होंने भारत से अमरीका में पहुँच कर 'ग़दर पार्टी' संगठित की थी और वहाँ से वापस आ कर सन १९१४, १८ के प्रथम विश्वयुद्ध के समय भारतीय सेनाओं के द्वारा सशस्त्र क्रांति कर के भारत को स्वतंत्र करने का प्रयास किया था। अदालत से पृथ्वीसिंह जी को पहले तो फाँसी की सज़ा हुई थी परंतु बाद में उसे आजन्म काले पानी की सज़ा में बदल दिया गया था। काले पानी की जेल में उन्होंने अन्य क्रांतिकारियों के साथ वहाँ के अत्याचारों के विरुद्ध जम कर लड़ाई की। जेल-अधिकारियों से अनेक बार उनकी मारपीट हुई और उन्होंने छह-छह महीने लंबी भूख हड़तालें कीं।

सन १९२१ में भारत वापस लाये जाने पर उन्होंने क़ैद से भागने का प्रयत्न किया और दूसरे प्रयत्न में वे पुलिस के सख़्त पहरे में से पूरी रफ़्तार में चलती हुई मेल ट्रेन से कूद कर भाग निकले। 'स्वामी राव' के छद्म नाम से उन्होंने भावनगर में देश के नौजवानों में स्वतंत्रता के भाव भरने और उन्हें मन और शरीर से बलवान बनाने के लिए व्यायाम-प्रचार का काम किया। तत्कालीन क्रांतिकारी नेता अमर शहीद चंद्रशेखर आज़ाद ने उनसे मिल कर उन्हें दल के सदस्य के रूप में रूस जा कर क्रांतिकारी प्रशिक्षण लेने को प्रोत्साहित किया। बंबई के प्रसिद्ध लेमिंग्टन रोड गोलीकांड में भाग लेने के बाद वे अफ़ग़ानिस्तान के मार्ग से अनेक कठिनाइयों और बाधाओं को पार कर रूस जा पहुँचे और वहाँ से प्रशिक्षण प्राप्त कर भारत लौटे।

उस समय भारत का सशस्त्र क्रांति-प्रय... अपनी छुटपुट सशस्त्र हमलों की अवस्था... पार कर विशाल जन-संघर्ष की ओर ... की अवस्था में विकसित हो चुका था। ... स्थिति में भूमिगत जीवन को व्यर्थ अनुभव ... आपने एक तपस्वी क्रांतिकारी के रूप में प्र... होने को देश को क्रांति की ओर बढ़ाने ... हित में उपयोगी समझा और महात्मा गां... के समक्ष उन्होंने आत्मसमर्पण किया। यह ... सब बातों पर विचार कर के महात्मा गां... ने उनको यही सलाह दी थी कि **बेहतर ... यही है कि आत्मसमर्पण के विचार को बद... दो तथा जैसे सोलह साल बिताये हैं वैसे ... शेष जीवन भी बिता दो। देश तो आज़ा... हो कर ही रहेगा। देश की आज़ादी के सा... ही तुम्हें आज़ादी प्राप्त हो सकेगी।** (पृ... ३२३)। परंतु पृथ्वीसिंह जी अपने संक... पर दृढ़ रहे और जिस उद्देश्य के लिए वे ... १९२२ में क़ैद से भागे थे और १६ साल शक्ति... शाली ब्रिटिश सरकार की आँखों में धू... झोंकते हुए सक्रियता से क्रांति-पथ के पथि... बने रहे थे, उसी उद्देश्य की पूर्ति के लि... उन्होंने आत्मसमर्पण भी कर दिया और १९... में स्वेच्छा से आजन्म क़ैद में फिर चले गये।

गांधी जी ने उनकी रिहाई का प्रयास किय... और वे २१-१-३९ को जेल से रिहा कि... जा कर पुलिस के पहरे में गांधी जी के आश्र... में भेज दिये गये। आश्रम में रहते हुए भी ... वे अपने साम्यवादी साथियों से संपर्क बना... रहे। परंतु साम्यवादी साथियों की इस बा... को उन्होंने अस्वीकार कर दिया कि वे किसी ... बहाने गांधी जी का साथ छोड़ कर उनके ...

साथ मिल कर काम करने लगें। गांधी जी के प्रति उनकी वफ़ादारी की भावना की उनके साथियों ने भी क़द्र की। इस संबंध में पृथ्वीसिंह जी ने गांधी जी से कहा : '...**आपका मुझ पर पूरा विश्वास है और मेरा आप पर। मेरा साम्यवादी नेताओं से भी ऐसा ही नाता है।...मैं साफ़ तौर पर अपनी खुली आँखों से देख रहा हूँ कि जिस लगन से आप देश का हित चाहते हैं वैसे ही साम्यवादी चाहते हैं।...काश, मुझमें यह शक्ति होती कि मैं दोनों को सहमत करा कर उनमें मेल करा सकता।'** (पृष्ठ ३५५-३५६)।

सन १९४२ से १९६५ तक वे साम्यवादी पक्ष के अनुयायी रहे। परंतु आगे, उन्हीं के शब्दों में, **देश की उस समय की अवस्था को देख कर मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि साम्यवादी सिद्धांतों को अपनाना देशहित के लिए लाभदायक साबित नहीं होगा।** (पृष्ठ ४४०-४४१)। और उन्होंने स्वीकार किया कि **मैं सही अर्थ में कभी साम्यवादी न बन सका और न सत्य-अहिंसावादी ही।...जो कुछ मैंने आज तक किया, राष्ट्रवादी के नाते ही किया था।** (पृष्ठ ४४१)।

गांधी जी के आश्रम में रहते हुए क्रांतिकारी संयमी पृथ्वीसिंह जी ने मीरा बहिन जैसी उच्च आदर्श से परिचालित महिला के प्रेम को महात्मा गांधी का अनुरोध होते हुए भी स्वीकार नहीं किया था। परंतु बाद में जब उन्होंने यह अनुभव किया कि **मेरे सामने इस प्रकार का इन्क़लाबी जीवन नहीं रह गया था जिसमें मैं पूर्णतया लीन हो सकूँ तथा जिसमें पल-पल व क़दम-क़दम पर मृत्यु नजर आती हो।** (पृष्ठ ४०५) तो उनका मन विवाह-ग्रंथि में बँधने को तैयार हो गया और उन्होंने ५२ वर्ष की आयु में अपने अनुरूप एक गुजराती महिला से विवाह कर लिया। अब ७२ वर्ष की आयु में एक होनहार पुत्र और एक होनहार पुत्री के पिता के रूप में उनकी अनुभूति है कि **मेरा संसारी जीवन काफ़ी सुखी है। जीवन-पथ पर चलते-चलते ७२ वें मील के पत्थर से गुज़र गया हूँ। रफ़्तार में किसी प्रकार की ढिलाई नहीं आयी है और न ही किसी प्रकार की कमजोरी। अभी तक पथिक अपनी मंजिल पर काफ़ी तेज़ी के साथ चल रहा है। जिस कार्य की सिद्धि के लिए वह अपने पथ पर चला था, वह अभी तक पूरा नहीं हुआ है। आज़ादी तो आयी पर ख़ुशहाली बाक़ी है। उसी कार्य में लगा हूँ।** (पृष्ठ ४१२)।

पृथ्वीसिंह जी की यह आत्मकथा गुप्त सशस्त्र क्रांतिकारी आंदोलन और कांग्रेस के तत्वावधान में चले खुले आंदोलन की एक कैंची के दो फलों जैसी पारस्परिकता और एकता को हृदयंगम कराने में सहायक होगी, जिसने ही विदेशी दासता के बंधन को काट कर देश को स्वतंत्र किया है। आज हम एक ओर तो अपने अगणित स्वातंत्र्य-वीरों की शहादत से प्राप्त अपने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य को समाजवादी प्रजातंत्र में विकसित करने में प्रयत्नशील हैं, और दूसरी ओर बाहरी (पाकिस्तानी और चीनी) आक्रमणों से अपनी स्वतंत्रता और अपने देश की रक्षा, निःशस्त्र सत्याग्रहात्मक देशभक्ति से नहीं, पूर्ण सशस्त्र देशभक्ति से कर रहे हैं। आज हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं रह गया है। हिंसा-अहिंसा के व्यर्थ विवाद को उठा कर अभी तक सशस्त्र क्रांति-प्रयास और उसके शहीदों की जो उपेक्षा सी होती रही है, उसकी शिकायत करने का

आज न कोई अवसर है और अब न उसकी कोई आवश्यकता ही। आवश्यकता इस बात की है कि हम सशस्त्र क्रांतिकारियों के लक्ष्य, नीति और उनके आदर्श को भली भाँति समझ लें और उनकी सशस्त्र शहादत के पवित्र योग से प्राप्त अपनी स्वतंत्रता की सशस्त्र रक्षा के लिए और उसे समाजवादी प्रजातंत्र के रूप में विकसित करने के लिए समुचित भाव-बल प्राप्त करें। बाबा पृथ्वीसिंह जी की यह आत्मकथा ऐसे भावबल का अक्षय स्रोत है।

बाबा पृथ्वीसिंह स्वातंत्र्य-संघर्ष के सुदीर्घ काल में बड़े-बड़े क्रांतिकारी शहीदों, महात्मा गांधी और उनके अनुयायियों तथा साम्य-वादी नेताओं के भी संपर्क में आये हैं, उनके पुण्य प्रभाव से वे प्रभावित हुए हैं और उनके साथ मिल कर उन्होंने काम किया है। उन सबकी पुण्यस्मृति भी इस आत्मकथा में बड़े ही स्वस्थ रूप में अंकित है।

कुछ आलोचकों को यह शिकायत रही है कि क्रांतिकारियों की आत्मकथा जैसी कृतियों में उनकी उपेक्षा की शिकायत, पार-स्परिक वैमनस्यों की बातें और आत्मसमर्थन की भावना भी दिखती है, जिसका प्रभाव जन-मन पर अभीष्ट स्वस्थ रूप में नहीं पड़ता। ऐसी कोई वृत्ति पृथ्वीसिंह जी के लेखन में प्रतिफलित हुई नहीं दिखती। उनकी दृष्टि सदा नौजवानों के भावुक मन और उस पर पड़ने वाले प्रभाव की स्वस्थता पर ही रही है।

पृथ्वीसिंह जी का जीवन मृत्युंजयी साहस, शारीरिक कष्ट सहने की अक्षय क्षमता, किसी भी प्रकार के प्रलोभनों से सदैव अवि-चलित रहने वाली चारित्रिक दृढ़ता और सत्य-निष्ठा के रोमांचकारी कर्मों की एक अ[illegible] श्रृंखला रही है जो किसी भी काल्पनिक रोमा[illegible] कारी उपन्यास से कम 'अद्भुत' नहीं है। [illegible] इस आत्मकथा में आडंबरहीन सरलता [illegible] सादगी से चित्रित हुआ है। कहीं-कहीं [illegible] के प्रयोग में कुछ सुधार की, घटनाओं का य[illegible] स्थान, यथाप्रसंग उल्लेख होने में कुछ चा[illegible] की तथा समय-स्थान आदि के उल्लेखों [illegible] कुछ गौण संशोधनों की आवश्यकता प्र[illegible] होती है।

—भगवानदास माह[illegible]

६९।१ टौरिया नरसिंहराव, झां[illegible]

दर्द की मीनार

कृष्णनंदन 'पीयूष' का काव्य-संग्रह। बिह[illegible] ग्रंथ कुटीर, पटना। सन १९६३। मूल्य: ३.५[illegible]

अच्छे काग़ज़ और अच्छे टाइप में छ[illegible] ७२ तथाकथित कविताओं का यह संक[illegible] कवि के इस कथन का कि **'दर्द की मीना[illegible] में जो कुछ भी है वह भोक्ता कवि का आत्मि[illegible] दर्द है जो युग की पीड़ा के परिप्रेक्ष्य में प[illegible] जायगा, यह विश्वास है।** एहसास न[illegible] करा पाता।

इस संकलन की अधिकांश कविता[illegible] तथाकथित प्रेमानुभूति से संबद्ध हैं और कु[illegible] कविताएँ पुरातनता और नवीनता के विचा[illegible] से। शायद ही कहीं कोई ऐसी पंक्ति [illegible] जिसमें कवि अपने अनुभव को सौंदर्यानुभू[illegible] का स्तर दे सका हो। कवि-कर्म इतना सह[illegible]

नहीं जितना इस कृति के रचयिता को विश्वास है।

अनुभूति की अद्वितीयता अभिव्यक्ति में नवीनता और ताज़गी उत्पन्न करती है जिसके कारण प्रत्येक सफल कवि को नवीन भाषा, नये प्रतीक और नये माध्यमों की खोज करनी पड़ती है। 'दर्द की मीनार' के कवि को कुछ भी खोजना नहीं पड़ा है। 'नयी कविता' की भंगिमा को उसने अपना लेने की कोशिश की है और समझ लिया है कि वह अपने को पूरी तरह अभिव्यक्त कर सका है।

प्राय: प्रत्येक कविता में कवि ने व्यंजना से अधिक कथन और वर्णन को महत्व दिया है इसलिए कहीं-कहीं प्रामाणिक अनुभूति के रहते हुए भी उसका प्रभाव बिखर जाता है। आधुनिक भाव-बोध और अभिव्यक्ति-संयम की बात उठाना तो इस संकलन के साथ संभव ही नहीं है। कवि के ही शब्दों में—

पन्ने जो लिख कर ढेर कर डाले मैंने,
कविता है (आप ऐसा समझेंगे)
पर यह किसी अज्ञात अनामंत्रित की प्रतीक्षा थी!
मेरी कविता को वक्तव्य चाहिए, ऐसा
विश्वास नहीं।

इसमें कोई संदेह नहीं, इन कविताओं के लिए किसी वक्तव्य की प्रेरणा शायद ही किसी को मिले। हम कवि को विश्वास दिलाते हैं कि उसने **'पन्ने जो लिख कर ढेर कर डाले'** उन्हें कवि की अज्ञात के प्रति प्रतीक्षा ही मानेंगे, साथ ही, उस प्रतीक्षा की पीड़ा से कवि की मुक्ति की कामना भी करेंगे।

—नित्यानंद तिवारी,
सेक्टर ४, १०७७,
आर० के० पुरम्, नयी दिल्ली–२२।

युग संगम

एन० चंद्रशेखरन नायर के नाटक। निकेतन प्रकाशन, त्रिवेंद्रम। मूल्य : १.५०।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के दो छोटे नाटक, जिन्हें एकांकी कहना उचित होगा, संग्रहीत हैं—'युग संगम' और 'द्विवेणी'। 'युग संगम' में अनेक युगों के पात्रों को अपने नाट्य-कौशल से एक मंच पर एकत्र कर लेखक ने उनके माध्यम से अपनी बात कहने का प्रयत्न किया है। पात्रों की अधिकता और दृश्यों का अधिक परिवर्तन मंच की दृष्टि से विशेष उपयुक्त नहीं माने जाते।

'द्विवेणी' में भक्ति, विवेक, यत्न, अनुकंपा, उदारता, सहिष्णुता आदि को मानवी रूप दे कर लेखक ने अणुबम-विस्फोट की पृष्ठ-भूमि पर एक सफल एकांकी लिखने का प्रयत्न किया है। भावनाओं का मानवीकरण कर के कथानक को समुचित ढंग से निभाना सरल कार्य नहीं होता है। लेखक ने युग-समस्या को सामने रखा है, उसके हल की ओर संकेत भी किया है।

मलयालमभाषी लेखक की यह हिंदी रचना स्वागत योग्य है ही। लेखक अपनी सुंदर हिंदी रचनाओं से साहित्य-भंडार को भरेगा ऐसी सहज आशा की जा सकती है। लेखक का हिंदी साहित्य-क्षेत्र में सहर्ष स्वागत है।

—रामेश्वरदयाल दुबे,
परीक्षायोजक,
हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद।

पत्र-प्रतिक्रियाएँ

● ●

मुझे अत्यधिक दुख है कि मेरी असावधानी से मेरे लेख 'दो अंग्रेज़ भाषाविद्' ('माध्यम' नवंबर' ६५) में इतनी बड़ी ग़लती रह गयी। वस्तुतः वह मेरा शोध-लेख है और उसे 'माध्यम' में प्रकाशन -हेतु भेजते समय संक्षिप्त किया गया था। अतः तथ्यों की ओर से ध्यान उचट गया था। गुरुवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने डॉ० कैरी के विषय में सन १९२१ में उक्त वचन कहे थे। शब्दशः मैं उसे उद्धृत कर रहा हूँ, **'कैरी वाज़ दि पायनियर ऑफ़ दि रिवाइवल इंटरेस्ट इन दि वर्नाक्यूलर्स।'** प्रस्तुत उद्धरण डॉ० जॉर्ज स्मिथ की पुस्तक **'दि लाइफ़ ऑफ़ विलियम कैरी'** से मैंने लिया है।

—जे० एच० आनंद,
रायपुर (म० प्र०)

'माध्यम' का सितंबर' ६५ अंक देखा। 'माध्यम' से किसी दोष को ढूँढ़ निकालना, मेरे ख़याल से, आकाश में चमकते हुए तारों की सही-सही गिनती कर लेने के बराबर है। किंतु इस अंक (सितंबर '६५) में प्रकाशित श्री परेश की कविता 'प्रतीक्षा' देख कर न केवल आश्चर्य हुआ, बल्कि उसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि आपसे पत्र द्वारा उक्त कविता से संबंधित कुछ कहने का साहस भी पैदा हुआ।

श्री परेश की उक्त कविता इसी शीर्षक ('प्रतीक्षा') से पहले ही 'आजकल' (दिल्ली) के जुलाई '६५ अंक में प्रकाशित हो चुकी। एक ही रचना दो भिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशि करवाने के पीछे श्री परेश की मनोवृत्ति दोह यश पाने की रही हो या दोहरे पैसे पाने की, तो वे ही बता सकेंगे, किंतु अधिक आश्चर्य इस बात का है कि आप जैसे अध्ययनशी अनुभवी और सुधी संपादक से ऐसी भूल हो गयी! क्या 'आजकल' में रुचि न हे के कारण अथवा श्री परेश के प्रति अत्यधि मोह होने के कारण?

—सत्यनारायण श्रीवास्त
मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार)

['आजकल' में वे कविताएँ क़री (कम से कम) दो वर्ष पूर्व प्रकाशनार्थ ग थीं। मेरे पास कोई सूचना और स्वीकृ उनकी कभी नहीं आयी। 'माध्यम' स्वीकृति को भी एक वर्ष होने को आ ग था, और मुझे कोई आशा नहीं थी कि आ लोग उसे छापेंगे। अतः 'अगस्त' में 'आजकल' में जब वह कविता देखी, तो यही सोच कर आपको सूचित नहीं कि कि आप लोगों की दृष्टि में भी वह आ गयी होगी या किसी अंक की सूचना आप दें तो मैं 'आजकल' में प्रकाशित होने की सूचन दे दूँगा...इस स्थिति ने मुझे शर्मिंद किया। —परेश, चंडीगढ़।

इधर कई पत्रों में, जिनमें 'माध्यम' भी शामिल है, कुछ बड़ी ही आग-भरी गतिविधियाँ दिखायी पड़ीं। कुछ ऐसा होता है कि कोई लेख निकलता है और बाद के अंकों में उस पर प्रतिक्रियाएँ सामने आती हैं। इनमें से अधिक-तर प्रशंसात्मक होती हैं। और इसके विपरीत कुछ गाली से आरंभ हो कर, गाली ही बीच में रख कर, गाली के ही साथ खत्म होती हैं। मैं दूसरी कोटि की प्रतिक्रियाओं के संबंध में कुछ कहना चाहता हूँ जो साहित्यकारों द्वारा साहित्यकारों के ही जवाब में लिखी जाती हैं।

ये तो खैर हम मानेंगे ही कि इस प्रकार की बौद्धिक नोक-झोंक को पाश्चात्य पत्रों ने जन्म दिया है और इसके अनेक लाभ देख कर हमने भी इसे अपना लिया। शायद सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे पाठक-संख्या परोक्ष रूप से बढ़ जाती है। अगले अंक में क्या उत्तर आयगा——यह उत्सुकता कई अनियमित पाठकों को कुछ अर्से के लिए नियमित बना देती है। सार्त्र तथा कामू के घात-प्रतिघात तो खैर सर्व-विदित हैं। अभी हाल ही में सार्त्र ने कार्नियेल विश्वविद्यालय जाने से इनकार कर के एक ऐसे ही विवाद को जन्म दिया था।

हमने आरंभ तो बड़ी अच्छी चीज़ की है पर हम यह नहीं तय कर पा रहे हैं कि किस हद तक कटुता का प्रदर्शन भद्दा नहीं होता है। किसी प्रकार का प्रतिमान तय कर पाना किसी के लिए भी संभव नहीं है पर इतना तो हम कर ही सकते हैं कि जो लिखा गया है उसी का जवाब दें, अर्थात लेखक के बारे में कोई भी व्यक्तिगत बात न कहें। उदाहरण के लिए, यदि किसी पुस्तक की समीक्षा आपका समीक्षा-कार आपके पत्र के लिए लिखता है और प्रति-क्रिया के रूप में उस पुस्तक का लेखक आपको लिखता है——'मेरी पुस्तक...की समीक्षा श्री...ने आपके पत्र में लिखी है। श्री... की योग्यता के बारे में मैं क्या लिखूँ, वह तो जाहिर है...' तो इसे अच्छी या बौद्धिक प्रतिक्रिया नहीं कहा जा सकता।

——नृसिंहप्रसाद दुबे,
पडरौना, (देवरिया)

'माध्यम' के सितंबर अंक में 'प्रत्यालोचन-पुनर्विचार' स्तंभ के अंतर्गत श्री नंदकुमार राय के विचार। अपने को चाहे जितना भी 'तटस्थ' रखने की चेष्टा वे करते हों, इस टिप्पणी से पक्षपात की ही गंध आती है।

मैं शलभ के निकट संपर्क में रहा हूँ, साथ ही इस प्रसंग पर चर्चा भी हुई है अतः मैं कह सकता हूँ कि 'शलभ' उपनाम से उन्हें कोई व्यामोह नहीं है। उनके व्यक्तित्व में 'झूठे प्रदर्शन' का आरोप भी एक शोध का ही विषय होगा।

श्री अजितकुमार ने 'बादल और बाँसुरी' की चर्चा (केवल उपनाम से संयुक्त) की थी। संयोग से शलभ का एक गीत 'गीत और बाँसुरी' उन्हीं दिनों 'कादंबिनी' में पुरस्कृत हुआ था। अतः उनकी चर्चा चल रही थी। फिर केवल उपनाम से वे अर्से से लिखते आ रहे हैं अतः हिंदी जगत इस उपनाम से उन्हें ही जानता है। ऐसी स्थिति में भ्रम-निवारण के लिए 'धर्मयुग' में उनका स्पष्टीकरण (जो बहुत ही विनम्र और सभ्य था) समुचित था।

'माध्यम' में प्रकाशित श्री घनश्याम प्रसाद की पुस्तक की समीक्षा के क्रम में शलभ का स्पष्टीकरण अपने व्यक्तित्व को (ईमानदारी से) अलग रखने के लिए है। अपनी विशिष्टता

के आसपास विभाजन-रेखा खींचना आत्मबल का परिचायक है।

एक श्री शशिभूषण 'शलभ' भी हैं। अक्सर 'सरिता' में लिखते हैं। शलभ उनसे तो कभी नहीं उलझे। कारण यह है कि 'धर्मयुग' और 'माध्यम' जैसे स्तरीय आवधिकों में यही शलभद्वय (श्रीराम और घनश्याम) संमुखीन हुए हैं।

—मिलिंद,
कुलटी (वर्धमान)।

अगस्त १९६५ के 'माध्यम' में पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' की पुस्तक 'झरोखे' की श्री हेरम्ब मिश्र द्वारा लिखी आलोचना पढ़ी। कुछ अंश भ्रामक एवं चिंत्य प्रतीत हुए,. . . 'शासक वर्ग ने साहित्य और साहित्यकारों को प्रोत्साहन देने का ध्यान रखते हुए हिंदी के बहुसंख्यक प्रतिभासंपन्न साहित्यकारों को या तो सूचना विभाग में अथवा आकाशवाणी केंद्रों में नियुक्त कर लिया है। यह सर्वथा अभिनंदनीय है।' तथा 'इससे साहित्यकारों की अथक कठिनाइयाँ निश्चय ही दूर हो रही हैं, किंतु उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा विकसित होने के स्थान पर कुंठित होने लगी है। इस कटु सत्य की ओर यदि. . .ध्यान न दिया तो यह . . .अभिशाप सिद्ध होगा।' समालोच्य कृति से ये दो उद्धरण देते हुए समालोचक महोदय टिप्पणी जड़ते हैं कि "यहाँ समझ में नहीं आता कि 'अभिनंदनीय' और 'अभिशाप' का मेल कैसे बिठाया जाय?"

पाठक होने के नाते मेरी समझ में यह नहीं आता कि इन दोनों उद्धरणों में ऐसी कौन सी विरोधी समस्या है? लेखक का सीधा सा अ यह है कि सरकार ने अपना कर्तव्य निर्वाह कि यह अभिनंदनीय है, लेकिन सरकारी नौ में साहित्यकार की प्रतिभा कुंठित हो र अतः साहित्यकार के लिए यह अभिशाप एक दूसरा अंश भी द्रष्टव्य है: 'आज तो अनेक पत्र-संचालक तराजू के बटखरों भाँति संपादकों को बदलते रहते हैं। पत्र उन्नति के लिए अथवा संपादक की स्वेच्छा ऐसा परिवर्तन किया जाय तो किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।' 'झरोखे' के ले का अर्थ बिलकुल स्पष्ट है कि संपादक यदि किसी दूसरे विभाग में अथवा दूसरी जाना चाहें तब परिवर्तन आपत्तिजनक है। परंतु इस अंश की बखिया उधेड़ते श्री मिश्र प्रश्न करते हैं—"यहाँ कुछ संपा ही द्वारा पीड़ित सह-संपादकों की ओर से जा सकता है कि संपादकों की स्वेच्छा से ऐसा परिवर्तन क्यों? क्या ऐसी स्वेच्छा में 'स्वेच्छाचार' नहीं हो सकता?" कहने आवश्यकता नहीं कि समीक्षक ने 'स्वेच्छा' 'इच्छा' का ऐसा घोटाला किया है कि पढ़ हँसी आती है। फिर प्रसंगांतर के अ तर्क भी अद्भुत है। यदि इसी प्रश्न पर प्रश्न भी किया जाय कि सह-संपादक अ पक्षधरों की ही रचनाएँ छापता है; क्या अनाचार नहीं है, तो इसका मूल बात से संबंध होगा?

समालोचक को एक शिकायत यह भी कि 'मध्यवर्गीय लेखक. . .व्यक्तिगत सं तथा भावनाओं में बह कर. . .पूरे वर्ग-चित्र नहीं देख पाते,. . .स्तुति के पूर्व लेखक मह यह सोचना भूल जाते हैं कि जिस प्रकाशक प्रति वह इतना आभार प्रकट कर रहे

उसी ने दूसरों को जाने कितनी ठोकरें लगायीं होंगी!'

प्रकाशकों के विषय में मेरा अनुभव भी कटु है, अतएव मैं आलोचक के तथ्य-प्रकाश से सहमत हूँ, किंतु संस्मरण किसी व्यक्ति का जीवन-चरित नहीं है। वह तो क्षण विशेष में उसके व्यक्तित्व की आत्मनिष्ठ झाँकी है। संस्मरण-लेखक स्मरणीय घटना का अंकन करता है, किसी पर अनुमान के आधार पर नैतिक अथवा धार्मिक फ़तवा नहीं देता। वह तो अपना मीठा-तीखा अनुभव आपके सामने रखता है, आपके अनुभवों की सूची बनाने के चक्कर में नहीं पड़ता।

आलोचक ने मुक्त हृदय से स्वीकार किया है कि . . .'और भी कई स्थल ऐसे हैं, जो द्रवित तो करते ही हैं, साथ ही घृणा, क्रोध और विद्रोह का भाव जगाने का भी काम करते हैं।' वह यह भी मानते हैं कि 'प्रस्तुत पुस्तक अपने लेखक की ही नहीं, बहुतेरे लेखकों और पत्रकारों की घायल भावनाओं, अंतर्द्वंद्वों और अंतर्विरोधों का प्रतिनिधित्व करती है।' मगर समीक्षा के अंतिम अनुच्छेद में कहा गया है कि पुस्तक में रोचकता और रंगीनी जैसा कुछ नहीं है। समीक्षक ने रंगीनी का अर्थ यदि विभिन्न भावानुभूति के स्थान पर हल्की रोमानियत समझा हो, तब तो कोई बात नहीं, अन्यथा यह कहना कि जो पुस्तक घायल भावनाओं, अंतर्द्वंद्वों और अंतर्विरोधों का प्रतिनिधित्व करती है तथा घृणा, क्रोध और विद्रोह के भाव जगाने में सक्षम है, वह न रोचक है, न रंगीन; अपने में स्वयं एक विचित्र वक्तव्य है।

—मोहन अवस्थी,
इलाहाबाद-२।

प्राप्ति-स्वीकार

प्रज्ञा प्रकाशन, चंडीगढ़

१. क्रांतिपथ का पथिक (पृथ्वी सिंह)

पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

१. सूक्ति-संचयन (जैनेंद्र) (संकलयिता: हर्षचंद्र)
२. राष्ट्र और राज्य (जैनेंद्र)
३. परिप्रेक्ष (जैनेंद्र)
४. अंततः (हिमांशु जोशी)
५. मुक्ति-बोध (जैनेंद्र)

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

१. रस-सिद्धांत (डॉक्टर नगेंद्र)
२. कंचनरंग (शंभुमित्र; अमित मैत्र) (अनुवादक : नेमिचंद्र जैन)
३. जैनेंद्र : व्यक्ति, कथाकार और चिंतक (संपादक : बाँकेबिहारी भटनागर)
४. बच्चन : व्यक्ति और कवि (")
५. लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक
६. नाटक (भारतभूषण चड्ढा)
७. हिंदी की छायावादी कविता का क
विधान (डॉक्टर बलवीर
'रत्न')

पारिजात प्रकाशन, पटना

१. चतुर्मुखी (ब्रजकिशोर 'नाराय

आनंद प्रकाशन, इलाहाबाद

१. प्रेमचंद : कहानीकार (सुरेंद्र आ

हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

१. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति
काव्य (डॉक्टर लक्ष्मीनारायण दु

जगत शंखधर, वाराणसी

१. आकाश विभाजित है (विष्णु
शर्मा)

साहित्य मंडल, गोंदिया

१. भारत सूर्य (दिनेश मिश्र)

लता प्रकाशन, पटना

१. बहुत है (श्री रंजन सूरिदेव)

हिन्दी के उन्नयन

में

हिन्दी समिति का योग

राष्ट्रभाषा की समृद्धि के संकल्प को पूर्ण करने की दिशा में हिन्दी समिति अभी तक विभिन्न तकनीकी, अभियांत्रिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक विषयों के अनूदित एवं मौलिक १२० ग्रंथ प्रकाशित कर चुकी है।

समिति के कुछ नये प्रकाशन

१—स्टार्च और उसका व्यवसाय	—डॉ० सन्तप्रसाद टण्डन	७—५०
२—रेडियो सर्विसिंग	—श्री रमेशचन्द्र विजय	८—५०
३—पदार्थ शास्त्र	—श्री आनन्द झा	८—००
४—पश्चिमी आलोचना शास्त्र	—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	८—५०
५—भैषज्य संहिता	—श्री अत्रिदेव विद्यालंकार	४—५०
६—संघवाद और संघातमक शासन	—डॉ० ब्रजमोहन शर्मा	८—५०
७—शुद्ध बुद्धि मीमांसा (काण्ट कृत क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीज़न)	—अनुवादक: श्री भोलानाथ शर्मा	९—५०
८—रंगमंच (शेल्डन चेनी कृत दि थीयेटर)	—श्री श्रीकृष्णदास	११—५०
९—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ तथा २ (भारतरत्न पी० वी० काणे कृत हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र)	—श्री अर्जुन चौबे काश्यप	३४—००
१०—मानवीय ज्ञान के सिद्धांत (बर्कले कृत प्रिंसिपिल ऑफ़ ह्यूमन नॉलेज)	—डॉ० भगवान बक्स सिंह	८—५०
११—दूरवीक्षण के सिद्धांत (राबर्ट होम कृत टेलीविज़न प्रिंसिपिल्स)	—श्री हरप्रसाद शर्मा	६—५०
१२—मानव बुद्धि संबंधी विवेचना (डेविड ह्यूम कृत एसे ऑन इन्क्वायरी टु ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग)	—डॉ० श्रीकृष्ण सक्सेना	३—५०

उत्तम कागज, सुंदर छपाई, सुदृढ़ जिल्द, आकर्षक आवरण, कम दाम

संपर्क सूत्र

सुरेन्द्र तिवारी

सचिव, हिन्दी समिति एवं सहायक सूचना निदेशक

उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

का

५१ वर्षों से अनुसंधानपूर्ण त्रैमासिक प्रकाशन

सम्मेलन-पत्रिका

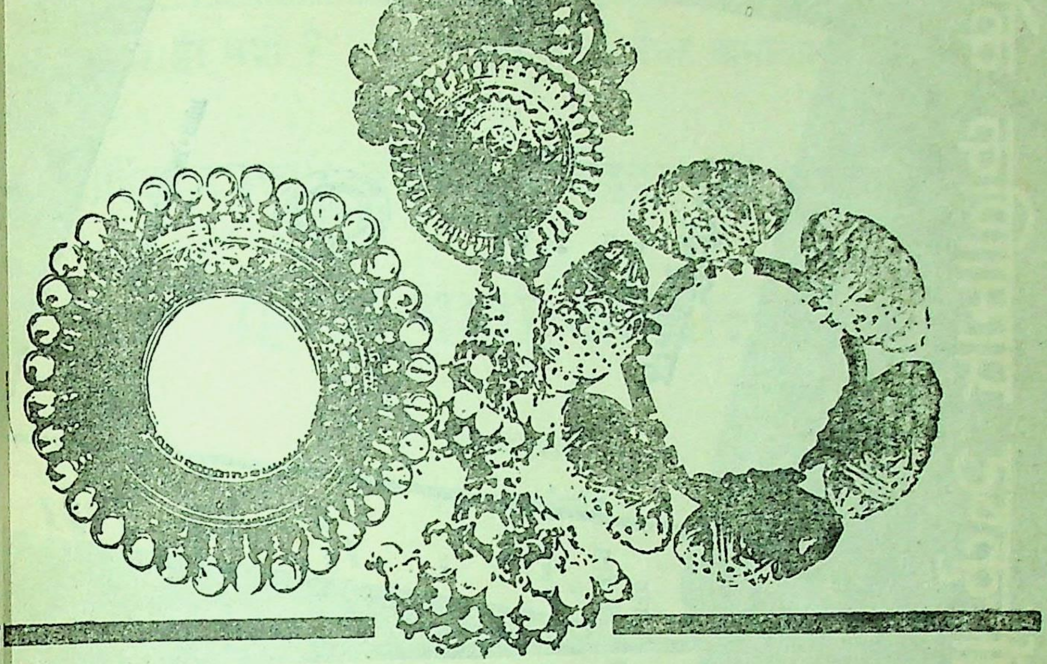
जिसमें हम पाते हैं—

- हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं एवं उनके साहित्य संबंध में नूतन शोध-सामग्री।
- अद्यावधि अप्रकाशित विशिष्ट साहित्यिक कृतियों विश्लेषण।
- हिंदी साहित्य के आलोचना-क्षेत्र की नयी प्रकृतियों अ प्रवृत्तियों का दर्शन।
- इस पत्रिका के **लोक-संस्कृति, कला एवं श्रद्धाञ्ज** नाम के तीन विशेषांक अपनी अनुसंधान तथा विवेचना पूर्ण सामग्री के लिए सर्वथा अनवद्य हैं।
- प्रत्येक अनुसंधान-पुस्तकालय में और प्रत्येक अनुसंधित्सु पास यह पत्रिका साहित्य के स्कूल का काम करती है।

संपादक

ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

वार्षिक मूल्य ८ रु० प्रति अंक २



आपके दो हजार ग्राम सोने के ज़ेवर। क्या आपको मालूम है कि इन्हें सिर्फ उधार देकर १५ साल में आप ६,000 रुपये सकते हैं। आपकी इस आमदनी पर कोई कर नहीं लगेगा। तो फिर देर क्यों करते हैं? तिजोरी या बैंक में जो आपके रखे रहते हैं, उनसे आपको कुछ भी फायदा नहीं होता। दिल को बड़ा कीजिए और देश के इस आड़े वक्त पर काम ये। अपना सोना या ज़ेवर देश को उधार दीजिये। हम आपके सोने को मातृभूमि की सेवा में लगायेंगे। देश की वेदी पर येंगे और १५ साल बाद जब हम आपका सोना लौटायेंगे तब उसमें एक नई चमक-दमक, एक नया निखार होगा।

देश को सोना उधार दीजिये — स्वर्ण बांड लीजिये!

या बैंक में रखा आपका सोना बेकार पड़ा रहता है। उससे कोई फायदा नहीं होता। लेकिन अगर उसी सोने के बदले स्वर्ण बांड ले लें, तो आपके सोने के हर १० ग्राम पर हर रुपये के हिसाब से आपको मुनाफा होता रहेगा। (एक तोला ११.६६ ग्राम के। एक गिन्नी का वजन ८ ग्राम होता है)

छताछ नहीं होगी

प स्वर्ण बांड लेने के लिये सोना, सोने की गिन्नियां या गे तब आपसे यह नहीं पूछा जायेगा कि आपने ये सोना प्राप्त किया। स्वर्ण नियंत्रण कानून या कस्टम के नियमों हत कोई कार्रवाई भी नहीं की जायेगी।

सोना शुद्ध रूप में लौटाया जायेगा

वरों की शुद्धता १८ से २२ कैरेट तक होती है (एक गिन्नी रेट की होती है)। जब आप स्वर्ण बांड लेने के लिये अपना देंगे तो विशेषज्ञ लोग आपके सोने को सरकारी टकसाल में और अपने महीन यंत्रों से उसे २३.८८ कैरेट की शुद्धता करेंगे। इस तरह १५ साल बाद आपको शुद्ध सोना लौटाया। पुराने ढंग के ज़ेवरों को नया रूप देने और मुनाफा प्राप्त का आपके लिये यह एक सुनहरा मौका है। और १५ साल ब आपको यह सोना शुद्ध रूप में मिलेगा तो उससे आप कैरेट में चाहें, और जिस रूप में चाहें, ज़ेवर बनवा सकते हैं।

बनाने के खर्च का मुआवजा

आप सोना ज़ेवर के रूप में दे रहे हैं तो सरकार ज़ेवर बनाने के रूप में आपके हर १० ग्राम पर ३ रुपये का मुआवजा

बांडों से व्यापार और उद्योग में तरक्की होगी

अगर सरकार के हाथ में हो, तो सरकार को विदेशी मुद्रा मिलेगी, जिससे हमारी सरकार को रक्षा का साज-सामान और मशीनें आदि खरीदने में सहायता मिलेगी। अगर हमारे पास विदेशी मुद्रा की दिक्कत रही तो देश की तरक्की रुक सकती है, जिसका असर हमारे समाज और हम पर पड़े बगैर नहीं रह सकता।

स्वर्ण बांडों की जमानत

आप स्वर्ण बांडों की जमानत देकर बैंकों से रुपया उधार ले सकते हैं।

करों में छूट

स्वर्ण बांडों पर सम्पति कर नहीं लगता। इनकी बिक्री की आय पर कोई कर नहीं लिया जाता।

५,००० ग्राम (लगभग ४२९ तोला) तक के स्वर्ण बांड को एक साल में पहली बार जिस व्यक्ति को उपहार के रूप में दिया जाय, उस पर उपहार कर नहीं लगता।

५०,००० ग्राम (लगभग ४,२८८ तोला) तक के स्वर्ण बांड पहली बार जिस व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होंगे, उन पर सम्पदा-शुल्क नहीं लिया जायेगा।

स्वर्ण बांड कहां से लें?

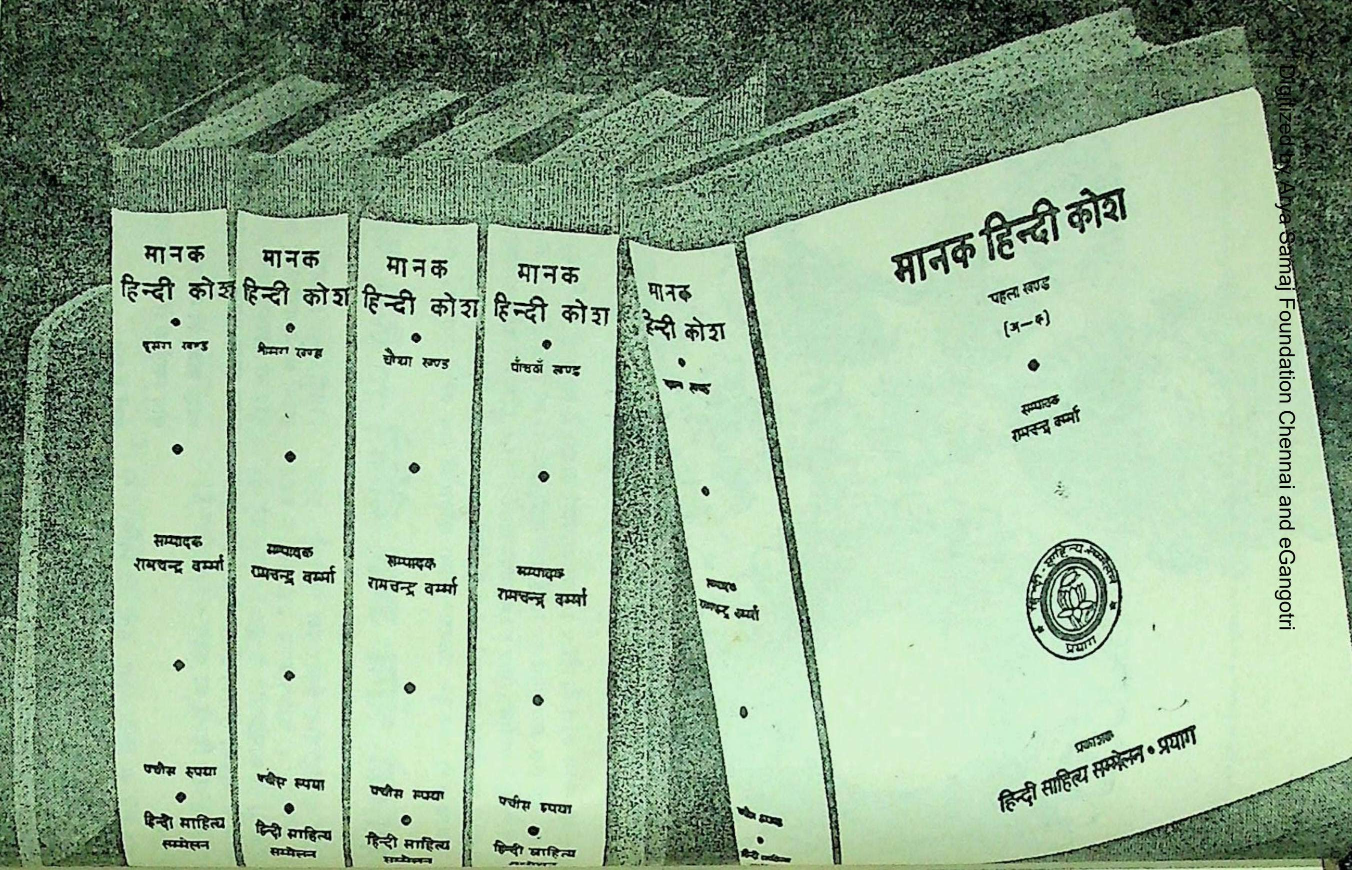
ये स्वर्ण बांड रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के बंगलौर, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, नागपुर और नई दिल्ली स्थित कार्यालयों के अलावा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की सभी शाखाओं व उनके सहायक बैंकों से जारी किये जा रहे हैं।

देश की सेवा कीजिये

देश को आज आपके सोने की जरूरत है। स्वर्ण बांड लेकर देश की मदद कीजिये। हम सब का भविष्य इसी पर निर्भर करता है कि हम आज देश को कितना सोना देते हैं। अपने सोने को देश की सेवा में लगाइये।

वित्त मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रचारित

राष्ट्रभाषा का सर्वोत्कृष्ट, प्रामाणिक कोश



प्रथम चार खण्ड प्रकाशित

आकार

डिमाई चार पेजी

शब्द संख्या

पहला खण्ड – २१,९४८

दूसरा खण्ड – २१,१२७

तीसरा खण्ड – २३,६५३

चौथा खण्ड – २१,०८२

पृष्ठ संख्या

पहला खण्ड – ६१८

दूसरा खण्ड – ५९९

तीसरा खण्ड – ६७०

चौथा खण्ड – ६०६

पाँचवाँ खण्ड जनवरी १९६६ के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित हो रहा है।

●

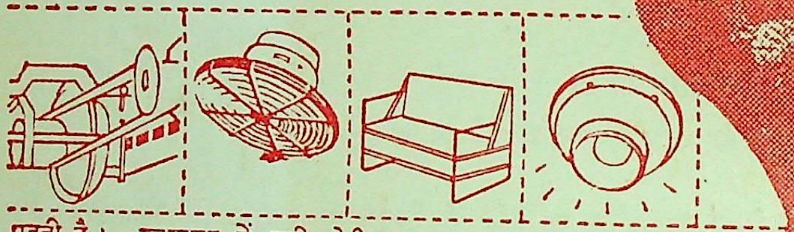
प्रति खण्ड का मूल्य पचीस रुपये

●

प्रकाशक तथा मुद्रक : रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

अद्भुत शिल्प कृति से भी अधिक महत्वपूर्ण

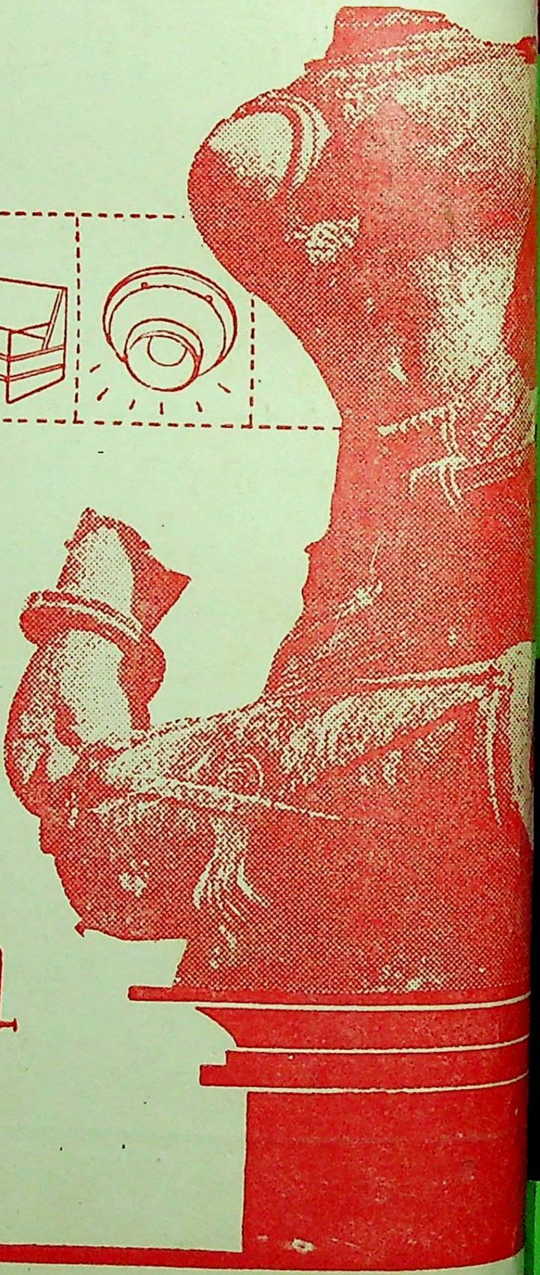
एक भग्न प्रतिमा कम से कम किसी कला पारखी, चित्रकला कक्ष या संग्रहालय के लिए महत्व की वस्तु है, किन्तु आवश्यक सुविधाओं से रहित रेल के किसी डिब्बे का कोई महत्व नहीं है। डिब्बे में लगे हुए बिजली के सामानों की चोरी आदि के कारण यात्रियों को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता है क्योंकि गर्मी में उन्हें बिना पंखे या अंधेरे में बिना रोशनी के यात्रा करनी



पड़ती है। स्नानगृह में लगी टोंटी चुरा लिए जाने के कारण उन्हें बिना पानी के तथा गद्दी काट लिये जाने के कारण बे-आरामदेह सीटों पर बैठकर यात्रा करनी पड़ती है।

रेलवे प्रशासन यात्रियों से अनुरोध करता है कि वे इस गम्भीर समस्या पर विचार करें एवं इस प्रकार के दुष्कार्य करने वाले व्यक्तियों का पता लगाने में उसका सहयोग करें।





दक्षिण पूर्व रेलवे

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

फ़रवरी १९६६
वर्ष २ : अंक १०
पूर्णांक : २२

अंक १०
फरवरी १९६६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

एक भग्न प्रतिमा कम से कम किसी कला पारखी, चित्रकला कक्ष या संग्रहालय के लिए महत्व की वस्तु है, किन्तु आवश्यक सविधाओं से रहित रेल के

अद्भुत शिल्प कृति

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

फ़रवरी १९६६
वर्ष २ : अंक १०
पूर्णांक : २२

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

माध्यम

अंक २३ में :

- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय तथा नागेश्वर लाल के लेख
- राजकमल चौधरी की कहानी
- शिवमंगल सिंह 'सुमन', भवानी प्रसाद मिश्र तथा रमेश कुन्तल मेघ की कविताएँ
- डॉ० जगदीश गुप्त द्वारा 'रस - सिद्धान्त' की विवेचना

प्रतिपत्तिका

समीक्षाएँ

● ●

'माध्यम' का 'केरल विशेषांक' मई '६६ में प्रकाश्य

●

21-2-66

अंतराल का लेखा

जो वर्ष बीत गया है वह युद्ध और संकट का वर्ष था। उसमें ध्वंस, मृत्यु और अंधकार का आटोप था; बमों के धमाके और गड़गड़ाते विमान थे। अनुभूतियाँ दुखद थीं, पर उनमें निमग्न हो कर हमने कुछ पाया जो मूल्यवान था। गत वर्ष से पूर्व जहाँ हम केवल अहिंसा के पुजारी होने के नाते भीरु क़रार दिये जाते थे, वहीं हमने केवल अपनी सुरक्षा के लिए शक्ति का उत्तर शक्ति से दे कर स्वयं को उपलब्ध किया।

विगत वर्ष की अंधछाया से जब नये वर्ष का सूर्योदय हो रहा था, तब हमने केवल उल्लसित आलोक के प्रति अपने को समर्पित नहीं हो जाने दिया; संपूर्ण विवेक से, साहस के साथ शांति के लिए उपलब्ध को त्याग कर अपनी तटस्थता का सर्वांग परिचय दिया। शांति के लिए यह त्याग पूर्व उपलब्धि से अधिक बड़ी और महत्तर उपलब्धि है।

इसके लिए हमें अंततः शांति के सुदृढ़ स्तंभ लघुकाय किंतु पूर्णपुरुष का अवसान भी सहना पड़ा, यह कम दुखद नहीं। जब वात्याचक्र में आकाशचुंबी वृक्ष भी चंचल हो उठते हैं, दूब अपनी संपूर्ण हरीतिमा के साथ स्थिर रहती है। लेकिन जब स्वयं दूब ने हरीतिमा को हमें दे कर अपने प्राणों की आहुति दे दी, तब हमें जहाँ उस हरीतिमा को गहन एकांत में उपलब्ध करने का अवसर मिला, वहीं उसकी पूर्णाहुति से जो गहन पीड़ा हुई, उसे बारह दिनों तक का शोकमग्न देश भी नहीं

बता सकता। संक्षिप्त किंतु इतने कठिन काल में शांति की शक्तियों को सुदृढ़ बनाते जाना, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाते जाना मनुष्य के प्रति मनुष्य के दायित्व के अपराजेय प्रतीक शास्त्री जी का ही काम था।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य:।

मृत्यु का अनुभव जहाँ दुख को विस्तृत क्षेत्र दे देता है, वहीं एकांत को भी कुरेद देता है। शास्त्री जी का देहांत दुहरे स्तर पर दुखद है। क्योंकि उन्होंने विस्तृत और एकांत को अपनी दृढ़ता, अपनी शक्ति और अपने विवेक से सम्यक बना दिया था। नरहरि विष्णु गाडगिल का प्राणांत एक भिन्न स्तर पर हमारे लिए निजी क्षति है। स्वातंत्र्य और चेतना के क्षेत्र में वे अन्यतम थे और हमारे लिए, हिंदी साहित्य सम्मेलन के लिए नितांत निजी और आत्मीय थे। शास्त्री जी के पर्यवसान ने हमारे विस्तृत को शून्य कर दिया; नरहरि ने हमारे एकांत को। विस्तृत एकांत हो गया; एकांत विस्तृत।

शून्य एक अनुभव अवश्य है, बल्कि वह चुनौती भी है, पर इसीलिए वह भर जाता है। स्तंभ एक-एक कर ढह जाते हैं, लेकिन उनकी स्मृति का पल्लवन भी हो जाता है। गति चक्राकार यदि है तो केवल शून्य के लिए ही नहीं, अशेष के लिए भी है।

२५ जनवरी अस्थि-विसर्जन का सबसे शोकग्रस्त दिन माना जायगा। किंतु २६ जनवरी इतिहास-चक्र के बहुत बड़े मोड़ का अनमोल प्रतीक; स्वतंत्रता का वसंतोत्सव! आत्म-तुष्टि का सबसे विह्वल क्षण! कल हमने खोया था, आज हम भावनात्मक विश्वास की दीप्ति से मुखर हैं।

हमारे जीवन का केवल राष्ट्रीय पहलू ही होता, तो हम इतना कह कर मौन हो जाते। किंतु इस राष्ट्रीय जीवन से संबद्ध एक संस्कृति भी है, जो इसी के उन्नयन का अनिवार्य भाग है। उसे पृथक नहीं किया जा सकता। इसीलिए हमारा संकट, हमारा संघर्ष अनेकमुखी है।

फ़िल्म हमारे लिए कम से कम इस शताब्दी में संस्कृति और सभ्यता के विकास की दृष्टि से एक ज़रूरी जन-माध्यम है।

विमल राय उसके एक सुंदर स्तंभ थे। कला में उन्होंने व्यवसाय का समझौता कभी स्वीकार नहीं किया, ऐसी हमारी धारणा है। उनकी दृष्टि प्रयोगोन्मुखी थी। वे राष्ट्रीय से अंतर्राष्ट्रीय को अधिक महत्व न भी देते रहे हों, किंतु राष्ट्रीय को इतना महत्व वे अवश्य देते थे कि राष्ट्रीय में अतर्राष्ट्रीय का बोध सहज ही हो जाय। व्यवसाय की दृष्टि से कदाचित उन्हें असफलता भी मिली हो, किंतु कला की दृष्टि से वे पुरस्सर रहे, इसमें संदेह नहीं।

हमारा एक स्तंभ और ढह गया। चलचित्र-जगत से एक निर्माता-निर्देशक का अचानक उठ जाना कष्टप्रद होता है। लेकिन यह आशा फिर भी बनी रहनी चाहिए कि निर्माण और निर्देशन अभी भी जीवित है; पुरस्सर है; कला-बोध जीवत है । यदि मरना ही है, तो व्यवसाय की संकुचित दृष्टि ही मरे। विमल राय के जीवंत बने रहने और उनकी स्मृति-सुरक्षा का यही एक प्रमाण है; हो सकता,है।

साहित्य संस्कृति और सभ्यता का प्रमुख एवं अन्यतम वाहक रहा है और है। शब्द के सूक्ष्मतम साधन के बल पर इतिहास-चक्र को गति देते देते हमने जिस नवोन्मेष और ऊष्मा को प्राप्त कर लिया है, वह अभिशंसनीय है। जो अनागत है, वह भी इस प्राप्ति को तीव्रता देगा, ऐसा हमारा विश्वास है। इस संपूर्ण नवोन्मेष का आकलन सहज नहीं होता और तब तो और जब सच्चे विचारक और चिंतक हम समसामयिक स्वयं हों। किंतु देवीशंकर अवस्थी ने जिस गहनता से इस आकलन में 'विवेक के रंग' भरे थे, विभिन्न समीक्षा-दृष्टियों को एकसार करने का साहसपूर्ण प्रयत्न किया था, वह आज हमें दुर्लभ है। अन्वयन और एकसारीकरण के लिए, दृष्टि की पूर्णता की ओर अग्रसर होने की ईहा के लिए वे सदैव स्मरण किये जायँगे। पूर्वग्रहों से मुक्त हो कर समीक्षा प्रस्तुत करने वालों में वे युवा लेखकों में अद्वितीय थे। उनका निधन इतना असामयिक है कि हमें निजी क्षति से अधिक क्लेशप्रद प्रतीत होता है। समालोचना में समग्रता पर बल देने वाले एक सर्वथा नवीन स्तंभ का लोप हमारे और हमारे साहित्य के लिए बहुत बड़ी क्षति है।

एक शून्य फिर हमें एकांत दे गया। लेकिन शून्य भर जाता है, चाहे उसका परिप्रेक्ष वही न हो, बदल जाय, इसीलिए वह संतोषप्रद भी होता है। मलयालम के महाकवि शंकर कुरुप्प का पुरस्कृत होना इसी अर्थ में हमारे लिए गौरव का विषय है। घनीभूत संवेग और तनाव के कवि शंकर का गद्य भी मूल्यवान है, यह उनकी दुहरी सफलता हमारी सफलता है। वे गीतकार के चरम क्षण को जहाँ संपन्नता दे सके हैं, उन्होंने सानेट के भी पुष्कल प्रयोग किये हैं। विनम्र शालीनता से उपेत वे इसीलिए हैं क्योंकि वे भाव और विचार के बसंत-भार से समग्रतया लदे-फँदे कदंब हैं। उनकी पुरस्कृति हमें प्रांतीयता से उठा कर भारतीयता का परिवेश प्रदान करती है। एक मंच बनता है, जहाँ सभी भारतीय भाषाओं के प्रतिमान छन कर हम तक चले आते हैं। यह हमारी, हमारी हिंदी की संपन्नता है, जहाँ हम अखंड होने को प्रमाणित एवं सिद्ध करते हैं।

साहित्य प्रतीक है आज के शब्द का; शब्द के माध्यम से आधुनिक युग का और हमारा युग वैज्ञानिक युग है। विज्ञान ने ब्रह्मांड को प्रत्येक दृष्टि से स्पर्श किया है। नाश और निर्माण दोनों उसके—उसी के—छोर सिद्ध हो गये हैं। बुद्धि उसका नियंत्रण कर सकती है, यह भारतीय जानता है। होमी भाभा सबसे पहले ऐसे ही भारतीय थे, जो विज्ञान के विनाशकारी पक्ष पर नियंत्रण प्राप्त कर निर्माण की ओर अग्रसर होना अनिवार्य मानते थे। उनकी अहिंसक दृष्टि उन्हें अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिक के रूप में प्रतिष्ठित कर सकी थी, इसमें संदेह नहीं। वे भारतीय वैज्ञानिक थे। उनका वैज्ञानिक प्रथमस्थानीय रहा हो, किंतु आपाततः वे भारतीय थे। जब अणु-आयुधों की भयंकरता से देशांतरों में तनाव पैदा हो रहा था, जब वैज्ञानिक अग्नि की कल्पना मात्र से विश्व-मूल्य राख हो रहे थे, तब उन्होंने विज्ञान के माध्यम से, अणु-शक्तियों के बल पर तनाव को कम करने का यथार्थ स्वप्न दिया था; विश्व-मूल्यों की सुरक्षा का संबल प्रदान किया था। वे शांति के शिल्पी थे; अहिंसा के वैज्ञानिक थे। उनकी दृष्टि दार्शनिक की थी और विवेक वैज्ञानिक का। अन्वयन और एकसारीकरण को उन्होंने विज्ञान के साँचे में ढाल कर भारत को एक नया परिवेश देना चाहा था।

शास्त्री जी महान मानवतावादी प्रशासक थे; भाभा महान मानवतावादी वैज्ञानिक।

भाभा एक अपूरणीय क्षति का नाम है आज। लेकिन शून्य भर जायगा, इसका विश्वा भी उस वैज्ञानिक के लिए कम बड़ा स्मारक नहीं है।

आज जब हम शास्त्री, भाभा, गाडगिल, राय और देवीशंकर अवस्थी--और कु पहले हमीद, तिमय्या, कुलवंत सिंह और वी० पी० मेनन--के तिरोधान की बात सोचते हैं अनिवार्यतः हमें अपनी असह्य, अपूरणीय क्षति का बोध हो जाता है और हम घबरा उठते पर साथ ही क्या हमें इसकी चेतना भी नहीं होती कि हम इन्हें गँवा सके क्योंकि वे हमारे पास थे कि हम राजनीति, विज्ञान, कला, साहित्य, युद्ध और प्रशासन जैसे विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे मह व्यक्तित्व पैदा कर सके ?

एक-एक कर के हमारे ये स्तंभ लुप्त हो गये। पर हम हैं उन्हीं के जीवंत मूल्यों के सं पर 'भारत की नव-नूतन आत्मा' के निर्माण के लिए अग्रसर; देश के समग्र उन्नयन के लिए ब परिकर; ताशकंद-समझौते के प्रति जागरूक। भूखे भजन नहीं होता, लेकिन हमें भजन कर है, क्योंकि वह अनिवार्य है शांति के लिए, मूल्यों के लिए, अन्वयन और एकसारीकरण के लिए।

इंदिरा गांधी के नेतृत्व में शांति, धर्मनिरपेक्षता, विवेक और अहिंसा का समग्र बोध ब रहे, यह हमारी कामना ही नहीं, अनिवार्यता भी है। 'भारत की नव-नूतन आत्मा' के अक्षु विकास के निश्चय के साथ हम अनागत के शुभ के आकांक्षी हैं। एकाई की दृष्टि निजी अ भिन्न हो सकती है, लेकिन भारतीय होने के नाते उस दृष्टि का परिणाम भारत के विकास प्रमाण सिद्ध हो सके, यह नितांत आवश्यक है। यदि वह दृष्टि अन्य दृष्टियों के अन्वयन ए एकसारीकरण से एशिया को भारत के माध्यम से विकसनशील एवं उन्नीत बना सके, तो ब और श्रेयस्कर है। साथ ही मंगलकारी प्रयत्नों के माध्यम से वह दृष्टि प्रतिबद्ध हो कर यदि विश को तनावों से दूर ले जा सके, ध्वंस के स्थान पर अशेष निर्मिति की दिशा दे सके, तो वह निश्च ही वरेण्य होगी।

--संपादक

रसूल अहमद 'अबोध'

भुवनेश्वर प्रसाद : कुछ स्मृतियाँ

पत्ता-पत्ता, बूटा-बूटा, हाल हमारा जाने है।
जाने न जाने गुल ही न जाने, बाग़ तो सारा जाने है।।

आज से लगभग तीन दशक पहले की बात है। अमीनाबाद में आजकल की ही तरह शाम के समय अच्छी-ख़ासी रौनक़ रहती थी। उसका रूप आजकल की रौनक़ से कुछ भिन्न अवश्य था। सबसे बड़ी भिन्नता यह थी कि आदमी भीड़-भड़क्के में गुम नहीं हो जाता था, बल्कि दूर से दिखायी पड़ जाता था। कितने ही लोग दूकानों पर बैठे हुए दूर से ही आने-जाने वाले किसी परिचित इष्ट-मित्र को देख लेते थे। इसी प्रकार कुछ और भी भिन्नताएँ थीं तब। लैला की उँगलियाँ, मजनूँ की पसलियाँ, गुलाब गँडेरियाँ और ग़रीब विधवा स्त्रियों द्वारा काढ़े गये टोपी के पल्ले बिकते थे। और इस सबके अलावा बेले और मोतिये के हार भी बिकते थे।

अमीनाबाद की शाम की इस रौनक़ का लुत्फ़ उठाने के लिए मुहल्ले-मुहल्ले से लोग शाम के समय अमीनाबाद पहुँच जाते थे। और घंटे-आध घंटे घूम-घाम कर अपनी-अपनी राह लेते थे।

उन्हीं दिनों की बात है। एक दिन शाम के समय अमीनाबाद के चौराहे से ज़रा हट कर एक दूकान के पास ताँगे से दो व्यक्ति उतरे। दूकान तो वह मामूली सी थी। पर उसकी ख्याति मामूली न थी। उक्त दोनों व्यक्तियों का भी परिचय स्वभावतः दूकानदार से रहा ही होगा। ताँगे से उतरने वाले इन दोनों व्यक्तियों में एक सज्जन ज़रा दोहरे बदन के व्यक्ति थे। चेहरे-मोहरे और वेश-भूषा से अच्छे-ख़ासे व्यवसायी व्यक्ति मालूम होते थे। पर दूसरे सज्जन हल्के-फुलके शरीर के तथा साँवले-गेहुँए रंग के व्यक्ति थे। शरीर पर उनके एक घेरदार लंबा कुर्ता सुशोभित था और उनके चेहरे से प्रतिभा झलकती थी। प्रतिभा के साथ मासूमियत ने मिल कर उनको और आकर्षक बना रखा था। उक्त दूकानदार से उन दोनों व्यक्तियों की कुछ रस्मी बातें हुईं। यानी बातों के लिए बातें। परिचय मिलने पर पता चला कि दोहरे बदन के सज्जन मि० जैन हैं। चारबाग़ में रहते हैं। और कोई निर्देशिका (डाइरेक्टरी) निकालते हैं। दूसरे सज्जन के संबंध में पता चला कि नाम भुवनेश्वर प्रसाद है। एकांकी लिखते हैं। इन दिनों मि० जैन के साथ ही चारबाग़ में रहते हैं। भुवनेश्वर का नाम उन दिनों तक कानों में पड़ चुका था। उनका एकांकी-संग्रह 'कारवाँ' भी शायद प्रकाशित हो चुका था।

उस दिन की मुलाक़ात के समय अमीनाबाद में अक्सर भुवनेश्वर से मुलाक़ात होती रहती। शाम के समय मि० जैन के साथ वे अमीनाबाद आते, घूमते-घामते। बेले के हार भी कभी-कभी खरीदते और फिर ताँगे पर सवार हो चारबाग़ चले जाते।

परिचय होने के बाद भुवनेश्वर से मुलाक़ातें तो अक्सर होती रहतीं, पर बातें बहुत कम होतीं। जो होतीं वे भी महज़ रस्मी। वे सदा लखनऊ में रहते भी न थे। दिल्ली, इलाहाबाद और बनारस भी वे आते-जाते रहते। पर जब लखनऊ में होते, तो मुलाक़ात अवश्य होती। और कहीं नहीं तो शाम के समय अमीनाबाद में तो होती ही।

मि० जैन के साथ भुवनेश्वर चारबाग़ में कितने दिनों तक रहे, यह तो ठीक से याद नहीं रहा। पर मि० जैन के साथ न रहने पर भी लखनऊ का साथ उन्होंने न छोड़ा। हाँ, अब दो गज़ ज़मीं के बदले बयाबाँ की उनके लिए बारी आने वाली थी। वे एक प्रकार के रमता जोगी हो गये। रमता जोगी होने के कारण वे जिस प्रकार किसी स्थान से बँधे न रह सकते थे उसी तरह किसी जाति और धर्म से भी बँधे न रह सके। लखनऊ के रहने वालों में सैकड़ों हिंदू, मुसलमान और ईसाई उनके मित्रों में थे। और सबसे उनका आत्मीयता का संबंध था।

यों लखनऊ के हिंदू, मुसलमान और ईसाइयों में उनके मित्रों की संख्या काफ़ी बड़ी थी पर कुछ ऐसे व्यक्ति थे, जो उभर कर सामने आ जाते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों में एक सज्जन दुष्यंत चौबे थे। दुष्यंत चौबे का मथुरा से किस प्रकार का संबंध था, यह तो मालूम नहीं। न यह मालूम है कि चौबे शब्द को वे प्रचलित अर्थ में सार्थक करते थे या नहीं। पर इतना मालूम है कि लखनऊ के हर गली-कूचे और होटल से उनका संबंध था और यह भी कि चाय पीने की सीमा तक वे कभी चौबेपन पर आँच न आने देते थे। राजनीति में उनका झुकाव कुछ साम्यवाद की ओर था, इसलिए छोटे प्रालितेरियत क़िस्म के होटलों से ही वे ज़्यादा संबंध रखते थे। दुष्यंत नाम तो उनका अवश्य था, पर संभवतः शकुंतला उनके जीवन में कभी नहीं आयी। इसी प्रकार चौबे तो वे थे, पर धर्म उनका ईसाई था। उनके बड़े भाई क्रिश्चियन कॉलेज में प्राध्यापक थे, किंतु वे स्वयं साहित्यिक आवारा थे। पता नहीं, वह कौन सी शुभ घड़ी थी कि किसी गली-घाट में उनकी भुवनेश्वर से मुलाक़ात हो गयी। एक ने दूसरे को पहचान लिया। और फिर दो दीवानों के मिल बैठने में खूब गुज़रने लगी। भुवनेश्वर केवल मिल ही न बैठते थे, कभी-कभी उनके यहाँ रैन-बसेरा भी कर लेते थे। और फिर सबेरे किसी प्रालितेरियत क़िस्म के होटल में चाय पीने, साहित्यिक और राजनीतिक चर्चा आदि में भी उनका साथ देते थे। इस प्रकार की साहित्यिक और राजनीतिक चर्चा अधिकांश किसी होटल में ही चलती। और फिर काफ़ी लंबी। होटल वाला और अन्य ग्राहक चकित हो-हो कर सुनते रहते।

अक्सर ऐसा मौक़ा भी आता कि शाम के निश्चय के अनुसार भुवनेश्वर से मिलने के लिए मुझे सबेरे दुष्यंत चौबे के यहाँ जाना पड़ता। और फिर वहाँ से यह त्रिमूर्ति ग्राहकों की प्रतीक्षा में बैठे हुए किसी होटल वाले का भाग्य जगाने के लिए चल पड़ती। होटल में पहुँच कर चाय वाले को आदेश दिया जाता कि वह एक प्याला चाय बिना दूध की फीकी बना कर लाये। इसके अलावा

पापड़ या मूंग की दाल मँगायी जाती। भुवनेश्वर बिना दूध की फीकी चाय पीते और पापड़ या मूँग की दाल में सब लोग संमिलित होते।

भुवनेश्वर बिना दूध की फीकी चाय के साथ पापड़ या मूँग की दाल बड़े शौक़ से खाते थे। जब उनकी पसंद की चीज़ मिल जाती और मूड अच्छा होता, तो स्वभावतः चर्चा में भी ज़ोर आ जाता। यह ज़ोर समय और शक्ति दोनों के रूप में प्रकट होता। समय के रूप में इस प्रकार का घंटे-डेढ़ घंटे का जमाव होता और शक्ति के रूप में इस प्रकार कि लोग समझने लगते कि बाबुओं में झगड़ा हो रहा है। ऐसे समय भुवनेश्वर का अंदाज़ गुल अफ़सानी-ए-गुफ़्तार देखते ही बनता। चर्चा में जो ज़ोर आता सो तो आता ही; जब कोई शेर पढ़ते, तब तो ग़ज़ब ही हो जाता। एक तो चेहरे की मासूमियत, दूसरे दर्द में डूबी हुई आवाज़। ऐसे बहुत से प्रसंग हैं, जब उन्होंने कोई शेर पढ़ा था और आसपास के लोग तल्लीन हो कर उनकी ओर देखते रह गये थे।

एक बार की याद आती है। हम लोग घूमते-घामते सदर पहुँच गये थे। सदर से अमीनाबाद आना था। फ़ासला ज़रा दूर का था। तै हुआ कि इक्के पर चला जाय। जेबें टटोली गयीं। पैसे भी निकल आये। उस समय सदर से अमीनाबाद का इक्के का किराया तीन पैसा था। एक इक्के पर जिस पर एक मर्दानी सवारी पहले से ही बैठी हुई थी, हम लोग बैठ गये। सवारी पूरी हो गयी। इक्का चला। कुछ दूर इक्का चला था कि भुवनेश्वर को ग़ज़ल पढ़ने का मूड आ गया। उन्होंने ग़ालिब की एक ग़ज़ल जिसका एक शेर है, **कौसर ही पे छोड़ो मुझे क्या तौफ़-ए-हरम से, आलूदा-ब-मय-जामा-ए-अहराम बहुत है।** छेड़ दी। सदर से अमीनाबाद का इक्के का रास्ता कोई दस-पंद्रह मिनट का तो होगा ही। अब उस सवारी का यह हाल कि भुवनेश्वर पर जो टकटकी लगी, तो उस समय तक लगी रही, जब तक अमीनाबाद न आ पहुँचा। फिर भी इक्के पर से उतरने के बाद भी वह व्यक्ति मुड़-मुड़ कर भुवनेश्वर की ओर देखता ही रहा।

भुवनेश्वर को उर्दू के अच्छे-अच्छे शेर भी सैकड़ों याद थे। उर्दू के शायरों में 'मीर', 'ग़ालिब' और 'मोमिन' के वे बड़े प्रशंसक थे। 'मीर' और 'ग़ालिब' की ग़ज़लें और शेर तो बहुधा उनकी ज़बान पर ही रहते थे। जब मूड में आ कर शेर पढ़ते, तो आंगिक अभिनय से उसके भावार्थ का चित्र खींच देते।

उस समय के अधिकांश नवयुवकों की तरह उनका भी झुकाव साम्यवादी विचारधारा की ओर था। और अपने आपको कम्युनिस्ट कहलाने में गौरव का अनुभव करते थे। कभी-कभी रूसी क्रांति आदि के प्रसंग में जब कोई जोशीली बात आ जाती, तो भुवनेश्वर की बाँहें चढ़ जातीं और मुट्ठियाँ बँध जातीं। ऐसे मौक़े पर उनके छोटे-छोटे हाथ और पतली कलाइयाँ देख कर मुझे मज़ाक़ सूझता और भुवनेश्वर हँसते हुए कोई मधुर गाली दे देते।

एक दिन की बात है। अमीनाबाद में भुवनेश्वर मिल गये। रिक्शे पर बैठे हुए थे। उन दिनों वे अधिकांश रिक्शे पर ही चला करते थे। यों रिक्शे वाले उनसे भागने लग गये थे। पर कोई न कोई मिल ही जाता। मुझसे भी उन्होंने रिक्शे पर बैठने के लिए कहा। मैंने टालने का प्रयत्न किया। पर वे तो यार को भी साथ डुबाने का निश्चय किये हुए थे। मेरे कमरे चलने के लिए ज़िद करने लगे। तब तक वे मेरे उस कमरे कभी न पहुँचे थे,

जो संभवतः जीवन-काल में लोगों को क़ब्र में रहने का अभ्यास कराने के लिए बनाया गया था। विवश हो कर भुवनेश्वर के साथ रिक्शे पर बैठा। बैठे-बैठे मंज़िल तक सकुशल पहुँच जाने के लिए दुआएँ भी माँगता रहा। पर 'मोमिन' की तरह इस बात का पता न था के दुआ के असर के साथ दुश्मनी भी हो सकती है। यानी असर उल्टा भी हो सकता है। आखिर वह मौक़ा आ ही गया, जिसका डर था। एक व्यक्ति एक छोटे से होटल से निकला और सीधे रिक्शे के पास आ कर रिक्शे को रोक लिया। मन में बहुत ग़ुस्सा आया। जी में आया कि भुवनेश्वर को उनके हाल पर छोड़ूँ और अपनी राह लूँ। पर ऐसा हो न सका। भुवनेश्वर ने भी परिस्थिति की नज़ाकत समझी। उस व्यक्ति से ऐसी बातें कीं कि उसे मेरे कमरे तक चलने पर पैसे मिलने का विश्वास हो गया। कमरा भी कुछ दूर न था। रिक्शा छोड़ा गया। और हम तीनों अपने कमरे तक पहुँचे। कमरे में पहुँच जाने पर तो कोई खटका रह ही न गया। भुवनेश्वर ने उसे समझा-बुझा कर चलता किया। उसने भी अपनी भलमनसाहत का सबूत दिया।

सन तो ठीक से याद नहीं पड़ता, पर कुछ दिनों के लिए भुवनेश्वर का आकाशवाणी लखनऊ में टिप्पस भिड़ गया था। कार्यक्रमों में भाग लेने के अवसर मिलने लगे थे, और कार्य- कार्यक्रमों के संबंध में रेडियो वालों को कुछ मौलिक सुझाव भी उन्होंने दिये थे। यों भुवनेश्वर जब किसी से कुछ कहते-सुनते थे, तो कुछ इस प्रकार प्रभावशाली ढंग से कहते थे कि सुनने वाले को उसकी मौलिकता पर विश्वास हुए बिना न रहता था। फिर बेचारे रेडियो वालों को भुवनेश्वर की मौलिक सूझ पर विश्वास न होता, यह कैसे संभव था!

किसी कार्यक्रम के संबंध में ही उन्हें एक पुस्तक की ज़रूरत पड़ी। पुस्तक शायद 'अष्टछाप' की पदावली से संबंधित थी। भुवनेश्वर को यह मालूम ही था कि गंगाप्रसाद मेमोरियल लाइब्रेरी के पुस्तकालयाध्यक्ष से मेरा अच्छा संबंध है। उन्होंने पुस्तक के लिए कहा। मैंने ला कर उन्हें दे दी पर उनके स्वभाव की विशेषता के कारण खटका बना रहा। जितने दिनों के बाद उन्होंने पुस्तक वापस करने का वादा किया था, न कर सके। मुझे बड़ा बुरा मालूम हुआ। जब मिलते, तक़ाज़ा करता। और वे वादा करते। एक दिन तक़ाज़े में कुछ तीखी बातें कह दीं। उन्होंने दूसरे दिन पुस्तक वापस कर दी। पर परस्पर कुछ खिंचाव आ गया। जब एक-दूसरे का सामना होता, मुँह फेर लेते। कई दिन यों ही बीत गये, पर कब तक! एक दिन होटल सामने आ गया। दोनों ने चाय पी। ग़प्पें हुईं और सारा गिला-शिकवा जाता रहा।

सन ४० की बात है। रहता मैं लाटूश रोड पर था। पर खाना खाने हुसेनगंज जाया करता था। हुसेनगंज के चौराहे पर एक छोटा सा होटल था। वहीं चाय पीता, खाना खाता। और रात-दिन का अधिकांश समय भी वहीं बिताता। कुछ इष्ट-मित्र भी वहीं आ जाते। होते-होते भुवनेश्वर को भी पता लगा, वे भी आने-जाने लगे। और बिना दूध की फीकी चाय पीने लगे। भुवनेश्वर जब अपने हलके-फुलके शरीर, मासूम चेहरे और घेरदार लंबे कुर्ते के साथ नाज़िल होते, तो होटल के मालिक से ले कर ग्राहक तक सभी उनको चकित हो कर देखने लग जाते।

हुसेनगंज के उस छोटे से होटल की बैठक में जो लोग बहुधा शामिल रहते, उनमें कन्हैया-लाल श्रीवास्तव नामक एक मजदूर कार्यकर्ता, अहमद रज़ा उर्फ़ जग्गा नामक एक मज़दूर और

हारून साहब नामक एक व्यक्ति अवश्य रहते। कन्हैयालाल पर कभी-कभी भुवनेश्वर कुछ ताने-ज़नी भी करते। थोड़ी-बहुत छेड़-छाड़ भी चलती। पर आयु में भुवनेश्वर अधिक थे, फिर एक अच्छे साहित्यकार के रूप में प्रसिद्ध भी थे, इसलिए बेचारे कन्हैयालाल बहुधा दब जाते थे। अहमद रज़ा एक सामान्य पढ़े-लिखे मुंशी मात्र ही थे। और एक प्रकार से मज़दूर का ही जीवन बिताते थे, इसलिए भुवनेश्वर से उनसे बातें तो ज़रूर होती थीं, पर एक सीमा के अंदर। हारून साहब बेचारे अधिक बोलते-चालते ही न थे। इसलिए उनका कोई सवाल ही न था। ये चार-पाँच व्यक्ति होटल की बैठक में अक्सर रहा करते थे।

वर्षों तक हुसैनगंज के उक्त होटल से मेरा संबंध रहा। और जब तक मेरा संबंध रहा, भुवनेश्वर बराबर आते-जाते रहे। वे जब आते, तो बिना दूध की फीकी चाय पीते और लकड़ी के एक बैठके पर घोड़े पर सवार होने की तरह बैठते। लोगों को उनका इस प्रकार का बैठना अजीब ही लगता। कुर्सियाँ खाली रहतीं, पर जब वे बैठते, तो उसी बैठके पर बैठते और उसी प्रकार घोड़े पर सवार होने की तरह बैठते।

उन्ही दिनों की बात है। एक दिन सुरेश अवस्थी ने भुवनेश्वर से परिचय करा देने की बात कही। चौराहे पर खड़े-खड़े अभी उनसे बातें हो रही थीं कि भुवनेश्वर एक ओर से आते दिखायी दिये। भुवनेश्वर से सुरेश का परिचय हो गया। और फिर वह परिचय राह का परिचय ही न रह गया। घर का परिचय बना। खाना-पीना, सोना-जागना सब भुवनेश्वर का सुरेश के यहाँ होने लगा। रात के समय देर तक महफ़िल जमी रहती। साहित्यिक चर्चा और शेरो-शायरी का समा बँधा रहता।

सन ४६ ई० में कुछ ऐसा प्रसंग आया कि मुझे लखनऊ छोड़ कर अहमदाबाद जाना पड़ा। उर्दू 'हरिजन सेवक' का काम था। बीच में एक बार आया। फिर गांधी जी की मृत्यु के बाद आना हुआ। गांधी जी की मृत्यु को उस समय तक महीना-पंद्रह दिन ही बीते थे। देश के वातावरण में शोक छाया हुआ था। बात कहीं से चलती, गांधी जी की मृत्यु का प्रसंग आ ही जाता। भुवनेश्वर से मुलाक़ात हुई। बातचीत हुई। गांधी जी की मृत्यु का प्रसंग भी आया। मैंने उनकी हत्या की बात पर कुछ शोक प्रदर्शित किया। भुवनेश्वर जोश में आ गये। कहने लगे, **गांधी जी की मौत उनके शायानेशान हुई है। क्या वह बिस्तर पर एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर मरने वाले इंसान थे?** बात माक़ूल थी। समझ में आ गयी।

'उन दिनों 'रक्ताभ' नाम का लखनऊ से एक मासिक पत्र निकला था। संभवतः भुवनेश्वर के उसमें दो एकांकी प्रकाशित हुए थे। 'यरुसलेम को' और 'आज़ादी की नींद'। 'यरुसलेम को' तो मैंने बार-बार पढ़ा। मुझे बहुत अच्छा लगा। बाइबिल के वातावरण में यह एकांकी लिखा गया था। भुवनेश्वर से अपनी प्रतिक्रिया भी बतायी। उनको भी उक्त एकांकी बहुत पसंद था। 'आज़ादी की नींद' को पढ़ने का मौक़ा न मिला। पर इन दोनों एकांकियों को ले कर लखनऊ में बहुत दिनों तक महफ़िलें गर्म रहीं।

कुछ महीनों लखनऊ रहने के बाद वर्धा आना हुआ। वर्धा से वर्ष-दो वर्ष में ही लखनऊ जाना होता था। पर जब कभी लखनऊ पहुँचता, बिना किसी पूर्व सूचना के भुवनेश्वर से मुलाक़ात

हो जाती। बहुधा ऐसा होता कि जिस दिन मैं लखनऊ पहुँचता, उसी दिन जहाँ होता, भुवनेश्वर आ जाते। बैठते। बातें होतीं। वर्धा आने की बात भी कहते। पर वर्धा वे तो न आ सके। हाँ, उनका एक-दो-तीन पंक्तियों का कार्ड जरूर आया था। जिसमें उन्होंने और तो कोई खास बात न लिखी थी। पर अंत में तुम्हारा—बरानाम 'भुवनेश्वर प्रसाद' जरूर लिखा था।

आयु की जिस मंजिल पर भुवनेश्वर को साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उससे उनका अहं अदम्य बन गया था। इस अदम्य अहं की स्वाभाविक माँग स्वच्छंद तथा विद्रोही जीवन था। भुवनेश्वर ने इस माँग को स्वीकार किया। परिणामस्वरूप न तो वे लेखन-कार्य में ही नियमित रह कर साहित्य के भंडार को अपनी कृतियों से भर सके, न उन्हें सामान्य रूप में भौतिक सुख-शांति ही प्राप्त हो सकी। पर यह कहना कदाचित ठीक न होगा कि इससे उनके कलाकार को कोई आघात लगा। वे साहित्य-सर्जन के क्षणों में तो कलाकार रहते ही; उस समय भी कलाकार रहते, जब इष्ट-मित्रों की महफ़िल को अपनी मर्मोक्तियों से गरमाते होते।

निःसंदेह स्वच्छंद और विद्रोही जीवन ने भुवनेश्वर से भरपूर बदला चुकाया। परिणामस्वरूप उनका जीवन भौतिक दृष्टि से अभावग्रस्त हो गया था। यों वे अपने इस अभावग्रस्त जीवन के कारण भी कभी स्वच्छंदता और विद्रोही जीवन को त्यागने के लिए तैयार न हो जाते। पर कभी-कभी क्षणिक रूप में ऐसा अवश्य महसूस होने लगता कि उनके अदम्य अहं ने उनके लिए जिस प्रकार का जीवन दिया है, उससे वे घबरा गये हैं। इस घबराहट के क्षणों में भी यदि उनको कुछ ऐसे शब्द सुनने को मिल जाते, जिससे उनके अहं को सहारा मिलता, तो वे तुरंत अपनी पूर्व स्थिति में आ जाते।

भुवनेश्वर के घरेलू जीवन के संबंध में न मैंने कभी कोई चर्चा की, न उन्होंने ही कभी कुछ बताया। पर इतना अवश्य मालूम है कि वे कभी-कभी शाहजहाँपुर भी आते-जाते थे। एक बार सुरेश अवस्थी के यहाँ, जहाँ कभी-कभी वे रैन-बसेरा किया करते थे, उनके छोटे सौतेले भाई भी आये थे। सौतेले भाई के अलावा तब तक सौतेली माँ भी थीं। बस, इतना ही उनके घरेलू जीवन के संबंध में पता चल सका।

आज से कई वर्ष पहले की बात है। वर्धा से लखनऊ गया हुआ था। अमीनाबाद के एक छोटे से होटल में कुछ इष्ट-मित्रों के साथ बैठा हुआ था। भुवनेश्वर की ही बात चल रही थी। और वह भी उनके स्वास्थ्य को ले कर। तब तक भुवनेश्वर आते दिखायी दिये। सर्दियों के दिन थे। गरम शेरवानी पहने हुए थे। सदा की तरह अधिकारपूर्ण लहजे में आर्डर दिया। उसी बिना दूध की फीकी चाय का। हाथ में बाँस की एक तीलीनुमा छड़ी भी लिये हुए थे। फिर बंद में मक्खन लगा कर लाने को कहा। मैंने मक्खन पर जरा आपत्ति की। वे बिगड़े। बंद में मक्खन लग कर आया। खाया। चाय पी। बातें बहुत थोड़ी कीं। चलते समय दक्षिणा लेने के लिए ज़रूर कुछ कहा। क़स्में भी खायीं। पर मैं जानता था। वे भी जानते थे कि यह जानता है।

कुछ महीनों के बाद लखनऊ से फिर वर्धा चला आया। वर्ष-दो वर्ष में जब मौक़ा मिलता है, लखनऊ जाता हूँ। शामें भी अमीनाबाद में बीतती हैं। गुलाब गँडेरियाँ बेचने वाले दिखायी दे जाते हैं। लैला की उँगलियाँ और मजनूँ की पसलियाँ भी दिखायी पड़ती हैं। बेले और मोतिये

के हार भी बिकते हैं; जिन्हें लोग खरीद कर पहनते या कलाई में लपेटते हैं। मुहल्ले-मुहल्ले से लोग रिक्शे-ताँगे पर सवार शाम को अमीनाबाद की रौनक़ का लुत्फ़ उठाने भी आ जाते हैं।

मैं भी इष्ट-मित्रों से मिलता हूँ। गप्पें होती हैं। चाय पी जाती है। घूमता-घामता हूँ। कभी-कभी किसी-किसी से भुवनेश्वर का ज़िक्र भी निकल आता है। कोई-कोई कहता है, खेल खत्म हो गया है, पर्दा गिर चुका है। और तब अंतर्मन में प्रश्न उभरता है—सचमुच!

—द्वारा डॉ० सुरेश अवस्थी,
केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
१५।१६, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज,
दिल्ली।

केशव कालीधर

छह कविताएँ

लौट नहीं पाओगे

तुम—
तुम जो चुनौतियाँ उठा कर
इस अंधे वन को पार कर
उस ओर की एक श्रुति-कल्पित अनजान नगरी को
मानचित्र पर खींच लाने को
कृतसंकल्प थे—

तुम जो—
अँधेरे से लड़ने के लिए दर्पस्फीत—

तुम जो
अपने ही निकष पर विश्वासों को खींच
निहित किरनों की छाप देखने को आकुल—

तुम जो
अपनी भुजाओं से उगती हुई सलाखों को
नतशिर करने का भरे गर्व—

तुम जो
हर शुभ को स्वयंवरने के लिए
पिनाकों के सामर्थ्य को ललकारते—

तुम जो
पहचाने पथ को
लकीरों के इतिहास में दफ़न करने का लिये स्वप्न—

तुम जो
अपनी गति से
दर्पोन्नत दुर्लंघ्य शिखरों को रौंद कर
क्षितिज को अपने भीतर समेट लेने की
—सहजता से आक्रांत—

इस क्षण
आकंठ काँस के विस्तार में
भटक रहे हो—
काँस...सिर्फ़ काँस...!
लचीली बर्छियों की यह अयाचित फ़सल!!
दुधारी तलवार-सी
झूमती है
कितने यादव योद्धाओं का लहू चूस...
नरभक्षी अफ़्रीकी वृक्षों की यह संतान...
बर्छियों की यह फ़सल...
अपने बीच फिर एक गर्वोन्नत पा कर!

हर क्षण देह पर रक्तिम छाप छोड़ती
शिराओं को चीर
गति को नियंत्रित करती
काँस की यह विस्तृत राशि
इस क्षण की ध्रुवता का विश्वास
उगा जाना चाहती है चट्टान की परतों पर!

पाँव के नीचे—
वह काँपती है धरती—
वह जिस पर पंजे गड़ा कर
बढ़ाये थे तुमने अपने वामन-चरण
नापने को तीनों लोक—
वह काँपती है!
काँस की फ़सल के नीचे
दूर तक बिछी
दलदली मुलायम धरती

लथपथ अस्तित्व को
सीता की भाँति
लील जाने को आतुर है...

परिचित पथों की प्रतिध्वनियाँ
बहुत पीछे पांडवों-सी गल गयीं।
जूझने का शाप दे कर सीमाएँ सब
टल गयीं !

और...काँस के इस समुंदर में
ध्वस्त पोत के पटरे से तुम
अपने वरण की मर्यादा को झेलते
ि ठक की उस ठर्वान में भी
लिविंग्स्टन या कोलंबस की छायाओं को
सिर्फ़ मिटते हुए देखते हो !

लौटोगे ?
....
पीछे हट कर
तटस्थता के चश्मे से
सारे फलक को बाँध
अपने बँगले में लटका कर
क्या इस यातना के सुख को
फ़शन की भाँति अविकल झेल नहीं सकोगे ?
रेडियोग्राम से निकले फ़िल्मी गानों से
उसका तालमेल बिठा
झूमती हुई बर्छियों की इस फ़सल को
ख़ूबसूरत चीनी मिट्टी के गुलदस्तों में सजा कर
जूझने का विचार-विलास
स्प्रिंग कोच के रस में सिझा कर
क्या अपने ड्राइंग रूम में आये हुए अतिथि को
तुम दृष्टि का नया आयाम नहीं दे सकते ?

लौटोगे ?
. . . . ?

तन्वंगी, चमकीली
दुधारी काँस की उपलब्धि ले कर. . .
जिसने तुम्हारी कोमलता पर
रक्तिम रेखाएँ खींच
शिराओं में तपने का दर्द दिया—
लौटोगे. . .तुम ?
उसी दर्द को
रंगीन मूँज की
शिल्पी-मंजूषाओं में बंद कर
बाज़ार में
बेचने को—
लौटोगे तुम. . . ?

नहीं ।
शायद. . .नहीं. . . !
तुम लौट नहीं पाओगे. . .
क्योंकि. . .
क्योंकि काँस के इस समुंदर में
हर झोंके के साथ
तुम सरोद की वह गत सुनने लगे हो
जहाँ हर आंदोलन एक नयी आकृति ग्रहण करता है
और हर क्षण
एक जलते हुए तार की तरह
स्निग्ध, मौन और स्थिर रह कर भी
अनुभूत होते ही तराशता चला जाता है. . .

. . .क्योंकि
तुम्हारा यह संकल्प
मन की उन दूरियों को तोड़ता है
जो उस अनजान नगरी के बंद द्वारों को
खोलता चला जाता है. . .
और साबुन के रंगीन बुलबुलों की भाँति

तुम्हें अपने व्यक्तित्व के नये अर्थ
तैरते दीखने लगते हैं—
वे जो टूट जायँगे
लेकिन जब तक हवा में तैरेंगे
तब तक इंद्रधनुषों की एक कड़ी
हर मायूस चेहरे पर
किलकारी की तरह छोड़ जायँगे !

असमर्थता

शायद वह आस्था ही कहीं खोटी थी
—जो बचा नहीं पायी
सर्पोंभरी उस घाटी की यात्रा से
जहाँ चिक्कने रेशमी चमकदार फणिधर
हर ताज़े गुलाब को
मुर्झाये हुए
नील कमलों की पाँति में फेंकते रहते हैं !

शायद वह आस्था ही कहीं खोटी थी
—जो अगरबत्ती के धुएँ की तरह लिपटी रह कर भी
गंध के प्रति आकर्षण को
अस्तित्व का अंश नहीं बना सकी !

शायद वह आस्था ही कहीं खोटी थी
—जो मोम जैसे असत्य को भी
भोगी हुई लाल सलाखों पर चढ़ा कर
उनसे प्रकाश नहीं खींच सकी !

शायद वह आस्था ही कहीं खोटी थी
—जो गहराते हुए अँधेरे में खो जाने की
कातर आतुरता को

किसी अनिश्चित सुबह तक के लिए
रोक नहीं सकी;
जो खिड़की पार
आकृतियाँ ग्रहण करने वाले अनबिके क्षणों से
भोर के कोहरे के बीच
साक्षात्कार नहीं करा पायी!
शायद वह आस्था ही कहीं खोटी थी!

चुप की धूप

आवाज़
किसी छाँह में दुबक गयी है
जो रक्तचाप को
त्वचा की तरह आबद्ध करती है!

तरंग शब्द नहीं बनती,
घंटियाँ
मुट्ठी की पकड़ में आ कर भी
'ईथर' में टकराती हैं!
धूप जब सही नहीं जाती
घुमड़ते हुए शब्द
आते हैं —
और भिगोने के पहले ही उड़ जाते हैं!

सन्नाटे में फेंकी हुई आवाज़
प्रतिध्वनियों के दरवाज़े बंद कर
रेतीले विस्तार पर पाँव धरती है;
अंधड़ों में भटकते हुए
खोये हुए शब्दों से कभी साक्षात्कार—
दोपहर को निरंतर बजाता रहता है!

उमस

एक शंखद्वीप में
अज्ञातवास
अपने ही रेशमी तागे में लिपटा है !

निजत्व से काटा हुआ अलगाव
भीतर ही भीतर रेंगता है--
उस इकाई में पिरोया हुआ
जहाँ हवा में समर्पित हो जाने के लिए
पंख फैलाना नहीं पड़ता !
अनिवार्यता की परिणति का दंड
फ़ासलों में
अभिशप्त फल की तरह
उमस में पकता रहता है !

पवन

उसकी हर ड्योढ़ी बंद।
वाणी : नहीं।
दृष्टि : नहीं।
गंध : नहीं।

पवन जँगलों से तैर कर
नये इंद्रजाल बुनता था।
निचाटे में
अब वह मूर्च्छना सा मूर्त होता है
और इंगित के पहले
स्वर के तल में पैठ जाता है !

आग : कुछ टुकड़े

पहला टुकड़ा

एक ठंडा कर्पूर-खंड
दिन की सिलवटों के बीच
क्षयी महायात्रा में क्रमशः दफ़न होने का देता आभास !
आतशी शीशे में तैरता
वह कौन सा अदृश्य बिंदु--
जिसने तहों में क़ैद शीतलता को
सिर्फ़ दहकने का संस्पर्श दिया !

दूसरा टुकड़ा

वीणा से झरता हुआ महारास--
आरोहों में टँके दीपित नक्षत्र
अवरोहों में चिटख़ती दबी चिनगारियाँ
नाचती उँगलियों में बँधे जलते सूर्य;
जलन की जो लहर
तिरोहित हुई सी लगती है
रगड़ खा कर
फिर उसी खोयी हुई लय में बँध जाती है !

तीसरा कड़ा

बाँस के पेड़ों से गुज़रती हुई लू
मेरी तटस्थता को
हर क्षण ललकारती हुई
हज़ारों रंध्रों से
कथाएँ गुनगुनाती है !
डरी हुई चीखें
झुलसन को
दवा के 'पोस्टरों' की तरह
सार्वजनिक दीवारों पर छोड़ जाती है !

चौथा टुकड़ा

अतृप्ति—
वह रही है
गंधक के इस चश्मे में
जिसमें
सुदामा की पोटलियों के बचे हुए तंदुल
गल-गल कर अपनी अर्थवत्ता खोज रहे हैं!

पाँचवा टुकड़ा

वर्दियाँ कसे
और रबड़ के फ़ौवारे हाथों में लिये
दिन आये
और एक सीलन दे कर चले गये!
बौछार को झेलती हुई आग
अखबार के ठंडे छापे में पड़ कर भी
वह बोध क्यों नहीं बन पाती
जो चाय की मेज़ पर
पहली और अंतिम बार साक्षात्कार करती है!

●

द्वारा 'माध्यम'

पृथ्वीनाथ शास्त्री

अस्तित्वाद : एक पुनरीक्षण

अस्तित्ववाद यूरोपीय आधुनिक युग का अन्यतम दर्शन है। जीवन की समग्रता को सामने रख कर सारी परिस्थितियों को जानने का यह एक परिपूर्ण एवं सजग प्रयत्न है। जीवन की मानवीय सार्थकता की निरंतर खोज में यह प्रयत्न करना ही पड़ता है। सार्थकता (सफल जीवन) के लिए यह अनिवार्य है; पहली शर्त है। अस्तित्ववाद में, जीवन की सार्थकता किसी बँधे-बँधाये, परंपरागत या पूर्वग्रह-ग्रस्त रूप में अवधारित नहीं होती। अस्तित्ववादी के लिए जीना ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है। चूँकि हमारी मानव-प्रकृति भी तो पूर्व-नियत नहीं है, प्रतिक्षण इसका निर्माण एवं विकास होता रहता है। यही कारण है कि अस्तित्ववाद में जीवन की सारी संभावनाएँ किसी भी पूर्वनियत साँचे में नहीं ढाली जातीं। मानव जिन परिस्थितियों में मौजूद है और ज़िंदा रहता है, ज़िंदा रहना चाहता है, उन परिस्थितियों को, परिवेश को वह अपने उद्देश्य या जीवन के सारभूत अंश की सिद्धि के लिए सहता या भोगता ही है। उनमें जीवन वही हो सकता है, जो वह 'स्वयं' है।

दूसरे शब्दों में हम सामयिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए या क्षणिक प्रभावों के संपर्क में अपने को कितना ही व्यस्त क्यों न कर लें, किंतु कभी न कभी तो मन में ये सवाल उठते ही हैं कि (१) आखिर जीवन में हम चाहते क्या हैं? (२) हम जो कुछ भी 'होना' या 'भोगना' चाहते हैं, वह क्यों और किसलिए होना या भोगना चाहते हैं? (३) हमारे जीवन का सातत्य, जिजीविषा या जीवन के प्रति मोह और ममता का मतलब क्या है—अगर कोई इन सवालों के ऐसे जवाब खोज लेता है, जो उसे संतुष्ट कर देते हैं, तो उसे जीवन 'सार्थक' लगता है। अस्तित्ववाद भी अन्यतम आधुनिक दर्शन के रूप में इन्हीं सवालों के कुछ उत्तर प्रस्तुत करता है।

लेकिन अस्तित्ववादी इन प्रश्नों के अमूर्त उत्तरों से ही संतुष्ट नहीं होता। अस्तित्ववाद में ये प्रश्न मूर्त या वस्तुपरक हैं, व्यक्तिगत हैं, चूँकि ये एक विशिष्ट देश-काल की मर्यादा में अवस्थित हैं। सारे संसार की मानव-जाति की यही एक बेजोड़ विशेषता (भेदक लक्षण) है कि मानव मात्र को उसके वैयक्तिक और सामुदायिक (जातिगत) इतिहास से अलग रख कर हम कभी नहीं समझ सकते। विकास के वर्तमान क्षण तक मानव अपने आपको समझ सकता है, दूसरे प्राणी नहीं—यही तो उसकी अन्यतम विशेषता है। इसीलिए अस्तित्ववाद में 'आधुनिकता' का अर्थ होता है: **समग्र अतीत को समझ कर वर्तमान या यथार्थ की सार्थकता भविष्य में ढूँढ़ सकना।** जीवन के ये क्षण इतने भंगुर होते हैं कि विचार से पहले ही अतीत बन जाते हैं और वर्तमान

अतीत एवं अनागत की संधि-सा ही प्रतीत होता है। इसीलिए अस्तित्ववाद में मानवीय 'क्षण' का बड़ा महत्व है, पर अपने आपमें नहीं—क्षणों का महत्व अतीत की पृष्ठभूमि या नींव पर भावी निर्माण के रूप में है। भविष्य के बिना हम वर्तमान की सार्थकता को कभी नहीं पा सकते और भूत की अभिज्ञता के बिना हम वर्तमान अनुभूति को व्यक्त भी कैसे कर सकते हैं। अभिव्यक्ति मात्र व्यतीत क्षण की अनुभूति का आश्रय लेती है, भावी संभावनाओं के ताने-बाने बुन कर वह साकार होती है।

सोरेन कीर्केगार्द (१८१३-५५) और फ्रीडरिख नीत्शे (१८४४-१९००) को लोग वर्तमान अस्तित्ववाद का 'जनक' मानते हैं। कीर्केगार्द ने युक्ति (रीज़न) को सर्वोपरि नहीं माना— **'धर्म की नींव विश्वास पर होती है, युक्ति या तर्क पर नहीं'**—और **'मानव-जीवन को हम किसी व्यवस्था या पद्धति में भी नहीं बाँध सकते।' 'व्यक्ति का अस्तित्व—माने, प्रयत्न, परिवर्तन, विकास और भविष्य की आशा, या एक शब्द में 'अपूर्णता'। व्यवस्था में तो पूर्णता का आग्रह रहता ही है, उसमें परिवर्तन नहीं, स्थिरता होती है, उसके जन्मते ही प्रयत्न मर जाता है।' 'व्यवस्था में जीवन नहीं होता, जीवन की स्मृति ही बंद रहती है। मानवीय अस्तित्व को जब कोई वैज्ञानिक या दार्शनिक अपनी व्यवस्था या अनुशासन में बाँध कर ही समझना चाहता है, वह जीवन की जगह उसकी अयथार्थ धारणा से काम चलाता है—वास्तविक अथवा वस्तुपरक (कांक्रीट) जीवन से दूर हो जाता है।' 'जीवन तो आगे की ओर जिया जाता है और पीछे की ओर समझा जाता है। अगर हमें इसे पूर्णतया समझना है, तो यह मरण के बाद ही संभव है, जब हमारा कोई भवितव्य नहीं रहता; अन-परचाये और नये-नये आयामों की कोई संभावना नहीं रहती।'** सारांश यह है कि प्रत्येक व्यक्ति गंभीर नैतिक (मॉरल) निर्णयों के क्षणों में अंतर के जिस सत्य की अनुभूति करता है, उसे केवल युक्तिपूर्ण अनासक्त तर्कों द्वारा वह कभी नहीं पा सकता।...

नीत्शे ने इसी विचारधारा को और भी आगे बढ़ाया। उसने कहा कि आज वैज्ञानिक युक्तिवाद ने मानवेतिहास को ऐसे दृष्टि-बिंदु तक पहुँचा दिया है, जहाँ से ये अनुभवातीत आदर्श (ट्रांसेंडेंट आइडियल्स) जैसे, ईश्वर, शाश्वत आत्मा, नैतिक कार्यों को करने के लिए आवश्यक स्वतंत्रता आदि अवास्तविक से लगते हैं। केवल विश्वास पर आधारित कोई भी मत, वाद या आदर्श हमें अब उतने ही नहीं प्रभावित करते, जितने पिछली पीढ़ियों के लोगों को कर लेते थे। लेकिन नीत्शे तो यूरोप की उन्नीसवीं सदी के नास्तिकों में ही नहीं शामिल था। वह वास्तव में एक बहुत ही कल्पना-प्रवण, भावुक और धार्मिक मूल्यों के प्रति जागरूक जिज्ञासु व्यक्ति था। वह यह अच्छी तरह जानता था कि उस इंद्रियातीत जगत को खत्म करने से, जहाँ अभी तक मानवीय आशा-आकांक्षा संतोष पाती रही हैं, हम अपनी समस्याएँ समाहित नहीं कर लेते। इससे मानवीय अस्तित्व की अनंत करुणा और भी तीव्र हो जाती है। जब भगवान की सत्ता 'अवास्तव' हो जाती है, जब कि प्रकाश की अंतिम किरण भी सहसा बुझ जाती है, तब तो विश्व का यह रहस्य अभेद्य अंधकार ही रह जाता है, चूँकि हम सदा-सर्वत्र और सर्वथा से इस सृष्टि या जगत का कोई उद्देश्य नहीं खोज पाते। तब मानव अपने को नितांत एकाकी पाता

है और उसे अपने मानवीय मूल्य अपने आप ही बनाने या गढ़ने पड़ते हैं। इस प्रकार परंपरागत 'धर्म' का निराकरण ही मानवेतिहास की सबसे बड़ी चुनौती है, कारण, यह मानव को अपरिवर्त्य तौर पर हर बात और हर काम के लिए अपने आपके प्रति ही 'उत्तरदायी' बना देती है। भौतिक या प्राकृतिक पदार्थ-विज्ञान हमें आज इस स्थिति में तो पहुँचा देते हैं, किंतु संतोषप्रद रूप में यह कभी नहीं बता पाते कि वास्तव में हम क्या हैं और क्यों ज़िंदा रहना चाहते हैं। मानव के अंतर्तम में ज्यों ही यह जिज्ञासा उठती है कि जीवन की सार्थकता क्या है, जगत का, सृष्टि का उद्देश्य क्या है, त्यों ही वह दृष्ट से और अपने से परे की बातें सोचने को बाध्य हो जाता है। फिर वह जगत की, अपनी, सार्थकता खोजता ही है और प्राकृतिक पदार्थ-विज्ञानों को औज़ारों की तरह अपने मूल्यों की संसिद्धि (रियलाइज़ेशन) में काम लाता है। किंतु इनसे किसी आदर्श या मूल्य की सर्जना तो नहीं हो सकती।...

अस्तित्ववादी नीत्शे ने यह जिज्ञासा भी अत्यंत तीव्र बना कर ही नहीं छोड़ दी थी। उसने तो यह भी कहा कि **विचार ही नहीं, चेतना या विवेक भी मानवीय अस्तित्व का पूर्णतर पर्याय नहीं है।** औसत जनता के विचार हमें औसत जनता के शासन के समान नियंत्रित और परिशासित भले ही कर लें, पर वह हमारे 'अस्तित्व' को कोई 'सार्थकता' नहीं दे सकते। जीवित व्यक्ति अपनी सारी संभावनाओं की पूर्ति करता है, इसलिए कि व्यक्ति होने के नाते उसमें यथार्थता बिजली (करेंट) की तरह प्रवाहित होती रहती है; वह अपने से अतिरिक्त यथार्थ के साथ संयुक्त होता है, किंतु सिर्फ़ विचार करने में ही नहीं, प्रत्युत विचारपूर्ण कार्यों को करने में। परंतु सिर्फ़ विचार, युक्ति या तर्क तो गौण हैं, मात्र साधन हैं, यानी दर्जा दोयम की चीज़ें हैं। इसी-लिए ये समग्र अस्तित्व या मानवीय सत्ता और भावों तथा मान्यताओं का अवबोध नहीं करा पाते—हमारी चेतना के ताने-बाने सिर्फ़ इन्हीं से नहीं बने होते।

बीसवीं सदी में अस्तित्ववाद को समृद्ध किया जर्मनी के कार्ल यास्पर्स (ज० १८८३) मार्टिन हीडेग्गर (ज० १८८९) ने, फ्रांस के गाब्रील मार्सेल (ज० १८८९) और जाँ पॉल सार्त्र (ज० १९०५) एवं स्पेन के यूनामुनो और आर्तेगा इ गासे ने। बाद में निकोलाई बेर्द्याएव और पॉल टिलिश जैसे धर्मपंथियों ने भी इसे ख़ूब अपनाया। किंतु इनके सामने अलग-अलग सवाल थे और उनके जवाब ढूँढ़ने और देने के तरीक़े भी अलग थे। अतः ये सभी आपस में एकमत कभी नहीं हो सके।

किंतु सारे अस्तित्ववादियों में मत-वैपरीत्य होने से ही वह दर्शन की कोटि से बाहर है—यह कहना भी ग़लत होगा। कोई भी वैचारिक आंदोलन तभी तक ज़िंदा रहता है और विकसित होता रहता है, जब तक कि इसके अगुआओं में, अनुयायियों में, पोषकों में मत-वैपरीत्य भी होता रहे। सबके एकमत होने पर तो किसी भी दर्शन या मतवाद की 'अकाल-मृत्यु' ही घट जाती है। सो मतभेद होने पर भी इन सबमें किसी एक हद तक 'एकतानता' भी है, जो 'अस्तित्ववाद' के जीवन का लक्षण है। अस्तित्ववाद की इस 'एकतानता' को, विभिन्न विचारकों के चिंतन-सामंजस्य को हम यों कह सकते हैं:

'हम जिस जगत में रहते हैं, वह केवल विज्ञान द्वारा ही अवगम्य नहीं है। विज्ञान तो

४

हमें इस जगत की कुछ अमूर्त धारणाओं को ही दे पाता है, हमारे समग्र अवबोध के साथ साक्षात्कार नहीं करा पाता। वैज्ञानिक दृष्टि से तो सारे जागतिक पदार्थों को, जिनमें प्राणी भी शामिल हैं, गणित के तीन आयाम वाले देश में प्रसृत उन वस्तुओं का विकास मात्र ही कहा जा सकता है, जिन्हें हम स्पष्टतया गिन सकते हैं, जिनकी नाप-तोल कर सकते हैं। किंतु मानवीय दृष्टि से उन वस्तुओं में कुछ ऐसे गुण भी हैं और उनके कुछ ऐसे मूल्य भी हैं, जिन्हें हम प्रतिक्षण महसूस करते हैं, जो हमें गौरव या भय या मोह अनुभवाते हैं, जो हमारी बोधशीलता के परिचायक हैं।

'वैज्ञानिक तो तन और मन को भी दो अमूर्त धारणाओं में ही बदल देता है। पर अस्तित्ववादी मानव को केवल तन-मन का समुच्चय या अभेद्य संघात ही नहीं मानता है। वह उसे एक ऐसा सजीव शरीर भी नहीं मानता है, जिसमें मन को किसी अगम्य तरीक़े से जोड़ कर रख दिया गया है। अस्तित्ववाद के अनुसार मानव जगत के साथ सर्वप्रथम और सर्वाग्रणी रूप में 'अंगांगिभाव' से संश्लिष्ट है, जड़ित है और उसकी इस वस्तुपरक या मूर्त सत्ता में ही हम इन दो विरोधी सी चीजों में, यानी तन और मन में, भेद या अंतर समझ पाते हैं। विज्ञान द्वारा उपलब्ध शब्दवाद, सूक्ष्मीकरण या भावात्मक अमूर्त वस्तुओं की अभिज्ञताएँ मानवीय जगत की आधार-भूमि के बिना निरर्थक ही रह जाती हैं।'

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी, 'एक्ज़+इस्ट' का मतलब है—बाहर रहना या अपने अहं से परे होना। मनुष्य का यह आत्मातिक्रमण—अपने आपकी परिधियों को भी तोड़ सकना ही—उसे सृष्टि के अन्य सभी प्राणियों से पृथक, विशिष्ट या व्यतिरिक्त और विशिष्ट सिद्ध कर देता है। दूसरे प्राणियों की सत्ता तो अपनी नैसर्गिक आवासभमि (हैबीटैंट) से ही बँधी रहती है; वह आगे और पीछे काल या समय के आयाम पर भी नहीं आ सकती। किंतु हमारी सत्ता का अर्थ ही यही है कि हम अपने आपसे परे जगत में मौजूद हैं। पहले हम शरीर में रहें और फिर अपने से व्यतिरिक्त सृष्टि या जगत की आनुमानिक उपलब्धि करें, ऐसा कभी नहीं होता।

और चूँकि मानव हमेशा 'आत्मातिक्रमण' करता रहता है, इसीलिए उसकी समग्र सत्ता की उपलब्धि भी प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा नहीं हो पाती—चाहे यह विज्ञान भौतिकी (फिजिक्स) हो या रासायनी (कैमिस्ट्री) अथवा जीवतत्त्व (बायोलॉजी) या व्यवहारवादी मनोविज्ञान (बिहैबियरिस्ट साइकॉलोजी)। मानवीय सत्ता या अस्तित्व की यही अभिव्यक्ति धर्म, कला और विज्ञान की उपलब्धियों में होती है। इनमें से किसी एक का भी त्याग का अर्थ है मानव-जीवन के एक अंश की अनुपलब्धि। अतः कोई भी एक विज्ञान समग्र मानवीय अस्तित्व या सत्ता की उपलब्धि कराने में सर्वथा असमर्थ रहता है।

यूरोपीय विचारकों को इस 'अस्तित्ववाद' की सबसे बड़ी देन यही है कि इसने 'सत्य' की यह एक नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। अन्यथा अठारहवीं सदी के बाद से कितने ही वरिष्ठ यूरोपीय विचारक वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक सत्य (ऑब्जेक्टिव साइंटिफ़िक ट्रूथ) और उसकी उपलब्धि के बँधे-बँधाये तरीक़ों (वैज्ञानिक युक्तिवाद एवं तर्क-प्रणाली) के सिवाय कभी कुछ मानते ही नहीं थे। सोरेन कीर्केगार्द ने धार्मिक सत्य का विश्लेषण करते हुए भी यही कहा था कि धर्म जिस सत्य के साथ संबंधित है, उसे तर्क या युक्तिपूर्ण प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। हम ज़ब किसी

ऐसे व्यक्ति से मिलते हैं, जो धर्म के सूक्ष्म तत्त्वों पर प्रगल्भ व्याख्यान देता है या 'अस्तित्ववाद' का पंडित होता है, तो फ़ौरन ही यह नहीं कह बैठते, कि "अहा! यही तो असली 'धार्मिक' व्यक्ति है।" लेकिन यदि कभी सचमुच हमें किसी 'जीवन्मुक्त' संत या आध्यात्मिक साधना में पारंगत महात्मा के दर्शन होते हैं, तो हम फ़ौरन ही समझ लेते हैं कि वास्तविक धार्मिकता का अर्थ कुछ और ही है, कोरा पांडित्य या वाग्मित्व नहीं। चूँकि धार्मिकता समग्र व्यक्ति में होती है, उसके तर्क या युक्तिपूर्ण व्याख्यानों में नहीं, और न ही धार्मिक कृत्यों की लीक पीटने में या प्रदर्शनों में ही होती है। व्यक्ति के अपने जीवन में ही धार्मिक सत्य की क्रियात्मक एवं आंतरिक अनुभूति होती है, विज्ञान के समान व्यवस्थित धारणाओं में नहीं। यही वजह है कि ईश्वर को अगर कोई वैज्ञानिक प्रणाली से प्रमाणित करना चाहे, तो वह मानव-जीवन का यथार्थ सत्य कभी नहीं बन सकेगा। वैसे वह आध्यात्मिक अनुभूति निस्संदेह मानव-जीवन की एक श्रेष्ठ उपलब्धि है, और हो सकती है।

इसी प्रकार हीडेग्गर ने कला में उपलभ्य 'विशिष्ट सत्य' का भी विवेचन किया है। सत्य वस्तु से मानव का ऐसा अद्भुत संबंध है कि इसके माध्यम से वह वस्तु की यथार्थ सार्थकता खोज लेता है। विज्ञान भी तो इसी अर्थ में सत्य है और कला भी, यद्यपि वस्तु की अमूर्त सत्ता और सार्थकता की अभिव्यक्ति कला द्वारा जैसी होती है, वैसी ही विज्ञान द्वारा कभी नहीं होती या हो पाती। मानव-संवेद्यता के संदर्भ में यही कहा जा सकता है। पृथ्वी पर इस चिर-कालिक मानव-अस्तित्व या सत्ता की सार्थकता इतिहास-क्रम में संपन्न बड़े-बड़े कलात्मक कार्यों के बिना क्या हमें उपलब्ध हो पाती भला!

स्पष्ट है कि अस्तित्ववादी कला को भारतीय मायावाद और यूनानी दार्शनिक प्लातो की तरह भ्रम या भ्रांति (इल्यूज़न) नहीं मानता। प्राचीन यूनानी परंपरा भी वही थी, जो कभी भारत में थी--अर्थात कवि को मनीषी, परिभू, स्वयंभू, द्रष्टा एवं ऋषि के रूप में देखा जाय और स्रष्टा, कवि या कलाकार की सृष्टि या सर्जना को माया अथवा प्रातिभासिक सत्य-कल्पना माना जाय।

इस आधुनिक 'संदेह-बुद्धि-प्रधान' युग में भी हमारा सारा जीवन तो 'विज्ञान' ही नहीं बन सकता। अतः हमें यह मालूम करना ही चाहिए कि विज्ञान की सीमाएँ कहाँ तक हैं, अथवा विज्ञान के द्वारा क्या-क्या बातें ज्ञेय नहीं हैं, यानी विज्ञान से भी क्या 'अज्ञेय' छूट जाता है।

तर्क या युक्ति की सीमा बाँधने से यह नहीं समझना चाहिए कि 'अस्तित्ववाद' एक तर्क-हीन एवं अयौक्तिक (इर्रेशनल) दर्शन है। तात्पर्य इतना ही है कि वैज्ञानिक युक्तिवाद अमूर्त या अतींद्रिय (अब्स्ट्रैक्ट) और सार्वभौम होता है जब कि वह जीवन जो हम जीते हैं, वैयक्तिक और मूर्त या इंद्रियगम्य (कांक्रीट) है। दोनों में 'सेतु' ('अनदेखे, अनजाने पुल') अवश्य हैं, किंतु अमूर्त (अब्स्ट्रैक्ट) मूर्त (कांक्रीट) को तब तक नहीं पछाड़ पाता, जब तक उसके प्रति पूर्णतया 'हिंसालु' न हो जाय! सीमाबद्ध, अपरिवर्त्य युक्तिवाद या तार्किक प्रामाण्यवाद (रेशनलिज़्म) यदि सभ्यता और संस्कृति के सारे स्तरों पर छा जाता है, तो मानव-जीवन सिर्फ़ इसके 'विज्ञान' से ही लाभ नहीं उठाता, बल्कि इसकी अंध-वधिरता (कट्टरता) का ही शिकार भी

बन जाता है। और विज्ञान को धार्मिक अंधविश्वास की कोटि में खींच लाना क्या कोई अच्छी बात है?—आखिर युक्ति या तर्क भी तो 'मानवीय' ही हैं और अन्य मानवीय शक्तियों की तरह इसकी भी तो सीमाएँ हैं। कोई भी भाव (पाज़िटिव) अपने अभाव (निगेटिव) के बिना नहीं है। हर भावात्मक या धन (+) सत्ता में अभावात्मकता या ऋण (−) सत्ता भी रहती है। 'होने' में हमेशा 'न होना' भी अंतर्हित रहता है। जब युक्ति या तर्क (रीज़न) बहुत अधिक अमूर्त या अतींद्रिय (अब्स्ट्रैक्ट) होता है, तब वह उन मानवीय परिस्थितियों का 'अतिक्रमण' कर जाता है, जिनसे वह पैदा हुआ (उद्भूत) था। उसे बोध की खातिर हमेशा मानवीय स्थितियों की पृष्ठभूमि पर आना ही पड़ता है। वास्तव में तो हमें ऐसे 'तर्क' ही की नितांत आवश्यकता है, जिसकी जड़ें मानवीय सत्ता या अस्तित्व की बुनियादी या मूलभूत स्थितियों में हों, उनसे परे न हों। भली भाँति विचार करने पर यही प्रतीत होगा कि अंततोगत्वा मानव जो है और मानव जो सोचता है—दोनों एक ही हैं। यदि विचारक की हैसियत से वह यह भूल भी जाय कि वह मानव भी है, तो मानवीय दृष्टि से तो यह 'निरर्थक' ही रहेगा न? . . .

अस्तित्ववादियों में कितनी ही बातों पर कितना ही मत-विरोध क्यों न हों, पर एक बात पर सारे अस्तित्ववादी अवश्य ही एकमत होते हैं। वे इतिहास और काल या समय को मानवीय सत्ता या अस्तित्व का एक बुनियादी आयाम मानते हैं। सारे प्राणियों में 'मानव' ही एक ऐसा अद्भुत (अनन्य) जीव है, जिसका काल (समय) के साथ विशिष्ट संबंध रहता है। उसके लिए सारा का सारा भविष्य खुला हुआ है, जिसमें वह वर्तमान की स्थितियों को भी बदल सकता है। अनागत की ओर उन्मुख हो कर वह वर्तमान को व्यवस्थित कर लेता है और उसे अतीत से विच्छिन्न भी नहीं होने देता। हमारी जीवन की सार्थकता भी उसी हद तक है, जिस सक्रिय पूर्णता तक हम उसे बीते कल, आज और आने वाले कल के साथ युगपत रूप में संयुक्त कर पाते हैं। अतः अस्तित्ववाद में काल या समय मानवीय अस्तित्व या सत्ता की एक बुनियादी शर्त है; काल या समय के बिना कोई भी मानवीय सार्थकता निर्मित या उपलब्ध नहीं हो सकती। किंतु यथार्थ एवं वास्तविक काल या समय वह अमूर्त वस्तु नहीं जिसे हम रूप-कथाओं में 'एकदा', 'एक बार', 'एक समय की बात है' आदि शब्दों से व्यक्त करते हैं। यह काल या समय 'अब और यहाँ' से संबंधित है, यह हमारे लिए अत्यंत आवश्यक है और हम पर हर तरह से दबाव भी डालता है। हम कालिक या सामयिक अथवा जागतिक प्राणी हैं किंतु केवल इसी कारण नहीं कि हम गणित के अनुसार बनी किसी समय-सारिणी (टाइमटेबुल) से काम चलाते हैं, बल्कि इसलिए कि हमें समय या काल की तीव्र अनुभूति होती है, जिसे हम चुनौतियों से भरी और निर्णायक कामों को करने वाली वर्तमान पीढ़ी के ऐतिहासिक दबाव में रह कर अपने दैनंदिन जीवन में हमेशा उपलब्ध करते रहते हैं।

इस प्रकार, अस्तित्ववाद संवेदन और विचार-प्रवण व्यक्तियों के सामने एक ऐसे 'दर्शन' के रूप में उभरता है, जो उन्हें सदा, सर्वत्र एवं सर्वथा उत्तरदायित्वपूर्ण सामाजिक कार्यों के लिए

प्रेरित करता है। यह कहना सरासर ग़लत है कि अस्तित्ववाद तो क्षणगत नैराश्य या विनाशवाद (निहिलिज़्म) एवं अनियंत्रित तथा सनकी (सिनिकल) जीवन की ओर ले जाने वाला एक आधुनिक मतवाद मात्र है; 'दर्शन' नहीं है। हाँ, इतना अंतर अवश्य है कि अस्तित्ववादी अपनी सामाजिक क्रियाओं या उत्तरदायित्व को भी अधिकृत एवं यथार्थ मानवीय अस्तित्व या मानवीय सत्ता का अधिकारी बनने के लिए किये कुछ बुनियादी कामों के मातहत कर देता है। हम संसार में सार्थकतापूर्वक कुछ भी कार्य तभी कर सकते हैं, जब अपने आपकी सारी एवं समग्र गहराइयों में भी झाँक चुकते हैं। अधिकृत मानवीय आत्म (सेल्फ़) खयाली दुनिया में उपलभ्य काल या इतिहास से परे की चीज़ नहीं है। इसे हम इसी संसार में पाते हैं; पा सकते हैं। अतः अस्तित्ववादियों के अनुसार आज के मानव-जीवन की सबसे बड़ी चुनौती यही है कि आधुनिक युग पूर्णतः मानवीय युग है, अथवा गणितज्ञों की भौतिकी विद्या का युग है?—मानव स्वयं इस समस्या का ठीक-ठीक समाधान करे। आज का मानव इस चुनौती को स्वीकारता है, इसलिए यह युग किसी भी तरह 'अंधा युग' नहीं है। चूँकि समस्या की तीव्र चेतना ही समाधान प्रस्तुत करती है। आँखें खोल देती है।

अस्तित्ववाद हमारे अस्तित्व या सत्ता की समग्र स्वीकृति या प्रमाणीकरण पर ज़ोर देता है, किंतु केवल विचार या तर्क एवं युक्ति द्वारा नहीं। ज्ञान अपूर्णता और संदिग्धता से कभी बरी नहीं होता, अतः सारा उत्तरदायित्व आ जाता है व्यक्ति पर, और व्यक्ति प्रत्येक मानवीय स्थिति में स्वयं और अकेला ही इस 'निर्णयात्मक उत्तरदायित्व' को वहन भी करता है। वह अपनी 'नियति' के चक्र में पड़ कर जो कुछ बनता है—उसे वह सब महसूस होता है, वह उस सबको जानता है, किंतु साथ ही वह उससे अपने आपको अलग भी समझ पाता है। इस 'नियति' के साथ उसका साक्षात्कार होता है—उसकी अपनी संस्कृति के विधि-विधानों के रूप में और स्वयं के द्वारा किये कार्यों के रूप में। यह 'नियति' केवल उसी की नहीं है, उसके अपने सारे व्यक्तियों की है और विभिन्न देश-कालों में विभिन्न भी रही है; रहती है। इसीलिए वह मात्र इस नियति के हाथों में कठपुतली भी नहीं बन जाता। चूँकि वह पुरुषार्थी भी तो है न! . . .

इतिहास को अस्तित्ववादियों ने दूसरों के वैयक्तिक निर्णयों का तथ्यपरक और परिमेय परिणाम ही माना है। इतिहास जीते हुए (अस्तित्व वाले) व्यक्तियों का तभी नियामक हो सकता है, जब कि वे उसे यह 'नियामकता' देना चाहें। इसीलिए अस्तित्ववादियों की राय में ज्ञान केवल भूत या अतीत का हो सकता है, भविष्य अथवा अनागत का नहीं। परंतु अस्तित्वपूर्ण व्यक्ति का तो भविष्य भी होता है। केवल भूत ही नहीं। इसीलिए स्वभावतः अस्तित्वपूर्ण व्यक्ति वही सब है, जो कुछ वह करता है, किंतु फिर भी, वह अपने विहित का अतिक्रमण कर जाता है। वह हमेशा 'जिज्ञास्य' भी है, चूँकि वह सदा अपने आपसे ही 'परे' भी है, वह 'जो-कुछ' है, वही रहने को बाध्य हो जाय, तो भी उससे अपरिमेय रूप में अधिक ही रहता है। पाप-पुण्य में भी वह हमेशा अपने से 'परे' रहता है और यह 'अलगाव' ही उसके वैयक्तिक 'अस्तित्व' का आधार है; बुनियाद है; सिद्धांत है। हर व्यक्ति में 'स्व' और 'शेष सृष्टि' से वह अलगाव मौजूद है; यही तो उसके वैयक्तिक अस्तित्व या सत्ता का बीज रूप और निर्णायक तत्व है। इसीलिए अस्तित्ववादी दर्शन का साध्य प्रश्नोत्तर मात्र नहीं, प्रत्युत मूलभूत प्रश्नों को ही वैयक्तिक, अत्यावश्यक और बेहद

दर्दीले रूप में प्रस्तुत करना भी है। और ये प्रश्न भी तो केवल परंपरागत नहीं, व्यक्ति ही की सत्ता या अस्तित्व के अलगाव के प्रश्न हैं, दृश्य जगत की पृथक सत्ता के 'अवबोध' के प्रश्न हैं।

इस दृष्टि से अस्तित्ववादी किसी मानी-जानी सिद्धांत-सरणि या विचार-पद्धति पर चल कर व्यक्ति की अपनी सत्ता या अस्तित्व के समुद्घाटन का हामी है—अर्थात हर व्यक्ति यह जाने कि वह 'मानव' क्यों है, और उसकी 'सार्थकता' क्या है; क्यों है।

व्यक्ति और विश्व उससे कहीं अधिक हैं, जो कुछ उनके बारे में कभी कहीं कहा जा रहा है। अतः मानवीय अस्तित्व या सत्ता भी एक ऐसी समस्या नहीं, जिसे सुलझा कर एकबारगी समाप्त कर दिया जाय! यह तो एक ऐसा रहस्य है, जिसे जिंदगी भर जिया जाता है,—हँस कर, गा कर, रो कर—बस, जिया ही जाता है। तभी तो पाप और पुण्य में व्यक्ति अपने से भी पृथक हो पाता है और यह 'पृथक्त्व' ही उसकी वैयक्तिक सत्ता या समग्र अस्तित्व का सिद्धांत है। व्यक्ति के सामने अपने या सृष्टि के अस्तित्व की ही एक समस्या नहीं रहती, कितने ही वैकल्पिक पंथा या उपायों में से किसी एक का वास्तविक चुनाव और उसके निजी अनुभवों की परिधि पार करना भी उसकी एक बहुत बड़ी समस्या बनी रहती है। इसलिए अस्तित्ववाद इस समस्या के भ्रांत एवं मात्र वस्तुनिष्ठ, सार्वभौम से लगने वाले समाधानों का निराकरण कर व्यक्ति को अपने निर्माण में अपने-अपने अनुभवों की उपलब्धि में सहायता देता है।

मानव-जीवन को समझने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मानव एक 'वस्तु' है, पर केवल 'एक वस्तु' ही नहीं है! मानव और शेष सृष्टि की असंदिग्ध अनेकार्थकता (एंबिगुइटी) ही इनके बारे में किसी भी सीधे-सादे जवाब या निश्चयात्मक उत्तर को झुठला देती है। हम अस्तित्व के बारे में सोच-सोच कर ही उसकी उपलब्धि नहीं कर लेते, बल्कि विभिन्न संदर्भों में इसकी मूर्तता के अशेष अनुभवों द्वारा इसे जान पाते हैं। इसीलिए अतीत का ज़ोर अनागत पर नहीं चलता। सार्वभौम वस्तुएँ या विचार ज्ञान ही कराते हैं; हमें बाँध नहीं लेते। और अगर हम अपने और शेष सृष्टि के पृथक्त्व को एक दूसरे से समग्रतया अथवा खंडशः परिचिति या तादात्म्य (आइडेंटि-फ़िकेशन) द्वारा मिटाने की चेष्टा करते हैं, तो उसका सिर्फ़ इतना ही मतलब होता है कि हम अपने और सिर्फ़ अपने लिए शेष सृष्टि के अस्तित्व को ही 'ख़त्म' करना चाहते हैं!

इसलिए अस्तित्ववादी दार्शनिकों का उद्देश्य यह 'जुगत' भी है कि समग्र अस्तित्व में वर्तमान व्यक्तियों के अस्तित्व का ऐसा जोड़-तोड़ बिठाया जाय कि उनका बहुमुखी और अनेकार्थक व्यक्तित्व, जो मुक्ति और बंधन, संयोग एवं वियोग से कभी रहित नहीं होता, वह सीमित और असीम, उद्देश्य और साधन तथा परिपूर्णता और शून्य से व्याप्त समग्र अस्तित्व में ही बना रहे। मतलब यह कि व्यष्टि-समष्टि में से एक या दूसरे को नष्ट करने के बजाय दोनों को एक-दूसरे की मदद से सशक्त करना ही 'अस्तित्ववाद' है। अस्तित्व या सत्ता विचार से परे है और स्पष्ट है कि यह परे की वस्तु एक प्रकार की अतिक्रमणीयता (ट्रांसेंडेंटलिज़्म) है, जिसमें वैयक्तिक साहसिक कृत्य और अनुभूतियों की 'जुगत' चलती है।

अस्तित्व या सत्ता की अनेकार्थकताएँ या अनिश्चितियाँ एवं संश्लिष्ट विरोधात्मकताएँ (एंबिगुइटीज़) निजी अनुभूतियों के दायरे में ही स्पष्ट उभरती हैं: **'कुछ ऐसी भावात्मक मनः**

स्थितियाँ (जैसे जुगुप्सा या विरक्ति, तीव्र घृणा या भय, एवं ख़ुशी) होती हैं, जिनमें विषयों या वस्तुओं के परिचित चेहरे साफ़ हो जाने से वास्तविक 'स्व' के भी उन्मुक्त दर्शन होते हैं और आत्मनिष्ठ पूर्व-धारणाएँ घुल-मिल कर एक हो जाती हैं।' तब यह 'आत्म' भी कोई दूसरा सा ही लगता है, जब कि एक के प्रति दूसरे के आनुगत्य की विशुद्ध आत्मनिष्ठा का विश्लेषण किया जाय। खेल और कलात्मक कृतित्व के क्षेत्र में भी आत्म और उपलब्धि की यह कशमकश बनी रहती है। कुछ बाध्य परिस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं, जो नैराश्य या विश्वास से अतिवाहित करनी पड़ती हैं—अस्तित्व या सत्ता को स्पष्टतः इन्हीं परिस्थितियों में समझा जा सकता है। आदर्श और यथार्थ के संघर्ष को जीने में जो 'आत्म' रहता है, उसका विनाश किया था भौतिकवाद, आदर्शवाद या देवतावाद के समर्थकों ने, चूँकि वे मानव और जगत का पृथक्त्व स्वीकार ही नहीं करते थे। अस्तित्ववादियों ने इसीलिए केवल वस्तुनिष्ठ निश्चित और परंपरागत ज्ञान को 'सत्य की क़ब्र' माना है! और उनकी यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है।

अस्तित्ववादी मूल्यों की वस्तुनिष्ठता को भी वैज्ञानिक जानकारी की वस्तुनिष्ठता जैसी नहीं मानते। वैयक्तिक आदिम निर्णय को वह मूल्य का मूल या उत्तरदायी मानते हैं, किंतु मानवतावादियों की तरह नहीं। वे तो नये विधान या व्यवस्था के लिए भी मानवीय वैयक्तिक निर्णय को उत्तरदायी मानते हैं और इसी उत्तरदायित्व को ही मानव-मूल्यों की नींव भी। यद्यपि अस्तित्ववादियों ने 'बुराई' को जीवन में 'अप्रतिहार्य' माना है और तीव्र संवेदनात्मक दुख को 'अनिवार्य', किंतु साथ ही वे कर्म और प्रगति पूर्ण मानवीयता के भी हामी हैं।

अस्तित्ववाद में आधिभौतिक निरपेक्ष को ऐतिहासिक सापेक्षता के साथ 'ब्याहा' जाता है। अस्तित्ववाद में मानव को किसी क़ायदे-क़ानून में हमेशा के लिए अंतिम रूप से नहीं जकड़ दिया जाता और व्यक्तित्व का कोई ऐसी नैतिक मान-मर्यादा रहस्यात्मक मूल्य या अर्घ्यता (वैल्यू) ही स्वीकृत होती है, जो वह अपने से संयुक्त किसी को भी परिवहित या संवहित कर दे। हर वैयक्तिक कर्म स्वतः निरपेक्ष है, किंतु अंतिम नहीं—सार्वभौम सिद्धांतों या सत्यों का स्रोत 'अनुभूति' है, मानव या विश्व का ढाँचा (स्ट्रक्चर) मात्र नहीं। अस्तित्ववाद यही 'नया सत्य' अपनी भाषा और शैली में बार-बार उद्घोषित करता है।

अस्तित्ववादी सहिष्णुता के व्यापक प्रभाव के पूर्ण समर्थक हैं। वैयक्तिक मुक्ति या व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ वे इतना ही मानते हैं कि हर व्यक्ति अपने स्वातंत्र्य या मुक्ति की ओर सदा जाग्रत रहे। व्यक्ति में एक प्रकार की तीव्र तड़पन, घुटन, अशांति, चिंता को वह इस मुक्ति या स्वातंत्र्य की ओर अभिमुख करने का साधन समझते हैं। अस्तित्ववादी मानवीय संघटन या संगठन (ऑर्गेनाइज़ेशन) की एक ऐसी नैतिकता भी प्रस्तुत करता है, जो मानव को वस्तु में परिणत करने वाली विषम परिस्थितियों में 'शांति-शांति' चिल्ला कर ही शांत नहीं हो जाती।

अस्तित्ववादी जीवन के क्रम-भंगों को स्वीकार कर उन्हें सिर्फ़ विचार द्वारा समाहित करने की चेष्टा नहीं करता है, उन्हें वास्तविक ज़िंदगी में जीता है। किसी भी व्यक्ति, विश्वविद्यालय या संस्कृति के जीवन में 'मूर्त' के साथ सामंजस्य के लिए सतत प्रयत्न होता रहता है। और इसी अर्थ में, केवल इसी अर्थ में, यह कहा जा सकता है कि एक मूर्त सार्वभौमता भी है।

किंतु यह भी कर्म (ऐक्शन) की पुरागामिनी नहीं है, और न यह भविष्य पर अनिवार्य रूप से होती है, न ही यह किसी की परिपूर्ण उपलब्धि में परिसमाप्त होती है। मानव और शेष किसी भी क्षण उससे भिन्न और अधिक हैं, जो कुछ उनके बारे में समझा या कहा जाता मानव और जगत में जो भी 'जोड़' या 'मेल' बिठाया जाता है, वह हमेशा व्यावहारिक, और निरंतर चलने वाला होता है। अस्तित्व के बारे में इसीलिए अलग से सोचा नहीं जा सकता। **"यदि 'मैं' एक विचार-बुद्धि हूँ, जो और भी एक बृहत्तर यथार्थता में निमग्न है, जिसे ज्ञेय परिधि में बाँधा नहीं जा सकता, यदि ज्ञान अपने आपमें एक प्रकार का परिप्रेक्ष है और भी विशेष ज्ञान एक परिप्रेक्ष का अंतवर्ती परिप्रेक्ष मात्र है, तो 'मैं' ज्ञेय वस्तु की उपलब्धि निश्चित पौर्वापर्य के नियमों की समूची जानकारी से ही नहीं कर सकता। मुझे विविध में इसकी मूर्तता का, ऐंद्रियता का अशेष अनुभव करना होगा। इसलिए यह कहा जा सकता है अतीत की अनागत पर कोई मिल्कियत नहीं है; सार्वभौम नियम सिर्फ़ जानकारी ही कराते हैं, बाध्य करने वाले नहीं; और अगर मैं शेष सृष्टि से अपने अलगाव को उससे आंशिक सामग्रिक तादात्म्य द्वारा अंतिम रूप से और पूर्णतः मिटाना चाहता हूँ (चाहे वह किसी विधा में हो) तो मैं न केवल अपना अस्तित्व ही मिटा लेता हूँ, बल्कि अपने लिए शेष सृष्टि अस्तित्व भी समाप्त कर लेता हूँ।"...**

अस्तित्ववादियों के विरोधी भी कम नहीं हैं। कोई कहते हैं कि अस्तित्ववादी सारी की अहैतुकता, निरर्थकता और लचरपन को बड़े ही नाटकीय ढंग से पेश करते हैं, पर समझ लोग तो दुनियाँ जैसी है, उसे वैसी ही मान कर उसमें आराम से सुख-चैन से जीने की कोशिश हैं। दूसरों के मत से अस्तित्ववाद बूर्जुआ विचारकों की आखिरी कोशिश है—द्वंद्वात्मक भौति वाद (मैटिरियलिज़्म : जड़वाद या अनात्मवाद) और दिवालिये आदर्शवाद (बाह्यशून्यवाद आइडियलिज़्म) के बीच का रास्ता खोजने को। चूँकि वे ऐतिहासिक समाजवाद को मा की हिम्मत नहीं रखते और अपनी 'खयाली पुलावों' वाली विचार और आदर्श की दु की क़ैद से नहीं छूटते। ईसाई, भक्ति या वेदांत और ऐसे ही दूसरे मत भी इसे ठीक नहीं मा चूँकि अस्तित्ववादी सार्त्र और दूसरे विचारक पाप या बुराई (ईविल) को जीवन की अपरि वास्तविकता मानते हैं। किंतु वे यह भी अवश्य ही मानते हैं कि पाप या बुराई का चक्कर तो जा सकता है और मानव अपने आपको 'प्रतिष्ठित' कर सकता है। चाहे उसे कितने ही क आपत्ति और असफलताओं से अविराम साबक़ा क्यों न पड़ता रहे, फिर भी मानव साध्य और साधनों में फ़र्क़ जानता है; मान्यता और रुचि में भेद कर सकता है। इसीलिए करोड़ों बार मि मिट कर भी मानव अपने अस्तित्व (आत्म) को सिद्ध कर लेता है, वह मार्क्स के विचार 'अनात्म' ही नहीं रह जाता। सार्त्र ने स्पष्ट कहा है: **अध्यात्म या सूक्ष्म विचार (मेटाफिज़िक्स) अनुभूति से असंबद्ध अमूर्त धारणाओं की बहस मात्र नहीं है। यह अपने अं से ही मानवीय स्थितियों को उनकी समग्रता में अपनाने का जीवंत प्रयत्न है।**

सार्त्र ने अपने लेखकीय कर्तव्य की व्याख्या करते हुए यह भी कहा है: **ऐसी कला एवं साहित्य-सर्जना करनी है हमें, जो आध्यात्मिक या वैचारिक दृष्टि से निरपेक्ष सत्य और ऐतिहासि**

तथ्यों की सापेक्षता को एक कर दे; उनमें सामंजस्य बैठा दे। वैसे भी अस्तित्ववादी कहते हैं कि मानव को सामान्यतः या अंतिम रूप से न तो किसी नियम से बाँधिए और न उसे उसके साथ अभिन्न ही मानिए—चाहे वह उसके स्वभाव-सत्य के रूप में लागू किया गया हो या एक सार्वभौम सामान्य सत्य के रूप में। वास्तव में कोई भी नियम किसी कर्म या व्यक्ति को मान्यता नहीं देता, कर्म ही उसे मान्यता प्रदान करता है, जैसे कि शैली नहीं, बल्कि चित्रण ही चित्रकार को मान्यता देता है। पर इसका मतलब कदापि यह नहीं कि अस्तित्ववाद में व्यक्तित्व का कोई नैतिक, आध्यात्मिक या रहस्यवादी मूल्य नहीं है, जो यह अपने किसी भी आश्रय को संप्रेषित करता है। वास्तव में यह व्यष्टि की सत्ता और समष्टि की सत्ता के विभिन्न रचना या गठन की स्वीकृति मात्र है। मानव यदि मानव हो, तो परिबद्ध नहीं हो सकता, यहाँ तक कि अपने आपसे भी नहीं ! जगत भी विमुक्त है और वह किसी भी तरह की सामान्यताओं की दीवाल से घेर कर सुसंहत और सुरक्षित नहीं रखा जा सकता । सारी सार्वभौम सामान्यताओं का स्रोत भी तो 'अनुभूति' ही है, मानव या विश्व की संरचना ही तो नहीं है।

अस्तित्ववाद में इसी कारण प्रत्येक का स्वातंत्र्य स्वतः-सिद्ध है; इसके प्रति उसे उद्‌बुद्ध करना ही 'दाय' है, उसे केवल एक 'मतवाद' में बदलना नहीं। इसकी नैतिकता मानवीय प्रतिष्ठा में है, अशांति में 'शांति-शांति' चिल्लाने या मानव को वस्तु बना कर उसकी अवमानना करने में नहीं है।

वास्तव में अस्तित्ववाद दूसरे दर्शनों से इसलिए भिन्न है कि इसमें सृष्टि की बुनियादी एवं रचनागत अनित्यताओं (डिस्‌कंटिनुइटीज़) से उद्‌भूत निरर्थकता पर भी काफ़ी ज़ोर दिया गया है। ये अनित्यताएँ अस्तित्व संबंधी हैं और इन्हें जीना ही पड़ता है, ये मात्र विचार्य या समाधेय समस्याएँ ही नहीं हैं; मानव का सृष्टि से और अपने आपसे अलगाव उसकी सत्ता का अवयव है और इसलिए यह दर्शन का **विषय** है, दर्शन की **समस्या** नहीं। विचार और अस्तित्व की अनित्यता ही विचारैक्य में समाधान खोजने की चेष्टा व्यर्थ कर देती हैं। किंतु अभी तक सभी दर्शन यही करते रहे हैं।...

अस्तित्ववाद, वास्तव में **कार्य-कारण-नियम-निर्देशक** दर्शन नहीं है। यह तो सार तत्वों या सत्त्वों **(एसेंसेज़)** का दर्शन है। सिर्फ़ जगत की व्याख्या से ही वास्ता नहीं है इसे, न यह इसके परिवर्तन का रास्ता सुझाता है, न यह केवल सृष्टि के चिंतन-मनन मात्र से ही संतुष्ट है, यह तो इसमें जीवंत, सक्रिय भाग लेने की बात करता है। ऐसा दर्शन सिद्धांततः चरम और स्वतंत्र संरचना और सार्थकताओं को अलग करता है; खोजता है। पाना और करना इसके प्रमेय हैं— मात्र जैव स्तर की प्रवृत्तियाँ और प्रतिक्षेप-संघटनाएँ ही, चाहे ये चेतन की हों या जड़ की अथवा हमारी प्रकृति का यह ति-पहलू विभाजन कि वह ज्ञानात्मक, भावात्मक और इच्छात्मक है— अस्तित्ववाद के अभीष्ट नहीं हैं। इस दृष्टिकोण का एक बौद्धिक कारण भी है। और वह यह है कि अस्तित्ववादी वस्तुएँ अपनी क्षेत्रीय समग्रता में जैसी हैं, उन्हें वैसे ही आदर देता है, न तो वह विश्लेषण द्वारा उन्हें छिन्न-भिन्न करता है, न कोरे सिद्धांतों द्वारा समन्वित। यह तो यौक्तिकता की मान्यताओं और धारणाओं का पुनर्विचार मात्र करता है। सृष्टि संघटनाओं की इस सहज

स्वीकृति का एक व्यावहारिक कारण भी है और वह यह कि जीने के लिए **मानवीय स्थितियों व उनकी समग्रता में संस्पर्श का प्रयत्न ही समीचीन है।...**

ज़ाहिर है कि इस प्रकार का दर्शन कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं करता। कारण कुछ भी हमेशा-हमेशा के लिए और अंतिम रूप से उपलब्ध नहीं किया जा सकता और न अपने स्थायी रूप में मानव के लिए प्रतिष्ठित ही हो पाता है। मानवीय अस्तित्व वैयक्तिक सत्ता में अनुभूत होता है और वैयक्तिक सत्ता बहुत ही कठिन और दुस्साहसपूर्ण व्यक्तिगत उत्कर्ष है, जिसके लिए निरंतर प्रयत्न करना पड़ता है। किंतु फिर भी वह स्थायी रूप में अधिकृत नहीं होता। न समर्थ बन कर वह आश्रय देता है, और वस्तु-जगत की संपन्न प्रतिक्रिया-शीलता से पुरस्कृत होता है। यास्पर्स को छोड़ कर किसी अस्तित्ववादी ने, इसीलिए ऐतिहासिकता और विज्ञानवादिता के बारे में प्रायः कुछ भी नहीं कहा, किंतु वैज्ञानिक और ऐतिहासिकों की भरपूर प्रशंसा अवश्य की है। इसीलिए जब स्पेन के अस्तित्ववादी आर्तेगा इ गासे यह कहते हैं कि **मानव की निर्मिति के पीछे प्रकृति का इतना हाथ नहीं, जितना उसके अपने इतिहास का है**—अथवा हीडेग्गर और सार्त्र कहते हैं कि **मानव में अस्तित्व से पहले उसका सार या सत्व (एसेंस) आता है,** तो वे किसी भी ऐतिहासिकता की ओर इंगित नहीं करते, बल्कि हीगेल, मार्क्स और वाइको के साथ इस बात में सहमत होते हैं कि **मानव वही है, जो कुछ वह करता है।** यानी उसमें ऐसी कोई न वस्तु या आधार तत्व नाम की चीज़ नहीं, जिसे मात्र प्रातिभ प्रतीति (इंटचूटिव नॉलेज) से निरपेक्ष भाव से जाना जा सके, और जिससे वह निर्धारित होता है या होना चाहिए। उनका आशय यह है कि मानव का सार या सत्व (एसेंस) इतिहास से नहीं होता, बल्कि उसके अपने कर्मों द्वारा वह **जो कुछ बनता है,** उसी में उसके अपने लिए और दूसरों के लिए यह सत्व-निर्धारित होता जाता है। इसे वह अपना सकता है, छोड़ सकता है, इसकी ओर उसकी प्रतिक्रिया हो सकती है, किंतु वह इससे बँधा नहीं है। यह निषेधात्मक क्षमता ही उसकी वह आध्यात्मिक पूर्णता है, जो उसे मानव बनाती है और जो उसके बारे में वही ऐसा शाश्वत सत्य है, जिसे उसका इतिहास भी नहीं बदल सकता। हाँ, ऐतिहासिक और सामाजिक पूर्वग्रह या पूर्व-भोग खग्रास के राहु-केतु के समान उसकी इस क्षमता पर भी हावी ज़रूर हो सकते हैं। तब वह कुछ भी नहीं रह जाता—तब वह अपने को सिर्फ़ औज़ार, हथियार, परिवार, देश, धर्म-कर्म और तकनीकों में या जो कुछ भी 'वास्तविक' रूप में उसके सामने होता है, उसी में ही (अपने को) तदात्म रूप से देखता है। किंतु फिर भी वह उनसे और उन पर काम करने के लिए अपने आपको अलग कर पाता है। इस 'अलगाव' से वह अपने आपको और उस सबको, जो उसे मिला है या उसने किया है, 'निरंतर 'जिज्ञास्य' बना डालता है। इसलिए किसी भी स्थिति में परिबद्ध मानवात्म की तथ्यात्मक ऐतिहासिकता से उसका यह 'अलगाव का स्वातंत्र्य' भी संश्लिष्ट है। बंधन और सीमाएँ एवं यादें और वफ़ादारियाँ भी उतनी ही मानवीय वस्तु (थीम) हैं, जितनी संभावनाएँ और अवसर एवं आयोजना और निर्वाचन। अतः अस्तित्ववाद इतिहास और भाग्य की व्यर्थ मुखालफ़त नहीं करता और न सबके लिए सामान्यतया आवश्यकता-पूर्ति की स्वतंत्रता पर ही ज़ोर देता है, वह तो सिर्फ़ इतना ही कहता है कि व्यक्ति अपने आपमें स्वतंत्रता का

आवश्यकता अनुभव करता है, इसे मान लेना चाहिए; यही अस्तित्व की पहली और असली शर्त है।

यही कारण है कि मानव अपनी सत्ता की सिद्धि के लिए, वस्तुनिष्ठ वृत्तियों से, सामान्य सिद्धांतों से, अपनी ही सिरजी अमूर्त और मूर्त चीज़ों से लड़ता है, ताकि वे उस पर हावी हो कर उसे जड़ न बना डालें। यों ही मार न डालें। इस जड़ता का, उसकी 'जीवन्मृत' दुरवस्था का यह ख़तरा केवल दानवाकार मशीनों, हाकिमशाही या तानाशाही प्रशासन एवं हिंसावादी सिद्धांतों के अजस्र प्रचार-प्रसार से ही नहीं होता, बल्कि संरक्षणशीलता के दुर्भेद्य दुर्गों या पावन प्रासादों से, विज्ञान से, क़ानून से कोरी और थोथी नैतिकता और मानवतावाद से भी होता है। अगर विज्ञान या तर्क एवं युक्ति तथा कर्तव्य या धर्म में विश्वास व्यक्ति और उसके समग्र दायित्व में दीवाल बन कर खड़े रहें, तो वह अपने आपको कभी नहीं पहचान पाता है। अस्तित्ववाद इसीलिए विचार की एक कठोर विधा है, यह हर विचारक और वस्तु (थीम) को चुनौती देता है, शौर्य के लिए उनका आह्वान करता है। अस्तित्ववादी साहित्य में तभी तो इतनी पीड़ा, कष्ट-योजना, दुख-संवेदना, घुटन और 'अतिवादी' (एक्सट्रीम) स्थितियों का चित्रण होता है।

आज के इस सिद्धांत-संघर्ष-युग में चाहे कोई कितना ही कट्टर मतवादी क्यों न हो, उसे इतना तो मानना ही पड़ता है कि निपट ज़ोर-ज़बर्दस्ती से किसी मत को मानवता या अपनी इच्छा-पूर्ति करना मानवीय स्थिति में सबसे ज़्यादा बर्बादी बरपाने वाला तरीक़ा है। इसीलिए कितने ही दर्शनों की संभावनाएँ, संवेदना की विविधताएँ, दृष्टिकोण और अध्ययनों की बहुविधताएँ कर्म और क्रियाओं का नानात्व, अनुभूतियों का बहुत्व आज सभी स्वीकृत करते हैं। सबको अपने-अपने मार्गदर्शक विचार अपनाने की आज़ादी प्रिय है, जिसे वे किसी एक 'सर्वोपरि दर्शन' या 'केंद्रीय शक्ति' के अधीनस्थ नहीं करना चाहते।

आधुनिक सभ्यता की संस्कृति या बोध की यही सबसे बड़ी एवं प्रमुख समस्या है कि किसी ने इस धारणा की व्यावहारिक कठिनाइयों को पूरी तरह सोचा है या नहीं—शायद यह एक प्रश्न ही बना है अभी तक!

अस्तित्ववाद, दर्शन के रूप में भी सिर्फ़ एक भावनात्मक नैराश्यवाद या प्रतिक्रियात्मक संरक्षण मात्र ही नहीं है, इससे तो मुक्ति और पुनर्निर्माण सिद्ध होते हैं। इसमें विरोध, चुनौती और चेतावनी और याद कराने की प्रवृत्ति अवश्य अधिक है। यह अभी तक एक पर्याप्त समन्वय-स्रष्टा प्रयत्न नहीं बन पाया है, पूर्ण समाधान नहीं प्रस्तुत कर सका है। पर यह अतीत में लौटने की सलाह भी नहीं देता और न भविष्य की उद्भट कल्पनाओं में ही भरमाना चाहता है। यह मानव की वर्तमान स्थिति की वास्तविकता के परिज्ञान पर ही ज़ोर देता है, तथा उसकी स्वीकृति और प्रतीति या समग्र अवगति ही कराता है। एक वाक्य में—अस्तित्ववाद के अनुसार विश्व-मानव और समाज के नियम-क़ानूनों के वैज्ञानिक बोध मात्र में ही 'मुक्ति' नहीं है, बल्कि व्यक्ति के समग्र दायित्व की इस चेतना में है कि **'मैं अपना स्वयं साक्षी हूँ'** (भारतीय दर्शन की 'साक्षी चेता:' वाली धारणा से यहाँ इसका अद्भुत मेल है!)। चूँकि यह युग इस कटु सत्य से तो अस्वीकार कर नहीं सकता कि मानव के हृदय में पूर्ण निरपेक्ष एवं समर्थ (एब्सोल्यूट) पाप या बुराई नहीं है,

बल्कि उसके कामों में है और इसलिए इस युग में इसी समस्या को सुलझाना है। अस्तित्ववाद इसी ओर एक प्रयत्न है, मानवीय अस्तित्व को, युग-जीवन के जीने को वीरतापूर्ण प्रयास साहित्य और नाट्य-कला में अस्तित्ववाद का प्रतिफलन चरित्र-चित्रण में नहीं, बल्कि आ घन अनुभूति वाली परिस्थितियों की प्रस्तुति में होता है। किंतु मृत्यु और मृत्यु-भय इनमें एक प्रधान रहता है। और इसीलिए हमें सब 'अपने-अपने अजनबी' के विवेचन में पहले मृत्यु- और मृत्यु पर विचार करना है, क्योंकि अस्तित्व का दूसरा पहलू है अनस्तित्व या मृत्यु अ विघटन, ध्वंस, विनाश, विलय, प्रलय—जो भी कहिए! भाव एक ही रहेगा, अनुभूति का आ भले ही बदल जाय।

अस्तित्ववाद और मृत्यु

मानवीय स्थिति की अनिवार्य सीमाएँ अथवा प्रत्येक आत्म की मूर्त अभिव्यक्ति के त ये कहे जा सकते हैं: मृत्यु, दुख या कष्ट, विरोध या संघर्ष और ग़लती या भूल। समग्र जागतिक मानव-जीवन की ये असाध्य और भयंकर अरक्षापूर्ण सीमाएँ हैं। मृत्यु को जब तक हम भूले रहते हैं या इससे दूर भागने की कोशिश में लगे रहते हैं अथवा केवल इसको मानते भर हैं, तब तक अस्तित्वपूर्ण जगत में यह केवल एक प्रयोगात्मक तथ्य के रूप में ही प्रतीत होती है। यह जीवन (हमारे जीवन) की अविभाज्य अंग नहीं बन जाती। **'मौत है किंतु यह मेरे लिए सारे दृश्य जगत के एक अवयव के रूप में ही है, जिसमें मेरा समग्र जीवन भी अभिव्यक्ति पा रहा है।'** हाँ, यह जागतिक संबंध के तथ्य पर एक प्रश्न-चिन्ह ज़रूर बन जाती है। मौत हमसे हमारे प्रिय पात्र को छीन सकती है, किंतु उसके प्रति हमारी चेतनागत वफ़ादारी को नहीं मिटा पाती। यह एक संकेत है; एक प्रमाण है; हमारी सीमा नहीं है।

वास्तव में वैयक्तिक अस्तित्व का कोई अंत या ऐसी अपनी समग्रता-सीमा नहीं, जो उपलब्ध की जा सके। मृत्यु से वैयक्तिक अस्तित्व की संभावनाएँ 'बुझ' जाती हैं; 'ख़त्म' नहीं हो जातीं। मृत्यु हमारे जीवन की दुर्घटना नहीं, बल्कि शुरू से ही एक ऐसी संभावना है, जिसे हम अपने अंदर ही पालते-पोसते हैं। वास्तव में यह हमारी एक ऐसी संभावना है, जिसे हम अनिवार्य रूप से पूर्णतः व्यक्तिगत रूप में भोगते ही हैं। और सच तो यह है कि यह एक ऐसी सर्वातिशायिनी संभावना है कि दूसरी संभावनाएँ इसी के कारण सामयिक संभावनाएँ ही बनाती हैं। सारी संभावनाओं का अंत अगर मृत्यु में होना ही है, तो हमारे सामने सिर्फ़ दो ही विकल्प रहते हैं: मंज़ूरी और भुलावा। बहुत कम इन विकल्पों के प्रति सज्ञान होते हैं; अधिकतर तो हम रोज़-मर्रा की ज़िंदगी के भुलावों में ही भूले रहते हैं। पर मौत की मंज़ूरी का मतलब तो यह नहीं है कि हम जगत को ही मंज़ूर न करें और उसकी कार्यवाहियों में कोई भाग न लें—इसका यथार्थ आशय यह है कि हम जागतिक वस्तुओं से धोखा न खायें, हम अपने कर्म और कार्यों में ही भूले-भटके न रहें—बल्कि उन्हें उतनी ही मान्यता दें, जिसके लायक़ वे हैं यानी विशेष कुछ भी नहीं! इस निरासक्ति से ही शक्ति, मानवीय महत्व और मर्यादा-बोध तथा अपने प्रामाणिक अस्तित्व

की सहिष्णुता की भावनाएँ उदित होती हैं। मृत्यु की जीवन में यही उपयोगिता है, प्रसिद्ध अस्तित्ववादी दार्शनिक हीडेग्गर के ख़याल से।

किंतु सार्त्र इसे नहीं स्वीकार करता। भला मृत्यु को हम अपनी एक सीमा के बजाय संभावना कैसे मान सकते हैं? यह तो **'मैं जो कुछ हो सकता हूँ और जो कुछ मेरे होने की परिधि से बाहर है, उन सब भावनाओं का स्थगन है। मृत्यु तो एक दुर्घटना है, इसीलिए यह बिलकुल बेमानी है। जीवन को किसी भी सार्थकता देने के बजाय यह तो और भी अधिक संदेह और कौतूहल का विषय बना देती है। मैं अपनी कोई योजना मृत्यु की ओर तक खींच ले जाऊँ (जैसे—शहीद होना, युद्ध में खेत रहना, अथवा आत्म-हत्या) यह तो बोधगम्य बात है, किंतु अगर मृत्यु को अस्तित्व का अनुभव करा देने वाली एक संदिग्ध और अनिश्चयात्मिका संभावना के रूप में मनवाया जाय, तो वह एक दुर्बोध्य कष्ट-कल्पना ही है। चूँकि इससे तो सारी संभावनाओं और योजनाओं का अंत हो सकता है। मृत्यु तो एक अननुभूत दृष्टिकोण की 'मैं जो कुछ हूँ'—इस अनुभूत दृष्टिकोण पर 'विजय' मात्र है। इसलिए हमारा सारा जीवन 'जो है, सो है', अपना ही द्वैधी भाव या असमंजस ही नहीं है। और यह विचार अस्तित्व या स्वप्रतीति मात्र से ही परिवर्तित भी नहीं हो सकता। जीवन अपने-आप अपनी सार्थकता निश्चित करता है, कारण यह सदा 'सविकल्प' रहता है। मृत जीवन भी परिवर्त्य रहता है, चूँकि साँचा तो पहले ही ढल जाता है और यह वही हो जाता है, जो दूसरे जीवित इसे या इसके कार्यों को बना डालते हैं—यही हमारा प्रमेय भी है यहाँ। मृत या भाग्य हमेशा जीवित के हाथों होता है, चूँकि मृत्यु समग्र विनाश नहीं हैं, सिर्फ़ इस दुनियाँ से हमारी विषयि-निष्ठता का बाहर होना है। मरने के बाद भी तो हम अपने पीछे कुछ ऐसे अर्थ और सूत्र छोड़ जाते हैं, जिन्हें दूसरे बदल लेते हैं यानी हम अपनी बाह्य सत्ता के आयाम में अस्तित्व रख पाते हैं। अतः मृत्यु जन्म के समान ही एक तथ्य मात्र है। हम अपनी मृत्यु को मान लेने में भी उसी तरह 'स्वतंत्र' हैं, जिस तरह कि अपने स्वातंत्र्य को, दूसरों के स्वातंत्र्य से सीमित करने के लिए स्वतंत्र हैं। किसी भी तरह मृत्यु की यह बंदिश हमारी स्वतंत्रता की एक बेड़ी नहीं बन सकती।'** मृत्यु के बारे में अस्तित्ववादियों का यह विचार पर्याप्त मौलिक लगता है। इसमें जीवन के प्रति आस्था एवं असंदिग्ध विश्वास झलकते हैं।

अस्तित्ववादियों के अलावा भी मृत्यु के बारे में कुछ और विचारणीय मत हैं। भारतीय चिंतना में इसे 'भय और माया' की संतान माना गया है। माया का अर्थ यहाँ अविद्या अथवा प्रातिभासिक या प्रतीयमान सत्ता है। मृत्यु को पंचभूतों में मिलना या 'पंचत्व-प्राप्ति' भी कहा गया है। एक बड़ी सुंदर कल्पना भी है: 'अधर्म की भार्या है जीव-हिंसा'—दोनों की संतान है 'झूठ' और 'दैन्य' (शठता, भर्त्सना) इनसे पैदा हुए हैं भय (भीति), माया और वेदना। भय और माया से मृत्यु और वेदना तथा रौरव से दुख। मृत्यु की भी चौदह संतानें हैं, जिन्हें यहाँ गिनाने से कोई लाभ नहीं। और इतना तो सभी जानते हैं कि भारतीय ही क्या अधिकांश, पूर्वी विचारधारा में पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता, अच्छेद्यता, अक्लेद्यता, अदाह्यता एवं अशोष्यता के कारण मृत्यु उतना बड़ा दुख नहीं, जितना कि उन लोगों के लिए जो देह और देही में अंतर

नहीं मानते या, आत्मा, जीव, मन आदि की धारणाएँ भिन्न रखते हैं। शायद एक यही का है कि भारतीय साहित्य में साधारणतः बहुत ही प्रभावपूर्ण दुखांत नाटक या अन्य साहित्य विधाओं में उत्कृष्ट रचनाएँ नहीं हो सकीं। जीवन का सबसे बड़ा दुख है, उसका अलक्षित अ मेय आकस्मिक अवसान या मृत्यु किंतु उसे जहाँ जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण क माना जाता हो और देहांतर-प्राप्ति और कर्म-फल-भोग की स्थिति की धारणा जहाँ जन-ज अवचेतन और चेतन में विरासत की तरह संरक्षित हों, वहाँ मृत्यु की उतनी तीव्र अनुभूति संभव है ?

प्राच्य दार्शनिक दृष्टि से 'चेतना' के कुछ ऐसे भी स्तर हैं, जिन पर मृत्यु का अर्थ 'अम में परिवर्तन ही हो सकता है। दुख भी वहाँ सार्वत्रिक सुख की तरंगों की एक उद्दाम उछाल मा एवं सीमाएँ हैं असीम का आत्म-संकोच और पाप है पुण्य की पूर्णता का एक घेरा मात्र। यह एक 'धारणा' ही नहीं, बल्कि यथार्थ परिज्ञान (विज्ञन) है और वास्तविक जगत में व्यवहार अनुभवनीय बात है। किसी भी व्यक्ति के लिए चेतना के ये स्तर उसकी आध्यात्मिक उन्नति पूर्णता के सोपान हैं। अन्यथा जीवन तो अपनी वैयक्तिक अभिव्यक्ति में मृत्यु, कामना और अक्ष के ही अधीन रहता है, चाहे वह किसी भी स्तर पर हो और कितनी ही अवधि तक व्याप्त मृत्यु 'वैयक्तिक जीवन' या अपने अस्तित्व की स्थितियों और विश्व में स्वतः अभिव्यक्त शक्ति से होने वाले संबंधों के कारण ही संभव या लागू हो पाती है। वैयक्तिक जीवन की काया सीमित शक्ति स्वभावतः ही अपने बाहर की, विश्व की, अनंत शक्तियों की 'मदद' करती है। उन्हें अपने में ही समेटती है, वे इसका 'आहार' बनती हैं, तो वे भी इसे निगलती जाती हैं। इसी उपनिषदों में पदार्थ मात्र को 'आहार्य या खाद्य' माना गया है और भौतिक जगत का भी यही (फ़ार्मूला) है कि **'खाने वाला खा रहा है और स्वयं भी खाया जा रहा है।'** भौतिक जीवन का यही नियम है। उपनिषद भी जीवन को एक 'क्षुधा' मान कर उसे 'मृत्यु' कहते हैं ('अशना मृत्युः')। इसीलिए तो शरीर में संगठित जीवन अपने से वाह्य जीवन द्वारा निरंतर आक्रांत और भग्न होता रहता है। या तो इसकी अपनी आहार-शक्ति ही अपर्याप्त है, अथवा इसे पूरी त आहार नहीं मिलता या इसकी आहार-शक्ति और बाहर की शक्तियों को आहार जुटा देने वा इसकी क्षमता में ठीक संतुलन ही नहीं है, तभी तो यह अपनी रक्षा में असमर्थ हो उनके द्वा निगल लिया जाता है। अथवा यों कहिए कि अपना पुनर्जीवन या नवीकरण इसकी अपनी क्षमता से बाहर की बात है, सो यह सीमित जीवनी-शक्ति खर्च हो जाती या चुक जाती है, टूट जा है। इसीलिए इसे नवीकरण या पुनर्निर्माण के लिए 'मृत्यु-प्रक्रिया' का सहारा लेना ही पड़ता है। विघटन तब शुरू होता है, जब जीवनी-शक्ति अपने अस्तित्व और नैरंतर्य के संतुलन को नहीं चला पाती, अथवा कहीं न कहीं बाधित होती है, या इसकी अपनी शक्ति-धाराओं (करेंट्स) का व्यवस्थित खेल गड़बड़ा जाता है और रोग और विकृति से विघटन होने लगता है। श्री अरविंद ने मृत्यु की यही व्याख्या की है।

मृत्यु तत्व की और भी एक बुनियादी बात है। साकार या कायगत जीवन सीमित आधार पर असीम की अनुभूति चाहता है, पर चूँकि कोई भी रूप या आकार अपनी आकारीय संघटना के

कारण अनुभूति की हद बाँध लेता है, अतः असीम की अनुभूति निरंतर पूर्व रूप विघटन और नित नये रूपों या आकारों की सृष्टि से ही होती है। कोई भी आत्मा या व्यष्टि-जीवन जब एक बार अपने को किसी विशिष्ट देश-काल में अवच्छिन्न कर लेता है और फिर अनंत की ओर बढ़ता है, तो उसे पौनःपुन्य या परिवर्तन-परंपरा प्रत्येक दिशा में स्वीकारनी होती है। एक के बाद एक क्षणों के योग से कालानुभूति और फिर इसके 'अतीत' में एक के बाद एक स्थान (देश) अनुभूति, ज्ञान, क्षमता, आनंद आदि एकत्र हो कर अवचेतन या ऊर्ध्वचेतन स्मृति के अधिकृत एवं व्यापक अनुभव बन जाते हैं। इस प्रक्रिया में रूप-परिवर्तन अनिवार्य है और तब देही के लिए इसका अर्थ होता पूर्व देहपात और नवदेह-धारण। किंतु कैसे इसी प्रक्रिया में कामना और अक्षमता अगली कड़ियों के रूप में, वैयक्तिक जीवन की अनिवार्य शर्तों के रूप में आ जाती हैं, यह इस विचार से बाहर की बात है। (अगर इस विचार की ओर यहाँ प्रवृत्त होंगे, तब यह प्रयत्न लेख नहीं, एक पुस्तिका बन जायगा।)

पर अभी हमें एक बात और कहनी है। मृत्यु को हम 'काल' भी कहते हैं और काल से समय का बोध होता है। अस्तित्व, जीवन, मृत्यु, सुख-दुख आदि सारी द्वंद्वात्मक अनुभूतियाँ एवं मनोभाव एवं मनोवेग, मानवीय प्रवृत्तियाँ, मानवीय मूल्य, जागतिक घटनाएँ, विकास आदि सभी धारणाएँ काल-सापेक्ष हैं। और काल-सापेक्षता माने देश-कालावच्छिन्नता, चूंकि काल का बोध देश (स्पेस) के बिना कभी नहीं हो पाता। व्यावहरिक जीवन में भी तो काल-निर्णय 'स्पेस' या देश में घटित आकाशचारी पिंडगतियों से ही निर्धारित होता है। असल में पदार्थ, भाव, घटना आदि का सातत्य, नैरंतर्य अखंड गति या अटूट-क्रम कभी नहीं भूलना चाहिए—विशेषतः इस प्रकार के विचार में। विज्ञान-जगत में भी 'टाइम स्पेस कंटिंयूअम' और 'कंज़र्वेशन ऑफ़ इनर्जी' और ई = एम सी² आदि सिद्धांत अभी तक अकाट्य हैं। मृत्यु या व्यक्ति शरीर-गत जीवन के अंत को शरीर-विज्ञानी प्रधानतः ओषजन या प्राणवायु का क्रमिक ह्रास और अवरोध कहते हैं। दिमाग़ जो चेतनता की प्रधान पीठिका (सीट) है, उसमें पहुँचने वाले खून में जब ओषजन कमाने लगता है, तो उसमें दिमाग की सजगता (अवेयरनेस) की लहरें बहुत थोड़ी और हलकी होने लगती हैं। धीरे-धीरे इनकी समाप्ति के साथ ही 'अहं' अथवा व्यक्तित्व की संघटना (आर्गेनाइज़ेशन ऑफ़ पर्सनैलिटी) भी लुप्त हो जाती है। शरीर तब मात्र 'शव' हो जाता है। और शव में किसी भी 'शिव' या 'मानव-मूल्य' की स्थापना या कल्पना नहीं हो सकती। अतः इसे देश-काल के भेदानुसार पृथिवी, जल या अग्नि को समर्पित कर देते हैं। यही मानव देह-मन-संघात का अंतिम संस्कार—विलुप्ति या नास्तिक्रिया। जीवन-काल के कर्मफल, अस्तित्व के अन्य सूत्र—विचार, वाणी, कृतियाँ मृत्यु के उपरांत भी बने रहते हैं? . . . **'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** इसीलिए केवल प्रार्थना ही नहीं, प्राप्ति भी बन पाती है। ऐसा है मानवीय अस्तित्व का माहात्म्य।

—१७७ ए, श्यामाप्रसाद,
मुकर्जी रोड,
कलकत्ता—२६।

कहानी

दो कथाओं के बीच एक कथा

"सुनो, सुनो", कथावाचक गूमा ऊँची आवाज़ से घोटुल के सभी सदस्यों को संबोधित करते हुए कहता है, "एक माड़िया कोलियार नाम का, उसके लड़के का नाम पोरियाल। बरसात के पहले-पहले दिन थे। उसकी पत्नी गाँव की कुछ स्त्रियों के साथ कंद-मूल खोदने के लिए जंगल गयी। दुर्भाग्यवश कुछ मिला नहीं। दूसरे दिन भी इसी कोशिश में वह जंगल गयी, लेकिन फिर कुछ हाथ नहीं आया, हालाँकि उसके साथ की औरतें उससे ज़्यादा भाग्यवान थीं, उन्हें ढेर कंद-मूल मिले . ."

कहानी सुनने के लिए घोटुल की अँगीठी के गिर्द सारे सदस्य और ग़ैर-सदस्य सिमट आये थे। प्रत्येक ने आग की आँच पर अपनी हथेलियाँ फैला कर गूमा के चेहरे पर आँखें जमा दी थीं। सारे गाँव में गूमा को छोड़ कर कहानी कहना और किसी को नहीं आता—इस मामले में घोटुल के सभी युवक फिसड्डी या लजालू हैं—शायद इसीलिए प्रौढ़ावस्था में भी घोटुल के सदस्यों के बीच गूमा का बेहद संमान होता है। नाच और गीत के दौरान चाहे गूमा को लोग भूले रहें, घोटुल वाले सोने के बड़े कमरे में अँगीठी के पास आ कर हर युवक गूमा की ही याद करता है।

भीड़ से घिर कर बात करते समय आत्मविश्वास कैसा होता है, इसका अनुभव गूमा को देखे-सुने बिना नहीं होता। निचले होंठ में सुरती, आँखों में प्यार की चमक और चेहरे पर निस्संकोच सा भाव लिये वह आगे सुनाता है,

"नाले के साफ़ पानी से अपने-अपने कंद-मूल धो कर सब वापस लौट रही थीं। राह में पोरियाल के खेत पड़ते थे। संयोग की बात कि उन्हीं खेतों में पोरियाल की पत्नी को ढेर कंद-मूल मिले। सबके संग-संग खोद-खोद कर उसने भी कंद इकट्ठे किये और घर की राह ली।

"देखा," घर पहुँच कर उसने अपने पति से कहा—"तुम्हारे खेत से ये ढेर जंगली कंद 'गारंग आमट' मैं समेट लायी हूँ। यदि जल्दी ही उस खेत में तुमसे हल नहीं चलवाया, तो मैं तुम्हें छोड़ कर चली जाऊँगी। सचमुच मैं भाग जाऊँगी। कल घोटुल के लड़कों को बुलवाओगे न ?"

"अच्छी बात है," उसके पति ने कहा। पिता कोलियार ने भी स्वीकृति दे दी।

घोटुल के लड़के तुरंत बुलवाये गये। लेकिन उस दिन काम करने में उन लोगों ने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। कहा कि दूसरे दिन वह काम वे कर सकते हैं।

दूसरे दिन सारे गाँव के लोग अपने-अपने खेतों में हल चलाने के लिए निकले। उस समय तक बोनी हो जानी चाहिए थी, क्योंकि रोज़ ही बरसात के आसार दिखायी देते थे।

"अभी बोनी न की जाय," कुछ लोगों ने प्रस्ताव रखा, "हम लोगों को चाहिए कि पहले अपने 'कट्टा पेन देवान' के लिए 'काकसार' नाच करें।"

उस प्रस्ताव से सभी सहमत हो गये, अतः कोलियार व उसका लड़का पोरियाल दोनों बाहर के गाँव भेजे गये। लगातार तीन दिनों तक दोनों ने पड़ोस के सभी गाँवों में इस बात की सूचना दी कि अमुक-अमुक तारीख़ को 'काकसार' मनाया जायगा। आखिर उनके लौटने के बाद 'काकसार' का आयोजन किया गया।

'काकसार' के दौरान पोरियाल की पत्नी किसी दूसरे आदमी के साथ भाग गयी। उस समय अभागा पोरियाल 'देवान' के मंदिर में था। लौटने पर देखा कि उसकी पत्नी ग़ायब थी।

"मेरी पत्नी कहाँ गयी?" उसने पूछा।

"जायगी कहाँ, यहीं कहीं होगी...।"

"मैं थोड़ी शराब ले कर आया हूँ," पोरियाल ने बेफ़िक्र हो कर कहा—"चलो, कहीं बैठ कर पियें।"

"ठीक है।"

"लेकिन ठहरो," वह बोला, "प्याले बनाने के लिए मैं पत्ते तो ले आऊँ।"

पत्ते की तलाश में घूमते हुए उसकी निगाह एक चीज़ पर अटक गयी। 'पत्नी-चोर' वहाँ नहीं था, लेकिन नाच की पोशाक में सजने वाली उसकी कुछ घंटियाँ छूट गयी थीं। उन्हीं घंटियों में पत्ते भी उलझे हुए थे, जिन्हें उठाने के लिए पोरियाल ने हाथ बढ़ाया।

"किंतु यह क्या?" अचानक चौंक कर वह सोचने लगा, "क्या घंटियों में साँप बैठा है? जैसे ही मैंने हाथ बढ़ाया, क्या उसी तरह की आवाज़ नहीं हुई? नहीं, नहीं भाइयों" उसने अपने दूसरे साथियों को भी रोक दिया, "दूर रहो और गाँव वालों को बुलाओ..."

सब आये। क्या हुआ, क्या हुआ। सबके होंठों पर एक ही सवाल था। आखिर देख कर सभी हैरत में पड़ गये। लोग नहीं चाहते थे कि पोरियाल का पिता कोलियार उसे देखे लेकिन उसे भी पता चल ही गया।

"नहीं, नहीं", उसने कहा, "जो मेरी बहू को भगा ले गया है, वह और कोई नहीं, बल्कि डिकावंडी है।"

"कोई बात नहीं", पोरियाल ने अपने आपसे कहा, "दूसरे दिन देखा जायगा।"

दिन बीता। रात आयी। जल्दी ही मुर्ग़ों ने भी बाँग दी। सुबह का 'जावा' खाने के बाद वह जगह उन्होंने छोड़ दी और डिकावंडी के गाँव गये। डिकावंडी के घर के पास वाले पेड़ पर पोरियाल चढ़ गया और रास्ता देखने लगा। थोड़ी देर बाद सहसा उसकी पत्नी दिखायी दी। वह अपने सिर पर पानी का घड़ा ले कर आ रही थी। चटपट पेड़ से उतर कर पोरियाल ने पत्नी को पकड़ लिया और उसे घसीटता हुआ 'देवान' के मंदिर में ले आया।

"क्यों रे, तू दूसरे आदमी के साथ क्यों भाग आयी? मेरे घर का खाना क्या तुझे

काटता है? सच कहता हूँ, अभी अगर तू मेरे साथ न आती, तो मैं तुझे जान से ही मार डालता।

उसकी पत्नी डर के मारे काँपने लगी, बोली—

"भगवान के लिए ऐसा न करना। मैं अब तुम्हें छोड़ कर नहीं जाऊँगी, कभी नहीं। दिन रात तुम्हारी ही सेवा करूँगी।"

"जोहार।"

कह कर कथावाचक विदा लेता है।

मोटे-मोटे लट्ठों वाली आग पर राख की पर्त पड़ जाती है। उठती हुई लपट या रोशनी के अभाव से घोटुल का कमरा थोड़ा धुँधला जाता है। कहानी समाप्त होते ही मद्धम जलने वाली नीम रोशनी में सभी चेहरे खिल जाते हैं और कई जोड़ छोटी-बड़ी आँखों में चमक-सी हो जाती है।

"गूमा दादा, एक और..." कुछ नौजवान आग्रह करते हैं।

"हाँ, हाँ, एक और।" उन्हें प्रायः सभी का समर्थन प्राप्त है, क्योंकि सब एक स्वर से कहते हैं।

"एकाध और याद है?" एड धीरे से पूछता है।

"एक? एकाध की क्या बात है," बीच ही में अमर सिंह बोल उठता है, "गूमा सुनाने के लिए बैठे, तो सारी रात निकल जाय, लेकिन कहानियाँ खत्म ही न हों।"

"फिर देरी किस बात की है?"

"गूमा।"

"ए गूमा दादा..."

गूमा सभी की आवाज़ें सुनता है, लेकिन जैसे नहीं सुनता। दो-एक क्षण मुस्कराता है, फिर कान पर खुँसी हुई चोंगी निकाल कर चुपचाप तंबाक़ू का धुआँ पीने लगता है।

वैसे भी, गूमा संजीदा क़िस्म का आदमी है। बहुत कम बातें करता है। अक्सर यहाँ-वहाँ दिखायी ही देता और अपने में डूबा हुआ व उदास रहता है। पहली भेंट की पहली दृष्टि में दिल जीतना किसे कहते हैं, यह गूमा को देख कर मैंने जाना था।

पैंतालीस-पचास की उम्र, अच्छा, स्वस्थ शरीर, चेहरे पर स्वाभाविक सादगी और ऐसी डूबी-डूबी तथा प्रभावशाली आँखें कि जिस पर उठतीं, उसे जीत लेतीं। आकर्षण के साथ आँखों में ऐसी स्वाभाविक उदासी क्या जन्मजात ही हो सकती है? मैंने सोचा था—या उसके एकाकी जीवन की वेदनासनी छाया है, जो पलकों में मुस्तक़िल हो कर झुक गयी है? दुख को उस सीमा तक आत्मसात कर लेने के बाद का मानसिक स्तर कैसा होता होगा?

अबूझमाड़ के चहुँ ओर व्यापी दरिद्र जीवन में सबसे विपन्न आदमी वह होता है, जिसके अपने खेतों के अलावा अपने रक्त संबंधी नहीं होते। गूमा, उन्हीं अभागों में से एक था, जिसके माता-पिता बचपन में ही जाते रहे और दूर-दराज़ के संबंधियों के बीच जैसे-तैसे कर के वह पला

और एक दिन जवान भी हो गया। जिसके पास अपनी संपत्ति जैसी कोई चीज़ ही नहीं थी और जिसका गुज़ारा कठिनाई से होता हो, उसके बाक़ायदा व्याह की बात सपना नहीं, तो और क्या थी ?

गूमा ने वही राह पकड़ी, जिस पर वहाँ के ग़रीब युवा जाते हैं। कुरमेर गाँव की एक लड़की के लिए गूमा लमहाड़े खटने लगा।

लमहाड़े खटना अबूझमाड़ की वह प्रथा है, जिनके अनुसार युवक युवती के माँ-बाप के घर जा कर रहने लगता है। युवती को पत्नी के रूप में प्राप्त करने के लिए पिता की ओर से एक शर्त होती है। शर्त यह कि तीन-पाँच या सात बरस तक उसे दिन-रात खट कर कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। जब माँ-बाप प्रसन्न होते हैं, तभी लड़की का हाथ पत्नी के रूप में दिया जाता है, अन्यथा नहीं।

पूरे साल भर तक गूमा ने जी तोड़ कर मेहनत की। उसे पाँच बरस तक खटना था, लेकिन प्रसन्नता की बात तो दूर रही, युवती के माँ-बाप उससे हमेशा नाराज़ रहते थे। उसके साथ नौकरों की तरह दुर्व्यवहार किया जाता और हर घड़ी उसे अपमानित कर के निकलवा देने के प्रयत्न होते थे।

गूमा ने उपेक्षा और यातनाओं के बीच आँखें खोली थीं, अतः ऐसे दुख न नये थे और न असह्य—वह चुपचाप सब पी जाता। अक्सर जब शाम को घर लौटता, तो थकावट के मारे शरीर का जोड़-जोड़ टूटने लगता और अंग-अंग चूर मालूम होता। आँखें बंद कर वह निश्चल सा पड़ जाता—बिल्कुल निर्जीव और मृत सा। कई बार उपेक्षा के अतिरेक के कारण उसकी आँखें झलमला जातीं। निश्चय करता कि दूसरे दिन उस जीवन को छोड़ कर वह कहीं भी चला जायगा; लेकिन एक ऐसी शक्ति आड़े आ जाती, जिससे छूटना असंभव था—वह थी उसकी होने वाली पत्नी हिरमे, जिसका सशरीर आ कर उसके सामने खड़े हो जाना ही काफ़ी था—चाहे बोले या न बोले; भरी-भरी आँखों से चुपचाप खड़ी देखती रहे।

दस्तूर के मुताबिक़ वे लोग अलग-अलग रहते थे। पहले कुछ दिन तो हिरमे से बातचीत का भी संबंध नहीं था। जो कहना-सुनना होता, उसके माँ-बाप से कह-सुन कर वह अपने कमरे में लौट आता, लेकिन धीरे-धीरे कई ऐसे अवसर आये, जब घर या बन में अकेली-दुकेली वह गूमा से टकरा गयी। और ऐसी भेंटों में हिरमे ने दी पहले तो एक झनझनाहट पैदा करने वाली मुस्कुराहट, फिर हँसी, फिर ताने-तिश्ने, फिर . . .

उस रात ऐसी ही किसी चोट से तिलमिला कर वह आधा खाना छोड़ पत्तल से उठ गया था। घर के मुखिया ने कोई इतनी अपमानभरी बात कह दी थी कि मुँह का कौर गले के नीचे नहीं उतरा। बोला कुछ नहीं, एक क्षण अपने होने वाले ससुर की ओर देख कर वह उठ गया, बस। एक अँधेरे कोने में पत्तल सीती हुई हिरमे भी वहाँ बैठी थी, भगवान जाने, उसने क्या सोचा होगा। क्या एक औरत के लिए गूमा ने अपने पौरुष को बेच दिया है ?

बड़ी रात तक उसे नींद नहीं आयी और वह करवटें लेता हुआ पड़ा रहा। उसे लग रहा था, जैसे निर्णय करने की घड़ी आ पहुँची है—कोई भी अंतिम क़दम उसे उठा लेना चाहिए, इस पार या उस पार। इसी निश्चय-अनिश्चय की स्थिति में उसकी आँखें कब लग गयीं, उसे याद

नहीं। यह भी याद नहीं कि उस वक़्त रात के कितने बजे थे। बाहर की रात काजल जैसी काली थी—सुनसान तथा डरावनी और गाँव की दुनिया निश्चित सो रही थी।

पहले नींद में अपने कंधे पर उसे कई बार स्पर्श महसूस हुआ था। कई बार कानों में उसे हल्की-हल्की आवाज़ सुनायी दी और लगा, जैसे कोई नाम ले कर पुकार रहा हो। जब हड़बड़ा कर उसने आँखें खोल दीं, तो देखा कि हिरमे उसके बिस्तर पर बैठी उसे जगा रही है।

आग की बिना लपट वाली लाल-लाल व अस्पष्ट रोशनी में हिरमे का मुख दमक रहा था—साँवले रंग में सचमुच बहुत चमक होती है और उस पर अगर हिरमे की तरह ठोड़ी पर गुदने की छोटी-छोटी बुँदकियाँ हों, तो ?

गूमा को एकाएक कुछ सूझा नहीं कि क्या कहना चाहिए। उसने धीरे से हिरमे का हाथ पकड़ लिया और कुछ कहना चाहता था, लेकिन उसकी आवाज़ कंठ में ही फँस कर रह गयी।

बाहर रात साँय-साँय कर रही थी। कभी अचानक पेड़ों की शाखें डोलने लगतीं और थोड़ी देर हवा में केवल पत्तों के झूमने की आवाज़ होती। हर क्षण लगता, जैसे कोई शोख झोंका अचानक आ कर उन्हें बरबस समेट देगा।

"असल में दुश्मन बाप नहीं, माँ है।" बड़ी देर बाद हिरमे ने बताया, "वही तुम्हें फूटी आँखों नहीं देखना चाहती। चाहती है कि किसी तरह ऊब कर या नाराज़ हो कर तुम यहाँ से चले जाओ..."

"क्यों, कोई वजह ?"

"वजह तो अब वही जाने," वह बोली—"जब तुम पहले दिन आये, तब भी वह नहीं चाहती थी कि तुम मेरे लिए लमहाड़े खटो..."

कई क्षण तक गूमा चुप रहा; फिर बोला, "और घर पर कौन चाहता था कि मैं रहूँ ? तुम्हारे बाबा ?"

"हाँ।"

"और ?"

बड़ी देर तक चुप्पी रही। बाहर से हवा के पंखों में सन्नाटा आ-आ कर बैठता, फिर चुपचाप निकल जाता। दोनों के बीच आग का हल्का व लाल-लाल साया भर जमा रहा।

—"और तुम ?" सहसा पूछते हुए गूमा को अपनी आवाज़ काँपती हुई लगी।

हिरमे ने उसकी ओर आँखें नहीं उठायीं। धीरे से गूमा की हथेली खींच कर उस पर अपना पसीजता हुआ हाथ रख दिया, चुपचाप झुकी और उन दोनों मिले हुए हाथों पर अपना बायाँ गाल धर दिया।

उस रात हिरमे गूमा के कमरे से नहीं लौटी। और वही क्या, ऐसी कई रातें आयीं और चुपचाप निकल गयीं, पर किसी को पता नहीं चल पाया। पता तो शायद तब लगा होगा, जब सुबह गूमा के ख़ाली कमरे के साथ-साथ हिरमे को भी घर से ग़ायब पाया होगा। वे लोग भाग कर एक दूसरे गाँव ओरछा आ गये और अपनी नयी ज़िंदगी शुरू की—ऐसी ज़िंदगी जिस पर न किसी का अंकुश था और न अपमान। हिरमे फिर जीते-जी अपने माँ-बाप के घर लौट कर नहीं

गयी। जीवन-काल में उसने गूमा को सभी कुछ दिया—अपने घर का सुख, अपने खेत का सुख और दो-दो बच्चियों का सुख। वही बच्चियाँ, जिनमें से बड़ी जब पहली बार अपने ननिहाल मामा, के यहाँ गयी, तो बदले के रूप में उसे नहीं आने दिया गया।

अब गूमा का विधुर जीवन पहले जैसा ही वीरान, उदास और अकेला हो गया है। पत्नी को भगवान ने छीन लिया, बड़ी बच्ची को उसके मामा ने अपने लड़के के साथ जबरन ब्याह कर हमेशा के लिए रोक लिया और अकेले होने के कारण वही ग़रीबी फिर लौट आयी। दस साल की छोटी बच्ची और अपने जीवन के लिए वह कुछ भी कर लेता है—किसी दूसरे के खेत से मेह-नत-मशक़्क़त या कुली-मज़दूरी और जैसे-तैसे दिन गुज़र ही रहे हैं . . .

अँगीठी के सामने फैली राख पर ही सुरती की पीक थूक कर गूमा दूसरी कथा का सूत्र पकड़ता है—

"सुनो, सुनो, हे भगवान कुछ जवान लड़कियाँ बाज़ार जा रही हैं। पहले बैलगाड़ी तैयार की गयी, उन्होंने अच्छे-अच्छे कपड़े पहने और खूब सज-धज कर वे लोग निकलीं। राह में खाना आदि पकाने के लिए एक रावत रख लिया गया। वह भी अपने सामान वग़ैरह ले कर आ गया और आखिर सब लोगों को ले कर बैलगाड़ी बाज़ार की ओर चली।

रास्ते में नदी पड़ती थी। पुल उस पार नहीं था और बिना नाव की सहायता के पार करना कठिन था।

"ओ नाव वाले", लड़कियों ने उस पार बैठे नाविक को पुकारा, "अपनी नाव ला कर हम लोगों को उस पार कर दोगे ?"

"कहाँ जाना है ?"

"हम लोग बाज़ार जा रहे हैं।"

"कौन सा बाज़ार ?"

"हमें गाली बाज़ार जाना है। नाव लाते हो ?"

नाव वाला तब भी उसी पार था, वहीं से चिल्ला कर उसने पूछा, "क्या मिहनताना मिलेगा ?"

"पैसे दे देंगे, चलना है ?"

"पैसों का मैं क्या करूँगा ?"

"फिर क्या चाहते हो ? हमारे पास एक पीतल का वर्तन है, चाहो तो उसे ले लो।"

"वर्तन का क्या होगा ?"

"या फिर चावल ले लो।"

"वह मेरे किस काम का ?"

"अच्छा, चावल न सही, सरसों ले लो।"

"सरसों का मैं क्या करूँगा ?"

"तो फिर हम तुम्हें क्या दें? तुम पैसे लेते नहीं, चावल लेते नहीं, बर्तन नहीं, सरो नहीं। बताओ फिर क्या लोगे?"

नाव वाला मुस्कराया, "अच्छी बात है। पहले तुम लोग इस पार तो जाओ। मैं अपना मिहनताना ख़ुद वसूल कर लूँगा।"

तब नाव वाला नाव ले कर इस पार आ गया। पहले सारा सामान ढो कर उसने उस पार किया, उसके बाद फिर लड़कियों को लेने के लिए पहुँचा। बैल थके हुए थे, अतः बैलगाड़ी खोल दी गयी और रावत भी सुस्ताने के लिए बैठ गया। लड़कियाँ नाव पर बैठीं और नदी पार होने लगी।

उस पार पहुँचने पर जब लड़कियाँ नाव से उतरीं, तो नाव वाले ने मुस्कुरा कर कहा—

"मेरा मिहनताना?"

"ले लो, क्या चाहिए?"

"मुझे और कुछ नहीं चाहिए," आगे बढ़ कर नाव वाले ने एक जवान लड़की का हाथ पकड़ लिया, "बस मुझे तो"...

और जब तक वह या दूसरी लड़कियाँ कुछ कहतीं, नाव वाले ने उसे फ़ौरन अपनी गोद में उठा लिया और पास की झाड़ी में घुस गया...

उसके आगे गूमा ने क्या कहा, यह सुन पाना हम लोगों के लिए कठिन हो गया। उसके चेहरे पर तैर रहे भावों की ओर ध्यान देने का भी किसी को अवकाश नहीं था, क्योंकि बीच ही में सारे युवकों की हँसी इतनी ज़ोर से उभरी कि घोटुल का छोटा सा कमरा गूँज कर रह गया और तभी बाहर कोई कुत्ता ज़ोर-ज़ोर से भोंकने लगा था।

—खुर्जेवालान, दौलतगंज,
ग्वालियर-१

रमा सिंह

दो कविताएँ

(संदर्भ पाकिस्तानी आक्रमण)

युद्ध और सैनिक

तुम : जो समय के अश्व की,
वल्गा को तराशते हो
तुम : जो भृकुटि-संकेतों से
भूकंप लाते हो
तुम : जो तथाकथित दुर्भेद्य 'पैटन टैंकों' को
खिलौनों सरीखा तोड़ते हो
तुम : जो 'सेबरजेटों' को
कौतुक से मरोड़ते हो
कुचक्र पर बने हुए प्रासाद को
तुमने ही—
कच्चे घड़े की तरह फोड़ा है
निश्चय ही, युग के इतिहास में
तुमने एक नया अध्याय जोड़ा है।

दिशाएँ तुम्हारे पराक्रम को देख
स्तब्ध रह गयी हैं;
सरिताएँ तुम्हारे शौर्य का गीत
गुनगुनाती हैं;
सूर्य और चंद्र—
तुम्हारी दीप्ति से फीके पड़ गये हैं;
नक्षत्र तुम्हारे कृतित्व को
सुनहरे अक्षरों में

सँजो रहे हैं;
धरित्री तुम्हें धारण कर
निहाल हो गयी है,
और आकाश—इतना व्यापक हो कर भी—
तुम्हारा यश समेटने में
असमर्थ है।

भावांजलियाँ

डाल से एक फूल झर गया
देवता के चरणों पर
अर्पित हो
सार्थक हो गया :
नश्वरता को
अमर परिभाषा मिली
फैले हुए अवकाश ने झुके हुए माथे से
यह गंध
अपनी अंजलि में सहेज ली...

२

इन्हें भूले से भी
बुझा हुआ दीप मत कहना...
ये ज्योति के अक्षय बिंदु हैं
इनका कृतित्व
ध्रुव की तरह
मार्ग-दर्शन करना...

३

अनगिन मस्तक झुक रहे तुम्हारी स्मृति में
मन का स्पंदन बनी तुम्हारी आहुति है
अनगिन आँखों के सिंधु अर्घ्य बन कर उफने
इतिहास सुनहरा हुआ तुम्हारी ही कृति से।

●

२७२, शिवरोड रतनाडा,
जोधपुर।

कुँवर नारायण

गोस्वामी बाबा तुलसीदास : एक आधुनिक मूल्यांकन

तब रामनाम की बहुत बड़ी महिमा थी,
जब तुमने रामचरितमानस तैयार किया :
तुम पर थी राजा रामचंद्र की छाया,
मौक़े से रच कर रामायण भव पार किया।

इस युग में जन्म लिया होता यदि तुमने,
हो जाती छीछालेदर अच्छी - ख़ासी :
अवधी में कविता करते — कहलाते गँवार,
होते ज्यादा से ज्यादा तुम चपरासी।

दोहा, चौपाई, भक्ति धरी रह जाती,
जब पड़ते तुम पर उलटे - सीधे रद्दे :
'नानापुराण. . .'की नानी याद आ जाती
करता मज़ाक जब पैसा भद्दे-भद्दे।

'बेबी' की सालगिरह पर 'बॉस' बुलाता,
धुत् पिये बैठते कविता सुनने बदतमीज़ :
लेकर डकार कोई मनचला मचलता—
'हो जाये बाबा अब कोई मसखरी चीज़!'

हो सकता है तब भी तुम लिखते जाते,
साधारण होती नहीं भक्ति की भक्ती :
अपमान, अनादर, सह कर भी जी लेते,
कविता भी लिखते, तुकबंदी की वक़्ती।

लेकिन जैसा लाज़िम है, जनप्रिय होते ही
हो जाता शुरू तुम्हारा फिर पब्लिकीकरण,
दल के दल दंगल करते तुमको ले कर——
हर दल का डंडा होता जनसाधारण!

संतों की भीड़ तुम्हारे घर पर लगती,
रामायण कम सुनते, ज्यादा देते सुझाव,
बाबा, सच मानो, भक्त तुम्हारे तुमको
लड़वा कर ही रहते अयोध्या से चुनाव!

●

विष्णुकुटी,
महानगर, लखनऊ ।

श्रीहरि

देवी उपयोगिता

प्रीति, क्षमा, करुणा, कृतज्ञता की
आत्मजाएँ,
कह दो—किनारे रहें!

संस्कृति-सुतों से कहो—
स्वागत-संनद्ध हों,

कलियाँ कला की बिछ जायँ
राज-पथ पर!

दर्शन
ऋचाओं के साधे समवेत गीत!

युग-चेतनाओ,
सावधान हो!

रथ को बढ़ाये हुए
आतीं बड़े वेग से
देवी उपयोगिता!

●

एम० एम० कॉलेज ऑफ़ आर्ट्स,
विले पार्ले (पश्चिम),
बंबई—५६।

परमानन्द श्रीवास्तव

एक अ-कविता

मेरे बच्चे ने
मेरे हाथ की लिखी कविताओं पर
अनर्गल रेखाएँ खींच दी हैं
और पहली बार मेरे मन में
एक दुर्निवार संदेह पैदा कर दिया है
सच्चाई के बारे में—
कि वह कहाँ है !

खाका, जिसे मैंने सूर्यास्त कहा था
शायद दोहपर का हो
या सुबह के फीके अँधेरे का
या उस अकेले नाम-पट्ट की स्मृति भर हो
जिसे संध्या के हारे-थके पक्षियों के समूह ने ही पढ़ा है

नदियाँ, मेरे लिए
एक भूले हुए वसंत की तरह स्थिर हैं
और हवाएँ
पिघलते हुए अँधेरे में निश्शब्द
कटे-पिटे रास्ते मेरे मस्तिष्क में बंद हैं
उनमें ही बंद हैं मेरी चोट-खायी इच्छाएँ
(संकल्प मेरा कोई नहीं था)
मैं उन्हें खींच कर बाहर लाना चाहता हूँ
और डरता हूँ

ग़लत होता हूँ और
पूछता हूँ—
सच्चाई ! वह कहाँ होती है !

सच होते हैं हमारे पैरों के निशान
या संकेत
जो हवा में होते हैं
और समय-जल पर अपनी छाप छोड़ते हैं
और पैरों को ठेल देते हैं
(आगे, या पीछे यह कोई प्रश्न नहीं
मात्र परिस्थिति है)
या परिणाम
जिन पर हम कभी नहीं पहुँचते
मैं पूछता हूँ और पाता हूँ कि
अनजाने ही मेरी कविताओं की किताब बंद हो गयी है।

●

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
सेंट एंड्रयूज कॉलेज, गोरखपुर।

विश्वम्भरनाथ उपा

रस की समसामयिकता का स्वरू

क्या आधुनिक काव्य और कलाओं का विवेचन रस-सिद्धांत के आधार पर संभव है?

हिंदी में द्विवेदीयुगीन काव्य तक प्राचीन काव्यशास्त्र का निकष समर्थ प्रमाणित है। वस्तुतः द्विवेदीयुगीन काव्य में भी प्रकृति का आलंबनगत चित्रण रस-सिद्धांत की परंपरा मान्य कोटियों में नहीं आ पाता, क्योंकि प्रकृति-प्रेम को मानवीय भावनाओं से अधिक महत्व प्रथम द्विवेदी युग में ही मिला। प्रकृति के प्रति स्वतंत्र प्रेम को प्राचीन व्याख्याओं की दृष्टि से तो 'रति' का ही परिवार-विस्तार माना जायगा अथवा 'प्रकृति-प्रेमरस' को स्वतंत्र रस घोषित करना होगा। भरत के पश्चात रसों की संख्या-वृद्धि को देखते हुए 'प्रकृति-रस' की कल्पना अयुक्त भी नहीं है!

किंतु छायावादी काव्य में प्रथम बार परंपरागत काव्य से पर्याप्त भिन्नता मिलती है। 'कल्पना का अतिरेक' छायावाद की विशेषता थी। इस काव्य में 'प्रकृति-रस' अत्यधिक संवर्द्धित हुआ तथा भावुकतापूर्ण रचनाएँ भी प्रस्तुत हुईं, किंतु भावोच्छ्वासपरक काव्य तो स्पष्ट प्राचीन रसवाद की प्रसिद्ध कोटियों में सिमट जाता है। उदाहरणतः 'रति' स्थायी भाव का ही विस्तार रहस्यवादी काव्य में मिलता है, आसक्ति चाहे 'ज्ञेय' के प्रति हो अथवा 'अज्ञेय' के प्रति, अंततः मानव की प्रेम-भावना की ही—मिलन-विरह की ही अभिव्यंजना रहस्यवाद की विशेषता है। आचार्य शुक्ल ने 'अज्ञेय' के प्रति प्रेम की कृत्रिमता का औचित्य स्वीकार नहीं किया, किंतु 'रति' ही रहस्यवाद की मुख्य भावना है। अतः आपाततः विभाव संबंधी कुछ कठिनाई उपस्थित होने पर भी रहस्यवादी रचनाओं की व्याख्या 'रसवाद' द्वारा संभव हुई है। प्रगतिवादी या प्रगतिशील काव्य में तो उत्साह, क्रोध, घृणा, शोक आदि की सीधी व्यंजना हुई है। अतः इस काव्य का विषय 'करुणा' होने के कारण 'रसवाद' के आधार पर उसकी विवेचना सहज ही हो सकती है।

किंतु अतिशय 'नवीन काव्य' में 'स्थायी' का संचारीकरण और 'संचारी' भावों का 'स्थायीकरण' हुआ है अर्थात नये कवियों ने अत्यधिक व्यक्तिगत चित्तवृत्तियों को स्थायी भावों का गौरव दिया है। अत्यधिक निजी अनुभूतियों को 'सामान्य' बनाने के इस विराट प्रयत्न में स्वभावतः आठ-नौ स्थायी भाव मानने वाले प्राचीन 'रसवाद' को अपनी समसामयिकता प्रमाणित करने में कठिनाई हुई है। किंतु सिद्धांत वही है, जो सार्वभौम हो।

क्या इस नवीन काव्य के विषय में 'रसवाद' कुंठित हो गया है? यदि रसशास्त्र के विकास पर ध्यान दिया जाय, तब तो ऐसा प्रतीत नहीं होता। यूरोप के नवीन 'काव्यशास्त्र में ग्रीक काव्य-

शास्त्र को 'मूलतः' इस प्रकार समेट लिया गया है कि वहाँ के 'काव्य' और 'शास्त्र' दोनों क्षेत्रों में एक सैद्धांतिक निरंतरता स्पष्टतः दिखायी पड़ती है। रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों में भी मार्क्स-पूर्व के कला संबंधी सिद्धांतों से यथास्थान सर्वत्र लाभ उठाया गया है। रूस में बैलिस्की, चर्नि-शेविस्की जैसे लेखक 'जनवादी' लेखक कहलाते हैं; मार्क्सवादी नहीं। भारतवर्ष में इस सैद्धांतिक निरंतरता के लिए प्राचीन शास्त्र की युगानुरूप व्याख्या करनी होगी अन्यथा प्राचीन और नवीन समानांतर पथों पर प्रधावित होते रहेंगे, जैसा हिंदी में आज हो रहा है। यद्यपि कुछ अग्रचेता उक्त दिशा में भी कार्यरत हैं, पर अभी तक प्राचीन को अपने ढंग से समेटते हुए किसी ऐसे साहित्यिक मापदंड का विकास नहीं हो पाया है, जिसका स्वरूप सबको स्पष्ट हो।

प्रश्न यह है कि यदि आधुनिक काव्य और कला ने संचरणशील चित्तवृत्तियों को अधिक महत्व दिया है, तो क्या वह रसवाद से विवेचित नहीं हो सकता। 'रसवाद' का सबसे बड़ा दोष यह था कि उसमें परिवर्तनशील यथार्थ पर विचार नहीं हुआ। 'बाह्य' यथार्थ के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण मनुष्य के अंतर्मानस में भी परिवर्तन स्वाभाविक है। अतः किस प्रकार यह यथार्थ बदलता है, किस प्रकार वह विभिन्न प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर के कला और साहित्य में नवीन रुचियों, नवीन मानव-मूल्यों और नवकला-रूपों और नवीन आस्वादों (रसों) की सृष्टि करता है, यह निर्णायक-तत्वज्ञान 'रसवाद' द्वारा उपेक्षित ही रहा और वह भी इसलिए कि रसवादी मध्य युग में समाज 'आत्म-जागरूक' नहीं हुआ था। फिर भी भारतीय दर्शन में 'परिवर्तन', 'क्षणवाद' आदि पर गहन विचार हुआ है। रसवादियों ने जगत की परिवर्तनशीलता को एक सहज सत्य मान कर रसवाद के क्रोड़ में उस पर विचार नहीं किया। आधुनिक काव्यशास्त्र के निर्माता यह कार्य कर सकते हैं।

किंतु अनुभूतियों-चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के कारणों पर विचार न होने पर भी उनकी दृष्टि से कला और काव्य पर रसवाद महत्वपूर्ण प्रकाश प्रक्षिप्त करता है। अनुभूतियों की विभिन्नता की स्वीकृति का विकास बड़ा रोचक है। आधुनिक काव्य की निजी अनुभूतियों के विकास को इसी उक्त विकास से जोड़ना कुछ कठिन नहीं है। भरत के संमुख संभवतः निर्वेदपरक साहित्य का अभाव था। अतः जैन-बौद्ध लेखकों की इस प्रकार की कृतियों के पश्चात 'विवेचन' की समस्या उत्पन्न हुई, उसी प्रकार जिस प्रकार यह समस्या आज हमारे संमुख है। फलतः 'शांत रस' को नाट्य में स्वीकार न कर के भी भरत-परंपरा में ही आचार्यों ने 'काव्य' में उसे स्वीकार कर लिया (**काव्य-विषयत्वं न वार्यते—दशरूपक**)। इसके सिवा कवियों ने मुख्य 'नव रसों' के स्थायी भावों के अतिरिक्त कई संचारियों को केंद्र बना कर ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें स्थायी संचारी के स्थानापन्न हो गये और संचारी स्थायी के आसन पर आ विराजे। कुछ-कुछ आज जैसी ही परि-स्थिति रही होगी। ऐसी रचनाओं का ढेर लग गया, जिनमें 'रति' का आयाम-विस्तार किया गया और स्त्री-पुरुष के मध्य 'रति' के स्थान पर लोभ, स्नेह, प्रीति जैसे संचारियों को 'स्थायी' भाव का पद दे दिया गया। आचार्यों ने रसवाद को आवश्यक मोड़ दे कर शांत, प्रेयस्, वात्सल्य, भक्ति, स्नेह, श्रद्धा, ब्रह्म आदि रसों की कल्पना की। यहाँ तक कि 'लौल्य' (अनुचित आसक्ति, स्थायी

भाव, यथा सीता के प्रति रावण की आसक्ति) ही नहीं, शिकार (मृगया रस) और जुए (अक्ष) को भी 'रस' घोषित कर दिया गया :

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ! !

परंपरा के प्रति अंधश्रद्धा के कारण भरत द्वारा प्रतिपादित रस-योजना में ही यत्किं परिशोधन कर के परंपरावादी आचार्य मौन हो गये। यह भी नहीं सोचा गया कि स्वयं प्रा में भी कुछ प्रबुद्धचेताओं ने नवीन अनुभूतियों को 'रस' का गौरव दिया है, बशर्ते प्रतिभा कवि उन नवीन अनुभूतियों को आस्वादकारी बना सकें।

रुद्रट ने भरत की रस-व्याख्या का निम्न अंश चुन कर 'आधुनिकतम' व्याख्या की है आधुनिक कवि अपना सकता है—**अत्र रस इति कः पदार्थः ? उच्यते; आस्वाद्यत्वात्।** आस्वाद के कारण 'रस' कहलाता है, लोक में मज़ेदार चीज़ को 'रसीली' कहते ही हैं। क्या 'सामान्य' या अधिक व्यापक आठ स्थायी भाव ही संचारियों के सहयोग से 'रस' में परिणत हैं? रुद्रट के अनुसार चित्तवृत्ति मात्र में 'आस्वाद' की शक्ति होती है, अतः जितनी चि वृत्तियाँ, उतने रस ! मुख्यतः भरत ने ४९ भावों का वर्णन किया है, जिनमें आठ स्थायी भाव संमिलित हैं। रुद्रट के अनुसार ये सारे भाव 'रस' में परिणत हो सकते हैं :

इति मंतव्या रसाः सर्वे
रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वापि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः।

नेमि साधु ने रुद्रट के 'काव्यालंकार' के उक्त स्थल की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है ऐसी कोई चित्तवृत्ति नहीं है, जो 'रस' न बन सके : **यदुत नास्ति सा कापि चित्तवृत्तिः परिपोषं गता रसो न भवति।**

भरत द्वारा प्रतिपादित कला-प्रक्रिया में एक स्थायी चित्तवृत्ति को अन्य 'क्षणिक' संचर शील मानसिक स्थितियों द्वारा 'पुष्ट' करने पर बहुत बल दिया गया है और उसका कारण किसी वर्ण्य मानसिक स्थिति को इतना तल्लीनकारी बना दिया जाय कि उसके मंच पर प्रद अथवा काव्य-पठन के समय प्रेक्षक या पाठक अभिभूत हो उठे। अतः किसी एक भाव को अ भावनाओं द्वारा 'पुष्ट' करने की प्रवृत्ति भारतीय काव्य की विशेषता है। संभवतः इसी अर्थ नेमि साधु ने 'परिपोष' शब्द का प्रयोग किया है। उसका तात्पर्य यह है कि कवि चाहे जिस चि वृत्ति (अनुभूति धारणाजन्य हो, चाहे वस्तुजन्य अथवा भावजन्य) का वर्णन करे, उसे अन्य चि वृत्तियों द्वारा उस केंद्रस्थित चित्तवृत्ति को अवश्य 'पुष्ट' करना चाहिए, अन्यथा कला अभि नहीं कर सकती, वह चेतना में एक हलका स्पर्श दे कर समाप्त हो जायगी, चाहे वह स्पर्श विस्म परक हो या आघातात्मक अथवा हर्षपरक या रोमांटिक। अतएव मार्मिकता के लिए किसी चि वृत्ति को 'सौरमंडलीय पद्धति' पर व्यंजित करना चाहिए, जिसमें केंद्रस्थ अनुभूति अन्य सहाय चित्तवृत्तियों को आलोकित करती हैं, किंतु बिना सहायक चित्तवृत्तियों के केंद्रस्थ अनुभूति आकर्ष

के अभाव म अस्तित्व-रक्षा नहीं कर सकती और न संभवतः उसमें आलोक प्रदान की शक्ति ही आ पाती है।

'नये' काव्य में एकाकीपन से उत्पन्न 'ऊब', निरर्थकताबोधजन्य 'अवसाद' और सर्व अनुभूतियों को सूत्रबद्ध करने वाले किसी जीवनादर्श के अभाव में प्रत्येक 'क्षण' में स्फुरित हो उठने वाले अनुभवों को सटीक बिंबों में व्यक्त करने की अधिक प्रवृत्ति है। इनके अतिरिक्त 'नये' काव्य में अनेक पुरानी अनुभूतियाँ उल्लास, आशा, उत्साह, रति, क्रोध, भय, जुगुप्सा, निर्वेद आदि भी वर्णित हो रही हैं। ऐसे स्थलों में तो 'रसवाद' व्यापक माना ही जायगा। किंतु निषेधवादी मनोवृत्तियों के वर्णन पर भी 'नेमि साधु' और 'रुद्रट' की दृष्टि स्वीकृत हो सकती है, क्योंकि सुख, दुखात्मक होने की तरह मनोवृत्तियाँ या तो आशा, उत्साह की तरह भावात्मक होती हैं अथवा 'ऊब', 'संदेह', 'अनिश्चितता' निरर्थकता की अनुभूति आदि के सदृश निषेधवादी। अतः चित्तवृत्ति मात्र का रसत्व स्वीकृत होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि किस विधि पर? उक्त पुष्टिवाद की विधि पर अथवा अन्य भी कोई विधि हो सकती है ?

इसमें किंचित भी संदेह नहीं कि भावाभिभूत कर देने वाली काव्य और कला की विधि 'पुष्टिवाद' ही है, अर्थात किसी एक मनोवृत्ति को तब तक अधिकाधिक संचरणशील भावनाओं से 'पुष्ट' करना, जब तक पाठक की क्रमशः जाग्रत चेतना दैनिक जड़ता को तोड़ कर कुछ क्षणों के लिए एक उच्चतर स्तर पर 'स्व-पर' से मुक्त हो कर भावनिमग्न न हो जाय। इस विधि को आधुनिक कवि छोड़ कर चलना चाहता है, परंतु सर्वत्र नहीं। आधुनिक काव्य की सर्जन-प्रक्रिया का अध्ययन करते समय यह देखना होगा कि किस विधि द्वारा कवि किस चित्तवृत्ति को आकर्षक बनाता है। यह तो मानना ही होगा कि बहुत सी रचनाएँ इतनी संक्षिप्त हैं कि उनमें उक्त 'पुष्टिवाद' के प्रयोग की गुंजाइश ही नहीं है, अतः ऐसे स्थलों पर किसी चित्तवृत्ति के वर्णन का आकर्षण क्या है, यह खोजना होगा। ऐसी उक्तियों में आकर्षण यों भी हो सकता है कि वह 'आधुनिक यथार्थ' को वाणी दे रही हों। इतिहास जहाँ मोड़ ले रहा हो, वहाँ सीधा सत्य कथन भी आकर्षक हो उठता है यथा कबीर की उक्तियों में और ऐसा सोचना भी ग़लत है कि मात्र धारणाओं की घोषणा आकर्षक होती है, कबीर की 'खरी वाणी' में उनके चित्त पर असत्य से उत्पन्न प्रतिक्रिया की तीव्रता ही उनकी धारणाओं को और भी आकर्षक बना देती है।

एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि किसी चित्तवृत्ति की नवीनता के कारण आकर्षण आ जाय; 'नयी कविता' में अशक्त उक्तियाँ भी विचित्र अनुभवों की नवीनता के कारण ही कुछ समय तक रोचक लगती हैं। कभी नवीन बिंबों से पुरानी चित्तवृत्तियाँ भी मार्मिक हो उठती हैं; वाक्चातुर्य अथवा भामह के शब्दों में 'वक्रोक्ति' से भी नूतन चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति सफल हो जाती है। अतः यदि कवि पाठक को भावाभिभूत नहीं करना चाहता, वह यदि उसे कभी चकित करता, कभी आघात करता, कभी पकड़ कर झिंझोड़ता, कभी खिझाता, कभी रिझाता और कभी **उसके सामने 'रिरियाता' है, तो वह उक्त प्राचीन 'पुष्टिवाद' को यथावत अपनाने के लिए विवश नहीं** है। 'नेमिसाधु' ने यह कहा भी नहीं है कि वर्ण्य चित्तवृत्ति का परिपोष किस प्रकार किया जाय; प्रतिभाशाली कवियों के संमुख अन्य विधियाँ भी हो सकती हैं; उन्हें उन नवीन विधियों के प्रयोग

८

से क्यों वंचित किया जाय ? अतः रसवाद को उक्त आवश्यक मोड़ दे कर नयी कविता की व्याख्या भी 'रसवाद' के आधार पर संभव है। रुद्रट और नेमि साधु के उक्त सिद्धांत को परवर्ती आचार्यों ने इसलिए स्वीकार नहीं किया था, क्योंकि उनके संमुख अधिकांशतः काव्य 'भावविभोरक' ही था। संस्कृत में बहुत अधिक नवीनता की आशा थी भी नहीं। उसके काव्य का 'पैटर्न' निश्चित सा हो गया था, अतः काव्यशास्त्र की भी एक निश्चित परिपाटी है, किंतु जैसा उक्त विवेचन से स्पष्ट है, उसमें पर्याप्त नमनीयता है। उसमें एक निश्चित परिपाटी के भीतर प्रवाहित होने वाले भी ऐसे 'फ़्लैशिस' हैं, जिनका विकास कर हम सैद्धांतिक नैरंतर्य का निर्वाह कर सकते हैं।

स्वयं भरत के अनुसार स्थायी भावों में प्रत्येक दूसरे स्थायी भाव का संचारी हो जाता है; यथा 'रति' स्थायी के संचारियों में उत्साह, भय, हर्ष आदि की गणना की गयी है। इसी विधि से संचारियों में 'निर्वेद' को स्थायी बना कर शांत रस की सृष्टि की गयी, जिसमें निर्वेद के अतिरिक्त अन्य संचारियों का प्रयोग किया गया। इसी आधार पर 'एकाकीपन', 'असहायतावोध', 'अवसाद' आदि को स्थायी बना कर अन्य मानसिक स्थितियों को सहायक बनाया जा सकता है, अथवा बिना इस 'पुष्टिवाद' के अन्य किसी विधि से नूतन चित्तवृत्तियों को व्यंजित किया जा सकता है। निकष केवल यह है कि यदि किसी चित्तवृत्ति का वर्णन 'आस्वादपरक' है, मार्मिक है या कम से कम वह अभिव्यक्ति 'आकर्षक' है, तो उस कवि को नूतन रस-सृष्टि का गौरव देने में कृपणता का कोई कारण नहीं है। 'तीसरा सप्तक' के एक कवि ने 'ऊब रस' का उल्लेख भी कर दिया है। अतः सामाजिक दृष्टि से नूतन चित्तवृत्तियों का औचित्य विवेचित होगा और कला की दृष्टि से यह देखना होगा कि कोई संवेदित धारणा, ऐंद्रिक बोध या मानसिक स्थिति किस प्रकार व्यक्त की गयी है और क्या कवि उसे 'रसमय' या 'स्वादिष्ट' बना सका है। यह स्मरणीय है कि स्वाद लोक में छः प्रकार का और काव्य में अनेक प्रकार का होता है। अतः 'आस्वाद' अनेकरूपी और अनेक मात्रा वाला भी होता है। प्रश्न अब यह नहीं है कि क्या प्राचीन काव्य-सिद्धांतों द्वारा नूतन का विवेचन होना चाहिए; प्रश्न वस्तुतः अब यह है कि नूतन काव्यशास्त्र या नूतन सौंदर्यशास्त्र के निर्माण में प्राचीन धारणाओं का उपयोग किस प्रकार और किस सीमा तक होना चाहिए। यह लेख इसी दिशा में विचारकों को प्रेरित करने के लिए लिखा गया है, किसी पूर्वनिश्चित धारणा के प्रसार के लिए नहीं—**वादे वादे जायते तत्वबोधः ।**

—रीडर, हिंदी विभाग
राजस्थान, वि० वि०, जयपुर

रमेशचंद्र शाह

रचना के बदले

पिछले तीन दिनों से एक विषय को ले कर लगातार सोचे जा रहा हूँ—कुछ भी, कहीं भी। क्योंकि सोचना ही प्रधान हो उठा है; विषय की कोई निश्चित रूपरेखा मेरे मन में नहीं बन पायी, इसलिए किसी एक ध्रुव केंद्र के चारों ओर मेरा चिंतन चक्कर नहीं काट रहा, यों ही निरुद्देश्य, स्वैर मनचाही रेखाओं में संचरण करता रहा है—कभी घिसटते हुए, कभी मद्धिम चाल से और कभी बहुत सरपट। हमेशा की तरह उसकी गति एक सीधी रेखा में नहीं है! कोई भी पथ उसके सामने स्पष्ट नहीं है। मंज़िल कहीं पर है, यह एहसास बराबर बना हुआ है। पर वह कहाँ है और किस ओर से उस तक पहुँचा जा सकता है, इसका कोई अनुमान उसको नहीं है। लगता है, जैसे उपलब्धि और निश्चिति का संतोष उसके लिए झूठा पड़ गया हो और संभावनाओं की खोज तक ही वह अपने पराक्रम को फैलाना चाहता हो।

या फिर कहीं ऐसा तो नहीं कि एक सुस्पष्ट मंज़िल और सुनिर्दिष्ट पथ के महत्व को अस्वीकार कर देने के मूल में अनेक मंज़िलों को एक साथ छू लेने का प्रलोभन काम कर रहा हो?

मुझे नहीं मालूम, रोज के अभ्यास से हट कर यह नया तरीक़ा अपनाने की मुझे क्यों सूझी। मुझे तो इतना ही मालूम है कि तीन दिन पहले मेरे मन में एक बात उठी थी—बात क्या, प्रश्न उठा था और तत्काल मुझे सूझा था कि इस पर एक निबंध लिखा जा सकता है। ऐसा अक्सर हुआ करता है—इस बार कोई विशेषता नहीं थी। एक निश्चित विषय सूझा था, जिसको केंद्र बना कर एक निश्चित परिणाम तक पहुँचना था। बस। मगर जब सोचना चल पड़ा, तो लगा कि विषय पीछे छूट रहा है। बमुश्किल रास थामी कि उसे साथ ले कर चलें, तो क्या देखता हूँ कि एक दूसरा ही विषय सामने आ कर खड़ा हो गया है। कुछ निर्णय करने से पहले ही वह मन पर सवार हो गया है। और बेचारा विचार उसके इशारे पर एक दूसरे ही रास्ते पर अग्रसर हो गया है।

यहीं तक होता, तो भी ग़नीमत थी। मगर उस दिन तो भटकने का कोई अंत ही नहीं था। एक रास्ते को पकड़ कर कुछ दूर चलता, तो अकस्मात बीच ही में वह रास्ता ग़ायब हो जाता और दूसरी दिशा में एक और ही रास्ता आमंत्रित करता हुआ झलकने लगता। कम से कम पाँच बार तो पथ-परिवर्तन किया होगा। और सबसे अचरज की बात यह कि हर दिग्भ्रांति का कुछ नया अर्थ, कुछ नयी दृष्टि दे जाती—यहाँ तक कि कुछ देर बाद यही एक प्रतीति मन में जम गयी कि रास्ता यही है कि कोई एक रास्ता नहीं है।

मैंने एक खास विषय-वस्तु को ले कर यात्रा प्रारंभ की थी। यह तीन दिन पूर्व की बात है; आज मुझे यह भी याद नहीं कि वह वस्तु थी क्या। फिर भी जाने क्यों मुझे लगता है कि यह अच्छा ही हुआ। लगता है कि वह एक ही चीज़ मन पर छायी रहती, तो एक क़ैद सी होती; वह उन्मुक्ति, यह खुलाव न रहता। मूल विषय खो गया है, हाथ से छूट गया है, यह तो सच है पर भीतर कहीं इतनी आश्वस्ति है कि वह कभी न कभी फिर मुझ तक पहुँच जायगा।

अभी तक मैंने यही सीखा था कि विषय का अनुसरण करना चाहिए, एकनिष्ठ हो कर बिना इधर-उधर बहके अभी तक इसी सीख पर चलता भी रहा हूँ। किंतु आज स्थिति विपरीत हो गयी है। फ़िलहाल मैं किसी का अनुसरण करने को बाध्य नहीं हूँ। मैंने विषय के प्रति न्याय नहीं किया। फिर भी मुझे विश्वास है कि विषय मेरे प्रति न्याय अवश्य करेगा। न भी करे तो भी मुझे कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि दसियों विषय बारी-बारी से मुझे परस कर चले गये हैं और अभी और परसने आ रहे हैं। शायद वे मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। हाँ, सचमुच ये सारे विषय स्वयं मुझे अपने बारे में बताने को अधीर हो उठे हैं। मानो मुझसे कह रहे हों, "हमने तुम्हें कब बाँधना चाहा? तुम्हीं हमें बाँधना चाहते थे, आज तुम नम्र भाव से हमारे सामने आये हो इसलिए हम भी तुम्हारे ऊपर कृपालु हैं, बोलो, क्या माँगते हो?"

मैं नहीं जानता--विषयों के इस समूह में परस्पर क्या संबंध है, मुझे नहीं मालूम, किस नियम के वशीभूत ये सब मेरे मन-आँगन में एकत्र हो गये हैं? तथापि मेरे अंतर्यामी को कुछ धुंधला सा आभास है, इस बात का कि ये सब कहीं एक दूसरे से जुड़े हैं अवश्य, यही नहीं, इनमें से प्रत्येक मुझसे जुड़ा है। शायद वह चीज़ जो इनको मुझसे जोड़ती है, वही इनको परस्पर भी एक दूसरे से जोड़े हुए हों।

एक के बाद एक विषय वृक्षों की तरह मेरे चारों ओर उग आये हैं--उगते जा रहे हैं और विषयों के इस अरण्य में मैं खो गया हूँ। अलग-अलग प्रकार के ये वृक्ष हैं और ये सारे के सारे इतने पास-पास, इतने सघन घिर आये हैं कि अलग-अलग इनकी पहचान भी धुँधलाती जा रही है। किंतु मुझे इनको अलगाने और पहचानने की चिंता भी नहीं है, मैं तो फ़िलहाल इनके एक-दूसरे की बाँहों में बाँहें उलझाये अपने चारों ओर, अपने ऊपर घिरते और छाते हुए महसूस कर रहा हूँ और इस घिराव-छितराव में ही अपनी मुक्ति का, लक्ष्य-संप्राप्ति का आश्वासन खोज रहा हूँ--नहीं, खोज नहीं रहा, बल्कि पा रहा हूँ। यह संकुलता अनाहूत भले हो, अप्रिय नहीं है। इसी के अंदर से हो कर कहीं मेरी राह गयी है।

और जाने कैसे, यह भी एक प्रतीति मेरे मन में समायी हुई है कि वह मूल बात जिसने इस सारी मानसिक यात्रा को प्रेरित किया, वह चाहे इस सबसे कितनी ही दूर, कितनी ही असंबद्ध जान पड़े, लाभ अंततः उसको भी हुआ है, बात वह, अपने निमित्त से, अपने से बड़ी बातों की ओर इंगित कर के स्वयं न जाने कहाँ लुप्त हो गयी। पर वह लुप्त हुई अंततः एक अधिक गहरे स्तर पर, एक अधिक व्यापक संदर्भ में प्रकट होने के लिए ही। अब वह कब प्रकट होगी, इसका कोई आभास फ़िलहाल नहीं है। कदाचित इस मानस-यात्रा को शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया ही उसे एक अनोखे स्वरूप में, एक अदृष्टपूर्व आलोक में अनावृत कर दे।

अभिव्यक्ति की प्रक्रिया रचनाकार के कथ्य को प्रभावित कर सकती है—करती ही है, तो चिंतन की प्रक्रिया में चिंतनीय विषय का रूपांतरित होते चले जाना अचरज का विषय क्यों हो ?

एक ही चीज़ एक बोध-तंत्र के लिए तर्क का विषय हो सकती है, दूसरे के लिए भावना का, तीसरे के लिए वह मात्र एक दृश्य, मात्र ऐंद्रिक संवेदन हो सकती है। शायद एक चौथे व्यक्ति के लिए वही **वचनानामप्यविषयः** हो उठे। इतना ही नहीं, एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न मनोदशाओं में, विभिन्न अंतरालों से उसी एक चीज़ को अनेक दृष्टिकोणों से ग्रहण कर सकता है। ऐसी अवस्था में वस्तु का सत्य कहाँ निहित समझा जाय—दृष्टि में या वस्तु में ? फिर वह सत्य अपना होगा या सबका ?

वस्तुतः सत्य की समस्या का अंत यहीं पर नहीं हो जाता। आल्डस हक्सले ने साहित्य के अंदर संपूर्ण सत्य और सार—सत्य की बात उठायी थी। उसके अनुसार ऐसी कृतियाँ बहुत विरल हुआ करती हैं, जो जीवन को उसकी संपूर्णता में—अर्थात उसके प्रासंगिक-अप्रासंगिक गंभीर-हास्यास्पद, मार्मिक और फूहड़ सभी संदर्भों के साथ, बिना किसी लाग-लपेट के चित्रित कर देती है। क्लासिक कवियों में एकमात्र होमर में यह संपूर्णता देखने को मिलती है। होमर जब अपने महाकाव्य की शालीनता पर, अपने धीरोदात्त चरित्रों पर, **भावोद्रेक** के चरम विंदु पर भी भूख जैसी अकाव्यात्मक, किंतु दुर्निवार अप्रासंगिकता को चुपचाप, बेहिचक हावी हो जाने देता है, तो वह जीवन के संपूर्ण सत्य की रक्षा कर रहा है।

मगर इस प्रकार के सत्य-चित्रण की आशा हम ग्रीक त्रासदी से भी करें, तो यह हमारी दुराशा ही होगी। क्योंकि त्रासदी में सत्य का सारमय रूप ही समा सकता है। शायद इसी सार-मयता के कारण उसका असर भी तत्काल और बहुत तीव्र होता है। देखा जाय, तो संपूर्ण सत्य की कोई क्षति नहीं होती। होती भी हो, तो उसका आभास नहीं होता। शेक्सपीयर को पढ़ते हुए मुझे हमेशा इसी प्रकार की—इसी प्रकृत जीवंतता की अनुभूति होती है। सोचता हूँ, तो इसका कारण यही लगता है कि शेक्सपीयर न केवल किसी भाव या विचार को शब्दबद्ध करता है, बल्कि उसके उदय, विकास और परिणति की पूरी मानसिक-शारीरिक प्रक्रिया को ही प्रत्यक्ष कर के रख देता है : परिणमित विचार ही नहीं, अपितु उसकी पूर्वगामी सोचने की गति भी यथावत शब्दों में तथा उनकी लय में बिंबित हो आती है—यहाँ तक कि अंतर्द्वंद्व के चरम आवेश-क्षणों में भी वह हमें जीवन की सहज-सामान्य गतिमयता का बोध बराबर कराता रहता है : मार्लो की तरह अति-रंजित आवेशों में बहा कर वह हमें जीवन और नाटक के पार्थक्य का अनुभव नहीं कराता।

शुद्ध 'रोमांटिक संवेदना' की मूलभूत त्रुटि यही है कि उसके अंदर जीवन की बृहत संपूर्णता को मात्र उस कवि के विशिष्ट जीवन के अंतर्गत ही निःशेष समाहित कर देने—दोनों को एक ही मान लेने का—आग्रह काम करता है। रोमांटिक और बाद में अनेक प्रतीकवादी कवियों का कवि-कर्म भी इसी अवधारणा से प्रेरित हुआ है। मगर जीवन सिर्फ़ **कवि का जीवन** ही नहीं है, यदि रोमांटिक कवि खुद को जीवन का मानदंड मान कर रचना में प्रवृत्त होता है, तो उसकी रचना में निहित सत्य कहाँ तक हमें संपूर्ण सत्य की उपलब्धि करा सकेगा, इसमें संदेह की काफ़ी

गुंजाइश हो सकती है। पास्तरनाक ने भी कवि मायकोवस्की की आलोचना करते हुए कुछ इ
प्रकार का संकेत किया है। उनका कहना है कि **रोमांटिक काव्य-दृष्टि की बुनियाद स्वयं क
पर रखी गयी है। किंतु बिना उन सारे कवियों के, कवि के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं
जा सकती, जिनकी अपेक्षा में ही कवि का व्यक्तित्व उजागर हो कर सामने आता है।**

मगर दूसरी ओर हम देखते हैं कि विषय-निष्ठता का अत्याग्रह भी सत्य को क्षत-वि
कर देता है। आखिर क्या कारण है कि आचार्य शुक्ल या बेकन के निबंधों से हमें वह
नहीं मिलता, जो चार्ल्स लैंब से मिलता है?

क्योंकि लैंब अपने विषय के खूँटे से बँधे रहना पसंद नहीं करता। वह तो विषय को
खूँटी की तरह इस्तेमाल करता है और उस पर अपने मन की मौज के मुताबिक़ जाने कहाँ-क
के विचारों, चित्रों और स्मृतियों को लटकाता जाता है। तथापि इस स्वेच्छाचरण के बा
वह हमें बुद्धि और हृदय के अनेक स्तरों पर स्पर्श करता है। कलावादी सौंदर्य का स्पष्ट आ
रहने पर ही सत्यनिष्ठता में कोई कमी नहीं आती। लैंब को पढ़ कर मन में यही विश्वास
होता है कि निबंध की विद्या में भी सत्य सिर्फ़ तर्क, संगति या क्रमबद्धता के नियमों पर नि
नहीं है। चूँकि एक ही निबंध में इन 'बोध' के अनेक स्तरों पर प्रतिक्रिया करते हैं और एक वि
के बहाने कई-कई विषयों की—ज्ञान और अनुभव के कई-कई पक्षों की—झलकियाँ हमें अना
प्राप्त हो जाती हैं, अतः स्पष्ट ही लैंब की कला में अन्य निबंधकारों की अपेक्षा वस्तु के सत्य
अधिक मार्मिक, अधिक संपूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। रचना पढ़ कर हमें यह नहीं लगता कि
लेखक विषय पर छा गया है, न यही कि विषय लेखक पर हावी हो गया है। हम पाते हैं कि ले
ने अपने विषय को हास्य, करुणा, विद्वत्ता, कवित्व, भावना और बुद्धि—सभी कोणों से छुआ—
सिर्फ़ छुआ, ताकि हम उसे संपूर्ण देखें और देख कर ग्रहण कर सकें। उसने हम पर अपनी राय न
लादी, न कोई उपदेश दिया, न हमसे जिरह की। शायद उसका विश्वास है कि सत्य की उ
लब्धि के लिए ये सारे तरीक़े अपर्याप्त ही नहीं, व्यर्थ भी हैं। इसलिए वह कोई स्थापना न दे
अपनी मानसिक प्रक्रिया को, अपने वेदन-तंत्र को ही प्रत्यक्ष कर देता है, ताकि हम उसके अनुभ
को एक अधिक आत्मीय भूमिका पर ग्रहण कर सकें।

किंतु लैंब का उदाहरण जहाँ आत्मनिष्ठता के पक्ष में एक बहुत बड़ी दलील है, वहाँ इ
क्षेत्र में उसकी एकमात्रता इस कोटि की रचना की विरलता और दुर्लभता का प्रमाण भी प्रस्तु
करती है। यों आत्मनिष्ठ लेखकों की कभी कमी नहीं रही। पर इनमें से कदाचित ही कुछ लो
अपने आत्म-चित्रों को लैंब की तरह वृहत जीवन-सत्यों और मार्मिक अंतर्दृष्टियों का माध्यम ब
सकने में सफल हुए हों। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि रोमांटिक कवियों का सहवर्ती और घनि
होते हुए भी लैंब उस काल की प्रवृत्तियों से विलक्षण रूप से कटा हुआ और निस्संग सा है;
या शेली की तरह किसी आदर्शवाद को समर्पित हो रहना, या वर्डस्वर्थ की तरह अपनी विशि
व्यक्तिमत्ता को ही ऐकांतिक रूप से जीवन का मानदंड मान लेना जैसे उसके लिए संभव
नहीं है।

कला की दृष्टि से यदि हम किसी विषय का—एक विषय के बहाने अनेक वस्तुओं का—

स्वतंत्र उद्घाटन चाहते हैं, तो हमारे सामने लैंब का उदाहरण है; किंतु सामान्य जीवन के दृष्टिकोण से, सांसारिक अनुभव और बौद्धिक विवेक के धरातल पर अगर हम सत्य का अनुसंधान करना चाहते हैं, तो हमें मौंतेन के क्लासिक निबंधों को पढ़ना होगा। किसी एक विषय-वस्तु का उसी एक विषय-वस्तु की परिधि में सांगोपांग विवेचन न तो लैंब ही करता है, न मौंतेन; दोनों ही सत्य को आत्म-सत्य के रूप में ही दे सकते हैं। लैंब की भाँति मौंतेन भी अपने जीवनानुभवों और पठनानुभवों को बिना किसी प्रासंगिक एकता या व्यवस्था का ध्यान रखे यत्र-तत्र बिखराता चला जाता है। हल्की-फुल्की चर्चाओं, अध्ययन-प्रसंगों, किंवदंतियों तथा सामाजिक जीवन के सुदीर्घ अनुभवों की बदलती रोशनी में विषय का सत्य अनेक रंगों में झलकता रहता है। केवल मात्र तथ्य ही नहीं, बल्कि तथ्य तक पहुँचने की संपूर्ण जीवंत अनुभव-प्रक्रिया ही हमारे लिए सुलभ कर दी जाती है। अतएव इस प्रकार प्राप्त ज्ञान हमारे अपने अनुभव का ही एक हिस्सा बन जाता है। अन्यत्र हम पाते हैं कि शुद्ध तार्किक पद्धति से विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत किया गया ज्ञान हमें इतनी गहराई से स्पर्श नहीं करता, क्योंकि हम उसको अपनी व्यक्तिमत्ता के एक ही अंश से—मात्र तर्क द्वारा ही ग्रहण करते हैं, पूर्ण सह-अनुभूति या तादात्म्य-बोध के मार्ग से नहीं। इसके विपरीत लैंब या मौंतेन जैसे लेखक जब किसी विषय पर लिखते हैं, तो हम उनके कथ्य से तुरंत जुड़ जाते हैं।

जो सिर्फ़ विद्वान, सिर्फ़ तार्किक होता है, वह सत्य को अपेक्षाकृत सरल स्तर पर ग्रहण करता है। अतः स्वाभाविक है कि वह उसे साफ़-सुथरे ढंग से अभिव्यक्ति भी दे सके। किंतु निरंतर प्रश्नाकुलता और आत्मालोचन जिनका स्वभाव है और जो ज्ञान और अनुभव को उसकी समग्रता में, उसके समस्त मानवीय संदर्भों में खोजने-परखने के लिए विवश हैं, उनके लिए सत्यान्वेषण और सत्याभिव्यक्ति की समस्या इतनी सरल-सुलझ नहीं होती। किसी वस्तु के प्रति अपनी समग्र इयत्ता को ले कर—एकीकृत चेतना से ही—वे संवेदित हो सकते हैं और इसके फलस्वरूप उनकी प्रतिक्रिया बहुत जटिल होती है। साथ ही ऐसे लोगों में, अपने अनुभव के प्रति, अपने आपके प्रति भी एक व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण रहता है, जो अपने आत्म-सत्य को भी बहुत गंभीरता से ले सकने में बाधक सिद्ध होता है। इनसे हम सुसंबद्ध सुव्यवस्थित चिंतन की अपेक्षा नहीं कर सकते। एक अंतर्निहित व्यंग्यशीलता, सशंक प्रज्ञा और जटिल अनिश्चयात्मकता ही इनकी आत्माभिव्यक्ति के मूल में सक्रिय रहती है।

—अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग,
गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज,
सीधी (म० प्र०)

हरीशचन्द्र जायस

अरविंद दर्शन में विकासव

यदि ऐसा कहा जाय कि विकासवादी दार्शनिक विचारधारा का प्रादुर्भाव जीव-वि एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रभाव के फलस्वरूप हुआ, तो अत्युक्ति न होगी। जैविक वि वादी धारा का प्रतिपादन डार्विन, स्पेंसर, ला मार्क प्रभृति विचारकों ने किया। इनके मतानु विकासवाद का मूल लक्ष्य मनुष्य एवं उसके वातावरण में समुचित संयोजन ही है। परंतु शील एवं विकासोन्मुख मानव-जाति अपने वातावरण को एक अपरिवर्तनीय अचल रूप में स्वीकार कर सकी। दूसरी ओर चैतन्यवादी या प्राणवादी विचारधारा विकासवाद को सम में पूर्णतया सफल नहीं हो सकी। क्योंकि साधारण रूप से प्राणवादी विचारधारा, जिसके प्र प्रतिपादक बर्गसाँ आदि हैं। वे विकास को लक्ष्यहीन एक न रुकने वाली प्रक्रिया मानते हैं। आ वादी या प्रत्ययवादी सिद्धांत के विरोध में कहा जा सकता है कि यदि बुद्धि ही परम तत्व है उसके आगे विकास की प्रक्रिया संभव ही नहीं हो सकती। वास्तव में विकासवादी सिद्धांत वर्तन के सिद्धांत से कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं संपन्नशील हैं। विकास का वास्तविक अर्थ सर्वां विकास से लेना चाहिए, जैसा कि महर्षि अरविंद के सिद्धांतों को समझाते हुए श्री माँ ने कहा **हम परिपूर्णता के लिए तरसते हैं: उस मानवीय परिपूर्णता के लिए नहीं, जिसमें अहंकार परिपूर्ति होती है और जो भागवदीय परिपूर्णता के मार्ग में बाधक होती है। हम तरसते हैं परिपूर्णता के लिए, जो पृथ्वी पर सनातन सत्य को अवतरित करने में समर्थ है।**

महर्षि अरविंद समग्र या संपूर्ण विकासवाद के समर्थक थे। उनके अनुसार सर्व शाश्वत के अंतर्गत गमन करता है: समस्त सृष्ट वस्तुएँ उसी के अंदर निवास करती हैं। इसी यहाँ विद्यमान सभी कुछ शाश्वत है; अंत है ही नहीं; मरण है ही नहीं। महर्षि के अनुसार बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पृथ्वी पर दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिए पृथ्वी और जड़ तत्व का त्याग नहीं करना होगा, बल्कि उनको केवल परिष्कृत एवं उन्नत बनाना होगा। दिव्य जी को बराबर ही सिद्ध करना होगा, पूर्णता की ओर अग्रसर कर के, और जीवन के आनंद की पूर्ण उसका एक अत्यंत प्रधान अंग है। वस्तुओं में प्राप्त शरीर का आनंद और शरीर का जीवा इससे बाहर की चीजें नहीं हैं, उनको भी पूर्ण बनाना होगा। समस्त जीवन ही विश्व में प्र होने वाले जीवन में दिव्य एकता की अभिव्यक्ति बन जायगा। जब भौतिक तत्व अतिमा भावापन्न हो जायगा, तब पृथ्वी पर किसी शरीर को जन्म लेना अपने को हीन समझने का का नहीं होगा। विकास की प्रक्रिया चक्रात्मक है। जब यह चक्र पूरा हो जायगा, तब दो छो

मिल जायँगे। जब सर्वोच्च सत्ता अत्यधिक भौतिक जड़ पदार्थ में अपने आपको अभिव्यक्त कर लेगी, तभी अनुभव सच्चे रूप में पूर्ण होगा।

महर्षि की इस साधना का लक्ष्य है कि चेतना शरीर के ऊपर उठे और ऊपर ही ऊपर अपना स्थान ग्रहण करे; हर जगह फैल जाय; शरीर में ही सीमित न रहे। क्योंकि निश्चेतना के एकदम तल में ही परात्पर सत्ता है। सच पूछा जाय, तो परात्पर सत्ता ही परात्पर सत्ता को छूने की शक्ति प्रदान करती है, वही है सर्वशक्तिमान केंद्र। महर्षि के अनुसार विकास के लिए प्रत्यावर्तन का सिद्धांत अत्यावश्यक है। उच्च तत्वों का निम्न तत्वों से विकास तब तक नहीं हो सकता, जब तक यह स्वीकार न कर लिया जाय कि उच्च सिद्धांत निम्न सिद्धांत में निहित है। कार्य कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। शून्य से विकास संभव नहीं, अतः उच्च शक्ति विकास के पहले निम्न तत्वों में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है, ऐसा मानना पड़ता है।

श्री अरविंद के अनुसार विकास व्यावर्तन के सिद्धांत के विपरीत की प्रक्रिया है। व्यावर्तन के सिद्धांत में अंतिम उपलब्धि, विकास की प्रक्रिया में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होती है। व्यावर्तन के सिद्धांत में मौलिक एवं प्राथमिक तत्व विकासवाद के सिद्धांत में अंतिम उपलब्धि के रूप में स्थित रहता है।

विकास की प्रक्रिया में तीन तत्व निहित हैं: विस्तारिता, उन्मुखता एवं समन्वयशीलता। विस्तार की प्रक्रिया द्वारा निम्न सिद्धांत का परिमार्जन होता है। यदि पशु में जीवन है, तो इसलिए क्योंकि उसका शरीर स्थूल भूततत्व में परिमार्जित एवं परिष्कृत हो कुछ सूक्ष्म एवं विकसित रूप पा गया है। मनुष्य में बुद्धि इसलिए विकसित हुई है, क्योंकि मानव-शरीर पशु के शरीर की तुलना में अधिक परिष्कृत एवं सूक्ष्म स्वरूप प्राप्त कर चुका है। उसकी बौद्धिक एवं मानसिक शक्तियाँ अधिक संवेदनशील हो चुकी हैं।

विकास की दूसरी प्रक्रिया चित्शक्ति की ओर उन्मुख होना है। श्री अरविंद के अनुसार—**संपूर्ण विकास, सार रूप में, चित्शक्ति का उन्नयन है; जिससे यह, जो अभी भी अप्रत्यक्ष है, द्रव्य से जीवन में, जीवन से मानस में, मानस से आत्मा में महत्तर परिमाण में उन्नत हो सके।**

विकासवाद की तीसरी महत्वपूर्ण प्रक्रिया समन्वयशीलता की है। इस प्रकार इन तीन प्रक्रियाओं के संयोजन से ही विकास संभव है।

दर्शन पर बहुधा अव्यावहारिकता का आरोप लगाया जाता है। पर अरविंद का दर्शन इन आरोपों से सर्वथा मुक्त है। उन्होंने केवल दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही विकासवाद को आध्यात्मिक मान्यता पर ही विकसित नहीं किया, वरन उसे एक व्यावहारिक आधार भी दिया। उन्होंने बताया कि किस प्रकार मानव-समाज कुछ मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं से गुज़रता है। आरंभ में मनुष्य की प्रकृति प्रतीकात्मक थी। इस अवस्था में स्थित मानव का जीवन, धर्म, दर्शन, समाज, राजनीति सब कुछ प्रतीकात्मकता से ओतप्रोत था। मानव-समाज की दूसरी अवस्था तब आती है, जब वह मनोवैज्ञानिक विचारों और नैतिक आदर्शों की ओर उन्मुख हुआ। इस अवस्था के फलस्वरूप कुछ ऐसे आदर्शों का निर्माण हुआ, जो इस काल के समाप्त होने के पश्चात भी मानव-

९

जीवन पर अपना अमिट प्रभाव डाले रहे। उदाहरणार्थ ब्राह्मण दया, पवित्रता, शुद्धता एवं ... का प्रतीक बन गया।

मानव-समाज की अभिसामयिक स्थिति का जन्म तब हुआ, जब तथ्यों और आदर्शों ... बाह्य आधार आदर्शों से भी अधिक महत्वपूर्ण माने जाने लगे। प्राचीन मान्यताएँ रूढ़ि के ... में बदल गयीं। यद्यपि यह सत्य है कि इस युग में भी मानव-सभ्यता ने विकास की विस्तृत ... में एक और क़दम बढ़ाया था। परंतु अब भी विकासात्मक तत्व अपनी ताम्रावस्था में थे, ... वस्था में नहीं। यह वह समय था, जब सत्य को प्राप्त करने की चेष्टा में मानव रत था। ... अब भी वह सत्य पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सका था। सत्य का वाह्य आधार कलात्मक तत्वों ... पूर्ण हो आडंबर की ओर अग्रसर होने लगा था। वास्तविक सत्य रूढ़िवादिता के नियमों में ... हो गया था।

मानव-सभ्यता की चौथी अवस्था का उदय तब हुआ, जब सत्य और परंपरा तथा ... के बीच की खाई असाध्य हो गयी। जब मानव ने अनुभव किया कि इन परंपराओं में वास्तविक ... सत्य का लोप हो गया है और वह केवल असत्य के आधार पर जी रहा है। तब मानव-सभ्यता ... के इतिहास में व्यक्तिवादी युग का अभ्युदय हुआ। इस युग में तर्क की प्रधानता थी। इस प्र... विकास के विभिन्न सोपानों से पार करती हुई मानव-सभ्यता आत्मिक अवस्था में पहुँचे... श्री अरविंद के अनुसार एक ऐसी अवस्था आयेगी, जब विश्व के विभिन्न अंग-उपांग, अणु-परमाणु ... आध्यात्मिक चेतना से ओतप्रोत हो जायँगे। इस अवस्था में मनुष्य अपने वास्तविक आत्मा ... पहचानेगा। इस अवस्था में मानव का मानस ऐसा परिपक्व हो जायगा कि वह अपनी शक्ति ... का विकास स्वयं कर सकेगा। और दूसरी ओर एक ऐसे समाज की स्थापना होगी, जो ... आध्यात्मिक तत्वों को ग्रहण करने में पूर्ण रूप से सचेष्ट होगा। एक ऐसा समय आयेगा, जब ... पृथ्वी आध्यात्मिक सिद्धांतों से ही चालित होगी। इस परम आध्यात्मिक अवस्था में राष्ट्रीय... केवल राजनीतिक विधान या कार्यक्रम के रूप में ही सीमित नहीं रह जायगी, वरन एक आध्या... त्मिक एवं ईश्वरीय विधान बन जायगा। ईश्वर, स्वतंत्रता और एकता इस युग के तीन महत्व... स्तंभ होंगे।

अंत में निष्कर्ष के फलस्वरूप कहा जा सकता है कि श्री अरविंद का विकासवाद ए... आध्यात्मिक विकासवाद था। उनकी आध्यात्मिकता भौतिक तत्वों का विरोध नहीं करती... विशेषकर जिस समय आज भारतवर्ष एक विषम परिस्थिति से निकल रहा है, राजनीति... विश्रृंखलता एवं भ्रष्टाचार से पूरित भारतीय जनता अपने मार्ग को भूल रही है, उस समय ... अरविंद दर्शन से प्रेरणा मिलती है। वे स्वदेश को माँ के समान मान कर उसकी भक्ति करते ... पूजा करते थे। उनका मत था कि माँ की छाती पर बैठ कर यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के ... लिए उद्यत हो, तो भला लड़का क्या करता है? क्या निश्चित हो कर भोजन करने बैठता है? ... क्या स्त्री-पुत्र के साथ बैठ कर आमोद करती है? या माँ का उद्धार करने के लिए दौड़ पड़ता है? ... अपनी पत्नी मृणालिनी देवी के नाम लिखे गये एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट कहा था: ... **जानता हूँ, इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अंदर है। शारीरिक बल नहीं**

तलवार या बंदूक़ ले कर मैं युद्ध करने नहीं जा रहा हूँ। ज्ञान का बल है। क्षात्र तेज ही एकमात्र तेज नहीं है, ब्राह्म तेज भी है। वह तेज ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होता है। इस भाव को ले कर ही मैंने जन्म लिया है। यह भाव मेरी नस-नस में भरा है, भगवान ने इसी महाव्रत को पूरा करने के लिए मुझे पृथ्वी पर भेजा है।

—९३, कटघर रोड,
इलाहाबाद–३।

कहानी

क़हक़हे ! और क़हक़हे ! हा-हा-हा-हा . . .और हा-हा-हा की यह ध्वनि कुछ इस प्रकार खिंचती जाती है कि हँसने और चीखने में कम ही अंतर रह जाता है।

उस शाम भी क़हक़हों की महफ़िल खूब जमी। क़हक़हे ! अंधड़ की तरह उठते क़हक़हे, बिजली की तरह गरजते क़हक़हे।

सबने एक-एक पेग लगा रखा था और दूसरा पेग गिलासों में उँड़ेला जा रहा था। बाहर ज़ोरों की बारिश हो रही थी, और विश्रामालय के बरामदे से लंबे-लंबे देवदारुओं को भिगोती बारिश कुछ अजब ही मस्ती देती दीख रही थी। और फिर चारों तरफ़ पहाड़ ही पहाड़।

इस वातावरण का प्रभाव शायद उपनिदेशक श्यामकुमार पर सबसे अधिक था। अपने गिलास को अपने होंठों से छुआते हुए बोले, "यारो, ऐसा भी पीना क्या हुआ। ये ऊँचे-ऊँचे पहाड़, यह चारों ओर सब्ज़ाजार, ये झर-झर करते झरने, ये शोर मचाती खड्डें, और हमारी आँखें खाली हों।"

श्यामकुमार की बात सुन कर एक बार फिर क़हक़हे लगे। सबने उनकी ज़िंदादिली की दाद दी और साथ-साथ उनके शायराना अंदाज़ की भी।

डॉक्टर खन्ना भी भला कब पीछे रहने वाले थे। उनकी आँखों में सरूर अभी आ ही रहा था। अपनी जेब को टटोलते हुए उन्होंने एक पर्चा निकाला और बोले, "तो सुनो, मैं तुम्हें सुनाता हूँ आज आधुनिक कविता ! क्या याद रखेगा यह पत्रकार भी !" और उन्होंने महाशय शांतिस्वरूप, पत्रकार एवं स्थानीय अग्रणी व्यापारी की ओर देखा। "हम तुम्हें तब मानें यार, अगर यह कविता 'इलस्ट्रेटेड वीकली' में आ जाय।" और उन्होंने कविता पढ़नी शुरू की। सब वाह-वाह कर उठे। कविता का शीर्षक था : 'कृत्रिम गर्भाधान' ! अभी तक कवियों ने प्रायः मानव-मानवी का दुखड़ा ही रोया था, लेकिन किसी ने गाय-भैंस जैसे पशु के उद्गारों को व्यक्त नहीं किया था। हाय रे विज्ञान ! जब मानव-मानवी एक दूसरे के बिना अधूरे हैं, तब गाय-भैंस ने ही क्या दुष्कर्म किया है कि उसको उसके साथी से वंचित रखा जाय।

इस बार जो क़हक़हे उठे, तो उनमें रस भी लिपटा हुआ था। "ठीक है, ठीक है, और हो जाय, एक और हो जाय।" सबने एक साथ फ़र्माइश की।

अब तक डॉक्टर खन्ना के सरूर में कुछ इज़ाफ़ा हो चुका था, यद्यपि तीसरे पेग के लिए

भी उनको उकसाया जा रहा था। लेकिन पेग लेने से पहले उन्होंने एक और कविता पढ़ना ही ठीक समझा और इसके लिए ज़ोर से उन्होंने अपना गला साफ़ किया। कविता अतुकांत थी।

"ए...

"बी...

"...."

और इस प्रकार 'ज़ेड' तक अक्षरों का सहारा ले कर उन्होंने अपनी आधुनिक कविता द्वारा काम-शास्त्र की बारीकियों को झुठला दिया। लोट-पोट हो गयी महफ़िल यह कविता सुन कर। मि० पीतांबर की आँखों में तो आँसू भी आ गये!

"बहुत दौरे किये, लेकिन याद रहेगा, भाई, यह दौरा भी।" ऐक्सीयन शिवशंकर ने कहा, "काश कि अब पहले वाला ज़माना नहीं रहा! वह भी कोई ज़माना था! अब तो यहाँ के छोकरों को इतनी होश आ गयी है कि क्या मज़ाल उनकी औरत से कोई मज़ाक़ भी कर जाय। वरना पहले तो वो मज़े थे कि बस पूछो नहीं। ज़रा चौकीदार को कह दो और सब हाज़िर! हाँ, एक बात का ज़रूर ख़्याल रखना पड़ता था—कहीं ग़लती से किसी की बीवी पर हाथ डाल दिया तो ख़ैर नहीं। बहन-बेटी की इनको कोई चिंता न थी।"

ऐक्सीयन शिवशंकर के इस स्वीकारात्मक ढंग ने वातावरण में एकाएक पुलक भर दी। उनकी सुन कर अब सब अपनी-अपनी आपबीतियाँ सुनाने लगे थे।

उपनिदेशक श्यामकुमार ने बताया कि उनकी पहली नियुक्ति बहुत मामूली सी थी। केवल चालीस रुपया माहवार से उन्होंने शुरू किया, लेकिन अंग्रेज़ अफ़सर थे कि अच्छा काम करो और झट मेहरबान हो गये। और आज ये मिनिस्टर?

मिनिस्टरों का ज़िक्र शुरू हुआ, तो डॉक्टर खन्ना भी अपने बहाव में बह गये, "यार, मत पूछो इन लोगों की," उन्होंने कहना शुरू किया, "मैंने कलकत्ता से एम० डी० पास किया। मेडिकल कॉलेज में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर लगने का चांस था। लेकिन मिनिस्टर साहब डॉक्टर महाजन को ही इस पद पर लगाने पर तुले हुए थे। एक दिन मैं उनसे मिला और गुज़ारिश की कि जनाब मैं एम० डी० हूँ और वह एल० एम० एस० एक है। भला वह इस पद के क़ाबिल कैसे हुआ! बोले, 'क्यों, डिग्री, उसकी ज़्यादा है कि तुम्हारी?'—मैंने अपना माथा ठोका, और..."

बारिश अब तक कुछ थम चुकी थी। महाशय शांतिस्वरूप उठने को हुए, साथ में मि० पीतांबर भी, लेकिन ऐक्सीयन शिवशंकर और उपनिदेशक श्यामकुमार ने उन्हें कंधों से भींच कर वहीं उनकी कुर्सियों पर जमा दिया। "कैसे चले जाओगे जी तुम, बिना अपनी कुछ सुनाये", ऐक्सीयन शिवशंकर ने मस्ती बिखेरते हुए कहा।

वाक़ई मि० पीतांबर अब तक प्रायः चुप ही बैठे रहे थे, यद्यपि क़हक़हों में योग वे पूरा देते रहे थे। वन-विभाग में पहले-पहल एस० डी० ओ० नियुक्त हुए, उन्हें अभी एक बरस ही हुआ था। ताज़ा उम्र, ताज़ा ज्वानी। बोले, "तो लो, हम भी सुनाते ही हैं कुछ।" और सब एकचित्त हो उनको सुनने लगे।

"मेरी कहानी का शीर्षक है 'कैंप अरेंजमेंट'" उन्होंने किंचित गंभीरता से शुरू किया।

"लेकिन यह 'कैंप अरेंजमेंट' है क्या बला ?" ऐक्सीयन शिवशंकर ने पूछा।

"वाह, खूब ! ऐक्सीयन हो कर भी इसका अर्थ नहीं जानते ? 'कैंप अरेंजमेंट' विभाग की एक खास टर्म है। जब कभी कोई बड़ा अफ़सर अथवा मिनिस्टर आ रहा हो, तो लिए ठहरने से ले कर खाने-पीने तक सब प्रकार की व्यवस्था करनी होती है। इसको कहते 'कैंप अरेंजमेंट'।" और उन्होंने अर्थपूर्ण ढंग से सबकी ओर देखा। अपनी बात जारी रखते वे बोले,

"तो सुनिए। हमको खबर आयी कि हमारे मिनिस्टर साहब आ रहे हैं और उनके लि 'कैंप अरेंजमेंट' करना है। बीहड़ जंगल और वहाँ सब कुछ जुटाना ! खैर, बुलाया मैंने रेंजर और कहा कि सब इंतज़ाम बिल्कुल दुरुस्त होना चाहिए। रेंजर अपने भरोसे का आदमी बोला, आप चिंता न करें, सब 'ए-वन' होगा। रेंजर ने वन-रक्षकों को बुलाया और बताया कि मिनि- स्टर साहब आ रहे हैं, और उनके लिए 'कैंप अरेंजमेंट' करना है। मिनिस्टर साहब को तीसरे रोज़ आना था। इसलिए समय काफ़ी था। वन-रक्षकों ने जंगल का कोना-कोना छान मारा और जहाँ से जो मिला, जुटा लाये। और फिर बेचारे जंगल के लोग हैं, थोड़ा सा डराया-धम- काया कि जो कुछ है, सब हाज़िर ! ऐसे मौक़ों पर हम भी ज़रा ढीले पड़ जाते हैं। काट लें जितनी लकड़ी, उनसे बन पड़े। एक बार तो मुझे इतना बढ़िया घी खाने को मिला कि क्या बताऊँ!..."

घी का नाम सुन कर बाक़ी लोगों के मुँह में भी जैसे उसका स्वाद आ गया। "यार, हो सके, तो हमें भी कहीं दिलाओ।" सबने एक साथ याचना की।

लेकिन मि० पीतांबर अपनी कहानी कहने की धुन में थे। कहते गये :

"आ पहुँचे मिनिस्टर साहब तीसरे दिन। साथ में खासा लाम-लश्कर था। 'क्या तैयार करवायें, साहब।' मैंने झिझकते-झिझकते पूछा, 'कुछ खास नहीं।' उन्होंने कहा, 'मैं बहुत सादा खाना पसंद करता हूँ। लेकिन हाँ, आपके यहाँ सुना है, जंगली मुर्ग़ खूब मिलते हैं। मैंने कहा, 'आप हुक्म दें।' 'और थोड़ा गोश्त भी बन जाय', वे बोले, और हर्ज़ नहीं अगर मछली भी मिल जाय तो।' मैंने कहा, 'सब कुछ हो जायगा।' और हाँ, कुछ दही का ज़रूर इंतज़ाम करना। मेरा पेट ज़रा ठीक नहीं।" उनके चेहरे पर बड़ी मुलायमियत थी। मैंने कहा, "दही मिलना तो यहाँ मुश्किल है, लेकिन कोशिश पूरी करूँगा।" "अच्छा, दही न हो तो दूध ही सही" उन्होंने रास्ता बताते हुए कहा, "रात के सोते वक़्त दूध पीने की शुरू से ही आदत है।" दूध के नाम पर मुझे कुछ असमंजस हुआ कि जंगल में इतना दूध कहाँ से आयेगा। लेकिन मैंने 'न' नहीं कहा।"

"अरे वाह, नौकरी है तो जंगल की है, बाक़ी सब..." उपनिदेशक श्यामकुमार ने टिप्पणी की। लेकिन ऐक्सीयन शिवशंकर का मज़ा खराब हो रहा था। बोले, "यार, कहते जाओ"।

मि० पीतांबर को गर्व हो रहा था कि आज का मैदान उन्हीं के साथ रहेगा। बोले, "तो सुनते जाइए", और उन्होंने बात जारी रखी :

"दस्तरख़्वान बिछा देख कर मेरी अपनी तबीयत खुश हो गयी। मिनिस्टर साहब की आँखें भी चमचमाने लगी थीं। बढ़िया से बढ़िया मुरब्बा, दही, पनीर, सुअर का गोश्त, मछली, जंगली मुर्ग़ा, गोश्त....। खूब डट कर खाया मिनिस्टर साहब ने, और सो गये। सुबह नाश्ते

पर भी एक से एक बढ़िया चीज़। बड़े खुश नज़र आ रहे थे। बोले, 'शाबाश। इतना शानदार, कार्यकर्ता मैंने कभी नहीं देखा। हमें ज़रूरत है, तो ऐसे कार्यकर्ताओं की।' मैंने कहा, 'सब आपकी बदौलत है। मेरी अभी उमर ही क्या है।' "

"तो भाई, तुम्हारी पदोन्नति नहीं की उसने !" महाशय शांतिस्वरूप ने पूछा।

"अरे यार, पहले बात तो खत्म करने दो," मि० पीतांबर ने अधीर होते हुए कहा। "उसको डर था कि चरम परिणति तक पहुँचने से पहले ही बात कहीं बीच में ही न रह जाय।"

"तो फिर जानते हो, क्या हुआ ?" उसने सबकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि डालते हुए कहा और कहता गया :

"जब चलने को साहब तैयार हुए तो बोले, 'बिल लाओ' मैंने कहा, 'जनाब की मेहरबानी चाहिए।' झट से उनके तेवर चढ़ गये। बोले, 'तो क्या मुझे यह सब मुफ़्त खिला रहे हो ? मुझे बेईमान बनाना चाहते हो ?' मैं तो ऐसे हो गया, जैसे मुझमें दम ही नहीं हो। हाथ-पाँव काँपने लगे। घबराहट से खुश्क हो गया। हलक़ भी सूख गया। मैंने मिन्नत की, 'हुज़ूर, आपका ही खाते हैं। आपके बच्चे जैसा हूँ। एक वक़्त आपने खा लिया, तो क्या फ़र्क़ पड़ गया ?' बोले, 'मैं यह सब नहीं जानता। बिल लाओ। मुझसे नहीं लोगे, तो अपने स्टाफ़ से खाओगे। जंगल बेचोगे, ग़रीबों को सताओगे।' मैं अब क्या करता ? मैने रेंजर की ओर देखा। रेंजर ने वन-रक्षक की ओर देखा। सब अटेंशन हो रहे थे, ज़रा सा इशारा हो कि सेल्यूट मारें।"

"माई गॉड, ऐसा बढ़िया मिनिस्टर।" ऐक्सीयन शिवशंकर ने गद्‌गद भाव से कहा।

"जी हाँ, और क्या आपके मिनिस्टर जैसा है हमारा मिनिस्टर ?" मि० पीतांबर बोले। और फिर कहने लगे,

"मैं और मेरे आदमी वहाँ से हट गये, ताकि आपस में मशविरा कर सकें। अंत में रेंजर ने सुझाया कि आठ आने का बिल पेश किया जाय, और वैसा ही किया गया। बिल देख कर मिनिस्टर साहब बहुत खुश हुए। झट जेब से आठ आने निकाले और रेंजर को थमा दिये।"

"आठ आने"

"जी हाँ, आठ आने।"

और इस बार जो क़हक़हा लगा, उसकी हा-हा-हा-हो-हो-हो कुछ इस प्रकार की थी कि हँसी की अपेक्षा वह चीख अधिक सुन पड़ती थी।

—जे११।१५, राजौरी गार्डन, नयी दिल्ली–१५।

रवीन्द्रनाथ त

शिक

दिवाली की छुट्टियों में आखिरकार हम लोग शिकार के लिए निकल ही पड़े। वर्मा ने पहले कुछ ढील-ढाल दिखायी, पर सान्याल व ठाकुर ने ठोक-पीट कर उसे ठीक कर लि इसके बाद बंदूकों को देख कर सान्याल ने कुछ हिचकिचाहट जाहिर की, मगर वर्मा व ठाकुर ने समझा-बुझा कर राज़ी कर लिया। चलते वक़्त मामूली सी बातों को ले कर ठाकुर ने भी असह आंदोलन की परंपरा निभाने की कोशिश की। मगर सान्याल और वर्मा के संमिलित प्रयत्नों स्थिति सँभल गयी। रही हमारी बात, हमसे न तो किसी ने पूछा ही और न हमने मना ही कि हमें पता था कि हमारे जैसे शाकाहारी व्यक्ति का शिकार की पार्टियों में क्या स्थान होता है उससे हमें कोई विशेष संकोच नहीं था। ऐसे अवसरों पर हमारी सेवाएँ स्थानीय अधिकारि संपर्क स्थापित करने, गाँव वालों से झगड़ा हो जाने पर बीच-बचाव करने तथा खाने-पीने व के इंतज़ाम करने तक ही सीमित होती है और दोस्तों के लिए इस प्रकार की सेवाएँ जुटाने में हमेशा आनंद आता है। वास्तव में बात यह है कि मित्रों की सेवा करने से आनंद-प्राप्ति की परा हमारे परिवार में बड़ी पुरानी है। हमारे पिता जी भी अपने अंतरंग मित्रों की सेवा कि करते थे और उससे उन्हें काफ़ी आनंद लाभ होता था।

नवंबर के महीने में एक दिन शाम को ये सारे दोस्त मेरे मकान पर इकट्ठे हो गये सुबह ही हम लोगों को शिकार के लिए चल देना था और इस वजह से हम लोग काफ़ी रात ग तक अपना सामान वग़ैरह सँभालते रहे। बंदूकें दिन में ही साफ़ की जा चुकी थीं और कारतूसों की जिम्मेदारी ठाकुर पर थी। बंदूक़ व कारतूसों का प्रबंध हमेशा वही किया करता था। इन चीज़ों के अलावा भालों और लाठियों की ज़रूरत भी शिकार में कभी-कभी पड़ सकती थी, मगर उन लिए हमें उस इलाक़े के देहात के लोगों पर ही निर्भर होना था। सान्याल को—जिसका शिका के बारे में काफ़ी गहरा व विस्तृत अध्ययन था—कहना था कि किसी भी शिकार की किताब उसने यह नहीं पढ़ा कि भाले और लाठी वग़ैरह कभी अटैची वग़ैरह में रख कर साथ ले जायी ग हों; इस तरह की चीज़ों का प्रबंध गाँव वाले ही किया करते हैं। उसके इस प्रकार के ज्ञान से ह लोगों का काफ़ी हौसला बढ़ता था। उस रात हम लगभग दो बजे तक सामान लगाते रहे। वर्मा टूथपेस्ट और खुशबूदार तेल रखना तक नहीं भूले। ठाकुर का कहना था कि वर्मा तरक़्क़ीप आदमी है : शिकार मारने से पहले वह उसके दाँत साफ़ करेगा, उसके तेल लगा कर कंघी कर और फिर उस पर गोली चलायेगा। सान्याल ने हमारी धर्मपत्नी की लिपस्टिक भी ले ली—शाय

कोई मादा शेरनी वग़ैरह मिल जाय और सौंदर्य के इन प्रसाधनों से संभवतः उसे जल्दी आकृष्ट किया जा सके। ठाकुर ने वर्मा और सान्याल को यह भी सलाह दी कि वे अपने बीमे के काग़ज़ातों का पूरा-पूरा पता घर वालों को दे दें ताकि शिकारोत्तर काल में उस दिशा में कोई असुविधा न हो। वर्मा को इस पर काफ़ी अफ़सोस भी रहा। उसका कहना था कि अगर उसे निश्चय होता कि शिकार में जान का ख़तरा भी होता है, तो वह थोड़ा सा बीमा और करा कर आता।

सुबह आठ बजे की गाड़ी से हम लोग शिकार को चले। इस बार कुत्ता भी साथ गया। सामान हमारे पास काफ़ी था—कोई चार अटैचियाँ थीं, एक गठरी में नाश्ते वग़ैरह का सामान था, एक बोरी में बर्तन थे और एक संदूक में मुख़्तलिफ़ चीज़ें थीं, जैसे चाकू, मोमबत्ती, शिकार के जूते, कुतुबनुमा, नक़्शे, स्टोव, टार्च, रस्सियाँ और दूरबीन वग़ैरह। यह सारी सामग्री सान्याल की सलाह के अनुसार जुटायी गयी थी। जैसा कि हमने ऊपर बताया, सान्याल का शिकार के बारे में शास्त्रीय ज्ञान काफ़ी था। उसने विभिन्न प्रकार के जानवरों के शिकारों की विभिन्न विद्याओं के बारे में सालों तक पढ़ा था और अपने इस ज्ञान को रास्ते भर वह हमें बताता रहा। उसने शिकार के इलाक़े का एक नक़्शा भी कहीं से उठा लिया था और ज़िले के भूगोल की एक किताब भी। इन चीज़ों से उसे रास्ता ढूँढ़ने में आसानी की उम्मीद थी। सान्याल के अतिरिक्त ठाकुर को शिकार का व्यावहारिक ज्ञान था। उसके परिवार में गोली-बारूद रखने की परंपरा काफ़ी पुरातन थी। उसके एक चाचा थे, जिन्हें हम लोग मज़ाक़ में देसी जिम कार्बेट ही कहा करते थे। ये हज़रत अलस्सुबह राइफ़ल ले कर उठते और जंगलों की तरफ़ निकल जाते और फिर शाम के झुटपुटे से पहले कभी वापस गाँव को नहीं लौटते। उनके मेंहदी से रँगे बाल, ख़ाकी वर्दी, सुनहरे फ़्रेम का चश्मा, बग़ल में झूलता हैवरसैक और कमर पर टँगी बंदूक़, यह सब वहाँ के लोगों के लिए एक सामान्य दृश्य था। गर्मियों में वे हैट लगा कर हिरनों के साथ दौड़ते और बरसात में मोमजामा लगा कर मुर्ग़ाबियों के साथ तैरते। एक बार उन्होंने एक जंगली साँड़ की सवारी भी की थी। इस मनोरंजन के अतिरिक्त उनका शिकार के प्रति कभी कोई विशेष उद्देश्य नहीं रहा। भगवान साक्षी है कि बीस साल के इस प्रकार के नियमित शिकारी जीवन में कभी उनके हाथ से किसी जीव-जंतु को किसी तरह की चोट तक नहीं पहुँची। सो, ठाकुर के लिए शिकार एक पुश्तैनी धंधा था और राइफलों को देख कर उनकी वही स्थिति होती थी, जो चंदबरदाई की कविता सुन कर पृथ्वीराज की होती होगी। जहाँ तक वर्मा जी का प्रश्न है, उन्हें शिकार का कोई विशेष अनुभव नहीं था। बचपन में तहसीली स्कूल में पंडित जी पर गुलेल का निशाना लगाने में जो महारत उन्हें हासिल थी, वह भी सरकारी नौकरी के चक्कर में छूट सी ही गयी थी। फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि शिकार के प्रति—खास तौर से मछली के शिकार के प्रति—उन्हें वास्तविक रुचि थी। राइफ़ल के साथ-साथ मछली पकड़ने के काँटा रखने का प्रबंध उन्हीं के कारण किया गया था। जैसा मैंने ऊपर बताया, हमें शिकार के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं थी। मगर चूँकि इस बहाने हमें अपने दिलचस्प दोस्तों का साथ और जंगल की खुली हवा और कभी-कभी ताज़े गन्ने खाने को मिलते थे, हम ऐसे अवसरों पर साथ जाने से पीछे नहीं रहते थे। और फिर वैसे भी, अपने कुत्ते के साथ जंगलों में घूमना हमें बेहद पसंद था।

गाड़ी का सफ़र चार घंटे का था। इस सफ़र में कोई विशेष बात नहीं हुई। हाँ, अलबत्ता हमारे कुत्ते टामी ने एक साहब की पैंट और अटैची ज़रूर दाँतों से चबा ली, जिसकी वजह से हमें कुछ शर्मिंदगी सी भी उठानी पड़ी। वर्मा जी ने इस प्रसंग में उन सज्जन को यह भी समझाया कि वे कितने भाग्यवान हैं कि उनकी पैंट और अटैची पुरानी हैं। अगर ये चीज़ें नयी और क़ीमती होतीं तो उनका नुक़सान कहीं ज़्यादा होता। हाँ तो, इस रेल के सफ़र के बाद दो घंटे का सफ़र एक बस से करना पड़ता था। ये बसें प्राइवेट होती थीं और अक्सर बड़ी पुरानी होती थीं। पहाड़ी रास्ते और ऐसी खचड़ा बसें—नतीजा यह होता था कि हार्न को छोड़ कर बाक़ी सारे पुर्ज़े तरह-तरह की बोलियाँ बोलते थे। बस से उतरने के बाद कोई छः मील रास्ता पैदल चलने का था। उसके बाद ठाकुर की ज़मींदारी का गाँव बाँसोपुर पड़ता था।

बाँसोपुर तक हम लोग आसानी से शाम होते-होते पहुँच गये। रास्ते में कोई असुविधा नहीं हुई। हाल में ही हुई हल्की वर्षा के कारण पहाड़ धुले हुए थे और रास्ते में कहीं-कहीं फिसलन भी थी। इस फिसलन का पता सान्याल को तब लगा, जब कि वर्मा जी फिसले और वर्मा जी को तब जब कि सान्याल इतने इत्मीनान से एक गड्ढे में समाये जैसे कि ऐसा करना उनका पुराना शौक़ है। सान्याल उस भूगोल की पोथी के लेखक को भली-बुरी कहता रहा, जिसने सारी किताब में रास्ते की फिसलन का ज़िक्र तक नहीं किया था। ठाकुर, अलबत्ता यही समझते रहे कि अगर हम लोगों को फिसलने का इतना शौक़ है, तो आगे चल कर ढाल पर फिसलें। वैसी स्थिति में हम गाँव कोई आधा घंटा पहले पहुँच सकेंगे।

रात को हम लोगों ने ख़ूब खाना खाया। गठरी खोल कर अचारों के ज़ायक़े लिये गये। गाँव से आयीं चपातियाँ मोट की दाल से खायी गयीं। इसके बाद चाय का प्रोग्राम रहा। सोने से पहले गाँव के लोगों से शिकार के बारे में कुछ विचार-विमर्श हुआ और फिर शिकार के क़िस्से सुने।

गाँव में एक पुराना शिकारी रहता था, नाम था वचन सिंह। उसकी उमर कोई तीस-पैंतीस के क़रीब रही होगी और था वह बड़ा चुस्त और चालाक़। उसकी आँखें और कान एकदम खरगोश जैसे थे और बक़ौल सान्याल के अगर उसके दो छोटे-छोटे सींग भी होते, तो वह हूबहू खरगोश ही लगता। वचन सिंह को आसपास के इलाक़े के चप्पे-चप्पे का ज्ञान था। उसने सबसे पहले हम लोगों से एक मोटी सी चीज़ दरियाफ़्त की यानी कि यह पूछा कि हम लोग किस चीज़ का शिकार करेंगे। उसने बताया कि शिकार का इंतज़ाम शिकार के माफ़िक ही किया जाता है जैसे कि मछली के शिकार के लिए काँटा, केंचुआ और एक अदद नदी या झील के किनारे की ज़रूरत होती है, जब कि शेर वग़ैरह जानवरों के लिए कभी-कभी जंगलों में भी जाना पड़ता है। उसकी बात को हम लोगों ने क़ाबिले-ग़ौर समझा। सच तो यह है कि शिकार के उत्साह में हमने समस्या के इस सामान्य पहलू पर ध्यान ही नहीं दिया था। ख़ैर, जब वर्मा जी ने यह बात सुनने के बाद मछली के शिकार का सुझाव दिया, तो ठाकुर ने उसे डाँट दिया। सान्याल ने किताब खोल कर बताया कि इस इलाक़े में गाय-भैंस, बकरी और इंसानों के अलावा शेर और चीता भी दिवाली के मौसम पर पाया जाता है और भेड़िये तो इस क़दर हैं कि पूछिए नहीं। कहते हैं कि जाड़ों में भेड़िये मैदान

से तराई की पहाड़ियों में आ जाते हैं और फिर जाड़े भर यहीं रहते हैं। हमारी सलाह भी ली गयी और हमने साफ़ कह दिया कि अगर हम भी शिकार पर जा रहे हैं, तो मछली के शिकार से बेहतर चीज़ सेहत के लिए और कोई नहीं। हाँ, अलबत्ता अगर हम गाँव में ही रहेंगे, तो बाक़ी लोग शेर का शिकार बखूबी कर सकते हैं और हमें इसमें कोई एतराज़ नहीं है।

सान्याल ने कहा कि शिकार तो शेर का ही होता है, मगर अगर हमने इसी दफ़ा शेर मार लिया, तो भविष्य में शिकार का मज़ा ही जाता रहेगा। इस बार शुरुआत भेड़िये से की जाय, तो ठीक रहेगा। शेर पर हाथ अगली बार किया जायगा। ठाकुर ने यह भी बताया कि हम जैसे नौसिखिये शिकारियों के हाथ से शेर का शिकार शेरों के आत्मसम्मान की परंपरा के ख़िलाफ़ होगा, जब कि अच्छे और कुलीन शिकारी कभी अपने शिकार के आत्मसम्मान पर हाथ नहीं उठाते। भेड़िये के बारे में कुछ ज्ञातव्य तथ्य बताते हुए सान्याल ने कहा कि भेड़िया एक ख़ूँख़्वार जानवर होता है, इसमें नौ कुत्तों के बराबर ताक़त होती है, यह हमेशा मादा के साथ रहता है; वग़ैरह-वग़ैरह। इसके बाद हमारा हौसला बढ़ाते हुए उन्होंने यह भी कहा कि भेड़ियों का मारना यूँ भी आसान है कि इस इलाक़े में उनकी मृत्यु की दर शत-प्रतिशत है। दूसरे शब्दों में जितने भेड़िये पैदा होते हैं, वे एक न एक दिन मरते ज़रूर हैं। इन बातों से हमारे आत्मविश्वास को काफ़ी मदद मिली।

काफ़ी बहस-मुबाहसे के बाद यह तय किया गया कि पहले भेड़िये का ही शिकार किया जाय। भेड़िये पर हाथ साफ़ करने के बाद शेर को भी देख लेंगे। वर्मा ने कहा कि अगर देखना भर ही है, तो कलकत्ते के चिड़ियाघर से अच्छे शेर कहाँ ? इसके अलावा दिल्ली के 'ज़ू' में भी चंद शेर आला क़िस्म के हैं। कभी-कभी सिनेमे में भी अच्छे शेर देखने को मिलते हैं, मगर शिकार? शिकार की इजाज़त इन जगहों पर कहाँ ?

अगले दिन के लिए भेड़िये के शिकार का प्रोग्राम बना कर हम सो गये। रात को कोई विशेष बात नहीं हुई, सिवाय इसके कि वर्मा जी ने रात को स्वप्न में चंद भेड़ियों को ख़ाली हाथों ही मार दिया और इसकी वजह से सान्याल की कमर में खासी चोट आयी। वर्मा जी को जगा कर हमने दूसरी जगह सुला दिया। इस बार उसने ख़्वाब में शेरे बबर देखा—ठीक वैसा ही जैसा ताक़त की दवाओं की नोटिस में दवाखाने के बाद मरीज़ से लड़ता दिखाया जाता है—और बाक़ी रात वे चीख़ते-चिल्लाते रहे। सुबह उठने पर उन्होंने बताया कि वह चीख़-पुकार जो उन्होंने रात भर की थी, वह उनकी अपनी नहीं थी, बल्कि उस शेर की तरफ़ से थी, जिसका पीछा वे ख़्वाब में कर रहे थे।

अगले दिन हमने भी अपने एक जोड़ी हाथ-पैर हिलाये। एक अदद बकरी का प्रबंध किया गया, शिकार के लिए जगह तय की गयी, शाम होते-होते बकरी वहाँ बाँधी गयी, मचान दुरुस्त की गयी और फिर हम लोग गाँव लौट आये। खाना खाया—इसके बाद भेड़िये के शिकार के कुछ क़िस्से हुए और रात होते-होते हम लोग खेतों में से हो कर मचान की तरफ़ को निकल पड़े। रात अँधेरी थी और बाँसों के जंगल में चलना बड़ा भयानक लगता था।

हम लोग धीरे-धीरे मचान पर चढ़े और भेड़िये का इंतज़ार करने लगे। कई बार टॉर्च लगा कर भी देखा—बकरी उसी तरह पेड़ से ज़रा बच के सोयी हुई थी और भेड़िये का दूर-दूर तक भी पता न था। रात भर हम लोग जागते रहे और सान्याल की बातें सुनते रहे। सान्याल कहता रहा कि भेड़िया बड़ा कमीना जानवर होता है—वह चलते घोड़े से सवार को गिरा लेता है, रेत उड़ा कर मुसाफ़िर को अंधा कर देता है, वग़ैरह-वग़ैरह। इसी वजह से जैसा कि उसने बताया, भेड़िये का शिकार घोड़े पर चढ़ कर नहीं किया जाता। भोर होते-होते हमने देखा कि हमारी बकरी सो कर उठी, उसने आधा दर्जन अँगड़ाइयाँ लीं, पूँछ को पहले उत्तर से दक्खिन को और फिर दक्खिन से उत्तर को हिलाया, और फिर वह खेतों की ओर भाग गयी। हमारे विचार में एक बँधी बकरी के लिए ऐसा व्यवहार निहायत ग़ैर-बकरियाना क़िस्म का था। ख़ैर, बाद में गाँव वालों ने बताया कि दरअसल वह बकरी नहीं, भेड़िया रहा होगा। जब हम लोग मचान बाँध कर चले आये थे, तभी वह आ कर बकरी खा गया होगा और पेट ज़्यादा भरने के कारण वहीं सो भी गया होगा। यह सुन कर वर्मा को भेड़िये के बर्ताव पर बड़ा अचंभा हुआ। सान्याल ने उन्हें बड़ी गंभीरता से बताया कि भेड़िये अक्सर ऐसा ही करते हैं। अगर हम लोगों का यह ख़याल है कि भेड़िये बकरी खाने से पूर्व शिकारियों से आकर हाथ मिलाते हैं, या उनके ऑटोग्राफ़ लेते हैं, तो वह काफ़ी हद तक ग़लत है। वर्मा जी को इस बात का भी अफ़सोस रहा कि बकरी का बीमा नहीं किया गया था।

सुबह होते ही हमने बचन सिंह को बुलाया और उससे सलाह-मशविरा किया। उसने कहा कि शिकार में अक्सर ऐसा ही होता है कि शिकारी को ख़ाली हाथ लौटना पड़े। किताबों में अक्सर ऐसे शिकारों का ज़िक्र नहीं होता, जिनमें कि जानवर न मारा गया हो। उसने हमें एक बकरी और लाने को कहा और बताया कि भेड़ियों की वजह से बकरियों की सप्लाई आजकल काफ़ी कम हो गयी है।

ठाकुर ने बकरी मँगवायी और वह पिछवाड़े के बाड़े में बाँधी गयी। इसके बाद सारे दिन हम लोग शरीर पर कड़वे तेल की मालिश करते रहे, ताकि मचान पर मच्छर न लगें। वर्मा जी ने एक आल्हे की किताब भी कहीं से माँग ली और कहा कि शिकार के बाद जो रात बचेगी, उसमें हिम्मत बढ़ाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से आल्हा पढ़ा जायगा।

शाम होते-होते जैसे ही हम लोग जंगल जाने को तैयार हुए, पता लगा कि बाड़े में बकरी नहीं है। काफ़ी तलाशी के बाद पता चला कि वर्मा जी दुपहर को एक बकरी बाड़े से खोल कर बराबर के छप्परों में बाँध आये थे। बकरी की चोरी उन्होंने इसलिए की थी कि कभी बकरी की ज़रूरत अगले दिन भी पड़े। यह पता उन्हें नहीं था कि बकरी अपनी ही है। कोई दस बजे तक यही क़िस्सा चलता रहा। ठाकुर ने बड़ी खरी-खोटी सुनायी। कोई ग्यारह बजे हम लोग मचान पर जा कर बैठ गये।

इस रात भी कुछ नहीं हुआ। हाँ, अलबत्ता बकरी ज़रूर सही-सलामत बच गयी।

वर्मा जी ने उसका दूध निकाला, जिसकी चाय बनायी गयी। सारे दिन हम लोग सोते रहे, दोपहर बाद ज़रूर थोड़ी देर के लिए जंगलों में निकले। टामी को भी हम लोगों ने आज साथ रखा। कुछ ही दूर चले होंगे कि वचन सिंह को शेर के पंजों के निशान मिले। सान्याल ने वचन से पूछा कि उसे यह कैसे पता चला कि वे निशान शेर के हैं और अगर शेर के भी हैं, तो पंजों के ही किस तरह? वचन सिंह जवाब देने ही वाला था कि सामने के पहाड़ पर से एक काफ़ी बड़ा चीता निकला और हमारे सामने से होता हुआ बग़ैर हमें देखे नीचे खड्ड की तरफ़ चला गया।

चीते को देखते ही ठाकुर की भवें तन गयीं। वह बोला कि लानत है हम लोगों पर जो इलाक़े में चीतों की मात्रा इतनी अधिक होते हुए भी अपना क़ीमती वक़्त भेड़ियों पर ख़राब कर रहे हैं। सान्याल ने उसकी हाँ में हाँ भरी और कहा कि उसे भी एक बार किसी साँई ने बताया था कि मनुष्य का समय बड़ा क़ीमती होता है और एक-एक पल-छिन का हिसाब किसी को देना पड़ता है। यह हिसाब किसको देना पड़ता है, यह बात वह साँई से पूछना भूल गया था और इस बार की मुलाक़ात में यह बात पूरी तरह साफ़ करनी बाक़ी थी। इधर वर्मा जी की साँस बुरी तरह फूल रही थी, मगर हम लोगों ने बताया कि यह शेर नहीं, सिर्फ़ चीता था, तो उन्हें एकदम काफ़ी ढाढ़स हुआ, गोया कि चीता और मछली में कोई मौलिक अंतर नहीं होता हो। जब वचन सिंह ने कहना शुरू किया कि चीता शेर से भी ज़्यादा कमीना, चुस्त और खतरनाक होता है, तो वर्मा जी की साँस फिर फूलने लगी।

बड़ी गर्म बहस के बाद यह तय हुआ कि वर्मा, सान्याल और मैं भेड़िये के शिकार पर बैठें और ठाकुर और वचन सिंह चीते का पीछा करें। हम लोगों की मचानों में काफ़ी अंतर रखा गया, ताकि हमारी गोलियाँ एक दूसरे को न लग सकें। उस रात को खाना भी हम लोगों ने कम ही खाया तथा और दिनों से पहले ही मचानों पर जम गये। ठाकुर ने शेर के लिए एक गाय का इंतज़ाम किया।

रात को एक बजे तक कुछ नहीं हुआ। वर्मा जी को बराबर नींद आती रही और हम लोग उसे कुहनी मार-मार कर जगाते रहे। आख़िरकार वर्मा ने तंग आकर कहा कि मैं नीचे जाता हूँ, इतने भेड़िया आये, इतने मछली का ही शिकार करूँगा। अगर अँधेरे में मछली ने काँटा नहीं देखा, तो फिर बकरी का दूध पी कर फिर वापस आ जाऊँगा। हम लोगों के समझाने-बुझाने पर वह एक राइफ़ल भी साथ लेता गया।

कोई तीन बजे तक वर्मा जी ने मछली का शिकार किया। शायद दो-तीन मछलियाँ उन्हें मिली भीं, मगर वे अँधेरे में घास पर से फिर पानी में खिसक गयीं। इसके बाद यह घोषणा करते हुए कि मछली का शिकार वे अगले दिन बंदूक़ से ही करेंगे, उन्होंने बकरी का दूध पीना शुरू किया। बकरी का दूध वे पी ही रहे थे कि चिड़ियों ने बोलना शुरू कर दिया और टामी भी भोंकने लगा। सान्याल ने टार्च जलायी और कोई चीज़ वर्मा जी और बकरी के ऊपर से होती हुई उछली। वर्मा जी ने गोली दाग़ी और एक गोली सान्याल ने भी चलायी। इसके बाद जब वह अपरिचित जानवर चित होकर लेट गया, तो एक गोली हिम्मत कर के हमने भी अपने कमल रूपी करों से छोड़ी। इस गोली ने संजीवनी का काम किया। तीनों गोलियाँ बटोर कर वह जानवर फिर उछला

और पास के खेतों में चला गया। सान्याल कहता ही रह गया कि अगर यह भेड़िया था, तो ज़रा बड़े क़िस्म का था और अगर शेर था, तो ज़रा छोटे क़िस्म का था। हम लोगों ने एक दूसरे की नाड़ी देख कर निश्चित किया कि सबके सब जीवित हैं और इसके लिए ईश्वर को लाख-लाख धन्यवाद दिया। अपने प्राणों के लिए धन्यवाद देने के बाद वर्मा जी ने बकरी की ओर देखा और फिर परम पिता परमात्मा को उसके प्राणों के लिए भी धन्यवाद दिया।

रात भर हम लोग मचान पर बैठे रहे। सुबह होते ही वचन सिंह और ठाकुर भागते भागते हमारे पास आये और हमारा क़िस्सा सुना। उन्होंने हमारी गोलियों की आवाज़ तो सुन ही रखी थी। वचन सिंह ने कहा कि तीन गोलियाँ खाने के बाद जानवर का ज़िंदा रहना मुश्किल है। सान्याल ने हाँ में हाँ भरते हुए कहा कि ठीक है। जनाब, ये कोई विटामिन बी की गोलियाँ थोड़े ही हैं, जो सेहत को नफ़ा करें।

थोड़ी ही दूर चले होंगे कि हम लोगों ने देखा कि कोई डेढ़ गज़ लंबा बघेरा मरा हुआ खेत में पड़ा है। वचन सिंह ने उसके दाँत गिने, पूरा जवान था। वर्मा जी को यह जानने में बड़ी दिलचस्पी थी कि यह नर है या मादा। सान्याल ने बताया कि शायद यह पहला शिकार है, जिसमें निशाना भेड़िये पर किया और मरा बघेरा। वर्मा जी ने कहा कि सबसे बड़ी बात तो यह है कि बकरी भी सही-सलामत बच गयी। हम लोगों ने समझाना शुरू किया कि यह सब बकरी के दूध का ही प्रताप है कि वर्मा जैसे मछलीमार के हाथ से भी एक शेर खेत हो गया। वर्मा जी ने इस बात पर ग़ौर किया और बोले कि इस बकरी को तो वे अपने घर ले जायँगे और जब कभी भी शेर के शिकार को तबीयत होगी, तभी थोड़ा सा दूध पिया करेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि वह तो अच्छा हुआ उन्होंने थोड़ा सा ही दूध पिया था, वर्ना पहली ही गोली में यह बघेरा वहीं ढेर हो जाता और इस इस 'शेरगति' की चर्चा जंगल में इस मिक़दार में फैलती कि रोज़ कोई न कोई शेर या चीता या बघेरा या तेंदुआ या गुलदार उनकी गोली का नाश्ता करने वहाँ आया करता। रास्ते भर वे टामी को गोद में लिये रहे और कहते रहे कि अमाँ, मछली का शिकार भी कोई शिकार है? बैठ गये पानी पर काँटा ले कर कॉफ़ी हाउस में कलाकार की तरह? अरे शिकार हो तो शेर का हो या चीते का हो या बघेरे...

ठाकुर बेचारा बकरी की रस्सी पकड़े चुपचाप चलता रहा।

—सहायक वित्तीय परामर्शदाता
वित्त मंत्रालय (प्रतिरक्षा)
सचिवालय, नयी दिल्ली

फ्रॉसिस एक्का 'सुधाकर'

हिंदी ओराँव : एक दृष्टि

भाषा-विज्ञानियों ने ओराँव भाषा को द्रविड़-भाषा-परिवार में रख कर ही संतोष प्राप्त कर लिया है। इस भाषा में साहित्य के अभाव से इसकी उपेक्षा होना स्वाभाविक है और कदाचित यही कारण है कि भाषा-विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हो सका है। यदा कदा ईसाई मिशनरियों ने इसाई धर्म-ग्रंथों के प्रचारार्थ इस पर कार्य किया, किंतु उनका भाषा-वैज्ञानिक महत्व नहीं है।

ओराँव भाषा मध्यप्रदेश के रायगढ़ और अंबिकापुर, बिहार के राँची और पलामू तथा उड़ीसा के सुंदरगढ़ ज़िलों के आदिवासियों की भाषा है। असम व भूटान के कुछ पर्वतीय प्रदेशों तथा अंडमान द्वीप में भी ओराँवभाषी पाये जाते हैं, जो मध्यप्रदेश और बिहार के ही प्रवासी हैं। इस भाषा का प्राचीन रूप मध्यप्रदेश के रायगढ़ और अंबिकापुर ज़िलों तथा राँची के बरवे क्षेत्र-में ही सुरक्षित है।

साहित्य के अभाव में भी इस भाषा का विवरणात्मक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन मात्र एक दिलचस्प कार्य है। इसके अध्ययन के बाद भाषा संबंधी कतिपय निश्चित धारणाओं की स्थापना की जा सकती है और संभवतः एक व्याकरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

व्याकरण की दृष्टि से यह हिंदी के निकट है। वर्ण-विचार, शब्द-साधन और वाक्य-विन्यास बहुत कुछ हिंदी के समान ही है।

ओराँव में कुल दस स्वर हैं। यथा—

इ ई उ ऊ
ए दीर्घ ए ओ दीर्घ ओ
अ आ

हिंदी के संयुक्त स्वर ऐ तथा औ भी उपयोग में लाये जाते हैं।

ओराँव में पैंतीस व्यंजन हैं, यथा :—

? (काकल्य), ख़्, ह्
क् ख् ग् घ् ङ
च् छ् ज् झ् ञ्

ट् ठ् ड् ढ् ण्
त् थ् द् ध् न्
प् फ् ब् भ् म्
य् र् ल् ड़् स् ह् व्।

हिंदी के ढ़् का उच्चारण संयुक्त व्यंजन ड़ह् के सदृश होता है।

'एन'—मैं, 'एम'—हम, 'नीन'—तुम, 'नीम'—तुम लोग (आप), 'आस'—वह, 'आर'—वे, ये सब ओराँव के पुरुषवाचक सर्वनाम हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें भी उत्तम, मध्यम तथा अन्य पुरुष में विभक्त किया जा सकता है। बड़ों के आदर के लिए 'नीन' (तुम) के बदले 'नीम' (आप) का प्रयोग किया जाता है। 'नीम' वस्तुतः 'नीन' (तुम) का बहुवचन है, जो ओराँव में 'आप' के अर्थ में व्यवहृत होता है। अन्यपुरुष में आदर-सूचक सर्वनाम के लिए हिंदी में 'ये' तथा 'वे' का प्रयोग होता है। ओराँव के 'ईर' तथा 'आर' इन्हीं के समानार्थी हैं। 'ईर' तथा 'आर' सर्वनाम 'ईद' (यह) तथा 'आस' (वह) के बहुवचन हैं। 'ईद' (यह) 'ईर' (ये), 'आस' (वह), 'आर' (वे) निश्चयवाचक सर्वनाम के रूप में भी व्यवहृत होते हैं। विचारणीय है कि सर्वनाम 'आस' (वह) केवल पुरुष-बोधक है। स्त्रियों तथा अन्यान्य स्त्री-पुरुषवाचक प्राणियों के लिए 'आद' (वह) का प्रयोग किया जाता है। निश्चयात्मक बोध के लिए 'हूद' सर्वनाम को उसकी कारक विभक्ति के अनुसार पूर्ववर्ती पुरुष, स्त्री तथा अन्यान्य स्त्री-पुरुषवाचक संज्ञाओं के साथ संयुक्त किया जाता है। एक सरल उदाहरण प्रस्तुत कर इसकी भिन्नता को स्पष्ट किया जा सकता है:

पुंलिग — **वह आता है।**
आस बरदस।
स्त्रीलिंग — **वह आती है।**
आद बर-ई।
अन्यान्य स्त्री-पुरुषवाचक प्राणी, पदार्थ — **वह (बैल) आता है।**
आद बर-ई।

ओराँव में निश्चयात्मक बोध के लिए हूद (वह) सर्वनाम उपयोग में लाया जाता है। जैसे, निश्चितता के अर्थ में:

पुलिंग — **वह आता है।**
हूस बरदस।
स्त्रीलिंग — **वह आती है।**
हूद बर-ई।
अन्योऽन्य स्त्री-पुरुषवाचक प्राणी पदार्थ — **वह (बैल) आता है।**
हूद बर-ई।

अत्यधिक पुष्टि के लिए बहुधा हिंदी में सर्वनाम के साथ संज्ञा को भी जोड़ा जाता है, जैसे—'वह लड़का', 'वह लड़की', 'यह पुरुष', 'यह नारी' इत्यादि। ओराँव में भी आवश्यकतानुसार ऐसा ही प्रयोग होता है। ओराँव में पुरुष के लिए 'आस' (वह), स्त्री के लिए 'आद' (वह) तथा अन्यान्य स्त्री-पुरुषवाचक पदार्थ व धर्म के लिए 'आद' (वह) का प्रयोग होता है। पुष्टि-बोधन में पुरुष के लिए 'हूस' (वह), स्त्री तथा अन्यान्य स्त्री-पुरुषवाचक पदार्थ, प्राणी व धर्म के लिए 'हूद' (वह) को व्यवहृत किया जाता है। यहाँ पुष्टि के लिए संकेत की आवश्यकता होती है। जैसे--'वह लड़का'--'हू कुक्कोस', 'वह लड़की'—'हू कुकोय' 'वह सिंह'—'हू लकड़ा' तथा 'वही लड़का'—'हू कुकोसिम', 'वही लड़की'—'हू कुकोयदिय', 'वही सिंह'--'हू लकड़ादिम'। हिंदी में निश्चितता के लिए 'वह' का 'वही' हो जाता है। ओराँव में मूल सर्वनाम की स्थिति यथारूप होती है; मात्र परवर्ती संज्ञा के साथ 'इम' प्रत्यय जुड़ जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि 'आस' पुरुषवाचक सर्वनाम है और 'आद' स्त्री तथा अन्यान्य स्त्री-पुरुषवाची। निश्चयात्मक बोध में पुरुषों के लिए 'हूस' (वह), स्त्रियों तथा स्त्री-पुरुषार्थ प्राणी तथा पदार्थों के लिए 'हूद' का प्रयोग किया जाता है। 'हूद' तथा 'हूस' सर्वनाम के पुष्टि-बोधन में मात्र 'हू' होता है। अनिश्चितता-दर्शन के लिए भी ओराँव सर्वनामों में यही विधि अपनायी जाती है। यहाँ कुछ वाक्यांश प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनका प्रयोग संभाव्यता के अर्थ में किया गया है—यथा,

पुंलिग — वह आदमी
आ आलस
स्त्रीलिंग — वह नारी
आ आली
अन्योऽन्य स्त्री-पुरुषवाचक प्राणी, पदार्थ — वह घर
आ एड़पा

यहाँ 'आस' और 'आद' सर्वनाम का लिंग-संबंध न हो कर उनका परिवर्तित रूप 'आ' ही रह जाता है। इसके प्रयोग से कुछ अनिश्चितता का बोध होता है।

ओराँव में भी कुल दो ही वचन होते हैं। एकवचन और बहुवचन। सर्वनामों के वचन-परिवर्तन में लिंग का ध्यान रखा जाता है। सर्वनाम उत्तम पुरुष पुंलिग 'आस' तथा स्त्रीलिंग 'आद' दोनों का बहुवचन 'आर' ही होता है, किंतु स्त्री-पुरुषार्थ अन्य प्राणी, पदार्थ व धर्म के लिए व्यवहृत सर्वनाम 'आद' का बहुवचन 'अबड़ा' हो जाता है। संज्ञा के साथ सर्वनाम आने से उसके बहुवचन के लिए संज्ञा में भी वचन-भेद दर्शाया जाता है और उसके पूर्ववर्ती सर्वनाम का बहुवचन 'अबड़ा' ही रहता है—

पुंलिग — वे पुरुष
अबड़ा आलर

स्त्रीलिंग — वे नारियाँ
अबड़ा मुक्कर

अन्योऽन्य स्त्री-पुरुषवाचक प्राणी, पदार्थ — वे घर
अबड़ा एड़पा

प्रस्तुत उदाहरणों में वचन-भेद संज्ञा के साथ-साथ दर्शाया गया है। संज्ञा के साथ 'अर' प्रत्यय जोड़ कर बहुवचन दर्शाया जाता है, जैसे—'आल्'—(आदमी) का बहुवचन आल्+अर =आलर। स्त्रियों को छोड़ अन्योऽन्य स्त्री-पुरुषार्थ प्राणी, पदार्थ व धर्म के बहुवचन के लिए पूर्ववर्ती सर्वनाम का ही प्रयोग किया जाता है और संज्ञा का मूल रूप स्थायी रहता है उपर्युक्त उदाहरण में 'एड़पा' (घर) संज्ञा के बहुवचन दर्शाने के लिए सर्वनाम 'आद' (वह) का बहुवचन रूप 'अबड़ा' उसके पहले जोड़ना पर्याप्त है।

'नीकइम' (कोई) तथा 'एक-आम' (कुछ) ओराँव के अनिश्चयवाचक सर्वनाम हैं 'नीकइम' (कोई) पुरुष के लिए आता है तथा 'एक-आम' (कुछ) स्त्री तथा पदार्थ के साथ। इनका प्रयोग भी हिंदी के 'कोई' तथा 'कुछ' के सदृश ही होता है। अनिश्चय में निश्चय लाने के लिए 'नेमलने' वाक्यांश आता है। 'ने' का स्वतंत्र अर्थ 'कौन' है। यहाँ हिंदी के 'कोई न कोई' वाक्यांश के लिए 'नीकइम मल नीकइम' वाक्यांश का प्रयोग होता है। इसके मध्यवर्ती 'मल' शब्द हिंदी के 'न' का समानार्थी है। 'कोई' का पुनरावर्तन 'कोई-कोई' कर हिंदी में बहुत्व का बोध किया जाता है। ओराँव में भी बहुत्व-बोधन की यही विधि है। ओराँव में इस अर्थ में 'नीकइम नीकइम' व्यवहृत होता है। अज्ञात प्राणी और पदार्थ के विषय में प्रश्नार्थ ओराँव में 'ने' और 'एंदेर' आते हैं। ये हिंदी के 'कौन' और 'क्या' के समानार्थी हैं।

निर्धारण के अर्थ में प्रश्नवाचक 'ने' (कौन) का प्रयोग पुंलिंग संज्ञाओं के साथ होता है तथा स्त्रीलिंग व अन्योऽन्य स्त्री-पुरुषवाचक प्राणी व पदार्थ के लिए 'एका' (कौन) का प्रयोग होता है। प्राणी, पदार्थ व धर्मों के लक्षण पूछने के लिए केवल 'एंदेर' (क्या) का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ—

स्त्री क्या है ? — **मुक्का एंदेर हिके ?**
हवा क्या है ? — **ताका एंदेर हिके ?**
मृत्यु क्या है ? — **खेअना एंदेर हिके ?**

यही 'एंदेर' आश्चर्य और अशक्यता के अर्थ में क्रियाविशेषण हो जाता है। उदाहरणार्थ—

क्या वह मुझे मारेगा ? — **एंदेर आस एंगन लओस ?**

'एंदेर' की पुनरावृत्ति से विविधता का भी बोध होता है। दशांतर सूचित करने के लिए ओराँव का 'एंदेर ती एंदेर' ठीक उसी प्रकार प्रयुक्त है, जिस प्रकार हिंदी में 'क्या से क्या' दशांतर सूच्य वाक्यांश प्रयुक्त होता है।

जहाँ तक विशेषण का प्रश्न है, ओराँव भी गुणवाचक, संबंधवाचक, संख्यावाचक तथा परिमाणबोधक विशेषणों से संपन्न है। 'यह बड़ा लड़का है' को ओराँव में 'ईस कोहाँ कुक्कोस हिकदस' कहा जायगा। यहाँ कोहाँ गुणवाचक विशेषण है, जिसका अर्थ हिंदी में 'बड़ा' है। ओराँव के गुणवाचक विशेषणों में हीनता या उच्चता प्रदर्शित करने के लिए 'म' प्रत्यय जोड़ा जाता है। यथा—

बड़ा सा लड़का — **कोहाँम कुक्कोस**
छोटी सी लड़की — **सन्नीम कुकोय**

ओराँव में सर्वनाम से भी गुणवाचक विशेषण बनते हैं :

ईद (यह) से — **एन्ने (ऐसा)**
आद (वह–पुंलिग) — **अन्ने (वैसा)**
हूद (वह–स्त्रीलिंग) — **होन्ने (वैसा)**

ओराँव में संज्ञा व सर्वनाम की कारक-रचना, क्रियाओं की काल-रचना आदि हिंदी के बहुत समीप है। हिंदी में आठ कारक हैं। ओराँव के लिए भी इन आठ कारकों को माना जा सकता है। हिंदी के सदृश ओराँव की भी कारक-विभक्तियाँ होती हैं। ओराँव-विभक्तियों को अधिक स्पष्ट करने के लिए हिंदी कारक-विभक्तियों के साथ अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

कारक	हिंदी विभक्ति	ओराँव विभक्ति
कर्ता	०, ने	०, अस, अद
कर्म	को	इन
करण	से	ती
संप्रदान	को, के लिए	गे
अपादान	से	ती
संबंध	का, के, की	सी, ही
अधिकरण	में, पर	नू, अइयाँ
संबोधन	हे, अजी, अरे	अन

कर्ता कारक की ओराँव विभक्ति 'अस' केवल पुंलिग संज्ञा के लिए व्यवहृत होती है। 'अद' विभक्ति स्त्रीलिंग या स्त्री-पुरुषवाची पदार्थ तथा धर्म के लिए प्रयोग में लायी जाती है। ओराँव संबंध कारक की 'सी' विभक्ति हिंदी के 'का' के स्थान में आती है और 'ही' हिंदी के 'की' के लिए।

ओराँव सर्वनामों की कारक-रचना हिंदी के सदृश ही बहुत व्यवस्थित है। यहाँ पुरुष वाचक सर्वनामों में मात्र उत्तम पुरुष 'मैं' की कारक-रचना प्रस्तुत करना पर्याप्त समझता है।

उत्तम पुरुष 'मैं'—'एन'

कारक	एक वचन		बहुवचन	
	हिंदी	ओराँव	हिंदी	ओराँव
कर्ता	मैं	एन	हम	एम
कर्म, संप्रदान	मुझको	एंगा, एंगागे	हमें	एमागे, एमा
करण, अपादान	मुझसे	एंगती	हमसे	एमती
संबंध	मेरा	एंग्है	हमारा	एम्है
अधिकरण	मुझमें, पर	एमनू, एममेइयाँ	हममें	एमनू, एममइयाँ

ओराँव संज्ञा और सर्वनाम की कारक-रचना हिंदी संज्ञा-सर्वनाम की कारक-रचना से थोड़ी भिन्न है। हिंदी में संज्ञा तथा सर्वनाम दोनों के लिए कर्ता कारक विभक्ति 'ने' है। ओराँव संज्ञा की कर्ता कारक विभक्ति 'अस' तथा 'अद' मात्र अन्य पुरुष-वाचक सर्वनाम एकवचन के साथ आती हैं। उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम की, कर्ता, कर्म और संबंध कारकों में पृथक विभक्तियाँ बनती हैं।

कालों की अवस्थाओं के अनुसार हिंदी में सोलह काल-भेद होते हैं। ओराँव में केवल पंद्रह काल-रचनाएँ संभव होती हैं। इन काल-रचनाओं को अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

ओराँव क्रिया 'एकना'—'हिंदी 'चलना', केवल एकवचन अन्य पुरुष में

काल		हिंदी	ओराँव
वर्तमानकाल	सामान्य	वह चलता है	आस एकदस
	पूर्ण	वह चला है	आस इक्का रअदस
	संभाव्य	वह चलता हो	आस इकनूम रओस
	प्रत्यक्ष विधि	तू चल	गीन एका
भूतकाल	सामान्य	वह चला	आस इक्कयस
	अपूर्ण	वह चलता था	आस एका लगियस
	पूर्ण	वह चला था	आस इक्का रहयस

भूतकाल	संभाव्य	वह चला हो	आस इक्का रओस
	संदिग्ध	वह चला होगा	आस इक्कयस मनो
	सामान्य संकेतार्थ	वह चलता	आस एकोस पहें
	अपूर्ण संकेतार्थ	वह चलता होता	आस इकनूम रओस पहें
	पूर्ण संकेतार्थ	वह चला होता	आस इक्का रओस पहें
भविष्यतकाल	सामान्य	वह चलेगा	आस एकोस
	संभाव्य	वह चले	आस एकोस
	प्रत्यक्ष विधि	+	+
	परोक्ष विधि	तू चलना	नीन एकके

प्रस्तुत उदाहरण अन्य पुरुष-वाचक सर्वनाम पुंलिंग 'वह' को ले कर दर्शाया गया है। अन्य पुरुष सर्वनाम स्त्रीलिंग के साथ क्रिया का स्वरूप कुछ दूसरा ही होगा। हिंदी में 'वह' स्त्रीलिंग तथा पुंलिंग दोनों के लिए व्यवहृत होता है।

ओराँव वाक्य-रचना हिंदी के समान ही है। वाक्य में कर्ता, कर्म और क्रिया की वही स्थिति होती है, जो हिंदी में होती है। ओराँव में भी हिंदी वाक्य के सदृश कर्ता का स्थान आरंभ में, कर्म का मध्य में और क्रिया का अंत में है। एक उदाहरण लीजिए :

हिंदी	सुकरा	शेर को	तीर से	मारता है।
ओराँव	सुकरास	लकड़ान	कन्नाती	लवदस।

'सुकरा' व्यक्तिवाचक संज्ञा है; उसमें 'अस' कर्ता कारक विभक्ति जोड़ी गयी है। 'लकड़ा' (शेर) संज्ञा में 'अन' कर्म कारक विभक्ति जुड़ी है। 'कन्ना' (तीर) संज्ञा में 'ती' करण कारक विभक्ति जुड़ी है। 'लवना' एक सकर्मक क्रिया है, जिसके अंतिम 'ना' का लोप हो गया है और उसमें पुंलिंग एकवचन, अन्यपुरुषवाची प्रत्यय 'दस' जोड़ा गया है। दोनों भाषाएँ दो पृथक भाषा-परिवार की होते हुए भी उनकी वाक्य-रचना की समानता को देख कर आश्चर्य करना पड़ता है।

यह ओराँव भाषा-व्याकरण का एक बहुत सामान्य अध्ययन है। संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, कारक-रचना, क्रिया-काल-रचना आदि के अतिरिक्त कृदंत-रचना, वाक्य-विन्यास आदि में भी हिंदी के सदृश समर्थ है। इस भाषा में साहित्य और लिपि के अभाव के कारण भाषा-मर्मज्ञों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हो पाया है। आर्य भाषा से अधिक दूर होने के कारण इसके विस्तृत अध्ययन में कठिनाई अवश्य होती हो, किंतु फिर भी इसके गहन अध्ययन से भाषा-विज्ञान की एक अमूल्य निधि प्राप्त की जा सकती है।

—शासकीय सामुदायिक छात्रावास,
आधार ताल, जबलपुर (म० प्र०)

प्रतिपत्तिका

तुलसी के कृष्ण और सूर के राम

राम और कृष्ण दोनों ही भारतीय साहित्य की आत्मा हैं। राम का जीवन कर्तव्यप्रधान होने के कारण विश्व-मानवता के लिए आदर्श बन गया है। उसमें आदि से अंत तक केवल कर्तव्य की कठोरता ही है। भावना की सरसता के लिए उसमें स्थान नहीं है। रामचरित आदि से अंत तक कर्तव्यप्रधान होने के कारण पथभ्रष्ट मानव के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करता है। पथभ्रष्ट मानवों के पथ-प्रदर्शक होने के कारण राम जन-जीवन में इतने घुल-मिल गये हैं कि उनका नाम ही ईश्वर का पर्यायवाची बन गया है। वे दशरथ के पुत्र न रह कर निर्गुण, निराकार तथा निर्विकार परब्रह्म के पर्यायवाची बन गये हैं।

कृष्ण लोकरक्षक और लोकरंजक दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। कर्तव्यविमुख अर्जुन को गीता का उपदेश दे कर कायर से वीर बनाने वाले कृष्ण यदि लोकरक्षक हैं, तो अपनी मधुर मुरली की सरस स्वर-लहरी पर समस्त ब्रज-मंडल को मनमाना नाच नचाने वाले कृष्ण लोकरंजक भी हैं। श्रीमद्भागवत, गर्ग संहिता, हरिवंश पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा विष्णु पुराण में कृष्ण के लोकरंजक चरित्र का वर्णन हुआ है और महाभारत में लोकरक्षक चरित्र का। कृष्ण के लोकरंजक चरित्र को ले कर वाणी की वीणा के तार झंकृत हो उठे। संस्कृत कवि जयदेव और मिथिला के विद्यापति ने इस लोकरंजक कृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन कर के जो रस की धारा प्रवाहित की। उसने भावुक भक्तों को सराबोर कर दिया। हिंदी के कृष्णभक्त कवियों ने जयदेव तथा विद्यापति द्वारा निर्धारित इसी पथ पर चल कर अपने युग का नेतृत्व किया। भक्ति-भावना में निरंतर निमग्न रहने वाले इन कृष्ण-भक्त कवियों का यह सरस संगीत एक दिन नायक-नायिका-भेद की सृष्टि कर के विलासी राजा-महाराजाओं की दिमाग़ी ऐयाशी की सामग्री जुटायेगा, उसका भावुक भक्तों को पता नहीं था, यदि वे ऐसा जानते, तो पुराणों के लोकरंजक कृष्ण को अपनी अर्चना पुष्पांजलि अर्पित न करते। महाभारत के लोक-रक्षक कृष्ण को ही अपना आराध्य बनाते।

समय की गतिविधि को तुलसी पहचानते थे। मेरे विचार में यदि वे रामोपासक न हो कर कृष्णोपासक होते, तो कृष्ण-काव्य का रूप ही कुछ और होता। या अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के समान भागवत के कृष्ण की ललित लीलाओं का गान न कर के महाभारत के कृष्ण को ही अपना विषय बनाते।

कहा कहौं छबि आज की भले बने हो नाथ––कह कर तुलसी ने वृंदावन के रसिकशिरोमणि से मीठी चुटकियाँ लेते हुए कहा था। आज विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा पददलित भारत को तुम्हारा यह रूप अच्छा नहीं लगता। आज मधुर मुरली के स्थान पर धनुष-बाण धारण करने की आवश्यकता है। इसीलिए तुलसी का मस्तक तुम्हारे चरणों में तभी झुकेगा, जब तुम अपने हाथों में धनुष-बाण धारण करोगे। तुलसी भारतीय संस्कृति के रक्षक तथा पोषक थे। उन्होंने भगवान शंकर द्वारा राम-कथा कहला कर तथा राम-द्वारा शिव-पूजन करवा कर शैवों तथा वैष्णवों के वैर-विरोध को दूर करने का सफल प्रयत्न किया था। फिर यह कैसे हो सकता था कि भगवान विष्णु के दो प्रमुख अवतारों राम तथा कृष्ण में किसी प्रकार की भेद-बुद्धि रखते। अतएव उन्होंने जहाँ रामचरितमानस, गीतावली, जानकी-मंगल तथा बरवै रामायण में राम का गुण-कीर्तन किया, वहाँ उन्होंने कृष्ण-गीतावली की रचना कर के कृष्ण को भी अपनी काव्य-पुष्पांजलि अर्पित की। कृष्ण-भक्त कवियों के समान ही उन्होंने भागवत के कृष्ण को ही अपने वर्णन का विषय बनाया। पर इस क्षेत्र में वे अपनी लेखनी का चमत्कार अधिक विस्तार के साथ नहीं दिखा सके। इसका कारण हम कवि की रुचि-भिन्नता को कह सकते हैं। फिर भी उनकी लेखनी से जो भी निकला है, उसमें हृदय की कोमलतम अनुभूति के दर्शन हमें सर्वत्र होते हैं। गोपियों के बार-बार उलाहना देने पर जब यशोदा कृष्ण से माखन-चोरी का कारण पूछती हैं, तब तुलसी के कृष्ण क्या उत्तर देते हैं, इसे उन्हीं के शब्दों में देखिए :

> मोकहँ झूठेहु दोष लगावहिं ।
> मैया इन्हहिं बानि पर गृह की नाना जुगुति बनावहिं ॥
>
> इन्ह के लिए खेलिबो छोड़यौ तऊ न उबरन पावहिं ।
> भाजन फोरि बोरि कर गोरस देन उबहनीं आवहिं ॥
>
> कबहुँक बाल रोवाई पानि गहि मिस करि उठि-उठि धावहिं ।
> करहिं आपु सिर धरहिं आन के वचन विरंचि हरावहिं ॥
>
> मेरी टेव बूझि हलधर को, संतत संग खेलावहिं ।
> जे अन्याउ करहिं काहु को ते सिसु मोहिं न भावहिं ॥
>
> सुनि-सुनि वचन चातुरी ग्वालिनि हँसि-हँसि बदन दुरावहिं ।
> बाल गोपाल केलि कल कीरति, तुलसीदास मुनि गावहिं ॥

सूरसागर में सुकवि सूर ने गोपियों का जो विरह-वर्णन किया है, उद्धव-गोपी-संवाद में उसकी अत्यंत मधुर व्यंजना हुई है। सूर के उद्धव-गोपी-संवाद का प्रभाव कृष्ण-काव्य पर स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। उन्होंने भी अपनी 'कृष्णगीतावली' में गोपियों का विरह-वर्णन उद्धव-गोपी-संवाद में किया है। इसका भी एक उदाहरण देखिए :

मोको हब नयन भये रिपु भाई ।
हरि वियोग तनु तजेहि परम सुख ए राखहि सोई है बरिआई ॥
बरु मन कियो बहुत हित मेरा बारहि बार काम दवलाई ।
बरषि नीर ये तबहि बुझावहि स्वारथ निपुन अधिक चतुराई ॥
ज्ञान परसु दै मधुप पठायौ बिरह बेलि कैसेहु कठिनाई ।
सो थाक्यो रह्यो एकहि तक देखत इनकी सहज सिंचाई ॥
हारत हू न हारि मानत सखि सठ सुभाव कंदुक की नाईं ।
चातक जलज मीनहुँ ते मोरे समुझत नहिं उन्हको निठुराई ॥
ये हठ निरत दरस लालच बस, परे जहाँ बल बुधि न बसाई ।
तुलसिदास इन्ह पर जो द्रवहिं हरि तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई ॥

राम के अनन्य भक्त होते हुए भी तुलसी ने कृष्ण तथा राम में समबुद्धि रखने के कारण दोनों को ही पत्र-पुष्प अर्पित किये। 'कवितावली' में भी ऐसे कुछ पद्य मिलते हैं, जिनमें उन्हों ने कृष्ण की ललित लीलाओं का गान किया है। उदाहरणार्थ देखिए—

जब नैनन प्रीति ठई ठसा स्याम सों, स्यानी सखी हठि हो बरनी ।
नहि जानो बियोगु सो रोगु है आगे झुकी तब हौं तेही सौं तरजी ॥
अब देह भई पट नेह के घाले सौं स्यौंत करे बिरहा दरजी ।
ब्रजराज कुमार बिना सुपु भृंग अनुग भयो जिय की गरजी ॥

जहाँ तुलसी ने राम-भक्त होते हुए भी कृष्ण को नहीं भुलाया, वहाँ सूर ने भी राम को अपने हृदय-मंदिर में स्थान दिया है। सूर ने 'सूरसागर' के नवम स्कंध के पंद्रहवें पद से ले कर १६३वें पद तक राम का चरित्र चित्रित किया है। राम के वीर चरित्र के चित्रण में सूर कितने सफल हुए हैं, इसका अनुमान इस पद से सहज ही लगाया जा सकता है। मेघनाद से लड़ने की आज्ञा माँगते समय लक्ष्मण राम से कहते हैं:

रघुपति, जौ न इंद्रजित मारौं ।
तौ न होउं चरननि कौ चेरो, जौ न प्रतिज्ञा पारौं ॥
यह दृढ बात जानिये प्रभु जू, एकहिं बान निवारौं ।
सपथ राम परताप तिहारे, खंड-खंड करि डारौं ॥
कुंभकरन, दससीस बीस भुज, दानव दलहिं बिदारौं ।
तबै सूर संधान सफल हौं, रिपु को सीस उतारौं ॥

अपनी जन्म-भूमि के प्रति तभी हृदय में अनुराग होता है, इसका स्मरण करते ही सभी

के हृदय-सागर में आनंद की तरंगें उठने लगती हैं। सूर के राम की इन शब्दों में बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है।

हमारो जन्म-भूमि यह गाऊँ ।
सुनहु सखा सुग्रीव बिभीषन, अवनि अजोध्या नाऊँ ॥
देखत बन उपबन सरिता सर परम मनोहर ठाऊँ ।
अपनी प्रकृति लिये बोलत हौं, सुरपुर मैं न रहाऊँ ॥
ह्याँ के बासी अवलोकत हौं, आनंद उर न समाऊँ ।
सूरदास जौ विधि न संकोचै, तौ बैकुंठ न जाऊँ ॥

समूचे राम तथा कृष्ण-काव्य का अध्ययन करने के उपरांत हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि राम-काव्य तथा कृष्ण-काव्य की आत्मा एक ही है ; कलेवर भले ही भिन्न हो। राम तथा कृष्ण के लोकरक्षक तथा लोकरंजक रूपों को ले कर भावुक भक्तों ने जो चित्र प्रस्तुत किये, उनके दर्शन-मात्र से हिंदू जाति कृतार्थ हो उठी। राम ने उन्हें कर्तव्य-मार्ग दिखा कर जीवन बहुमुखी क्षेत्रों में अग्रसर किया। कृष्ण ने अपनी बाँकी झाँकी द्वारा उनके नीरस तथा शुष्क हृदय को सरसता प्रदान की।

राम और कृष्ण के इन रूपों में विदेशी आक्रांताओं द्वारा पदाक्रांत भारतीय जनता को जो आशा का दिव्य संदेश मिला, उसके कारण ही वह अभी तक जीवित है। पश्चिमी सभ्यता के रंग में सर्वथा रँग जाने पर भी हमारी आत्मा आज भी भारतीय है। विदेशी धर्म प्रचारकों के समस्त प्रयत्न इसी कारण आज भारत-भूमि में असफल हो रहे हैं। हमें राम और कृष्ण के प्रति कुछ ऐसा मोह है, जिसके कारण हम सब कुछ खो कर भी उन्हें खोना नहीं चाहते। हम केवल उन्हीं के मेरुदंड हैं। तुलसी और सूर में कविता की छेनी से जिन प्रतिमाओं को गढ़ा, उनके दर्शन कर के हम जिस सुख और शांति का अनुभव करते हैं, उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। कोरा ज्ञान छाँटने वाले ब्रह्मज्ञानियों के नीरव तथा थोथे ब्रह्मज्ञान के भीतर आत्मा का वह सौंदर्य कहाँ, जो तुलसी और सूर की तूलिका द्वारा निर्मित इन चित्रों में पाते हैं। युग बीत चुके हैं और बीतते रहेंगे, पर इन चित्रों में जो रंग इन चितेरों ने भर दिया है, वह कभी फीका नहीं पड़ेगा। उसका चटकीलापन कभी कम न होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—कृष्णकुमार कौशिक,
३६, दर्शनी द्वार,
देहरादून।

लोकगीतों में राम-कथा

राम-कथा में पारिवारिक जीवन की स्वाभाविक झाँकी देखने को मिलती है। राम-कथा में गार्हस्थ्य जीवन का मनोरम चित्रण है और गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण लोकगीतों का प्रधान विषय है। लोकगीतों में राजा दशरथ न तो राजा हैं और न कौसल्या रानी। वे तो सामान्य परिवार के माता-पिता हैं, जिनके हृदय में अपनी संतान के प्रति अमित वात्सल्य है और जो जीवन के सुख-दुख को अपने अंतर में सँजोये पुत्र की मंगल कामनाओं में डूबे आत्मविभोर हैं। राम और सीता भी अपने ईश्वरत्व अंश को त्याग कर ही यहाँ जन्मे हैं। वे मानव से भिन्न नहीं। इसीलिए लोकगीतों में राम-कथा के प्रसंग अत्यंत सहज एवं हृदयग्राह्य हैं। राम और सीता का रूप हर परिवार के पुत्र और पुत्रवधू का रूप है। तभी तो हमारी अनुभूतियों को आंदोलित करने की उनमें प्रबल क्षमता है। राम और सीता में भी मानव-सुलभ इच्छाएँ हैं, हर्ष और विवाद की छितरी भावनाएं हैं, जो एक ओर हमारी धार्मिक वृत्ति को तृप्ति प्रदान करती हैं, तो दूसरी ओर हमारी भावनाओं की तुष्टि।

लोकगीतों में राम-जन्म से ले कर राम-रावण के युद्ध तक की घटनाओं का समावेश है। राम-जन्म का उल्लास घर-घर पुत्र-जन्म के सुअवसर पर आनंद बधाई या सोहर गीतों में सुनायी पड़ता है। इन गीतों में पुत्र-जन्म में उल्लसित माता-पिता अपने राम-रूप शिशु पर अपना तन, मन, धन, जीवन सभी कुछ न्यौछावर कर डालने को प्रस्तुत हैं। राम-जन्म की कथा सोहर के रूप में विभिन्न लोक-क्षेत्रों में विविध रूप में गायी जाती है। विवाह के मंगल-गीतों में भी राम और सीता का विवाह एक अनोखी घटना बन कर नहीं आता। राम और सीता के विवाह में लोक के हर नर-नारी का मिलन है। विवाह के पश्चात राम-सीता के वनवास का प्रसंग भी मानवीय अनुभूतियों को गहराई से छूता है। राम-वन-गमन, दशरथ तथा कौसल्या माता का विलाप आदि ऐसे ही मार्मिक प्रसंग हैं, जहाँ लोकगीतकारों ने स्फुट रूप में मानव-मन के सत्य अंकित किये हैं।

लोकगीतों में उल्लास और आनंद के क्षणों की अपेक्षा करुण गीतों की अधिकता है। जीवन के करुण प्रसंगों में ही लोकगीतकारों की भावनाएँ बड़ी तन्मयता से डूबी हैं। सीता-राम का वन-वन भटकना, सीता के भाग्य की विडंबना आदि को इन लोकगीतकारों ने अत्यंत मार्मिकता से गाया है।

लोकगीतकारों ने इन लोकगीतों को प्रबंध की एकता नहीं दी है। यह तो उन छिट-पुट रँगीले मनकों की भाँति हैं, जो एक हो कर पूरी माला का सौंदर्य तो बढ़ाते ही हैं, साथ ही जिनका हर एक मोती अपनी एकरूपता- में ही समस्त सौंदर्य को आत्मसात कर लेता है। वास्तविक कथा को उलट-फेर करने में लोकगीतकारों ने अपनी स्वच्छंद प्रकृति का परिचय दिया है।

दशरथ के घर राम जी ने जन्म लिया है। समस्त अयोध्या आनंद-मग्न हो उठी। धन्य है वह नगरी अयोध्या और धन्य हैं राजा दशरथ और कौसल्या के भाग्य। पुत्र-जन्म की खुशी में सारा ऐश्वर्य, सारा सुख तुच्छ है।

धनी रे अजुधिया, धनी राजा दशरथ,
धन तोरी भाग कोशिला, राम जनम मैं हैं हो।
भँड़वा कै लुटि भईं, जब राम-जनम मैं,
भँड़वा के नाते रमइया, दूध पीहइँ हो।
कपड़ा कै लुटि भइ, रामा जनम मैं हइँ,
कपड़ा केरे रमइया, धोती पहिरइँ हो।
गउआ कै लुट भइ, राम-जनम मैं हइँ हो,
गउआ के नाते रमइया दूध पीहइँ हो।

पर पुत्र से संबंधित हर एक वस्तु का मोह भी तो नहीं छोड़ा जा सकता।

लोकगीतों में मानव-मन की संवेदना को ही नहीं, पशु-पक्षियों तक को स्थान दिया गया है। मानव के साथ-साथ पशु-पक्षियों की आंतरिक भावनाओं को भी जिस कौशल से लोकगीत-कारों ने व्यक्त किया है, वह निश्चय ही उनके भावुक हृदय की सरसता है। और इसीलिए कहीं-कहीं अत्यन्त हृदयद्रावक प्रसंगों की उद्भावना हुई है। मूक पशु-पक्षियों के प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना किसी मानव से क्या कम होगी।

कौसल्या रानी राम-जन्म की खुशहाली में हिरणों का आखेट कराना चाहती हैं। एक हरिणी ढाक वृक्ष की छाया में उदास खड़ी है।

छापक पेड़ छिउलिया त पतवन झापक हो,
रामा तेहि तर ठाढ़ि हरिनिया, त मन अति अनमन हो।
चलरइ चरत हरिनमा, त हरिनी से पूछईं हो,
हरिनी की तोरा चरहा झुरान, की पानी बिन मुरझेउँ हो।
ना मोरा चरहा झुरान, न पानी बिन मुरझेउँ हो,
हरिना आजु राम कै पसनिया, तोही मरि डरिहइँ हो।
छोड़ा अजुधिया केर राज, नंदन वन भागी हो,
भल, बउरानी हरिनिया, तोही को बउराइस हो।
मोरे रामा कै आज पसनियाँ, हमहिं मारि डरिहइँ हो,
मांसु केर रचिहीं जेउनरिया, त खाल साधु देहिंह हो।
मचियन बइठी हइँ कोसिला रानी, त हरिनी अरज करइ,
रानी मसुआ त सीझइ रोसइयाँ, खलिरिया हमहिं देतिउँ हो।

पेड़वा तै टँगतेउँ खलरिया, त हेरि-फेरि देखितेउँ हो,
रानी मन समझउतिउँ, जनकु हरिना जीतइ हो।
हरिनी जाएउ घर अपने खलरिया हम न देबइ हो,
हरिनी खलरी कै खंजनी मढ़उबइ, त रामा मोर खेलहइँ हो।
जब-जब बाजइ खँजड़िया, सबद सुन अनकइ हो,
हरिनी ठाढ़ी ढकुलिया के खाले, हरिना बिसूरइ हो।

हरिन पूछता है—हरिनी, तू उदास क्यों है? क्या तेरा चरागाह सूख गया है या पानी के बि तू मुरझा रही है? हरिणी जवाब देती है—न मेरा चरागाह सूख गया है, न मैं पानी के अभाव मुर्झा गई हूँ। आज राम की पसनी होने वाली है। अतएव तुम्हें मार डाला जायगा। च अयोध्या का राज छोड़ कर नंदन-वन की ओर भाग चलें।

हाय रे! नारी-मन की, पुरुष-प्रेम पर न्योछावर आकुल आकांक्षा, लेकिन हरिण मानता। वह तो राम की पसनी में अपने बलिदान को जीवन की सार्थकता मानता है। क है, शायद किसी ने तुम्हें बहका दिया है या तुम पागल हो गयी हो। अपने हरिण के बिछोह व्यथित और निराशा में डूबी हरिणी रानी कौसल्या के पास जा कर याचना कर रही है—

हे रानी! हरिण का मांस तो रसोई में पक रहा है, मुझे उसकी खाल ही दे दें। पर टाँग कर मैं उसे बार-बार देखूँगी और किसी तरह अपने मन को समझा लूँगी।

पर रानी कहती है कि हे हरिणी, अपने घर जाओ। खाल मैं तुम्हें नहीं दूंगी। खाल तो मैं खँजड़ी बनवाऊँगी, जिससे मेरे राम खेलेंगे। जब-जब खँजड़ी बजती है, हरिणी उसी वृक्ष के नीचे खड़ी-खड़ी अपने हिरण की याद करके व्याकुल होती है।

इस हृदयविदारक गीत में हमारे अंतस् की भावनाओं को व्यक्त करने की अपूर्व क्षमता है। इस गीत में पशु-प्रेम के जिस मार्मिक चित्र का अंकन किया गया है, उसमें मानव के प्रति एक उज्ज्वल संदेश निहित है।

विवाह जीवन की एक अभूतपूर्व घटना है। लोकगीतकारों ने बड़ी तन्मयता से इन मांगलिक गीतों को गाया है। श्रीराम जी सीता को ब्याह कर घर लौटे हैं—

बियाह लाये रघुबर जानकी का,
अपने का लाये हाथी औ घोड़ा।
सजाये लाये म्याना जानकी का,
अपने का लाये शाला-दुशाला।
औढ़ाय लाये चुनरी जानकी का,
बियाह लाये रघुबर जानकी का।

विवाह के गीतों में राम के आदर्श जीवन की झाँकियाँ सामान्य मानव के संमुख एक कल्याणकारी आदर्श की स्थापना करती हैं। राम-सीता के विवाह में सामान्य नर-नारी के

विवाह की घटनाएँ हैं। इसीलिए राम और सीता हमारे लिए कोई अलौकिक रूप धारण कर हमें विस्मय में नहीं डालते।

राम-कथा में राम-वन-गमन के प्रसंग अत्यंत मार्मिकता लिये हुए हैं। लोकगीतों में कौसल्या के मातृ-हृदय के स्नेह और अनुभूति की तीव्रता है। राम वन जाने की आज्ञा माँग रहे हैं, तभी कौसल्या के मार्मिक उद्‌गार निकल पड़ते हैं—

लै आवा सोने कै सरइया,
नयन दूनौ फोरा, नयन दूनौं फोरउ हो।
लावा जिमिया मा धरा हो अंगार,
बचन कैसे बोली, बचन कैसे बोलिय हो।

सोने की सलाई ले आओ, मैं अपने दोनों नेत्र फोड़ लूँ। वन जाने का दृश्य कैसे देख सकूँगी। जलता हुआ अंगार ले आओ, मैं अपनी जीभ जला लूँ। वन जाने के लिए कैसे कह सकूँगी। गीत की एक-एक पंक्ति में कितनी अथाह करुणा है!

कैकेई ने राम को वनवास दिया है, किंतु राम के विना अयोध्या में रहने के लिए कोई तैयार नहीं है। उनके मन की अनुभूति कितनी तीव्र है—

तोला लिखै वनवास कैकही, अयोध्या मा न रहा रे।
झिरमिक-झिरमिक पानी बरसे, पवन चले पुरवाई।
कउन बिरछ तर भींजत होइहैं, राम लखन दूनौ भाई।

पानी बरस रहा है और ठंडी हवा चल रही है। न जाने किस वृक्ष के नीचे राम और लक्ष्मण दोनों भाई भींगते खड़े होंगे। इस कैकेई ने उन्हें वनवास दे दिया है। चलो हम भी अयोध्या में न रहें। कितना असीम स्नेह है पुरजनों के मन में अपने राम और लक्ष्मण के प्रति।

राम वन को चले गये। कौसल्या माता का आँगन सूना हो गया। एक वृक्ष के नीचे बैठी वे राम, लक्ष्मण और सीता की याद में दुखी हैं—

छापक पेड़ छिउलिया न मोतियन करहइ हो,
औहि तर बइठी कोसिला रानी त मेघ मनामइ हो।
मेघा न हो मोरे मेघा, तुहिन मोर सब कुछ हो,
मेघा बरसा कजलि वन भीतर तीनहु मोरे वन गेहइ हो।
राम बिनु मोरी सूनी अजुधिया, लखन चउपरिया हो,
अब सीता कइ सूनी रसोइया तीनहु मोरे वन गेहइँ हो।
रामा कइँ भींजइ मुकुटिया, लखन सिर पागड़ हो,

अब सीता कइ भींजइ चुनरिया, तीनहु मोरे वन गेहइँ हो।
रामा कइ भरि गइ अजुधिया, लखन चउपरिया हो,
अब सीता कइ मरि गई रसोइया, तीनहु मोरे वन गेहइँ हो।

इस गीत में माता कौसल्या की विरह-वेदना कितनी सजीव तथा मार्मिकता लिये हुए है कि ह संमुख एक सामान्य माता के पुत्र-बिछोह की झाँकी साकार बन कर थम जाती है।

—कुन्तल गो
द्वारा, प्रो० उत्तमचन्द्र गो
गवर्न० डिग्री कॉ
सीधी (म० प्र

संकटकाल में आपका सहयोग

देश-सेवा का अवसर सभी के लिए

किसान
अधिक उत्पादन करें
ग्राम-रक्षा-दल के सदस्य बनें
श्रम-बैंक में योगदान करें

मजदूर
खूब उत्पादन बढ़ायें
हड़ताल न करें
विवादों को बातचीत से सुलझायें

व्यापारी
मुनाफ़ाखोरी न करें
माल का अनुचित संग्रह न करें
क़ीमतें न बढ़ायें

महिलाएं
फ़िज़ूलखर्ची न करें
स्वर्णदान करें
बालकों को राष्ट्र-प्रेम सिखायें

सामान्य नागरिक
होम गार्ड के सदस्य बनें
सेना में भरती होवें

राजस्थान सरकार द्वारा प्रचारित

समीक्षाएँ

●●

समकालीन भारतीय दर्शन

के० सच्चिदानंद मूर्ति द्वारा संपादित। अखिल भारतीय दर्शन परिषद। मूल्य : १२.००।

प्रस्तुत ग्रंथ में संगृहीत प्रबंध विभिन्न विद्वज्जनों की लेखनी से प्रसूत हैं। समकालीन भारतीय चिंतना और लोकविश्रुत भारतीय चिंतकों पर देश की राष्ट्रभाषा हिंदी में प्रबंध लिखने का यह प्रथम प्रयास है, अतएव स्तुत्य है। वैसे भारतीय दर्शन पर स्वदेशीय और विदेशीय लेखकों ने अवद्य और अनवद्य न जाने कितना लिख डाला है, लेकिन भारत की इदानींतन दार्शनिक प्रवृत्तियों पर और उनके स्रष्टाओं पर स्वल्प सज्जनों ने ही अपनी क़लम उठायी है। डॉक्टर राधाकृष्णन् और म्यूरहेड् के संपादन-नेतृत्व में 'कंटेंपोरेरी इंडियन फ़िलॉसफी' शीर्षक की पुस्तक का प्रणयन हुआ था, किंतु उक्त पुस्तक में विभिन्न लेखकों के निजी विचारों का ही संकलन था। प्रस्तुत ग्रंथ का दृष्टिकोण सर्वथा व्यापक है। एक ओर जहाँ हिंदू आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारों का संकलन है, वहाँ दूसरी ओर पुस्तक के कलेवर में मुस्लिम और ईसाई दार्शनिक विचार भी उपलब्ध होते हैं, एक ओर जहाँ भारत के राजनीतिक दर्शन की चर्चा मिलती है, वहीं दूसरी ओर हमारे विश्वविद्यालयों से संबंधित विद्वान दार्शनिकों के भी विचार संकलित हैं।

आलोच्य ग्रंथ देश के दश विद्वानों के निबंधों का संग्रह है। ये निम्नलिखित हैं—डॉ० संपूर्णानंद, डॉ० ब्रजगोपाल तिवारी, श्री नारायण शास्त्री द्राविण, श्री संगमलाल पांडेय, डॉ० राजेंद्रप्रसाद, डॉ० रमाकांत त्रिपाठी, डॉ० सुरेंद्र वार्लिंगे, श्री जे० एस० आर० एल० नारायण मूर्ति, डॉ० आर० वि० आर० चंद्रशेखर राव और डॉ० के० सच्चिदानंद मूर्ति। अंतिम महोदय ने संपादक की हैसियत से पुस्तक का प्राक्कथन भी लिखा है। पुस्तक के अंत में लेखकों, अनुवादकों और संपादक का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। तदनंतर नामानुक्रमणिका दी गयी है, जिससे पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि हुई है।

इस पुस्तक के पहले लेख का शीर्षक है 'बीसवीं शती की भारतीय विचारधारा की भूमिका'। इसके लेखक भारत के लब्धप्रतिष्ठ चिंतक डॉ० संपूर्णानंद जी हैं। लेख विचारपूर्ण है और मौलिक चिंतन का द्योतक है। लेखक ने आज की विचारधारा की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उसका यह कहना सच है कि सभी भारतीय दार्शनिक विचारों का स्रोत श्रुति है। उसकी राय में भारतीय दर्शनों में सर्वाधिक प्रभाव सांख्य और वेदांत का और वेदांत में भी अद्वैतवाद का पड़ा है। स्पष्ट है, लेखक यहाँ केवल आस्तिक दर्शनों का ही उल्लेख करता है। नास्तिक दर्शनों की बात ही नहीं

करता। लेखक अपने निजी मत पर अत्यधिक ज़ोर देता जान पड़ता है। उसका कहना है कि **सांख्य और शांकर वेदांत का संबंध ही यथार्थ विचारधारा है**। उसके लिए स्पष्ट कोई प्रमाण मिलता हो या न मिलता हो। लेखक को अपने इस मत को प्रमाणपुरस्सर प्रतिपादित करना चाहिए था। अगर वह ऐसा नहीं करता, तो यह साफ़ तौर से स्वमताभिमान है। लेखक पुनः दसवीं शती से ले कर १९वीं शती के दार्शनिक विकास-क्रम पर एक विहंगम दृष्टिपात करता है। उसका विवरण प्रायशः शुद्ध वैयक्तिक है। दसवीं शती के बाद के काल को वह दार्शनिक व्यभिचार का युग कहता है। लेखक की नज़र में योगप्रक्रिया महिमाशाली है और उसकी निंदा करना वह गर्हित समझता है। उसके मत में तुलसी आदि सगुणोपासकों ने और अनेकानेक निर्गुणोपासकों ने योग का तिरस्कार किया। पुनश्च भजन में उसको हीनता और पराश्रयता की दुर्गंध आती है। फिर वह ईसाइयत के प्रचार का, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफ़िकल सोसायटी, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, वैज्ञानिक चेतना आदि का बयान करता है। अंततः उसने साबित करने की कोशिश की है कि बीसवीं शती में मनुष्य अपने पौरुष पर अधिकाधिक प्रश्रय देने लगा है और भाग्य की अमिटता की धारणा शनैः-शनैः निर्मूल होती जा रही है। लोगों की वेदांत दर्शन में आस्था बढ़ती जा रही है, क्योंकि यही एक दर्शन है, जिसमें अभिनव और पुरातन ज्ञान का हृद्य, समन्वय हो सकता है। आज बीसवीं शती में वेदांत और योग के लिए अनुकूल भूमिका उपस्थित है। लेखक का उपर्युक्त निष्कर्ष स्पृहणीय है, किंतु उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

पुस्तक का दूसरा निवंघ है 'भारतीय… की समसामयिक परंपरावादी प्रवृत्तियाँ'… लेखक हैं नारायण शास्त्री द्राविड़। लेख… आज की दार्शनिक परंपरावादी प्रवृत्तियों… छोटे से निवंध में प्रस्तुत करने का प्रयास… है। जहाँ भारतीय दर्शन की अन्य अनेक… विशेषताएँ हैं, प ंपरावाद भी उसकी… विशेषता रही है और प्राचीन युग से ले… आज तक यह परंपरावाद अक्षुण्ण रहा… यह लेखक के कहने का अभिप्राय है।… कहना ठीक है कि जब से पाश्चात्य शिक्षा… समीक्षण-पद्धति का प्रभाव भारत की विचार… शैली पर पड़ा, परंपरावाद ने भी अपना… बदला और इसने रचनात्मक समीक्षा का… ले लिया, जिसमें तुलनात्मक चर्चा अपना… विशेष महत्त्व रखती है। लेखक अपने नि… में श्री राजगोपालाचार्य, गोलवलकर, के० एम०… मुंशी, सी० पी० रामास्वामी ऐयर सावर… आदि को भारतीय संस्कृति के व्याख्या… रूप में स्वीकार करता है, लेकिन, आश्चर्य… कि वह गांधी जी जैसे तत्त्व-विचारकों का नामो… ल्लेख नहीं करता। पुनः लेखक अपने को… परंपरावादी कहता है, लेकिन उसने बहुत… महत्त्वपूर्ण नामों का भी उल्लेख नहीं किया है… जैसे पं० कोकिलेश्वर शास्त्री, एम० एन०… कार, सरोजकुमार दास, डॉ० रामप्रताप… आदि, जिन्होंने अद्वैतदर्शन पर शायद ही कि… से कम महत्त्वपूर्ण कार्य किया हो। अगर… सबका निष्पक्ष उल्लेख किया होता, तो… चित उसकी रचना और प्रौढ़ हुई होती।

पुस्तक का तीसरा निबंध है डॉ० ब्रज… गोपाल तिवारी का जिसका शीर्षक है 'नवीन… हिंदू आध्यात्मिक एवं धार्मिक दर्शन।' उस… लेख में डॉ० भगवानदास, महर्षि देवेंद्रनाथ…

रवींद्रनाथ टैगोर, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि रमण, जिड्डु कृष्णमूर्ति के कतिपय आध्यात्मिक और धार्मिक विचारों पर विमर्श किया गया है। लेख वर्णनात्मक अधिक है, आलोचनात्मक कम। खेद की बात है कि महर्षि रमण जिनके विचारों की आज इतनी चर्चा है, उक्त लेखक के द्वारा उतने समादृत नहीं हुए हैं। ध्यान देने योग्य है कि लेखक को उनके सिद्धांतों में कोई नावीन्य परिलक्षित ही नहीं होता। अधिक अच्छा होता, यदि इस चर्चा में स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद का भी उल्लेख हुआ होता।

पुस्तक का चौथा लेख है 'समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद', जिसके प्रस्तुतकर्ता हैं, श्री संगमलाल पांडेय। लेख गंभीर है और लेखक की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचायक है। अपने वर्णन को यथाशक्ति समुचित बनाने के प्रयास में लेखक एक सूत्र प्रस्तुत करता है। वह ध्यान देने योग्य है। उसका यह कथन संदेह-लेशयुक्त है कि **समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद का सूत्रपात प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद और आधुनिक पाश्चात्य प्रत्ययवाद के आलोड़न-विलोड़न से हुआ।** योगदान दोनों का है, लेकिन एक तीसरी भी चीज़ है––मौलिक चिंतन। लेखक ने प्रत्ययवाद के सभी रूपों को प्रस्तुत किया है। शायद ही कोई प्रत्ययवादी उसकी लेखनी से अछूता बचा हो। उसने डॉ० हीरालाल हल्दर के मतवाद को सम्यक प्रस्तुत किया है। प्रत्ययवादियों के विचारों के विषय में अनेकानेक भ्रांत धारणाओं का प्रत्याख्यान किया है और फिर निरपेक्ष दृष्टि से सबके साथ न्याय करने का सफल प्रयास किया है। प्रो० ए० सी० मुकर्जी, डॉ० धीरेंद्रमोहन दत्त, डॉ० दास गुप्त और प्रो० कृष्णचंद्र भट्टाचार्य के दर्शन को लेखक ने अपने ढंग से समझाया है। यदि किसी प्रत्ययवादी के दूषणों पर उसकी नज़र गयी है, तो उसके भूषण भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हुए हैं। संपूर्ण लेख उसके मौलिक चिंतन और गहन गवेषणा का परिचय देता है।

अब हम श्री राजेंद्रप्रसाद के लेख पर विचार करेंगे, जिसका शीर्षक है 'समकालीन भारतीय दर्शन में अनुभववादी प्रवृत्तियाँ'। लेख 'अनुभववाद' को केवल संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त करता है, क्योंकि उसके व्यापक अर्थ में अनेंद्रिय अनुभूति, रहस्यानुभूति, आध्यात्मिक अनुभूतियों का भी समावेश हो जायगा। अनुभववाद का संकीर्ण अर्थ ऐंद्रिय अनुभव ही है। कहना नहीं होगा कि इस अर्थ में जो अनुभववादी विचारक हैं, उनके अनुसार अनुभव से ही ज्ञान के मूल तत्त्व उपलब्ध होते हैं। अनुभववाद का आज एक आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इस अर्थ में अनुभववाद का अर्थ है **विश्लेषण या भाषा-विश्लेषण**। लेखक यथार्थवादी विचारणा के अनुरूप अपने लेख में श्री मानवेंद्रनाथ राय, प्रो० जी० सी० चटर्जी, प्रो० निकुंजविहारी बनर्जी, प्रो० के० सच्चिदानंद मूर्ति, प्रो० दयाकृष्ण आदि के विचारों का उल्लेख करता है, किंतु आश्चर्य है कि हिंदी के महान यथार्थवादी विचारक राहुल सांकृत्यायन के विचारों का ज़रा भी उल्लेख उसने नहीं किया। है। राहुल जी ने मानव-समाज, वैज्ञानिक भौतिकवाद, विश्व की रूपरेखा नामक तीन यथार्थवादी पुस्तकों की रचना की है, जिनसे बढ़ कर अभी भारत में कोई यथार्थवादी पुस्तक नहीं लिखी गयी है। लेखक शायद दर्शन के अध्यापकों को ही दार्शनिक समझता है और अंग्रेज़ी में ही लिखने वालों का ही अध्येता और

१३

भक्त है, अन्यथा राहुल जी को छोड़ देने का कोई कारण नहीं था। वैसे लेखक अपने विषय को सहज रूप में निभाता है और चर्चित अनुभववादी दार्शनिकों के विचारों को स्पष्ट ठरता है।

पुस्तक का छठा निबंध है 'श्री अरविंद दर्शन' जिसके लेखक हैं डॉ० रमाकांत त्रिपाठी। लेखक ने श्री अरविंद के दार्शनिक दृष्टिकोण, उनकी योगविधि, उनके सामाजिक और राजनीतिक विचार, उनके शिक्षा-सिद्धांत, काव्य तथा सौंदर्य-सिद्धांत आदि सभी का सम्यक विवेचन किया है। श्री अरविंद के दर्शन में विकासवाद, नवीन वेदांत और मानववाद जैसी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। उनके दर्शन का उद्‌गम, पाश्चात्य जड़वाद और भारतीय अद्वैतवाद की आलोचना से होता है। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। इन सभी बातों का लेखक ने युक्तियुक्त पोषण किया है। लेखक ने काफ़ी सराहनीय ढंग से समझाया है कि कैसे सत् से जड़, चित् से प्राण और आनंद से चैतन्य पुरुष की उत्पत्ति होती है। लेखक ने अरविंद के योग की, उनके ब्रह्मावतरण के सिद्धांत की या अतिमानस की आलोचना करने का कोई प्रयास नहीं किया है, ज़ब कि उसने स्वीकार किया है कि बहुत से लोग इसमें कोई नवीनता नहीं देखते। हम उसके इस कथन से कि **'श्री अरविंद की पूर्णता की कल्पना उसकी स्वमता-सक्ति ही जान पड़ती है'** पूर्ण सहमत हैं। सामान्य रूप से लेख गंभीर और पठनीय है।

पुस्तक का सातवाँ लेख है सुरेंद्र बार्लिंगे का 'गांधी दर्शन'। लेखक ने प्रारंभ में यह समझाने की कोशिश की है कि गांधी जी सामान्य अर्थ में एक तत्वज्ञानी नहीं थे। वे धार्मिक थे। उनका दर्शन जीवन-मार्ग है; सामाजिक है। सर्वकल्याण और सर्वोदय की भावना उनके मूल की जड़ है; सत्य और अहिंसा उनके एकादश व्रत के परम तत्व हैं। लेखक ने जो 'सत्य' के 'सत्याग्रह' अहिंसा-तत्व और अहिंसा-धर्म की व्याख्या की है, वह ध्यान देने योग्य है। गांधी दर्शन के मुख्य सिद्धांतों पर लेखक ने इस लेख में विचार किया है, कतिपय स्थलों पर मौलिक व्याख्यान के भी दर्शन होते हैं, किंतु लेखक समकालीन गांधीवादी दर्शन से विलकुल अनभिज्ञ प्रतीत होता है। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में गांधी-दर्शन के विभिन्न पक्षों पर शोधकार्य हो चुके हैं; हो रहे हैं; हिंदी में भी श्री संगमलाल पांडेय जी का 'गांधी का दर्शन' वर्षों पूर्व प्रकाशित हो चुका है और 'दार्शनिक' त्रैमासिक तथा अन्य पत्रिकाओं में भी अनेक विद्वानों के लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार गांधी-दर्शन आज काफ़ी विकसित हो गया है लेकिन बार्लिंगे जी के लेख में इस विकास का ज़रा भी निर्देश नहीं है।

पुस्तक का आठवाँ लेख है श्रीनारायण मूर्ति का, जिसका शीर्षक है 'सर्वपल्लि राधाकृष्णन् का दर्शन'। राधाकृष्णन् अद्वैतवाद के ज़बर्दस्त पोषक और अनुयायी हैं। उनके ऊपर गांधी और ठाकुर जैसे महान भारतीय विचारकों का और प्लेटो, प्लॉटिनस, कांट, ब्रैडले और बर्गसाँ जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। उनकी तुलनात्मक पद्धति सर्व-विदित है। वे रहस्यानुभव और प्रातिभ ज्ञान की हामी भरते हैं। जगह-जगह पर लेखक राधाकृष्णन् के दर्शन की आलोचना करता है और वह ठीक ही है। वह अनेक स्थलों पर राधाकृष्णन् के कथनों में चक्रक-दोष देखता है। राधाकृष्णन् की अद्वैतपरक व्याख्याएँ कहीं-कहीं लेखक को नहीं भातीं। जैसे राधाकृष्णन् का

यह कथन कि **ब्रह्म और ईश्वर के प्रत्यय केवल दृष्टिकोण-भेद के परिणाम हैं।** इसका कारण सिर्फ़ इतना ही है कि लेखक दर्शन का क्या कार्य होना चाहिए, इसको अपने दृष्टिकोण से देखता है। यह उसकी स्वमतासक्ति है। लेख में आद्योपांत उद्धरणों की भरमार है, जिससे समझने में कुछ मदद ज़रूर मिलती है, किंतु भाषा में गत्यवरोध नज़र आता है।

पुस्तक का अगला लेख श्री चंद्रशेखर राव का है, जिसका शीर्षक है 'समकालीन भारतीय राजनैतिक दर्शन'। लेखक की शैली पूर्णतः वर्णनात्मक है। प्रारंभ में राष्ट्रीय आंदोलन और विभिन्न दलों का बयान किया गया है। लेखक विनायक दामोदर सावरकर, गोखले, तिलक, दादाभाई नौरोजी, गांधी, सुभाष, नेहरू आदि के विचारों को प्रस्तुत करता है। फिर वह समाजवादी अवधारणा का विवेचन करता है। लेख में गांधीवाद के खंडन और यूरोपीय समाजवाद के मंडन पर विचार किया गया है। लेखक का कहना सच है कि **समकालीन भारतीय राजनैतिक विचारधारा की सबसे बड़ी देन है—गांधीवाद। गांधी जी के सामाजिक और राजनैतिक विचार सशक्त और मौलिक थे।** लेखक के उक्त कथन से हम पूरी तौर से सहमत हैं। लेखक एम० एन० राय और प्रो० हुमायूँ कबीर के राजनीतिक विचारों की गवेषणा करता है। किंतु कमी इस बात की है कि वह भारत की विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के राजनैतिक सिद्धांतों का विवेचन नहीं करता। कांग्रेस पार्टी की राजनीतिक विचारधारा में पिछली दशाब्दी में जो परिवर्तन हुए, उसका भी उल्लेख नहीं है। अंबेदकर, डॉ० लोहिया, कृपलानी, मसानी, दांगे, नंबूदरीपाद, श्यामाप्रसाद मुकर्जी प्रभृति के राजनीतिक विचारों का देश में पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। लेख में इनके विचारों का उल्लेख करना आवश्यक था।

इस पुस्तक का अंतिम और प्रशंसनीय लेख है 'भारतीय मुस्लिम तथा ईसाई दार्शनिक विचार'। इसके लेखक हैं प्रो० के० सच्चिदानंद मूर्ति। भारतीय दर्शन पर आम तौर से एक लांछन लगाया जाता है कि वह हिंदू दर्शन है। 'समकालीन भारतीय दर्शन' में मुसलमानों और ईसाइयों के दार्शनिक विचारों के उल्लेख से पुनः यह लांछन कथमपि नहीं लगाया जा सकता। लेखक ने बड़ी ही सावधानी से अकबर और दाराशिकोह से ले कर सर सैयद अहमद खाँ, सर मोहम्मद इक़बाल, अबुल क़लाम आज़ाद, एम० एम० शरीफ़, हुमायूँ कबीर आदि अनेकों मुसलमान विचारकों के दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन किया है। तदनंतर वह भारतीय ईसाइयों और उनके दर्शन पर प्रकाश डालता है। केशवचंद्र सेन, सुंदर सिंह, ब्रह्म बांधव उपाध्याय, डॉ० कुमारप्पा, डॉ० पि० डि० देवानंदन, एस० पि० आदिनारायण और डॉ० याक़ूब मसीह जैसे भारतीय ईसाइयों के विचारों और उनके कार्यों का निष्पक्ष विवरण लेखक प्रस्तुत करता है। लेखक का यह सुझाव सराहनीय है कि भारतीय विद्वानों को भी तुलनात्मक धर्म के अध्ययन की नितांत आवश्यकता है। लेखक का दृष्टिकोण व्यापक और गहरे अध्ययन का परिणाम है। लेखक ने ही प्रस्तुत पुस्तक के संपादन का भी कार्य किया है। और वही भूमिका-लेखक भी है। 'आधुनिक भारतीय दर्शन : एक अन्वीक्षण' में लेखक ने प्रायशः उन सभी भारतीय चिंतकों की अवधारणाओं का भी उल्लेख कर दिया है, जिनके मतवादों का विवेचन पुस्तक के लेखों में नहीं हुआ है। किंतु संपादक के अन्वीक्षण में व्यक्तियों का नामोल्लेख और

स्तुति-गान अधिक है और उनके विचारों का विश्लेषण नहीं के बराबर है। उसमें अर्थवाद अधिक है, तत्ववाद कम।

संपूर्ण पुस्तक में जो सबसे अधिक खटकने वाली बात है, वह यह है कि इसमें हिंदी के माध्यम से विकसित होने वाले दर्शन का कहीं उल्लेख नहीं है। निश्चलदास (लगभग १८५७ ई०), रामावतार शर्मा, राहुल सांकृत्यायन, गंगाप्रसाद उपाध्याय, आचार्य नरेंद्रदेव, परशुराम चतुर्वेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, करपात्री जी, बल्देव उपाध्याय, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, आचार्य कृपलानी, डॉ० राममनोहर लोहिया, पं० सुखलाल संघवी, डॉ० दीवानचंद्र इत्यादि विचारकों के दार्शनिक और राजनीतिक विचारों का पुस्तक में कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि इनके दार्शनिक और राजनीतिक विचारों से समकालीन हिंदी जगत बहुत ही प्रभावित है। पुनश्च विभिन्न स्थानों से प्रकाशित होने वाली हिंदी की प्रमुख दार्शनिक पुस्तकों की विचारधारा का पुस्तक में कहीं उल्लेख नहीं है। उदाहरण के लिए हिंदी समिति उत्तर प्रदेश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, अच्युत ग्रंथमाला काशी, किताब महल इलाहाबाद, सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली इत्यादि के दार्शनिक और राजनीतिक प्रकाशनों का हिंदी जगत में पर्याप्त पठन-पाठन हो रहा है, किंतु आलोच्य ग्रंथ में इन कृतियों का नामोल्लेख भी नहीं है। अपेक्षित यह था कि समग्र पुस्तक समकालीन हिंदी दर्शन के संदर्भ में लिखी जाती और इसके अभाव में प्रस्तुत पुस्तक में समकालीन प्रभावशाली हिंदी विचारकों पर एक लेख तो अपेक्षित ही था।

प्रो० रानाडे की विचारधारा पर हिंदी में श्री संगमलाल पांडेय जी के संपादन में 'रानाडे का दर्शन' प्रकाशित हो चुका है और भारतीय विद्याभवन बंबई द्वारा अंग्रेज़ी में भी रानाडे जी की एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। रानाडे की विचारधारा को मानने वाले आज एक दो से भी अधिक दार्शनिक हैं। इतना होने पर भी पुस्तक में सिर्फ़ एक जगह रानाडे का नामोल्लेख हुआ है और उनकी विचारधारा का कुछ भी विवरण नहीं दिया गया है, जब कि अनेक प्रभावहीन लोगों के विचारों का विस्तार से वर्णन किया गया है। रानाडे की विचारधारा पर प्रस्तुत पुस्तक में एक लेख आवश्यक था।

आलोच्य पुस्तक हिंदी की दर्शन-परंपरा को नहीं स्वीकार करती। यह प्रभावशाली विचारधाराओं का वर्णन नहीं करती। अतः इससे समकालीन भारतीय दर्शन का पूर्ण परिचय नहीं हो सकता, किंतु फिर भी पुस्तक आद्यंत पठनीय है और समकालीन भारतीय दर्शन की धार्मिक, प्रत्ययवादी, राजनीतिक और यथार्थवादी प्रवृत्तियों को समझने में मदद देती है। दर्शन के पाठकों को इस पुस्तक का उपयोग अवश्य करना चाहिए और इसको आधार मान कर समकालीन भारतीय दर्शन को और आगे बढ़ाना चाहिए।

—ब्रजेन्द्र सिंह
दर्शन विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

समीक्षालोक

भगीरथ दीक्षित की विवेचनात्मक कृति। समुदय प्रकाशन, बंबई। मूल्य : २०.००।

'समीक्षालोक' नाम से यह भ्रम होता है कि इसमें पूर्वी पश्चिमी साहित्यालोचन के सिद्धांतों

का विवेचन होगा, किंतु इस पुस्तक का संबंध केवल पाश्चात्य साहित्यालोचन से है और पाश्चात्य साहित्यालोचन का इतिहास देने का जितना प्रयत्न किया गया है, उतना उसका विवेचन करने का नहीं। वास्तव में अध्ययन और विवेचन करने वाली दो अलग-अलग तरह की प्रतिभाएँ होती हैं। अध्ययन प्रस्तुत करना जितने अध्यवसाय की अपेक्षा रखता है, उतना ही विवेचन करना समीक्षात्मक उन्मेष की। कहीं ये दोनों प्रतिभाएँ एक साथ दीखती हैं, कहीं अलग-अलग। यानी कोई विवेचक सिर्फ़ अध्ययन प्रस्तुत करता है, तो कोई मौलिक सूझ-बूझ से सम्यक हो कर नवीन साहित्य-सर्जन के संदर्भ में नये प्रश्न उठाता है या प्राचीन सिद्धांतों को या साहित्य को नयी दृष्टि से विवेचित करता है और ऐसे विवेचक दो-चार छोटे-छोटे निबंध लिख कर भी साहित्यालोचन के क्षेत्र में ऐसा अमूल्य योग-दान करते हैं, जो दृष्टिविहीन बड़े-बड़े पोथा-लेखक बहुत पोथे लिख कर भी नहीं कर पाते। वास्तव में बड़ा आलोचक तभी जन्म लेता है, जब नवीन दृष्टि, नवीन चिंतन-क्षमता और व्यापक अध्ययन का संयोग होता है। लेकिन ऐसा संयोग बहुत मुश्किल से होता है, इसीलिए बड़े समीक्षक संख्या में इने-गिने ही हैं। ऐसी अवस्था में समीक्षा-क्षेत्र में दो ही रास्ते बचते हैं; या तो कोई साहित्यालोचन का ईमानदारी से इतिहास प्रस्तुत करे या नवीन उन्मेष के साथ (जो उसमें है) अपने काल की कृतियों को परखे और उनके भीतर से उभरने वाले नये कला-मूल्यों, मानव-मूल्यों और सर्जन संबंधी अनेक बुनियादी प्रश्नों पर चर्चा करे और इस प्रकार समीक्षा के स्वर को एक नयी दिशा की ओर प्रेरित करे। आज नवलेखन से संबद्ध अनेक सर्जक और आलोचक इसी प्रकार की फुटकर पर महत्वपूर्ण समीक्षाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं, किंतु बहुत से लोग समीक्षा की मूल शक्ति या प्रकृति से अनभिज्ञ रह कर भी समीक्षा के नाम पर बड़े-बड़े पोथे लिख डालने को आतुर हैं, यानी वे केवल पुराने मतों का हवाला ही नहीं देते, बल्कि उनके आधार पर नये साहित्य पर फ़तवे भी देते हैं; निर्णय भी देते हैं। चर्वित-चर्वण को निगल कर फिर उगलते हैं; यह बड़ा ही हास्यास्पद दृश्य होता है। ऐसे आलोचक अपनी सीमाएँ नहीं पहचानते और बहुत अधिक लिखने को ही उपलब्धि मान लेते हैं। ऐसे लोगों से समझदार वे लोग हैं, जो साहित्यालोचन के मुख्य सिद्धांतों और आलोचकों की उपलब्धियों तथा सीमाओं का ईमानदारी से इतिहास प्रस्तुत करते हैं। साहित्य को समझने की शक्ति इसमें भी अपेक्षित होती है, लेकिन अध्ययन, अध्यवसाय की व्यापकता शक्ति की कमी को भर देती है, शक्ति हो तो अध्यवसाय समीक्षा का स्तर छू लेता है। ज़ाहिर है कि ईमानदारी से अनेक आलोचकों के मतों को उद्घाटित करना और उन मतों का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करना भी अपने आपमें बड़े महत्व का कार्य है। प्रस्तुत पुस्तक इसी प्रकार की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

इस पुस्तक का महत्व इसलिए और बढ़ जाता है कि हिंदी पाठकों के सामने पश्चिम के साहित्य-मनीषियों के साहित्यालोचन संबंधी विचारों और उनके पारस्परिक वैषम्य-साम्य और उनके तारतमिक विकास को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। लगता है, यह पुस्तक उच्च कक्षा के विद्यार्थियों को ध्यान में रख कर लिखी गयी है, इसीलिए हर बात बड़े सरल ढंग से, तफ़सील से समझायी गयी है और फिर उसका निष्कर्ष भी प्रस्तुत किया गया है। हिंदी

साहित्य के विद्यार्थी के सामने पाश्चात्य साहित्यालोचन का एक स्पष्ट चित्र उभर उठता है और यदि लेखक इतना भी कर सका है, तो यह अपने आपमें एक बड़ा कार्य है। कम से कम उसे समीक्षक बनने की, निर्णय देने की, फ़तवे देने की हविश नहीं सता रही है (और जहाँ सता रही है, वहाँ वह अपने क्षेत्र के बाहर हो उठता है और साथ-साथ हास्यास्पद भी)।

पुस्तक सात अध्यायों में विभाजित की गयी है--(१) पीठिका, (२) यूनानी समीक्षक, (३) लैटिन समीक्षक, (४) अंग्रेज़ी समीक्षक, (५) जर्मन समीक्षक, (६) १९वीं शती के प्रमुख समीक्षक (७) २०वीं शती के प्रमुख समीक्षक। 'पीठिका' में लेखक ने साहित्य संबंधी उन सभी प्रश्नों को उठाया है, जो साहित्य के बुनियादी प्रश्न हैं और जिन पर पश्चिमी और भारतीय समीक्षक अपने-अपने ढंग से विचार करते रहे हैं। कुछ मूल प्रश्नों पर प्लेटो से ले कर इलियट तक ने अपने-अपने ढंग से विचार किया है और कुछ प्रश्न नये-नये साहित्य-सर्जन के संदर्भ में उभरते रहे हैं, जिन्हें तत्कालीन समीक्षकों ने परखा और विचारा है। लेखक ने इन दोनों प्रकार के प्रश्नों को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष में रख कर देखा है। 'साहित्य का मूल्य' (आनंद-मूल्य और प्रभाव-मूल्य), 'साहित्य का उद्देश्य' (कला कला के लिए, पलायनवाद अचेतन जन्य साहित्य तथा सोद्देश्य साहित्य), 'काव्य-रस' तथा 'पाश्चात्य समीक्षा का संक्षिप्त इतिहास' पीठिका में ये विषय चर्चित हुए हैं। साहित्य के बुनियादी प्रश्नों के बारे में पश्चिमी आलोचकों के मतों की व्याख्या करते समय लेखक ने भारतीय मतों की भी व्याख्या की है। इससे यह सत्य उद्घाटित होता है कि साहित्य के कुछ प्रश्न संसार के सभी साहित्यों के मूलभूत प्रश्न हैं और उनका उत्तर पा... लिए सबमें समान तड़प है। इसी प्रकार ... ने पश्चिमी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों ... साहित्यालोचन संबंधी मतों का विवेचन ... समय हिंदी साहित्य की तादृश प्रवृत्तियों ... समीक्षा-दृष्टियों की ओर संकेत किया है। ... निक काल में विकसित स्वच्छंदतावादी दृ... मनोविश्लेषणवादी दृष्टि, प्रगतिकारी दृ... प्राकृतवादी दृष्टि, प्रयोगवादी दृष्टि, प... और पूरब में कुछ अंतरों के साथ समान ... उभरी है सर्जन और आलोचन दोनों क्षेत्रों ... अतः एक देश के साहित्य की चर्चा करते ... दूसरे देश के साहित्य की बात का आ ... स्वाभाविक है। लेकिन लेखक ने हिंदी साहि... की चर्चा प्रासंगिक रूप से ही की है (यह उ... उद्देश्य भी नहीं है) अतः साहित्य की स... धाराओं का एक तुलनात्मक रूप तो उभरता है, किंतु हिंदी साहित्य पर सांकेतिक दृष्टिपात हों... के कारण बात कुछ बिगड़ जाती है। बिग... यों जाती है कि लेखक को हिंदी साहित्य ... किसी कृति पर पूरी तौर पर कहने का अवका... तो मिलता नहीं; अतः वह किसी धारा ... कृति विशेष के बारे में कुछ निर्णयात्मक ढंग से कह कर चलता कर देता है। विशेषतया ज... वह इंग्लिश या हिंदी साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों पर या किसी कृति पर फ़तवे देता है तो उन भ्रांतियों का शिकार हो जाता है, जिनका शिकार वे अनेक आलोचक नामधारी व्यक्ति होते रहे हैं, जो कृति या प्रवृत्ति को सर्जनात्मक स्तर पर विवेचित न कर प्रचलित मान-मूल्यों की दृष्टि से देखते हैं। कुछ झाँकियाँ देखिए:

हिंदी में बच्चन जी ने मधुशाला इस शती के चतुर्थ दशक में खोली; वह अंग्रेजी साहित्य के उसी युग में धनावृत हो चली थी।

लोग मधु पीने लगे। (आजकल बच्चन की मधुशाला आकाश-वाणी में प्रायः प्रसारित होने लगी है; लगता है कि युग भी उसे पुनः माँग रहा है।)

ये नये कवि (हिंदी-इंग्लिश सभी[1]) कहते हैं कि हमारी संवेदनाएँ समृद्धतर एवं सामान्य जनों की संवेदनाओं से अधिक जटिल है, क्योंकि हमारी संवेदन-शक्ति अधिक सूक्ष्म है। पागल भी ऐसे प्रलाप करते हैं। सामान्य लोग प्रायः पागलों को ऐसा कहते-सुनते हैं।

हमारे यहाँ भी सभी प्रयोगवादी कवि रहस्यवादी भी हैं। प्रमुख रूप से मनोवैज्ञानिक होने पर भी इनका कहना है कि ये धर्म के प्रति निष्ठावान हैं। श्री अज्ञेय जी एवं उनके मार्ग-साथी, इसी कोटि के साहित्यकार हैं।

वास्तव में लेखक का यह क्षेत्र नहीं जान पड़ता, उसका मूल क्षेत्र है प्रवृत्तियों और समीक्षकों के मतों के इतिहास को समझना-समझाना। लेखक ने यह कार्य बड़ी क्षमता से संपन्न किया है। 'पीठिका' में लेखक ने साहित्य के क्षेत्र में स्थापित अनेक बुनियादी प्रश्नों को उठाया है और पश्चिम के महत्वपूर्ण आलोचकों के तथा प्रासंगिक रूप से भारतीय समीक्षकों के भी तत्संबंधी मतों को अनुक्रम से बड़ी कुशलता के साथ रखा है। कहीं-कहीं जैसे इस प्रसंग में लेखक परिपाटी से अलग हट कर कुछ मौलिक ढंग से अपने विचार प्रस्तुत करने में भी समर्थ हुआ है। वह अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियों की तटस्थ व्याख्या प्रस्तुत करता हुआ साहित्य के विद्यार्थी के सामने उनका सही सूक्ष्म स्वरूप स्पष्ट करता है, किंतु जहाँ वह निर्णय पर उतर आता है, वहाँ बात बिगड़ जाती है।

---

१. कोष्ठक के शब्द मेरे हैं।—लेखक

इसी प्रकार वह अन्य अध्यायों में यूनानी, लैटिन, जर्मन और अंग्रेज़ी समीक्षकों के विचारों को बहुत सुलझा कर प्रस्तुत करता है। उनमें साहित्य के बुनियादी सवालों के संबंध में कहाँ तक साम्य है और कहाँ तक उनमें निजी चिंतनाएँ हैं, साहित्य के नवीन सर्जन के संदर्भ में कौन-कौन से नवीन प्रश्न उभरे हैं और उन प्रश्नों को ले कर कैसे नये-नये चिंतन विकसित हुए हैं; इन सबका बड़ा विशद अध्ययन इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। प्लेटो से ले कर इलियट तक के साहित्यालोचन की लंबी यात्रा के चरण-चिन्ह इस पुस्तक में बड़ी स्पष्टता से लक्षित होते हैं। इन चरण-चिन्हों का कुशल संयोजन भी बड़ी शक्ति की अपेक्षा रखता है; वह शक्ति लेखक में है। कहा जा सकता है कि यह पुस्तक अपने ढंग की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

—रामदरश मिश्र,
ई ४।११ए, माडल टाउन,
दिल्ली–९।

बालचंद बत्तीसी

हरिमोहन मालवीय द्वारा संपादित। हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। मूल्य : १.५०।

हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को अब तक केवल प्रचार-कार्य करने वाली संस्था ही समझा जाता रहा है, लेकिन इधर उसने **'सम्मेलन आकर ग्रंथमाला'** के नाम से हिंदी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के सुसंपादित संस्करण प्रका-

शित करने की महत्वपूर्ण योजना को कार्यान्वित करने का सत्संकल्प किया है। 'बालचंद-बत्तीसी' इस ग्रंथमाला की दूसरी पुस्तक है। इससे पूर्व प्रागन कृत **'भँवर गीत'** का प्रकाशन हो चुका है। हिंदी की समृद्धि की दृष्टि से सम्मेलन का यह कार्य प्रशंसनीय कहा जायगा।

'बालचंद बत्तीसी' जैनमुनि बालचंद की कृति है और इसका रचना-काल विक्रम संवत १६८५ है। इसकी सर्वाधिक प्राचीन प्रति विक्रम संवत १८५१ की है, जो सम्मेलनके हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रहालय में सुरक्षित है और जिसे सम्मेलन के हस्तलिखित ग्रंथ-संग्राहक ने जोधपुर की श्रीमती चंद्रकुँवरि जी से प्राप्त किया था। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में इसकी दो प्रतियाँ और उपलब्ध हैं। ग्रंथ के संपादक श्री हरिमोहन मालवीय ने इन्हीं तीन प्रतियों को आधार बना कर प्रस्तुत ग्रंथ का संपादन किया है।

विद्वान संपादक ने गुजराती साहित्य में जैन साहित्य के महत्व पर प्रकाश डाल कर यह प्रतिपादित किया है कि अब तक बहुत से जैन साहित्य के ग्रंथों को मात्र गुजराती साहित्य के अंतर्गत समझ कर जो हिंदी से पृथक रखा गया है, वह सर्वथा अनुचित है। कारण, प्रारंभ में उत्तर भारत की भाषाओं में स्थान-भेद के अतिरिक्त कोई विशेष अंतर नहीं था। वस्तुतः जैन साहित्य का अधिकांश हिंदी साहित्य का भी वैसे ही अंग है, जैसे गुजराती साहित्य का। इसलिए उसकी चर्चा हिंदी साहित्य के संदर्भ में आवश्यक रूप से होनी चाहिए।

मुनि बालचंद एक ओर गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे, तो दूसरी ओर हिंदी की प्रथम आत्मकथा **अर्द्ध कथानक** के रचयिता कविवर बनारसीदास के, जो आगरा निवासी थे। अतः इनकी भाषा में एक-दो विभक्ति और विशेषणों को छोड़ कर ब्रजभाषा की शब्दावली है। उदाहरण के लिए तृतीया प्रयुक्त **थी** (से) गुजराती विभक्ति है जो कई पदों में मिलती है। इसी प्रकार पद-संख्या ८ में **कारमो** और पद-संख्या १५ तथा कई अन्य पदों में **सहु** विशेषण क्रमशः 'भयंकर' और 'सब' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और गुजराती भाषा के ही है। 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग भी राजस्थान और गुजराती की विशेषता है जैसे **चंदण, नेण, जाणिये** आदि। इसके अतिरिक्त पूरे का पूरा ढाँचा ब्रज का है। एक बात और। यदि जैन दर्शन की शब्दावली और अंतर्कथाएँ निकाल दी जायँ, तो यह किसी वैष्णव धर्मावलंबी कवि की बन सकती है। अभिप्राय यह कि 'बालचद बत्तीसी' और इस जैसी ही अनेक अन्य रचनाएँ हिंदी भाषा के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए तो महत्व की हैं ही, इनसे इस तथ्य का भी उद्घाटन होता है कि वैष्णव भक्ति-भावना का प्रभाव जैन-अजैन सभी धर्मों के अनुयायियों पर पड़ा था। साथ ही जैसा कि आजकल अनेक मनीषियों का मत है, जैन धर्म के अंतर्गत स्वीकृत आचार-... को हमारे संतों ने विशेष रूप से अपनाया था। इस कृति से यह भी सिद्ध होता है कि उस समय ब्रजभाषा उत्तरी भारत की राष्ट्रभाषा थी।

मालवीय जी ने जहाँ प्रस्तावना में इस रचना के वर्ण्य विषय और कलापक्ष की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है, वहाँ पाठ-भेद की समस्या और अपने द्वारा गृहीत पद्धति की ओर भी संकेत किया है। परिशिष्ट में प्रस्तुत पुस्तक में प्रयुक्त जैन-दर्शन की शब्दावली की सव्याख्या अनुक्रमणिका और जैन-देवता एवं अंतर्कथाओं का स्पष्टीकरण भी किया गया है, जिससे

अभीष्ट विषय को हृदयंगम करने में सुविधा होती है। इस कृति के आद्योपांत अध्ययन से हमें एक बात और सूझती है। वह यह कि यदि जैन देवताओं और अंतर्कथाओं को हिंदू देवताओं और अंतर्कथाओं से मिला कर उनकी समता-विषमता तथा उस समता-विषमता के मूल में निहित प्रेरणा का अध्ययन हो, तो सांस्कृतिक ऐक्य की दृष्टि से यह कार्य अत्यंत उपयोगी होगा।

अंत में हम इस पुस्तक के संपादक हरिमोहन मालवीय को साधुवाद देते हैं, जिन्होंने इस दुर्लभ रचना को इतने सुंदर ढंग से संपादित करने में सभी प्रकार की सावधानी वरती है।

—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश',
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, (कुरुक्षेत्र)

आकाश विभाजित है

विष्णुचंद्र शर्मा का कविता-संग्रह। प्रकाशक: जगत शंखधर, वाराणसी। सन १९६५। मूल्य: ३.००।

विष्णुचंद्र शर्मा में संस्कार और प्रतिभा दोनों का सहधर्मी आकलन हुआ है। संस्कार का उदाहरण था **मौन सेंदुर शांत जल का** (कवि का पूर्व काव्य-संग्रह) और प्रतिभा का उदाहरण है **आकाश विभाजित है**, ऐसा न मान कर मैं दोनों संग्रहों में कविता की इन दोनों अनिवार्यताओं को व्यवस्थित ढंग से आकलित मानता हूं।

मेरी समीक्षा का विषय कवि का द्वितीय काव्य-संकलन है, जिसमें संस्कार अधिक उदार हो कर आये हैं, और प्रतिभा को अनेक स्थानों पर अलग-अलग संदर्भों में इच्छित चमत्कार मिला है। चमत्कार भूमि-वैचित्र्य अथवा अर्थ से नहीं, कवि-प्रतिभा की प्रकृतिगत जटिलताओं की परिणति से उत्पन्न होता है।

संस्कार की पवित्रता ही अगर धर्म है, और कला की प्राणवत्ता ही अगर सौंदर्य, तो दोनों का गुणात्मक समन्वय अवश्य ही कवि-प्रतिभा से चमत्कारों की सृष्टि करवा लेता है।

आकाश का अंत आ गया है
हमने उसे
अपने रंगीन वस्त्र पहना कर
बिगड़ैल घोड़ों के रथ पर
सजाया है
हमारा अंत आ गया है

(पृष्ठ : ६९)

अंतिम पृष्ठ की यह कविता और इससे पहले की कई कविताएँ चमत्कार में भी एक गंभीर आशय की स्थापना करती हैं। यह चमत्कार है, लेकिन इसने कवि के समय-बोध को उपेक्षित नहीं किया है। विष्णु स्वप्न-कथाओं का देवदूत हो कर भी, अनगिनत आकाशों के बीच में रुकी हुई धरती को नहीं भूल पाता। धरती उसके संस्कारों की माता है; केवल संकटकालीन ममता या आश्रय नहीं है।

सहजता, जिजीविषा और स्वच्छंदता—उसे समान रूप से प्रिय हैं। उसे समान रूप से प्रिय हैं, शमशेर, त्रिलोचन और अज्ञेय—तीन समानांतर रेखाओं पर अलग-अलग अपनी सीमाओं की गाँठ खोलते हुए तीन

कवि। **शमशेर एक दिल है, संज्ञाप्लावी क्षणों में...त्रिलोचन एक प्रवाह है, मेरी धमनियों में छटपटाता हुआ राग...फूल कचनार के, समुद्र का एक चुल्लू खारा जल है, अज्ञेय के आस्वाद का प्रतीक... भीतर से बहता हुआ** (पृष्ठ २३) की ये पंक्तियाँ साक्षी हैं, विष्णु ने बिना समर्पित हुए अपनी पूर्ववर्ती कविता को पहचानने की, और शालीन कृतज्ञता की हद तक प्यार करने की कोशिश की है। समानांतर रेखाओं से अलग अपनी एक समानांतरता बनाने और तप करने में वह सफल भी जरूर हुआ है।

आकाश के बाज़ुओं में
सागर है
सागर के अंक में हमारा देश
और हम
और हम
एक-दूसरे से गुंथे
नारिकेल-वन हैं

(पृष्ठ : ९)

देश शीर्षक यह कविता असफल हो कर लिखी नहीं जा सकती। इस छोटी सी कविता को मैं विष्णु की सबसे अच्छी कविताओं में मानता हूँ।

और **मेरा वसंत राग,** और **आयात-निर्यात,** और **जो कि नहीं है....उसका ग़म क्या**। **जो कि नहीं है** की ये पंक्तियाँ **देश** की पंक्तियों के साथ ही पढ़ी जा सकती हैं।

गाँजे का दम लगा कर रिक्शे वाले
पटरी पर जम गये हैं...
एलेन गिंसबर्ग
मेरे नगर में पागलों की पोशाक में
घूम रहा है...
तिब्बती एक-दूसरे का हाथ पकड़े
सारनाथ की एक लंबी सड़क पर
नाच रहे हैं...
मैं महाबलीपुरम् का
विशाल रथ हूँ
जो सूर्योदय से सूर्यास्त तक
अनवरत...
विवेकानंद ने
सत्य और अग्नि में झुलसते
हमारे एक दिन को
कन्याकुमारी में डुबो दिया था...
मेरे भीतर की दीवारों पर
आवाज़ें
टकरा रही हैं...

—भारतीयता, संस्कार, प्रतिभा, रू और अरूप की ये कविताएँ हमारे भीतर आवाज़ बन कर टकराती हैं। और हमें कई ध्वनियों में एक साथ विवश करती हैं। शायद आलोचक नामवर सिंह को इन कविताओं ने बाँधा नहीं, विवश नहीं किया था। बनारस की एक कविता-गोष्ठी में इस कविता **जो कि नहीं है...उसका ग़म क्या** (इस संकलन की सबसे लंबी और बड़ी कविता) पर विचार करते हुए, नामवर ने कवि को सलाह दी थी कि यह ठोस ज़मीन नहीं है, विष्णु को चाहिए कि वे ज़्यादा पक्की ज़मीन की तलाश करें। नामवर को इसमें प्रभाववादी कवियों की गहरी छाप भी दीख गयी थी।

कई ख़ूबसूरत और नये लहजे, कई नये और अनछुए मुहावरे, दृष्टांत और प्रतीक

इन कविताओं में विष्णु ने उपस्थित किये हैं। **'जहाँ फूल नहीं उग सके, मैंने चट्टानें बो दी थीं', 'विचलित था, जब तुमने नस-नस के पीले पत्ते मरोड़ कर, अलाव में छोड़', 'सीढ़ियों से जल जब फिसलता है, तब नन्हें-नन्हें खरगोश याद आते हैं', 'सफ़ेद कपड़ों में बगुलों की तरह गर्दन उचकाये हुए बैरे, इधर से उधर आ-जा रहे हैं', 'शीशे के जग में तैरते हुए बर्फ के ढोंके, मेरी और तुम्हारी आँखों में हैं', 'मुझसे ऊँचे रहने वाला आकाश, मेरे भीतर टूटे हुए स्लेट के टुकड़ों-सा अटका है, 'नभ नहीं हूँ मैं, न तुम हो मेघ, हम निरे फैलाव हैं, आँधी नहीं हैं', 'सागर उबलता है घरों में, और बादल बिखर जाते हैं'**—कविताओं के नन्हें-नन्हें टुकड़े अपनी इकाई में संपूर्ण हो कर भी आकाश की तरह ऊँचे और भरे-पुरे हुए अर्थों, मूल्यों और संदर्भों के परिपूरक हैं।

आयात-निर्यात में एक जगह (पृष्ठ : ६२) विष्णु ने लिखा है—**हैदराबाद के म्यूजियम में एक घड़ी है, जिसमें से गांधी, हर घंटे, दरवाजा खोल कर बाहर आते हैं और लौट जाते हैं**—यह घड़ी हैदराबाद से वापस आने वाले कई कवियों ने देखी है। यह संयोग ही है कि राजनीतिक 'मछली फँसाओ' आंदोलन के इस महाजाल समय-खंड में विष्णु ने ही, इस सामयिक व्यंग्य को कविता में स्वरूप दिया है। ऐसे कई व्यंग्यों के स्वरूप **आकाश विभाजित है** उपस्थित हैं।

विष्णुचंद्र शर्मा के व्यंग्यों में कवि-मानस की सहजता है, आवेगपूर्ण आक्रमण का आभास **जो कि नहीं है** कविता में एक 'अचल जीवन' ('स्टिल-लाइफ़') का चित्र है:

फ़ैजाबाद की सड़क पर एक घर है
जहाँ दिन के उजाले में
नारद-छाप तंबाकू का विज्ञापन है
और, एक बंद कुआँ है
जिसके नजदीक दो-एक औरतें
ऊँघ रही हैं
एक नन्हीं बच्ची है
जो मुँह-ढँकी एक देह को देख कर
रो रही है

—क्या व्यंग्य की जटिलताएँ किसी भी काव्य-परिवेश में इस सहजता से आगे जा सकती हैं?

लता ने पीले फूलों से कहा
बिखरे हुए पतझर को हुआ क्या
क्या हुआ
तुमने क्यों छुआ
लता ने
पीले फूलों से कहा

—कविता लता, पीले फूल, पतझर और सिर्फ़ छूने की क्रिया के संदर्भ माध्यम में प्रकट हुई है। इसमें कुल तीन शब्द हैं, एक क्रिया है, और पतझर को जो हुआ है, उसकी एक संभावना है। आधुनिक व्यक्ति को यही होता है, जो बिखरे हुए पतझर को हुआ है। और जो हुआ है, उसकी समझदारी ही कवि का बोध है, आधुनिक जीवन-बोध। इस बोध को इसी कविता **वसंत २** की ईमानदारी, सफाई, और सादगी से प्रकट किया जाना चाहिए।

—राजकमल चौधरी,
रामेश्वर प्रसाद हाउस,
मिखना पहाड़ी (दक्षिण),
पटना–४।

पत्र-प्रतिक्रियाएँ

नवंबर 'माध्यम' में 'विवेचना' के अंतर्गत डॉ० इन्द्रनाथ मदान का 'झूठा सच' पर निबंध पढ़ा। डॉ० मदान की साफ़गोई की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। अपनी भ्रांति को उन्होंने साहस और ईमानदारी से स्वीकारा है। यशपाल के इस उपन्यास को लाल, गुलाबी आदि रंगों में देखना वाक़ई लेखक के साथ अन्याय होता। 'झूठा सच' में यदि कोई रंग है तो—श्वेत, जो सभी रंगों से मिल कर बना है—इसमें जीवन के मीठे-तीते अनुभव हैं, बदलते परिवेश में, बदलते मानव-संबंधों का अंकन है।

किसी भी देश या जाति के संक्रमणकालीन परिवेश में बदलते मानव-संबंधों एवं जीवन-मूल्यों का चित्रण कठिन कार्य है। अतः इस उपन्यास के सही मूल्यांकन के लिए हमें इस 'मानवीय स्वर' को सामने रख कर चलना होगा। डॉ० मदान इस उपन्यास का अंतिम स्वर (उनका आशय शायद मूल स्वर से है) राजनीतिक मानते हैं—पर राजनीति यहाँ 'अंडर करेंट' की तरह चलती है—राजनीतिक घटनाओं का अंकन साधन भर है, साध्य है मानवीय संबंधों के विकास (या ह्रास) का चित्रण।

डर है, इस उपन्यास को प्रेमचंद-परंपरा या यशपाल के अपने ही उपन्यासों की परंपरा में रख कर देखने से भी सही मूल्यांकन नहीं हो पायेगा। इसे तो देश या जाति के संक्रमणकालीन मानव-संबंधों का चित्रण करने वाले उपन्यासों—'युद्ध और शांति', डॉ० ज़िवागो और शोलोखोव के 'तीखी दोन' आदि (कुछ हद तक 'गोदान' भी) के संदर्भ में रख कर देखना चाहिए।

डॉ० मदान ने इस उपन्यास पर उपलब्ध सभी परस्पर विरोधी मतों को समक्ष रख अपने निष्कर्ष निकाले हैं। अच्छा हो, यदि 'माध्यम' के किसी आगामी अंक में इस निबंध पर उन विद्वानों के विचार भी प्रकाशित किये जायँ, जो 'विवेचना' की गोष्ठी में भाग लेने वाले थे।

—शैलेन्द्र 'शैल',
नासिक रोड।

'माध्यम' ने विवेचना के माध्यम से हिंदी साहित्य में आलोचना की जिस स्वस्थ परंपरा की स्थापना की है, वह भविष्य में जीवित रहेगी, ऐसा विश्वास है। यही कारण है कि 'माध्यम' में 'विवेचना' को बड़ी उत्कंठा से पढ़ता हूँ, क्योंकि हर बार कोई न कोई नयी बात सोचने-विचारने के लिए मिल जाती है। लेकिन इस बार 'विवेचना' में डॉ० वार्ष्णेय द्वारा भगवती बाबू की महानतम कृति 'भूले-बिसरे चित्र' की आलोचना को पढ़ कर निराशा सी हुई और ऐसा लगा कि वार्ष्णेय जी एक स्वस्थ आलोचक के दायित्व

का निर्वाह करने में यहाँ सफल नहीं हो सके हैं (अन्य जगहों की बात नहीं कह रहा हूँ)।

इस संदर्भ में यही कहूँगा कि सबसे पहले किसी कृति की आलोचना के लिए स्वस्थ एवं संतुलित दृष्टिकोण आवश्यक है, जिसकी कमी डॉ० वार्ष्णेय में है; जैसा कि उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकारा है ('विवेचना' की गोष्ठी में)।

दूसरी बात यह भी ध्यान में रखना आवश्यक होता है कि किसी कृति विशेष की आलोचना करते समय उसी लेखक की दूसरी रचना के संदर्भ में किसी भी प्रकार का प्रश्न या शंका नहीं उठायी जानी चाहिए। जैसा कि वार्ष्णेय जी ने लिखा है, 'चित्रलेखा' में इतिहास नाम मात्र का है। अन्यथा इसकी मूल समस्या नितांत आधुनिक और सामाजिक है। ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से ही नहीं, मूल समस्या को भली भाँति उभारने की दृष्टि से भी 'चित्रलेखा' एक सफल औपन्यासिक कृति नहीं कही जा सकती। आखिर क्यों?

महज़ शंका उठाने से ही काम तो समाप्त नहीं हो जाता? शंका का समाधान भी होना चाहिए। 'चित्रलेखा' जैसे उपन्यास हिंदी साहित्य में कितने हैं, जो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं? क्या डॉ० वार्ष्णेय बताने की कृपा करेंगे? यहाँ अगर एक बात कहूँ, तो अनुचित नहीं होगा कि डॉ० वार्ष्णेय ने वस्तुतः इस आलोचना में अपनी विश्वविद्यालयीय परंपरा का ही निर्वाह किया है, क्योंकि यह कह कर कि 'चित्रलेखा' सब कुछ अच्छा होते हुए भी उन्होंने अंत में उसे चौपट कर दिया है 'चित्रलेखा' के अंतिम अंक को निकाल दें, तो वह एक सफल कृति है।" उन्होंने डॉ० रामकुमार वर्मा की कमी कही हुई बात दोहरायी है।

तीसरी बात आलोच्य कृति 'भूले-बिसरे चित्र' के संदर्भ में है। डॉ० वार्ष्णेय ने कहा है कि "इस कृति में न तो सफल कलात्मक प्रयोग ही है, न सर्जनात्मक और न जीवन-दर्शन ही; अतः यह असफल है। 'भूले-बिसरे चित्र' के युग में और भी बहुत कुछ था, जिसकी ओर भगवती बाबू ध्यान नहीं दे सके। अपनी संकुचित दृष्टि के कारण वे जीवन के नये मूल्य हमारे सामने नहीं रख सके। इसीलिए यह प्रेमचंद की परंपरा की अनुकृति सी लगती है।" 'भूले-बिसरे चित्र' और 'चित्रलेखा' के सिवा भगवती बाबू की इतनी सफल तीसरी कौन सी कृति है, जिसके आधार पर उन्हें अच्छे उपन्यासकारों की श्रेणी में रखा जा सके? क्या वार्ष्णेय जी इतनी सी बात बताने की कृपा करेंगे कि अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण जीवन के जिन नये मूल्यों को भगवती बाबू नहीं प्रस्तुत कर सके, वे कौन से हैं? उन मूल्यों के बारे में तो कम से कम एक आलोचक होने के नाते उन्हें बताना ही चाहिए था। क्योंकि आलोचक का दृष्टिकोण तो संकुचित नहीं होता है। उनकी सूझ-बूझ और पैठ गहरी होती है।

सारांश यह कि 'भूले-बिसरे चित्र' और भगवती बाबू पर डॉ० वार्ष्णेय ने जो भी आरोप लगाये हैं, उन पर उन्हें फिर से विचार करना चाहिए।

—राजेंद्र एस० प्रदीप,
नयी दिल्ली।

'माध्यम' के अक्टूबर अंक में प्रकाशित 'अमर शहीद विद्यार्थीजी' का जीवन-वृत्त एवं संस्मरणों को पढ़ कर अत्यंत निराशा हुई। श्रद्धांजलियों के संबंध में विवाद अथवा आलोचना-प्रत्यालोचना को स्थान बिल्कुल नहीं मिलना चाहिए। इस बात को मैं मानता हूँ, और इसका क़ायल भी हूँ। लेकिन क्षोभ और निराशा तो इस बात पर हुई कि संस्मरण-लेखक विद्यार्थी जी के अत्यंत निकट से परिचित एवं विश्वास-पात्र के रूप में रहे हैं। इससे भी बड़ी बात यह है कि विद्यार्थी जी के जीवन-वृत्त को सम्मेलन ऐसी विश्व-विश्रुत एवं राष्ट्रीय संस्था की एक मुख्य पत्रिका ग़लत ढंग से प्रचारित करने में अनजाने ही सहायक हो।

हमारे शहीद गणेश जी पुराण-काल के न तो गोबर-गणेश ही थे और न कालिदास, चंदबरदाई, कबीर, मीरा या तुलसी के युग के ही थे—जिनके जीवन-वृत्त के संबंध में अनेक धारणाएँ अथवा किंवदंतियों की गाथाएँ गढ़ी जा सकें। 'विद्यार्थी जी का जन्म सन् १८९१ ई० में ग्वालियर में हुआ था'—यह श्रद्धांजलि-लेखक का विनम्र निवेदन द्वितीय अनुच्छेद की प्रथम पंक्ति में ही है। हिन्दी की एक तथाकथित श्रेष्ठ पत्रिका में इस 'कथन' पर विश्वास कर लेने के लिए अंतर्मन बार-बार आग्रह करने लगा। पर गणेश जी इसी मालवीय जी, टंडन जी और नेहरू जी की नगरी के थे—इस सच्ची बात को कैसे ठुकराऊँ और तथ्य को तोड़-मरोड़ कर मेरे मन को स्वीकार कर लेने में आपत्ति ही नहीं हुई, बल्कि साहस भी नहीं हुआ। दिल बार-बार रोमांचित होने लगा कि गणेश जी इसी ऐतिहासिक नगरी की आत्मा हैं, जहाँ से भारत का बहादुर लाल 'लाल बहादुर' प्रधान-मंत्री चुना गया है। शहीद गणे[illegible] के संबंध में इतना ही कहना काफ़ी [illegible] कि वे इलाहाबाद के अतरसुइया मोहल्ले [illegible] कुँवार सुदी १४ रविवार संवत् [illegible] (सन् १८९० ई०) [न कि सन् १८९१ में—जैसा कि पं० रामगोविन्द त्रिवेदी [illegible] अपने उक्त लेख में लिखा है] मैं अपने नि[illegible] में उत्पन्न हुए थे। यह सही है कि [illegible] जी का शैशव-काल और बाल्य-काल [illegible] शिक्षा-दीक्षा ग्वालियर में ही—जहाँ पर [illegible] पिता एक ऐंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल के [illegible] मास्टर थे—प्रारंभ हुई थी।

लेखक ने संभवतः अपनी स्मृति से '[illegible] का प्रकाशन सन १९१२ ई० लिख दि[illegible] स्मृति से प्रायः कुछ इधर-उधर हो जाता [illegible] लेकिन 'प्रताप' का जन्म देवोत्थान एका[illegible] संवत् १९७० (९ नवंबर, १९१३ ई०) [illegible] हुआ। इस पुनीत पावन तिथि के 'प्रताप' [illegible] ब्रिटिश सरकार भी सहन करने में कष्ट [illegible] विचलित हो जाती थी।

ये त्रुटियाँ किसी भी माने में हों—[illegible] ही नगण्य हों—लेकिन सम्मेलन की [illegible] महत्त्वपूर्ण पत्रिका में स्थान पा जाने [illegible] अनैतिहासिक तथ्यों एवं अनर्थों के [illegible] खोजों व लेखों के पिरामिड हिंदी सेवियों द्वारा जाने-अनजाने में अनायास गढ़े जा सकते हैं। हो सकता है कि श्रद्धा-भक्ति में ऐतिहा[illegible] तथ्य एवं सत्य गौण स्थान पाने के अधि[illegible] समझे जायँ—लेकिन तथ्यों एवं सत्यों [illegible] तोड़-मरोड़ श्रद्धांजलियों को भी महत्त्व[illegible] कर देती हैं।

—विष्णुकांत माल[illegible]
प्रयाग

'माध्यम' के दिसंबर, १९६५ अंक में प्रकाशित **'आधुनिक मैथिली साहित्य'** विषयक मेरे लेख में कुछ भूलें रह गयी हैं। यथा पृष्ठ ८५ में **'मैथिली लोकगीत'** के स्थान पर मुद्रणजनित भूल से **'मैथिली शोकगीत'** मुद्रित हो गया है। साथ ही डॉ० दुर्गानाथ झा 'श्रीश' ने **'आधुनिक मैथिली काव्यक प्रवृत्ति'** पर शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है, न कि **'मैथिली प्रबंध-काव्य'** पर। इस तथ्यात्मक भूल का कारण मेरा प्रमाद है। मुझे अपने प्रमाद पर खेद है।

—केदारनाथ लाभ,
छपरा।

प्राप्ति-स्वीकार

●●

हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

पनघट रहा उदास (शिवकुमार)

डॉ० सोमनाथ गुप्त, जयपुर

माधव-विनोद (सोमनाथ चतुर्वेदी का काव्य) (संपादक : डॉ० सोमनाथ गुप्त)

आदान-प्रदान पुस्तकालय, हैदराबाद

चमगादड़ (तेलुगु कविता) (अनु०: व० राममूर्ति 'रेणु')

संत कार्यालय, इलाहाबाद

१. चुनमुन (विद्याभूषण 'विभु')
२. सागर है या जादूवर है ? (,,)
३. अवध का सूर्य (महर्षि शिवव्रतलाल तथा दीवान वंसीधारी लाल)

नवज्योति प्रकाशन, भागलपुर

१. री (ब्रह्मेंद्र शर्मा 'पुरुषेंद्र')
२. समाज के चेहरे (,,)

भारतीय प्रकाशन, प्रयाग

बयार पुरवइया (भोलानाथ गहमरी)

साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली

एरियोपैजिटिका (अनु० : बालकृष्ण राव)

हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

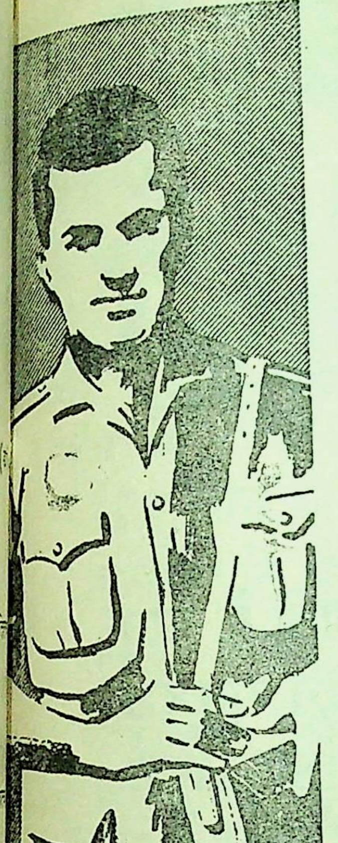
१. ग्रह-नक्षत्र (डॉ० सम्पूर्णानंद)
२. खड़ीबोली का लोक-साहित्य (डॉ० सत्या गुप्ता)

भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली

डॉ० नगेंद्र : व्यक्तित्व और कृ[ति] (सं०: रणवीर रांग्रा)

हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१. आधुनिक हिंदी कविता में गीति-[तत्व] (डॉ० सच्चिदानंद तिवारी)
२. वालचंदवत्तीसी (सं० : हरिमो[हन] मालवीय)
३. राजभाषा हिंदी (डॉ० सेठ गोवि[ंद] दास)
४. गढ़वाली लोक-साहित्य का वि[वे]चनात्मक अध्ययन (मोहनलाल बा[बु]लकर)
५. रसखान-रत्नावली (डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक)
६. ब्रजभाषा रीति-शास्त्र-ग्रंथ-को[श] (जवाहरलाल चतुर्वेदी)
७. हिंदी आंदोलन (सं० : लक्ष्मीका[ंत] वर्मा)
८. कबीर और कबीर-पंथ (डॉ० केदार नाथ द्विवेदी)
९. गीतामृत (शिवकुमार मिश्र)



हर मौसम में, हर घड़ी अपने काम पर मुस्तैद !

चाहे बारिश हो या धूप; दिन हो या रात; शामलाल अपने काम पर मुस्तैद रहता है लेकिन शामलाल नाम तो डाकतार विभाग का सिर्फ प्रतीक है।

हमारा शामलाल एक पोस्टमैन हो सकता है; तार वाहक हो सकता है; रेलवे मेल सर्विस में चिट्ठी छांटने वाला हो सकता है; तार बाबू हो सकता है; एक क्लर्क हो सकता है या फिर डाक-तार विभाग में काम करने वाले साढ़े चार लाख कर्मचारियों में से कोई एक हो सकता है, जो रात दिन अपनी ड्यूटी पर मुस्तैद रहते हैं।

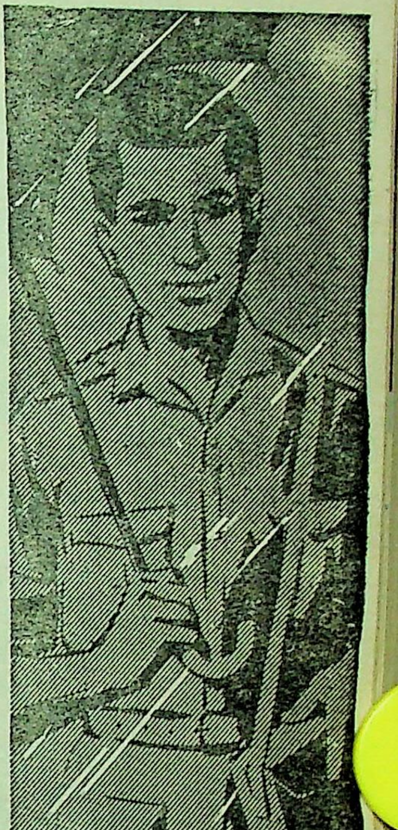
भारतीय डाक-तार विभाग देश भर में ९४,००० डाकघर, ८,००० तार घर और २,२०० टेलीफोन एक्सचेंज (७.६ लाख टेलीफोन) चलाता है। देश भर में रोजाना १८० लाख चीजें डाक से भेजी जाती हैं; डेढ़ लाख तार किये जाते हैं और एक लाख साठ हजार ट्रंक कालें की जाती हैं।

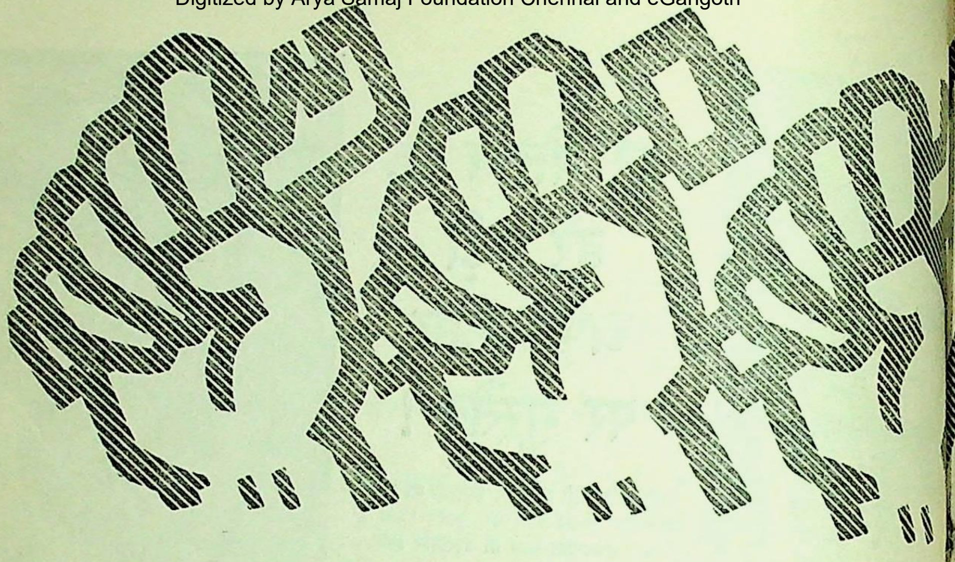
शामलाल का काम हालांकि उसके लिए रोजमर्रा का काम होता है पर वह उसे पूरी जिम्मेदारी और सावधानी से पूरा करता है। अपना काम होशियारी और योग्यता से करने की उसे ट्रेनिंग मिली है। आपका सहयोग मिलने पर वह आपकी सेवा और अच्छी तरह कर सकेगा।

हमें सहयोग दीजिए ताकि हम आपको बेहतर सेवा कर सकें

डाक व तार विभाग

DA 65/





हिन्दुस्तान को अपने कारखानों में काम करने वालों पर गर्व है। वे दिन रात देश के विकास और सुरक्षा के लिए जरूरी सामान तैयार कर रहे हैं। वे समझते हैं कि लड़ाई भले ही बन्द हो गयी हो, हमारी आज़ादी को अब भी खतरा हो सकता है। हमारे कारखानों के कर्मचारी देश की सेवा में जुटे हुए हैं। सोचिये! आप देश के लिए क्या कर रहे हैं?

एक महान देश हमारा
एक महान राष्

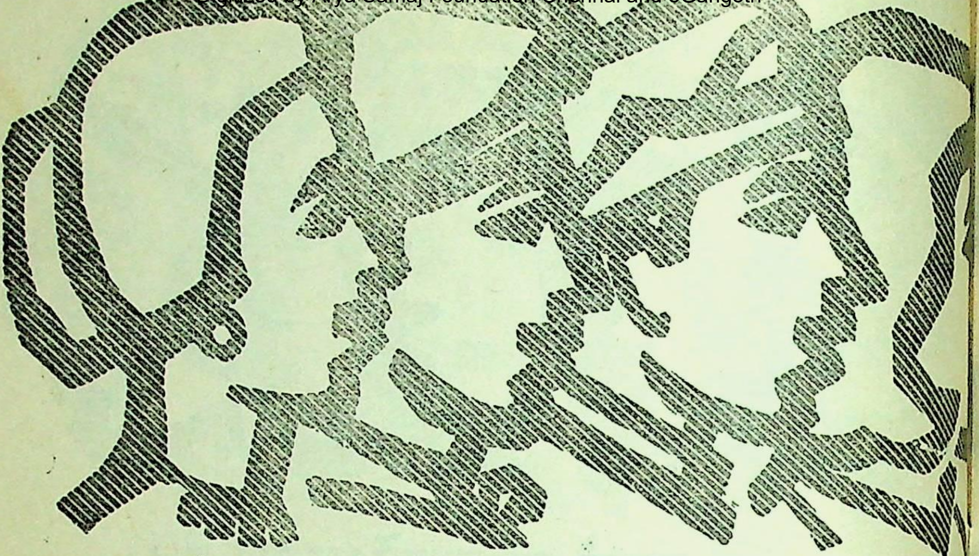
डीए ६५/एफ८



हिन्दुस्तान को अपनी महिलाओं पर गर्व है। अपने पति को, भाई को, बच्चे को वह बिना किसी हिचक के देश की रक्षा के लिए न्योछावर करने को तैयार हैं। हर कठिनाई का मुस्कराहट के साथ सामना कर रही हैं। अनेक महिलाएं अस्पतालों में, खून के बैंकों में और दूसरी स्वयंसेवी संस्थाओं में काम करके अपना फर्ज़ अदा कर रही हैं। भारत की लाखों करोड़ों स्त्रियां देश की सेवा में जुटी हैं। सोचिये! आप देश के लिए क्या कर रही हैं?

एक महान देश हमारा
एक महान राष्ट्र

65/F9

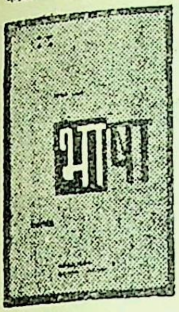


हिन्दुस्तान को अपने विद्यार्थियों पर गर्व है। देश जिस संकट से गुजर रहा है, वे उसे समझते हैं और अपना फर्ज़ अदा करने में वे किसी से पीछे नहीं हैं। नेशनल कैडेट कोर में भर्ती होकर; अपना खून देकर; नागरिक सुरक्षा में हाथ बटा कर और चन्दा इकट्ठा करने में उन्होंने बड़ा काम किया है। लेकिन इस सब के बावजूद उन्होंने अपनी पढ़ाई में ढील नहीं दी क्योंकि वे जानते हैं कि अपनी पढ़ाई पूरी करके वे देश के और अधिक काम आ सकेंगे। हमारे विद्यार्थी देश की सेवा में जुटे हुए हैं। सोचिये! आप देश के लिए क्या कर रहे हैं?

एक महान देश हमारा
एक महान राष्ट्र

DA 65/F11

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार





नवीनतम विशिष्ट प्रकाशन

शब्दार्थ-मीमांसा

लेखक : रामचन्द्र वर्मा
मूल्य ११-५० रु०

एक ही भाव अथवा संकल्पना (कान्सेप्ट) से संबंधित शब्दों की मालाओं की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने वाला हिंदी में अपने ढंग का निराला कोष।

संकल्पनाओं के भेद-प्रभेद की पुष्टि के लिए उदाहरण भी दिए गए हैं। लगभग ३०० शब्द मालाओं के वैज्ञानिक और प्रामाणिक अर्थ प्रस्तुत करने के फलस्वरूप इस ग्रंथ में अनुमानत: २,००० शब्दों की चर्चा की गई है।

हिंदी के विद्वानों तथा जानकारों के लिए आवश्यक रूप में संग्रहणीय। रायल अठपेजी आकार के ३५० से अधिक पृष्ठों के इस ग्रंथ का मूल्य मात्र ११-५० रु० है। समय रहते अपनी प्रति सुरक्षित करा लें।

अन्य उपयोगी प्रकाशन

	रु० पैसे		रु० पैसे
विज्ञान शब्दावली	७-२५	माताओं और शिशुओं के रोगों की रोकथाम	४-००
अंतर्राष्ट्रीय विधि	१४-००	भारत की वित्तीय शासन-व्यवस्था	८-५०
उल्काएँ	२-६०	कार्बोहाइड्रेट और ग्लाइकोसाइड	४-८५
अश्रव्य ध्वनियाँ	३-१०	शुद्धघन-ज्यामिति प्रवेशिका	४-१५
जापान का इतिहास	७-२७	समीकरण सिद्धांत	३-३५
अंतर्राष्ट्रीय संबंध	८-८०	रहस्यमय विश्व	२-८०
भारतीय परंपरा	२-५०		
समस्थानिकों के संसार में	२-६०		
अर्ध-चालक और उनके उपयोग	३-७५		

भाषा त्रैमासिक : १९६१ से प्रतिवर्ष मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित। अब तक प्रकाशित कुल १९ अंक — नियमित अंक १७, विशेषांक २ (शांति-रक्षा अंक और द्विवेदी स्मृति अंक — मूल्य क्रमश : ४-५० रु० और ११-५० रु०)।
एक प्रति का मूल्य १-२५ रु०, वार्षिक ग्राहकों के लिए ४-५० रु०

मूल्य अग्रिम भेज कर नीचे दिए पते से खरीदें

प्रबन्धक, **प्रकाशन शाखा** सिविल लाइंस, दिल्ली-६

किताब महल जनपथ, नई दिल्ली

DA 65/474

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

द्वारा

प्रथम बार प्रकाशित

हिन्दी के प्राचीन उत्कृष्ट काव्य

(१) गोरखबानी

मूल्य ६.

सम्पादक और टीकाकार––डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल। नाथ-पन्थी सन्त गोरख की बानियों का प्रशस्त सम्पादन एवं प्रामाणिक टीका।

(२) नव रस रंग

मूल्य ३.

सम्पादक––हरिमोहन मालवीय। लोकमणि मिश्र कृत हिन्दी का रीतिकालीन, विशेषत: शृंगार रस का विवेचन-पूर्ण काव्यग्रन्थ। पाण्डित्यपूर्ण भूमिका और सम्पादन

(३) बालचन्द बत्तीसी

मूल्य १.

सम्पादक––हरिमोहन मालवीय। बालचन्द कवि-रचित जैन-दर्शन का काव्य।

(४) प्रागन-कृत भँवरगीत

मूल्य १.

सम्पादक––हरिमोहन मालवीय। प्रागन कवि का लिखा हुआ भँवर-गीत-परम्परा का कृष्ण-काव्य।

(५) दूषणोल्लास

मूल्य ६.

सम्पादक––वेनी बहादुर सिंह। रीतिकालीन परम्परा का दोष, गुण तथा अलंकार का विवेचन-पूर्ण काव्य-ग्रन्थ।

●

प्रत्येक ग्रन्थ आकर्षक मुखपृष्ठ एवं मूल पाण्डुलिपि की पुष्पिका की फोटोकापी से सुसज्जित।

●

नटरंग | भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक

संपादक : नेमिचंद्र जैन

रंगमंच और साहित्य क्षेत्र के सभी विचारक और कर्मी एक स्वर से सहमत हैं कि
का प्रकाशन हिंदी जगत की एक अभूतपूर्व घटना है। तीन अंक प्रकाशित हो चुके हैं,
अंक समकालीन भारतीय रंगमंच पर विशेषांक होगा। उसकी योजना इस प्रकार है

रचनाएँ

बंगला, मराठी, उड़िया के व्यावसायिक रंगमंच का सर्वेक्षण ० हिंदी रंगमंच और नि
बंगला और मराठी रंगमंच पर अभिनय-शैलियों का विकास ० बहुरूपी : एक अनोखा
संगठन ० गुजराती रंगमंच और लोकप्रिय प्रदर्शन ० मलयालम नाटकों में समसामयिक स
का चित्रण और कला-मूल्य ० पंजाबी आपेरा : उपलब्धियाँ और समस्याएँ ० समकालीन
नाटक० उर्दू का नाट्य-साहित्य० तमिल रंगमंच पर दृश्य-सज्जा संबंधी परिवर्तन० अ
रंगमंच पर लोक-रंगमंच का प्रभाव० लोक-नाट्य की वर्तमान स्थिति : जात्रा, तमाशा,
यक्षगान, कुचीपुडी० विश्वविद्यालय और रंगमंच० प्रचारात्मक रंगमंच० नाटकघरों की स
भ्रमणशील नाटक-मंडली : समस्याएँ और संभावनाएँ० रंगमंच की नैतिकता० आधुनिक भा
रंगमंच की टेक्निकल आवश्यकताएँ, महानगरों का अंग्रेज़ी रंगमंच० अभिनेताओं के
संस्मरण० पुस्तक-समीक्षा० नाट्यवृत्त, आदि।

लेखक

शंभु मित्र० ई० अल्काजी० सुरेश अवस्थी० आद्य रंगाचार्य० कुमार राय० ध्रुव गुप्त० के०
मुखर्जी० शांता गांधी० परितोष गार्गी० अमरनाथ पाठक० मोहम्मद हसन० श्यामानंद जा
ज्ञानेश्वर नाडकर्णी० मोहन महर्षि० गुलशन कपूर० बृजमोहन शाह० के० नारायण
यशवंत केलकर० के० बी० सुब्बन्ना० के० एस० कुरुप० के० बी० राजगोपाल० चंद्रवदन
आदि।

वार्षिक शुल्क १०.०० : विशेषांक ४.०० : एक अंक २.५०

३ एफ़, जंगपुरा ऐक्सटेंशन, नयी दिल्ली--१४
फोन : ७०१६२

प्रकाशक तथा मुद्रक : रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रथम चार खण्ड प्रकाशित

आकार

डिमाई चार पेजी

शब्द संख्या

पहला खण्ड – २१,९४८
दूसरा खण्ड – २१,१२७
तीसरा खण्ड – २३,६५३
चौथा खण्ड – २१,०८२

पृष्ठ संख्या

पहला खण्ड – ६१८
दूसरा खण्ड – ५९९
तीसरा खण्ड – ६७०
चौथा खण्ड – ६०६

पाँचवाँ खण्ड जनवरी १९६६ के अन्तिम सप्ताह में प्रकाशित हो रहा है।

●

प्रति खण्ड का मूल्य पचीस रुपये

●

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

राष्ट्रभाषा का सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक कोश



माध्यम

वर्ष २ : अंक ११
मार्च १९६६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

मार्च १९६६
वर्ष २ : अंक ११
पूर्णांक : २३

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

कविता

कहानी, संस्मरण, डायरी, भेंट-वार्ता

विवेचना

समीक्षाएँ

नागेश्वर लाल

सर्जन-प्रक्रिया में साझेदारी

इधर इस तरह की बातें जब-तब पढ़ने को मिलने लगी हैं—'कविता कोई शो-केस नहीं है जिसमें ढेर सारी चीज़ें या उनके चित्र इकट्ठा कर के सजा दिये जायें।' इस नेतिवाद का क्या अर्थ है? कविता क्या है, यह भी तो बतलाना चाहिए। इस पर संभवतः यह कह दिया जायगा कि पारिभाषिक मेले में पड़ना फ़िज़ूल है, या बहुत हुआ तो जिस तरह किसी ने कहानी को 'अँधेरे में चीख़' कहा है उस तरह कविता को भी कुछ कह दिया जाय। कविता और चाहे कुछ हो या न हो, कविता तो होती ही है और यह इतनी निर्दोष बात है कि इस पर मतभेद की संभावना नहीं है। कविता कविता होती है, इसका अभिप्राय यह है कि वह कुछ शब्दों का विशिष्ट विधान होती है। उन शब्दों के द्वारा ही कोई कविता आत्मसात की जा सकती है।

कविता जिन शब्दों को कहते हैं, और उनसे जितनी और जैसी बातें मिल सकती हैं उन्हीं की चर्चा संभव है। उन शब्दों के पहले जो कुछ होता है संभवतः जानने योग्य हो भी तो जाना नहीं जा सकता है। उसके संबंध में अटकल अलबत्ता संभव है और सिर्फ़ अटकल, उससे अधिक अभी कुछ नहीं। अतः कविता में साझीदार या भागीदार होने की, उसके शब्दों को मानसिक स्तर पर फिर से जीने की बात समझ में आती है। पर यह माँग बहुत विलक्षण है कि उसकी सर्जन-प्रक्रिया के साथ भी वैसा ही बरतें। बेशक, पहले से कुछ कटे-छँटे सूत्र ले कर कविता को देखना-परखना किसी काम का नहीं, उसको ग्रहण करने के लिए खुले मन के बदले कुछ नहीं हो सकता। यों यह भी एक कामचलाऊ दूरी तक ही संभव है क्योंकि पढ़ने वाला अपने अवचेतन के संस्कारों को पूरी तरह अवरुद्ध करने में शायद ही हरदम समर्थ हो। फिर भी इसे अभिप्रेत माना जा सकता है।

कविता के शब्दों का विधान बलिष्ठ भी हो सकता है और बलिष्ठ होना तब-तक कोई दोष नहीं है जब तक उसके कारण की जाने वाली मेहनत के अनुरूप प्राप्ति होती है। प्राप्ति को अनुभव से भिन्न किसी और बात से परखना कठिन है। कविता इसलिए बलिष्ठ हो क्योंकि उसमें तनावपूर्ण संश्लेष रहे तो उसे प्रौढ़ता का लक्षण मानना स्वाभाविक है। जब बलिष्ठता शिल्पतंत्रन का अंग होती है और संप्रेष्य अनुभव साधारण या बेमानी होते हैं तब उसे बेझिझक चिंत्य कहा जा सकता है। इस तरह की कविता प्रायः बलिष्ठ होती नहीं, बलिष्ठ मालूम पड़ती है। शिल्पतंत्र का गुर या कुंजी जान लें तो उसका बाहर से कसा हुआ ढाँचा भरभरा कर एकबारगी बिखर जाता है। यह एक कविता के साथ भी होता है और एक तरह की बहुत सारी कविताओं के साथ भी

होता है। इसे प्रमुख को भूल कर प्रासंगिक को महत्व देने की प्रवृत्ति का लक्षण ही मानना होगा।

कुछ खास तरह की कविताओं को समझने में उनकी सर्जन-प्रक्रिया की जानकारी सुविधा-प्रद हो सकती है। सर्जन-प्रक्रिया के संबंध में स्वयं कवि ही कुछ बतला सकते हैं, गोकि यह आवश्यक नहीं कि उनका आत्मकथ्य सदैव प्रामाणिक ही हो। रीतिकाल के कवि इस बात को अनुभव करते थे, स्वभावतः उन्होंने कविता तो लिखी ही, कविता को देखने-परखने के वैचारिक आधार भी प्रस्तुत किये। सर्जन-प्रक्रिया जब व्यक्ति विशेष के दायरे से बाहर एक वर्ग की हो जाती है तब उसकी खोज कवि के अलावा दूसरे भी कर सकते हैं और करते ही हैं। तब खतरा यह होता है कि कहीं वह कुछ रूढ़ियों की आवृत्ति का गुर न हो जाय। उसके गुर में बदल जाने से सर्जन कुंठित होता है और गतिरोध की स्थिति आती है। कलात्मक सूत्रों के सहारे रचना करना दृष्टांत के निर्माण जैसा कार्य है और उसका कोई महत्व हो सकता है तो बस शिक्षाप्रद, या कच्चे माल के जैसा क्योंकि बहुत हुआ तो उससे अच्छी कविता के विकास की भूमिका तैयार हो सकती है। यह तो है ही कि गुर के प्रयोग से रची हुई कविता केवल उनके लिए होती है जो विशेषज्ञ हैं, उसे एक मानी में 'तकनीकी' कविता कह कर पुकार सकते हैं।

कलात्मक सूत्रों का सहारा न लेतें हुए भी कुछ कवि एक खास तरह से रचने के लिए उक्तियों और बिंबों के विशिष्ट संदर्भ का विधान करते हैं। उन उक्तियों और बिंबों का विधान प्रचलित धारणाओं के अनुसार निरर्थक या अटपटा प्रतीत होता है। इसी प्रकार, जब-तब विधान के बीच के अंशों को छोड़ कर चुस्ती और कसावट लाने की चेष्टा की जाती है, जो अक्सर कविता को पहेली के नज़दीक पहुँचा देती है। इन सब कौशलों से पढ़ने वालों को धक्का मार कर या परेशान कर कुछ प्रभावित करने में समर्थ हुआ जाता है। जब कोई लिखे कि 'पेड़ पीछा करते हैं', जैसा केदारनाथ सिंह ने लिखा है, तब उसमें क्लिष्टता नहीं हो सकती। उसके साथ असमंजस यह है कि कवि किसी वस्तु को एकदम खास अर्थ में प्रयुक्त कर रहा है। उस खास अर्थ के संधान के लिए टटोलना अंधी गली में भटकने जैसा होता है। यह बात आधुनिक चित्रकला के अमूर्तन पर भी लागू होती है। रेखाओं का और उनके दायरे में रंगों के संपुंजन का मेल न देखी हुई आकृति से रहता है, न भोगी हुई अनुभूति से, कहें कि उन चित्रों में सर्जन की एक अभूतपूर्व कौंध होती है। वह कौंध किसी मनो-दशा का पर्याय होती हैं और चित्र के बिखरे हुए अंकन से उस मनोदशा के संबंध का निर्धारण तब तक नहीं हो सकता जब तक यह ज्ञात न हो कि चित्रकार का माना हुआ अभिप्राय क्या है। जहाँ एक चित्र की बात नहीं हो, कई चित्रों को एक साथ समझा जा सकता हो, वहाँ फिर गुर का प्रश्न आ जाता है। वह स्थिति तकनीकी कविता की ही है। बहरहाल, यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि कविता और कहानी जैसी विधाओं की लुंज-पुंज रूपहीनता अंततः चित्रकला के अमूर्तन के ही समानांतर है और इन सबके बिछे सिर्फ़ एक कारण यह है कि कलाकार जानी-मानी हुई छवियों और उनके अर्थों से, उनके विधानों के साधन से हट कर चलने की निपट साहसिकता में शब्दों और रंगों को, उनके परिपार्श्व और परिवेश को, संगठन और संदर्भ को बिल्कुल नये अर्थ में प्रस्तुत कर रहे हैं। नहीं, केवल इतना नहीं, वे बहुधा निरर्थक को भी अपने गूढ़ अर्थ के वाहक

के रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं। बहुधा संभव है कि कोई कहना चाहे कि वर्तमान विभीषिकाओं से आतंकित हो कर कलाकार गोचर वस्तुतंत्र से कतराने को विवश हैं, यह कारण भिन्न है, पर इससे कलात्मक स्थिति में भेद नहीं पड़ता।

इसी तरह के कलाकार सर्जन-प्रक्रिया में भागीदार होने की माँग करते हैं। मुझे नहीं मालूम कि पर्ल एस बक ने किस संदर्भ में कथा-कहानियों में भागीदार होने की बात कही है। जहाँ तक मेरा अपना अनुमान है, उसका अभिप्राय कथा-कहानियों में वर्णित मानव-स्थितियों और मानव-संबंधों में भागीदार होने का रहा होगा। कोई अमरीकी पाठक मुल्कराज आनंद और राजा राव की कृतियाँ पढ़े और उनमें भागीदार होने के लिए तैयार न हो तो उसके लिए वे कृतियाँ व्यंग्यचित्रों (कार्टूनों) का तमाशा बन कर रह जायेंगी। यह बात खास तौर से कथा-साहित्य के संबंध में अर्थपूर्ण है यों कविता के अनुभवों में भागीदार या साझीदार होने की बात बहुत पहले से रही है। यह बात तब उठती है जब अनुभव, विलष्ट रूप में ही सही, संप्रेषण का कोई सूत्र रखें। अनुभवों की खोज में ही भटकना पड़े और उस खोज के लिए सर्जन-प्रक्रिया में भागीदार होना पड़े तो संभवतः स्थिति चिंत्य के अलावा और कुछ नहीं कही जा सकती। एक बार फिर से यह स्पष्ट करने की ज़रूरत आ पड़ी है कि कविता की रचना किस लिए होती है। यदि उसका उद्देश्य कुछ सार्थक अनुभवों का संप्रेषण है तो फिर कविता में भागीदार होने की बात ही पर्याप्त है। यह कहने में बहुत अच्छा लगता है कि आलोचक में रचनाकार होता है और रचनाकार में आलोचक और पढ़ने वालों में रचनाकार और आलोचक दोनों होते हैं, पर यथार्थ अक्सर मनचाहा नहीं होता। यदि सर्जन-प्रक्रिया में भागीदार होना ज़रूरी है तो किसी कवि का सही पाठक उसकी तरह का दूसरा कवि ही हो सकता है। यह कोई अजगुत नहीं कि कुछ कवियों को कवि ही पढ़ते हैं। उन्हें संतोष हो सकता है कि वे कवियों के कवि हैं पर उन्हें श्रेष्ठ सर्जन का श्रेय देने के पहले बहुत बार सोचने की ज़रूरत पड़ती है।

मेरी समझ में सर्जन-प्रक्रिया पर ज़ोर देना बेजगह है और उसके कारण मूल्यचेतना से च्युत हो जाने का ख़तरा है। कलाओं के इतिहास में तब-तब सर्जन साधारण रहा है जब-जब शिल्प की सूक्ष्म भंगिमाओं में इतनी अधिक रुचि ली गयी है कि बृहत्तर उद्देश्यों की उपेक्षा हो गयी है। इन दिनों कलाओं के संदर्भ में ही नहीं, विभिन्न वैदुषिक विषयों के संदर्भ में भी यह बहस होती है कि उनमें प्रक्रिया को महत्व दें या कि उद्देश्य को और प्रायः यह निष्कर्ष रखा जाता है कि उद्देश्य से अधिक महत्व प्रक्रिया का है। अतः यह प्रश्न पूरी युग-संस्कृति से संबंध रखता है। कवि को यह गर्व हो सकता है कि वह अपने समय की भरमी हुई और भटकी हुई चेतना को प्रतिफलित कर रहा है। यों उससे यह तो पूछा ही जा सकता है कि उसकी साहसिकता से भरी खोज केवल शिल्पगत नवीनताओं के लिए ही है या धुंध से भरी हुई मनःस्थिति से उबरने के लिए भी है। लगता है सर्जन-प्रक्रिया मनोविज्ञान से अनुप्राणित नया शब्द होने के बावजूद शिल्पवाद का ही आधुनिक पर्याय है। निस्संदेह सामान्य रूप से अब कविता के सर्जन की प्रक्रिया में अंतर आ गया है। कल तक रीति थी कि कवि एक स्तर पर अनुभूति पाता था और दूसरे स्तर पर उसकी अभिव्यक्ति करता था। वह परंपरा से आते हुए मिथकों और दूसरे साधनों में से किसी को चुन कर अनुभूति को अपने से अलग कर के संप्रेषित करता था। अब वह बात नहीं रही। अनु-

भूति और अभिव्यक्ति, दोनों के एकात्म का आग्रह प्रचलित हो गया। साधारणतः अनुभूति के प्रेरक के रूप में उसके वस्तुनिष्ठ आधार का या उसके प्रतिस्थानिक का विधान होने लगा। अनु- तब एक मनोदशा को ही शब्दों में बदल दिया जाने लगा। यह सब जाने बिना कविता के अनुभव को ग्रहण करना संभव नहीं हो सकता। पर कवि को यह तो हक़ नहीं ही होना चाहिए कि वह नवीनता के लिए परिचित छवियों और प्रचलित अर्थों को विरूप या अमूर्त कर के चित्रित करे और प्रतिस्थानिक का इस तरह मनचाहा विधान करे कि वह सांकेतिक शब्दावली का जादू मालूम पड़ने लगे। यदि वह सार्थक अनुभव की, विशिष्ट दृष्टि की, अभिनव मूल्य की प्रस्तावना करना चाहता है तो उसे ब्योरे की मामूली बातों में इतना अधिक अटकने की ज़रूरत नहीं है कि उसकी प्रस्तावना अर्थशून्य प्रतीत होने लगे।

कविता में भागीदार होने के लिए सचेष्ट होना ज़रूरी है, पर वह भी एकतरफ़ा खेल नहीं है। जितनी ज़िम्मेदारी पढ़ने वाले की है उससे कम कवि की नहीं है। कवि पढ़ने वाले से एकदम परे रहे, बहुत ऊपर या बहुत नीचे, उसके चुभते हुए यथार्थ से कोई रिश्ता न रखे या कविता में उस रिश्ते की पहचान न आने दे, तो वह जितना भी ख़ूबसूरत लिखे, वैसी कविता शायद ही लिख सके जिसमें दूसरे भागीदार होते हैं। आदमी हर जगह अपने को ढूँढ़ता है और अपने को थोड़ा पा लेने पर उसके साथ वह बहुत कुछ अनजान भी स्वीकार कर सकने की स्थिति में आ जाता है। कविता में न्योता होना चाहिए और वह न्योता तभी हो सकता है जब कवि रचना करते समय अपने से थोड़ा बाहर आ कर समाज में, समाज के सुख-दुख में, सुख-दुख के साधनों में भागीदार हो। निस्संदेह, पढ़ने वाला दुधमुहाँ बच्चा नहीं होता कि उसे यह ज़िद करने का हक़ मिले कि उसके हलक़ में दूध पिलाने की बोतल से दूध पहुँचाया जाय। पढ़ने वाले को कविता दी नहीं जाती, दी जाय तो कविता अक्सर मामूली होगी; उसे कविता लेनी पड़ती है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि उससे आशा की जाय कि वह कविता से आगे बढ़ कर सर्जन-प्रक्रिया में साझेदार हो।

आधुनिक कवि भावुकता के विरोधी हैं और उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने आदर्श को कड़ाई से बरतना चाहा है। भावुकता आवेशपूर्ण उद्गारों में ही नहीं होती और उनमें भी नहीं होती जब वे संदर्भ-विशेष में पूर्णतः आवश्यक हों, वह अधिकतर वैसी बातों में होती है जो तर्क से परे तो रह ही जाती हैं, अनुभवगम्य भी नहीं होतीं। मैं, बड़ी विनम्रता से, उन्हीं बातों में सर्जन-प्रक्रिया की चर्चा भी रखना चाहता हूँ। यों सर्जन-प्रक्रिया की चर्चा, जैसा कि पहले ही कहा है, अपने आप में पर्याप्त रोचक मानी जा सकती है। उसमें भाग लेने की बात तो क़तई नहीं जँचती। कोई यह कहे कि नाटक के अभिनय की प्रशंसा केवल मंच पर प्रदर्शित किये जाने वाले दृश्यों के आधार पर नहीं हो सकती, उसके लिए पर्दे के पीछे की तैयारी में भागीदार बनना भी ज़रूरी है तो बिरले ही कोई दर्शक होना चाहे। कविता की सर्जन-प्रक्रिया पर्दे के पीछे की तैयारी ही है। उस तैयारी का जितना कुछ कविता में सामने आता है उतना ही ध्यान देने योग्य है और उतने पर ही ध्यान दिया जा सकता है क्योंकि उसके परे की स्थिति केवल रहस्यमय ही मानी जा सकती है। वस्तुतः कविता रच लेने के बाद कवि अलग हो जाता है और तब हर प्रश्न कविता से ही पूछा जायगा।

एक कविता के सहारे स्थिति स्पष्ट की जा सकती है। अज्ञेय के 'आँगन के पार द्वार' के 'चक्रांत शिला' खंड की चौथी कविता है:

किरण जब मुझ पर झरी
मैंने कहा:
मैं वज्र-कठोर हूँ--
पत्थर सनातन।
किरण बोली:
भला? ऐसा!
तुम्हीं को तो खोजती थी मैं:
तुम्हीं से मंदिर गढ़ूँगी
तुम्हारे अंतःकरण से
तेज की प्रतिमा उकेरूँगी।
स्तब्ध मुझको
किरण ने
अनुराग से दुलरा लिया।

इस कविता में अज्ञेय ने किरण और पत्थर का प्रयोग जिस संदर्भ में किया है उसको जानने के लिए सर्जन-प्रक्रिया की खोज फिज़ूल है। स्वयं कविता में ही वह संदर्भ है और उसको कविता से खूब मज़े में जाना जा सकता है। असंभव नहीं कि कविता को पढ़ते समय एक क्षण के लिए कुछ असमंजस हो पर असमंजस एक क्षण से अधिक के लिए नहीं हो सकता। यह इसलिए कि किरण और पत्थर के प्रति कवि का जो भी रुख हो वह इतना निजी नहीं है कि उसे कविता के बाहर से जान कर समझना पड़े। यही नहीं, उस रुख से अलग क्या उल्टा रुख अपना कर भी काम चलाया जा सकता है? यों कविता का संदर्भ वैविध्यपूर्ण है पर यहाँ कवि ने अपनी कोई प्रतिश्रुति लादी नहीं है, उसने यह स्वतंत्रता दी है कि हर पढ़ने वाला अपने संस्कारों के परिवेश में कविता को ग्रहण करे। इसे अनियंत्रित संप्रेषण की संभावना कह सकते हैं। यह पद्धति नयी है, इस तरह का आग्रह फ़िज़ूल है। बहुत पहले से, यहाँ तक कि कबीर के समय से इसके नमूने मिलते हैं। वैसे कबीर के व्यक्तित्व या चरित्र के संदर्भ में लाली या लाल का अर्थ पर्याप्त निर्दिष्ट हो जाता है, यहाँ उतना भी नहीं होता। प्रसंगवश मैं यह कह देना चाहता हूँ कि अज्ञेय की इस कविता में आधुनिकता का कोई लक्षण नहीं है। यह किसी भी मंतव्य की और किसी भी समय की कविता है; शैली की बात अलग है क्योंकि इसमें या तो कोई अनुभव नहीं है या है तो उसे कहने का साहस नहीं बरता गया है। यह शिल्पी की कृति है। यों सनातन पत्थर को भी किरण अनुराग से दुलराये, इसमें किसी-न-किसी रूप में कुछ गूढ़ मूल्य-संकेत माना जा सकता है। यह सब उस कविता को, जो शब्द-विधान के ठोस तथ्य के रूप में सामने है, ग्रहण कर के जाना जा सकता है,

और पते की बात यह है कि वह तब भी जाना जा सकता है जब कवि के रुख़ से उल्टा सोचा जा रहा हो। अतः संप्रेषण के प्रसंग में सर्जन-प्रक्रिया पर अलग से विचार करना बहुत आवश्यक नहीं है।

यह कहना भी ज़रूरी है कि सर्जन-प्रक्रिया कवि या कलाकार की नहीं होती; कभी होती रही हो, अब नहीं होती। जब होती थी तब शैली को व्यक्तित्व का प्रतीक माना जाता था। जब से 'बात बोलेगी' की टेक अपनायी गयी तब से स्थिति बदल गयी है। इसे जो नहीं जानते हैं या नहीं मानते हैं वे कहते नहीं थकते कि नये कवियों और कलाकारों का कोई व्यक्तित्व या चरित्र नहीं क्योंकि उनके कृतित्व में रचनात्मक आदर्श की एकरूपता या एकतानता नहीं है। मेरे विचार से उनमें एकतानता है पर सूक्ष्म कलात्मक स्तर पर है। क्या यह रचनात्मक एकतानता नहीं कि हर कृति अपने विशिष्ट भावबोध के अनुरूप रची जायगी? इससे कवि का आग्रह नहीं रहा, आग्रह हो गया कविता या कृति का और इस प्रकार सर्जन-प्रक्रिया कवि की नहीं रही, कविता की ही हो गयी। हर कविता अपने ढंग से रची जाय और उसमें किसी ख़ास माध्यम की खोज हो जिससे सर्जन सार्थक हो सके, इस आदर्श ने कवि को परे कर दिया और विचार का विषय कविता को बना दिया। यह क्यों हुआ? संभवतः इसलिए कि कवि ने रचनात्मक क्षण के प्रति अपने को पूरी तरह न्यौछावर करने का आदर्श अपनाया। तब उसने अपने व्यक्तित्व से तो कविता को बचाना चाहा ही, सीखे या अरजे हुए कलात्मक गुरों से भी बचाना चाहा और इसका मतलब यह होता है कि उसने अनुभव या संवेदना की सचाई को न व्यक्तिगत रुचि के और न प्रक्रियागत शिल्प के आग्रह से ब्योंतना श्रेयस्कर माना। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि सर्जन अवचेतन की देन हुआ जिसे ही सार्थक करने के उद्देश्य से समस्त अवरोधों को पूरी तरह उलांघने के लिए भेषज (ड्रग) का अभ्यास करते हुए बीटनिक कवि आये। नहीं, उनकी भूमिका बिल्कुल दूसरे अतिवाद पर है, उनके प्रति वैसी ही सहानुभूति होती है जैसी किसी बीमार के प्रति हो। कविता संवेदना या अनुभवों का विवरण नहीं है, अप्रतिहत लेखन हो या यंत्रचालित, वह कितना भी सहज और स्वाभाविक हो, उसके लिए बौद्धिक सजगता अपेक्षित है। सजगता इसलिए कि आसंगों के जंगल में से अभीष्ट अनुभव का स्वरूप सारी जटिलताओं के बावजूद मूर्त हो सके, गोकि यह ख़तरा भी है कि कहीं कवि अपने मनचाहे साँचे के सहारे अनुभव को बेपहचान या सरल न कर दे। एक ओर मनोवैज्ञानिक विवरण है तो दूसरी ओर स्कूली तुकबंदी या बचकानी प्रतीकबाज़ी, इन दोनों ख़तरों को सौभाग्य में बदल कर ही सर्जन किया जा सकता है। कवि हर तरह से स्वतंत्र रहने पर भी स्वेच्छा या अपने अनुशासन में रहे और स्वेच्छा या अपने अनुशासन में रहते हुए भी हर तरह से स्वतंत्र रहे, यह असंभव संभव कर के ही श्रेय पाया जा सकता है। उसके ख़ास माध्यम को जानने के लिए उसके निर्माण की भूमिका से नहीं चला जा सकता, उल्टे उसके निर्माण की भूमिका जानने के लिए उस ख़ास माध्यम से चलना उचित है।

आधुनिक कवि और कलाकार माध्यम की अधिक चर्चा करने लगे हैं। जब-तब संदेह होता है कि कुछ कवि माध्यम की खोज मात्र आधुनिक होने के लिए पर्याप्त समझ रहे हैं। स्वभावतः विदेशी कला-कृतियों में तैल (आयल) माध्यम को ग्रहण कर के भी नयेपन की योजना

की जाने लगी है। पिकासो और दूसरे चित्रकारों का प्रभाव चित्रों पर पड़ा है तो उसी तरह कवियों और साहित्यकारों का प्रभाव कविता और साहित्य पर पड़ा है। प्रभाव लेना चिंत्य नहीं है, महत्वपूर्ण मौलिक सर्जन की भूमिका प्रभाव से भी तैयार होती है। पर प्रभाव प्रबल होने पर उसके अनुपात में ही सर्जन की मौलिकता कम हो जा सकती है। फिर प्रभाव माध्यम की खोज-मात्र के लिए लेना बहुत फलप्रद नहीं है। निस्संदेह कलाकृतियों के लिए माध्यम का बहुत अधिक महत्व होता है। उस महत्व के बावजूद यह अनुभव करना कठिन नहीं कि कविता के लिए माध्यम कही जाती हुई बात से या अभिव्यक्त की जाती हुई अनुभूति से ही या उसके अनुरूप ही विकसित या निर्मित होना चाहिए। मुझे व्यक्तिगत तौर पर माध्यम का अधिक उल्लेख रुचिकर नहीं जँचता क्योंकि उससे कलात्मक स्तर के द्वेष का भ्रम होता है जो पिछले रूढ़िवादी संस्कारों के मेल में है। कला-कृति में सावयव जीवंतता आवश्यक हो तो उसके लिए सर्वोत्तम तो यह है कि अनुभव को ही अपना माध्यम ढूंढ़ने दिया जाय। यदि माध्यम की खोज का लक्ष्य अपनाया गया तो यह जोखिम है कि कहीं कविता विशेषज्ञों के एक छोटे से दायरे में सिमट कर न रह जाय। संतोष की बात है कि अपने अधिकतर कवि इस जोखिम को समझते हैं और इसीलिए अनुभव की ईमानदारी की टेक रखते हैं।

अंत में, यह कहना जरूरी है कि एक विशेष संदर्भ में सर्जन-प्रक्रिया में साझेदारी की मांग समझ में आ सकती है। कवि कुछ ऐसा कहना चाहे जो खतरनाक हो, जिसे कहने से उसका व्यक्तिगत जीवन संकट में पड़े तब आपद्धर्म के रूप में वह मौन के विवश संकेतों के गूढ़ माध्यम से अपने अनकहे का आभास देना चाह सकता है। अभिव्यक्ति के लिए अनभिव्यक्ति, कहे के लिए अनकहा, यह दर्द की आखिरी हद की पहचान है। इस तरह का मौन बहुत बड़ी जवाब-देही की बात है। इसे कला की ऐयाशी समझना बेमानी है। क्या इसी तरह की स्थिति में साझेदारी की बात की जाती है? बेशक कुछ गिनी-चुनी कविताओं के संबंध में यह बात लागू होती है पर इसे एक रूढ़ि के रूप में दोहराना बहुत उचित नहीं है। मुझे तो अक्सर दिखलायी पड़ता है कि यों ही मौन की बहुत अधिक प्रशस्तियाँ होती हैं, सच में वैसे संकेत जब-तब ही मिलते हैं जो किसी खतरनाक अनुभव का बोध करायें।

—बानो मंजिल रोड,
पहाड़ी टोला, राँची।

२

कथा-चर्चा

●●

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

सामयिक हिंदी कहानी

कहानी-कला अपने में स्वतंत्र और पूर्ण कला है और वह जीवन के गंभीरतम क्षणों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। इस कला में जीवन की अद्‌भुत पकड़ है। उसके द्वारा जीवन के जटिल से जटिलतर परत सरलतापूर्वक उघाड़े जाते हैं। रचना-विधान की दृष्टि से निस्संदेह उसकी अपनी सीमाएँ हैं और वह जीवन को उसकी समग्रता के साथ अपने में समेट लेने में भी अक्षम रहती है, तो भी जीवन के जिस बिंदु पर कहानी की दृष्टि पड़ती है वह बड़ी गहराई के साथ उसे माप लेती है। वह जीवन से अपने ढंग से जूझती है, किंतु जूझती अवश्य है। हिंदी में ही नहीं, संसार का कहानी-साहित्य इस तथ्य की पुष्टि करता है। और, आज का जीवन तो इतना विशाल, बहुमुखी और दुरूह एवं जटिल हो गया है कि उसे उसकी समग्रता के साथ महा-काव्यकार की भांति देखना असंभव है। आज तो उसे एक साथ न देख कर विभिन्न पार्श्वों और कोणों से ही देखा जा सकता है, जीवन-गत सत्य को आंशिक रूप में क्रमशः अनुभूत कर उसके पूर्णत्व तक पहुँचा जा सकता है। लेखक यदि जीवन-गत सत्य को आंशिक रूप में ही प्राप्त कर ले तो भी उसे सफल कहा जायगा। इस प्रकार की आंशिक अभिव्यक्ति के लिए कहानी उपयुक्त माध्यम है। कहानियों में व्यक्त जीवन-खंडों को मिला कर देखने से जीवन का सच्चा नमूना दिखायी दे सकता है। आज का कहानी-लेखक अपनी कला की प्रकृति के अनुसार नवयुगीन संवेदनाओं को प्राप्त करते हुए, नवीन समस्याओं से लोहा लेते हुए, नित नवीन से जूझ रहा है, जो उसके लिए नितांत स्वाभाविक है। वह कला की उत्कृष्टता की ओर यदि सचेत है तो जीवन-सत्य को गहराई से देखने, जीवन के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने के प्रति भी सतत प्रयत्नशील है। त्रुटियों के रहते हुए भी उसमें शक्ति है।

सिर्फ़ लिखने की लत रखने वाले कहानी-लेखकों को छोड़ कर, अथवा संसार से वीतराग

हुए लेखकों को छोड़ कर, अथवा विगत शताब्दी के 'कलार्थ कला' वाले सिद्धांत में विश्वास रखने वाले कलाकारों को छोड़ कर, अन्य कोई जागरूक और सचेत लेखक जीवन-संग्राम से अलग नहीं रह सकता। उसे अपने और अपने चारों ओर के समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। लेखक एक व्यक्ति है। व्यक्ति होने के नाते वह अकेला नहीं है। उसका घनिष्ठ संबंध समाज से, और अंततोगत्वा राष्ट्र से रहता है। अपने समाज और राष्ट्र में जो कुछ घटित होता है उसके प्रति कहानी-लेखक, या कोई भी कलाकार उदासीन नहीं रह सकता। हिंदी में शायद ही कोई ऐसा कहानी-लेखक है, जो अपने को भारतीय कहने और अपनी कला में 'भारतीयपन' बरतने में संकोच का अनुभव करता हो—विशेष रूप से आज जब स्वतंत्र भारतीय जीवन की नींव सुदृढ़ बनाना प्रत्येक नागरिक का पुनीत कर्तव्य है। यह ठीक है, कुछ लोग ऐसे भी हैं जो देश की नवार्जित स्वतंत्रता और साहित्य-रचना का कोई परस्पर संबंध नहीं मानते। उनका कहना है कि लेखक तो बस लिखता है। समाज और राष्ट्र में क्या होता है इससे उसका कोई संबंध नहीं। भारत में ही नहीं, यूरोप में भी इस प्रकार की विचारधारा का अस्तित्व पाया जाता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनके अतीत और वर्तमान में अंतर है या जिनके विचारों में संतुलन नहीं है, या जो मानसिक उलझन में पड़े इधर-उधर भटक रहे हैं। खेद का विषय है कि आज कहानी-साहित्य के क्षेत्र में कई तरुण किंतु प्रतिभाशाली लेखक महत्वाकांक्षा की वेदी पर अपनी कला की बलि चढ़ा रहे हैं।

निस्संदेह वे भूल जाते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में उनका क्या और किस प्रकार का सक्रिय भाग हो सकता है। साहित्य और साहित्यकार का आज से नहीं, मानव-इतिहास के आदिम काल से, मानव-सभ्यता के विभिन्न विकास-कालों में, अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। लय, गति, यति, कल्पना आदि का आश्रय ग्रहण कर साहित्य और कला मानव-मन को प्रभावित एवं अभिभूत करती रही है। विषयगत और शैलीगत परिवर्तनों के बावजूद साहित्य और कला ने अभी तक अपना यह मौलिक रूप विस्मृत नहीं किया। आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के युग में भी उसमें कोई प्रकृत्या परिवर्तन होता दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। लेखक या कलाकार का युग-बोध, संवेदनशीलता उसके चेतन जीवन और अवचेतन मन को संचालित करती रहती है। तदनुकूल उसकी शब्दावली, भाषा, शैली आदि में परिवर्तन होना अनिवार्य हो जाता है। ईश्वर के रचना-विधान में यह बड़ी अद्भुत बात नज़र आती है कि एक व्यक्ति की भाव-सृष्टि दूसरे व्यक्ति का अनुभूत विषय बन जाती है। लेखक की वाणी प्रेरणाजन्य होती हैं। प्रेरणाजन्य होने के कारण लेखक या कलाकार की सर्जनात्मक प्रतिभा का अंतिम संबंध जीवन से स्थापित हो ही जाता है। वैसे यूरोप और भारत में ऐसे विचारक भी रहे हैं, जिन्होंने केवल अभिव्यंजनागत विधान को ही महत्व दिया, किंतु संसार का साहित्य उनके मत की सत्यता प्रमाणित नहीं करता। प्रेम, भय, घृणा आदि विश्व-साहित्य को उद्वेलित करते रहे हैं; साहित्य में मनुष्य का 'रावणत्व' और 'रामत्व' दोनों अलग-अलग रूपों में या संघर्ष के रूप में चित्रित होते रहे हैं। मन के इस संघर्ष के अलावा आज विज्ञान और औद्योगीकरण-जन्य विषमताओं से भी उसका संघर्ष है। इतना ही नहीं, वह विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के प्रकाश में अपने जीवन और अपने मन को मापने का अभूतपूर्व

प्रयास कर रहा है। इन सबका प्रभाव उसके साहित्य, उसकी कला, उसकी शैली आदि पर पड़ रहा है। साथ ही, वह नवीन मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि विभिन्न समस्याओं से जूझ रहा है। आधुनिकता का दावा करने वाला कोई भी चेतन लेखक या कलाकार इन बातों से विमुख नहीं रह सकता। विमुख रहना उसके लिए आत्महत्या के बराबर होगा। कथाकार को तो इस ओर और भी सचेष्ट होना है। मानव-सभ्यता के वर्तमान संकटकाल के बीच उन्हें सिर ऊँचा रखना है—यदि वे अपने को जागरूक और 'जीवित' लेखक या कलाकार कहलाना चाहते हैं। हो सकता है आधुनिक मशीनों की घड़घड़ाहट के बीच जागरूक लेखक या कलाकार को परंपरानुमोदित कला-माध्यम और भाषा-शैली से भिन्न माध्यम और भाषा-शैली ग्रहण करना पड़े, जो संभवतः सौंदर्य की कसौटी पर खरी न उतरे, किंतु उसके पीछे उसकी जिजीविषा होगी, उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा होगी। यद्यपि कहना ही काफ़ी नहीं है, क्योंकि 'कैसे और क्या कहा गया है', यह भी देखने की बात है, तो भी वह कुछ कहेगा। वह चौमुखी यथार्थता को हृदय-रस में पगा कर कल्पना के सहारे व्यक्त करेगा। इसके अतिरिक्त, लेखक या कलाकार को यह बात भी ध्यान में रखने की है कि आज दुनिया में चारों ओर नीचे के लोग ऊपर उठ रहे हैं, उनकी बोलियाँ, शब्दावली, रूपक, कहावत-मुहावरे, रहन-सहन का ढंग आगे आ रहा है। ये लोग वे हैं जो वैज्ञानिक वृत्ति रखे बिना ही विज्ञान का प्रसाद प्राप्त कर जीवन को सुखमय बनाना चाहते हैं। इससे स्थिति जटिल हो गयी है। इसलिए क्या कहा जाता है, कैसे कहा जाता है, इसका महत्व किसी प्रकार भी कम नहीं माना जा सकता। मानव-जीवन के वर्तमान संक्रमण-काल में, जब वैज्ञानिक प्रगति और नीचे से ऊपर उठे हुए लोग परंपरागत मानव-जीवन को चुनौती दे रहे हैं, लेखक या कलाकार का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। आज की दुनिया में दरार पड़ गयी है, मृत्यु के बादल मँडराते रहते हैं, घृणा, हिंसा और प्रतिशोध की भावनाएँ प्रबल हो रही हैं, तृतीय महायुद्ध की संभावना दृष्टिगोचर होती जा रही है और प्रत्येक देश की अपनी-अपनी असंख्य दुरूह समस्याएं हैं। ऐसी दुनिया में सामान्य जन सुख-शांति चाहता है। कैसी विडंबना है! उस पर भी ऊपर के लोग विभिन्न प्रचार-साधनों द्वारा उसे 'उल्लू बनाने' की कोशिश करते रहते हैं। फलतः वह दिग्भ्रमित है। स्वयं अपने देश में 'रामराज्य' का स्वप्न देखने वाले हताश हैं और देश की उत्तरी सीमा, अलंघ्य हिमालय, विदेशी आततायियों द्वारा आक्रांत है। विदेशी के आक्रमण से न केवल हमारी नवार्जित स्वतंत्रता, वरन हमारी दीर्घकालीन जीवन-पद्धति भी खतरे में पड़ गयी है। हमारे सामाजिक जीवन में एक ओर प्रगति की आड़ में यूरोप और अमरीका का भद्दा अनुकरण है, तो दूसरी ओर आर्थिक विषमता का घोर संताप। अंग्रेज़ी साम्राज्यशाही का अंत कर लेने के बाद हम भारतवासी आत्म-मंथन और आत्म-विश्लेषण द्वारा अपना जीवन-क्रम स्वयं निर्धारित करने चले थे। किंतु जीवन की वर्तमान देशी-विदेशी परिस्थिति में क्या वह संभव है? हम सब प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक अभावों से मुक्त होना चाहते हैं, व्यक्ति को पूर्ण बनाना चाहते हैं, अंतर और वाह्य में संतुलन स्थापित करना चाहते हैं। कोई भी व्यक्ति जो लेखक या कलाकार होने का दावा करता है उसे इन बातों से अधिक प्रिय और हो ही क्या सकता है! वह तो सभी प्रकार की मुक्तियों का दाता है। शर्त यही है कि उसमें समझ और अंतर्दृष्टि होनी चाहिए, उसमें

'ह्यूमेन इंजीनियरिंग' की प्रतिभा होनी चाहिए। तभी वह स्वयं उद्बुद्ध हो कर दूसरों को उद्-बुद्ध कर सकता है और पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा कर सकता है। अपने और अपने चारों ओर के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक झाड-झंखाड़ दूर कर वह एक ऐसे उन्मुक्त और स्वच्छंद वातावरण की सृष्टि कर सकता है, जिसमें मनुष्य मनुष्य के रूप में जीवित रह सकता है। अस्तु, साहित्यकार होने के नाते हिंदी के नये कहानीकारों का मुख्य लक्ष्य मानव की, मानवात्मा की रक्षा करते हुए अपने देश की सभी प्रकार की विकृतियाँ दूर कर नवार्जित स्वतंत्रता की रक्षा करना होना चाहिए। नये कहानीकारों ने समय रहते ही अपने महती उत्तरदायित्व को समझा है और बड़ी सूझ-बूझ से छोटे-छोटे जीवन-खंडों को अनुवीक्षण यंत्र से देखना शुरू किया है और स्थानीय आचार-विचार, रीति-नीति, भाषा, विशिष्ट शब्दावली, जीवन की रंगीनी आदि का समावेश कर कलात्मक वैशिष्ट्य उत्पन्न किया है। नारी कथाकारों ने भी आज के जीवन की परिवर्तनशीलता और नारी संबंधी मूल्यों को बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। कुछ कहानियों में लोक-गाथात्मकता प्रमुख होती हुई दृष्टिगोचर होती है। वे अंतर्कथात्मक हो जाती हैं। जीवन की आशा-निराशा, भग्न आकांक्षाएँ, विषमता, विषैलापन, कटुता आदि सब-कुछ उनमें हैं। किंतु इतने पर भी एक ओर तो उनके और परंपरा के बीच में विभाजन-रेखा खींचना दुस्तर कार्य है, तो दूसरी ओर उन्हें 'नयी कविता' के समकक्ष भी नहीं रखा जा सकता। क्योंकि आज की कहानी में समाज-सापेक्षता है, संघर्ष है। वह वाह्याभिमुख है। वह हमें चुनौती देती है। 'नयी कविता' में सामाजिक और राजनीतिक जीवन की विषमता के फलस्वरूप उत्पन्न घुटन-मात्र है। अपवाद दोनों में हैं, किंतु व्यापक रूप से कहानी अब भी कहानी है। कथानक का ह्रास तो संसार भर की कहानियों में दृष्टिगोचर होता है, किंतु इसकी क्षतिपूर्ति पात्र के चरित्र, उसके मन को कुरेदने और उसके व्यक्तित्व को उभारने में हो जाती है, कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें सरलतापूर्वक रेखाचित्र, निबंध, संस्मरण और रिपोर्ताज, इनमें से किसी एक की कोटि में रखा जा सकता है। पश्चिम में कहानी-साहित्य के विकास पर दृष्टि रखते हुए इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि वहाँ उसकी जड़ एडिसन और स्टील के रेखा-चित्रों में मिलती है। पश्चिम में भी कथानक को 'कहानी का विष' कहा जाने लगा है। एक और आलोचक ने लिखा है :

आधुनिक कहानीकार ने घटना या अंतर्कथा या कथानक और अपने सब सहगामी तत्वों से मुक्ति ही नहीं पा ली है; बल्कि उसने कहानी की प्रकृति ही बदल डाली है। साहसिकता अभी भी है, किंतु वह मस्तिष्क की साहसिकता है।...आधुनिकों के लिए साहसिकता मानव-प्रकृति के बीहड़ वन के बीच की साहसिकता है।

क्या आज की हिंदी कहानी के संबंध में यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध नहीं होता? वास्तव में आज की कहानी में वातावरण और सामाजिक परिप्रेक्ष्य की प्रधानता हो चली है। घटना और पात्रों की अवतारणा किसी वैचारिक विशेषता या 'मूड' या जीवन का कोई विशेष पक्ष उभारने की दृष्टि से अधिक होती है और उस समय उसमें निबंधगत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

इन सब विषयगत और शैलीगत नवीनताओं के बावजूद आज की कहानी को पुरानी

परंपरा से एकदम विच्छिन्न धारा मान लेना असंगत होगा। प्रथमतः तो आज की कहानी अपनी जन्मजात परंपरा का भार वहन कर रही है—अपने ढंग से कर रही है, यह दूसरी बात है और स्वाभाविक भी है। द्वितीयतः जीवन और वैचारिक एवं कलात्मक परंपराओं को खंड-खंड रूप में देखना उन्हें ग्राम्य भाव से देखना है।

वास्तव में आज की कहानी को समझने के लिए उसकी आधुनिकता क्या है, यह समझना पहले ज़रूरी है। आज के जीवन की वास्तविकता की जटिलता को आत्मसात करना सरल नहीं है। फलतः असंतोष और विक्षोभ उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है। किंतु निराशा और अवसाद के क्षणों में सशक्त आस्थावान स्वर परिलक्षित होता है, इस बात को भी अस्वीकारा नहीं जा सकता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिंदु पर आधारित एवं विकसित साहित्योपलब्धि में मानवता झांकती नज़र आती है। इसके अतिरिक्त, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के राष्ट्रीय जीवन की विषमताएं और अभिशाप तथा असंगतियाँ तो सर्वविदित ही हैं।

द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय जीवन की परिस्थितियों से कहानी ने नया स्वर ग्रहण किया, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है कहानी जीवन को आगे रख कर चलती है। उसके लिए नयी-नयी दिशाएँ खुली हैं। उसमें एक निश्चित लक्ष्य है—स्वस्थ समाज में स्वस्थ व्यक्ति। उसमें कुंठा, घुटन, रोमांस आदि के प्रति आसक्ति बिल्कुल नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता—इन बातों का साहित्य में बिल्कुल अस्तित्व न रहा हो या आगे नहीं रहेगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। मनुष्य है तो कुंठाएँ और रोमांस भी रहेगा। किंतु व्यापक दृष्टि से देखने पर लगता है कि आज का कहानीकार क्षुधा-काम के संघर्ष, मानव-जीवन को सुखी बनाने के मार्ग में बाधाओं को दूर करने, जीवन की विषय-परिधियों को तोड़ने, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में झूठ और फ़रेब दूर करने आदि की दृष्टि से व्यंग्यास्त्र धारण किये हुए नये कवि की अपेक्षा साहस और पौरुष का अधिक परिचय दे रहा है। आज के कहानीकार ने बदलते मूल्य पहचानने में पूर्ण क्षमता प्रकट की है। वह जीवन को भौतिक दृष्टि से सुखी बनाने में विश्वास तो रखता है, किंतु उससे भी अधिक वह मनुष्य को मानसिक और आत्मिक दृष्टि से तुष्ट होते हुए देखना चाहता है। अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थितियों के फलस्वरूप टुकड़े-टुकड़े हुए जीवन-दर्पण को वह इस प्रकार जोड़ना चाहता है कि मनुष्य उसमें अनेक प्रतिबिंबों के स्थान पर एक ही प्रतिबिंब देख सके। आज का मध्यवर्गीय कहानीकार कायर और डरपोक नहीं है, उसमें पलायन की प्रवृत्ति नहीं है। कविता में गतिरोध का प्रश्न उठाया जा सकता है; कहानी के क्षेत्र में उसका प्रश्न ही नहीं उठता। नयी पीढ़ी के कहानीकारों ने जीवन की परिस्थितियों से मोर्चा लेने के लिए अत्यंत त्वरित गति से पैंतरा बदला, पिटे-पिटाये विषय छोड़े, पिटी-पिटायी तकनीक छोड़ी और गतिरोध को पास फटकने तक का अवसर प्रदान न किया। समूचे कहानी साहित्य में, व्यक्तिगत रूप में कुछ कहानीकारों को छोड़ कर, एक सूक्ष्म सामाजिक यथार्थ-बोध है जो उसकी अपनी परंपरा का नवीनतम संस्करण है। आज की आधुनिकता से ओतप्रोत लेखक शंकालु होने के साथ-साथ यथार्थोन्मुख होगा ही। विवश हो कर उसे जीवन-सत्य स्वीकार करना ही पड़ता है, क्योंकि जीवन और व्यक्ति में इतना अधिक नैकट्य आ गया है कि उसकी लपटों से

मुर्दे ही बच सकते हैं। निस्संदेह हमारे तरुण कहानीकार मुर्दे नहीं हैं। वे गतिशील हैं; विभिन्न दिशाओं की ओर गतिशील हैं।

संतोष का विषय है कि सर्वथा नये कथाकारों की एक नयी परंपरा बन रही है जो अपनी कला के इस गरिमापूर्ण उत्तरदायित्व के प्रति सचेत हैं। उन्होंने कला का आदर्श पा लिया है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किंतु उनके क़दम उस ओर बढ़ रहे हैं, यह देख कर हिंदी कहानी-साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत किया जा सकता है। आज की कहानियाँ पढ़ कर एक निष्कर्ष यह अवश्य निकाला जा सकता है कि लेखक स्वयं मध्य वर्ग के हैं और उन्होंने अधिकांशतः मध्य वर्ग के, विद्रूप और कुरूप जीवन का चित्रण किया है। उन्होंने अपने वर्गीय जीवन के खंडित दर्पण में अपने चेहरे देखे हैं। निस्संदेह संसार के लगभग सभी देशों में साहित्य और कला के क्षेत्र में नेतृत्व उच्च और, अब आजकल, मध्य वर्ग के हाथ में रहा है। वर्तमान रूप अपवादस्वरूप है। वहाँ तो मज़दूर कवियों का आविर्भाव हो रहा है। मध्यवर्गीय लेखक या कलाकार भी मज़दूरों का, शोषितों-पीड़ितों का वर्णन करता है, या कर सकता है, किंतु वह केवल बौद्धिक सहानुभूति होगी। यही कारण है कि इन नये कहानी-लेखकों ने अपने को वर्गीय जीवन तक ही सीमित रखा है। उनकी सचाई की दाद दिये बिना नहीं रहा जा सकता। उनका साहस सराहनीय है।

इन कहानीकारों में भविष्य के प्रति गहरी संभावनाएँ हैं। उन्होंने निकट अतीत के कहानी-लेखकों की आपेक्षा कलात्मक या शैलीगत विशेषताएँ प्रकट की हैं। चेतन-प्रवाह पद्धति से दूर का संबंध होते हुए भी उनकी कहानियों में निष्क्रियता नहीं है। उनके पात्र अपने मन से जूझते हुए सामाजिक परिस्थितियों से भी जूझते हैं। आजकल की नयी पीढ़ी के कहानीकारों की रचनाओं से यह बात बड़ी स्पष्टता से लक्षित होती है कि मनुष्य एक भौतिक इकाई है। वह बाहर से सक्रिय तो रहता ही है, किंतु वह भीतर से भी सक्रिय रहता है। मनुष्य किसी भी क्षण जड़ नहीं है। सामाजिक घात-प्रतिघात से मनुष्य का संपूर्ण व्यक्तित्व प्रतिक्रिया प्रकट करता है। ये कहानियाँ यथार्थ-प्रधान होती हैं। उनमें त्वरित गति होती है और वे काल और स्थान-निरपेक्ष होती हैं। उनमें मानव-मन की ग्रंथियों को खोलने का प्रयास होता है, न कि कुंठित और दमित व्यक्तित्व का चित्रण। मानव-मन की ग्रंथियों को खोलना एक प्रकार के मानसिक रेचन का उपयोग करना है। फलतः इन कहानियों का व्यक्ति विषमताओं और कुप्रवृत्तियों से पीड़ित होने पर भी स्वस्थ है। ये रचनाएँ समाज पर क़रारा व्यंग्य कसती हैं और समाज को अपनी ओर देखने के लिए बाध्य करती हैं। कहना चाहिए, व्यक्ति ही समाज का रूप धारण कर, फलतः व्यक्ति और समाज में समन्वय उपस्थित कर, नवसर्जन की उत्कंठा और जीवनपरकता व्यक्त करता है। ये कहानियाँ युग की व्यापक चेतना से अनुप्राणित हैं। उनमें यदि कहीं नवीन मूल्यों की स्थापना नहीं भी है, तो नवीन मूल्यों की ओर संकेत अवश्य ही है। संकेत इसलिए, क्योंकि आज की कहानी व्यंजनाप्रधान रहती है। उनका मूलाधार मानवता का ही है। मनुष्य में मनुष्य की पहचान और मनुष्य की नैतिक ज़िम्मेदारी का मांगलिक रूप।

यहाँ एक बात की मैं विशेष चर्चा करना चाहता हूँ। कुछ दिन पूर्व हिंदी में जिस प्रकार

'नयी कविता' की चर्चा होती थी, उसी प्रकार संप्रति 'नयी कहानी' की चर्चा छिड़ी हुई है। निस्संदेह इन दोनों प्रकार की चर्चाओं का लक्ष्य कलाकारों और आलोचकों द्वारा अनुभूत सत्य का परीक्षण करना, नवीन युग के भावबोध के प्रति सजग होना और नयी दिशाएँ खोजना था, और है। इस वाद-विवाद से कविता और कहानी के संबंध में बौद्धिक चिंतन का सुअवसर प्राप्त हुआ और साहित्य की इन दोनों विधाओं की प्रकृति मुखरित हुई। कलाकार और आलोचक, दोनों के एक साथ सोचने, समझने, विचारों का आदान-प्रदान और नवीन उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन करने से आलोचना भी पुष्ट हुई है। यह एक शुभ लक्षण है, क्योंकि अब कलाकार और आलोचक एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत नहीं होते।

किंतु 'नयी कहानी', इन शब्दों का प्रयोग करते समय सतर्कता और सावधानी की आवश्यकता है। 'नया' या 'नयी' ये शब्द अपने में बड़े अच्छे हैं। वे जीवंत शक्ति, जिजीविषा, प्रगति, परिवर्तनशीलता आदि के प्रतीक हैं। अमरीका में भी नवीनतम आलोचना को 'नयी आलोचना' और आलोचकों को 'नये आलोचक' के नाम से अभिहित किया जाता हैं। किंतु दुर्भाग्यवश हिंदी में ये शब्द बदनाम हो गये हैं। जहाँ तक मुझे स्मरण है, हिंदी की 'प्रगतिवादी' विचारधारा के समर्थकों ने सर्वप्रथम साहित्य के साथ 'नया' शब्द जोड़ा था। तत्पश्चात 'प्रयोगवादी' कविता का नामकरण 'नयी कविता' हुआ। दोनों संदर्भों में 'नया' और 'नयी' शब्दों से सांप्रदायिकता और दलबंदी की बू आती है। 'नया साहित्य' राजनीति से प्रभावित साहित्य विशेष का द्योतक बन कर रह गया। 'नयी कविता' से उस कविता का तात्पर्य समझा जाने लगा, जिसमें कवि का टूटा व्यक्तित्व, कुंठा, मानसिक घुटन, दुःस्वप्न, जीवन की सड़ाँध आदि उन जटिलताओं की अभिव्यक्ति होती थी जिनसे कवि का मानवीय अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया था। उसकी अतिशय बौद्धिकता और संप्रेषणीयता के अभाव ने उसे उपहासास्पद बनाने में सहायता की। ऐसा होना नहीं चाहिए था। किंतु ऐसा हुआ, यह सर्वमान्य तथ्य है। अतः कहानी के साथ 'नयी' शब्द का प्रयोग सोच-समझ कर करना चाहिए, नहीं तो उस पर भी दलबंदी की छाप लग जायगी। कहानी के भविष्य के लिए यह घातक होगा। शायद कुछ लोग कहानी को ज़बर्दस्ती दलबंदी के कीचड़ में खींच लाना चाहते हैं और वे जान-बूझ कर उसके साथ 'नयी' शब्द जोड़ते हैं।

और जब कुछ लोग 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' को समकक्षता की तुलना पर तोलने लगते हैं, तब 'मुग्ध' हुए बिना नहीं रहा जाता। संभवतः वे उस समय या तो दोनों की मूल प्रकृति को दृष्टिपथ में नहीं रखते और 'नेतृत्व' का भार सम्हालते समय जो नहीं कहना चाहिए, कह जाते हैं, या वे 'नयी कविता' के भविष्य के संबंध में चिंतित हैं। इस संबंध में यह बात स्मरण रखने की है कि यूरोप और भारतवर्ष में जब से शिक्षा-प्रसार, पढ़ने-लिखने की आदत पड़ने, मुद्रण-कला का प्रचार होने और आर्थिक परिवर्तन होने के कारण मध्यम वर्ग का जन्म हुआ और मध्यम वर्ग ने जब से जीर्ण-शीर्ण परंपराओं, आस्थाओं, मान्यताओं और विश्वासों के प्रति विद्रोह प्रकट किया, तब से कथा-साहित्य उसका 'महाकाव्य' बना हुआ है। जब तक मध्यम वर्ग जीवित है, तब तक उपन्यास और कहानी की श्रेष्ठता और उसके विकास में कोई कमी नहीं आने की। प्रत्युत उसकी

उत्तरोत्तर वृद्धि होने की पूर्ण आशा है, और वृद्धि निश्चित रूप से हो रही है। जो लोग आधुनिक कहानी की असमर्थता की बात कहते हैं, उसे युग-मानस की संवेदनाओं को वहन करने में अक्षम समझते हैं, उसमें शैथिल्य और दौर्बल्य देखते हैं, वे या तो कहानी पढ़ते नहीं, या किसी मतलब से ऐसा कहते हैं। क्योंकि युग-मानस से अलग होते ही उपन्यास और कहानी अंतिम साँस लेने लगेगी, जो बात अभी बहुत दिनों तक सोची भी नहीं जा सकती। समाज-सापेक्षता तो उपन्यास और कहानी की जान है। कविता के संबंध में यह बात ज्यों की त्यों नहीं कही जा सकती। जीवन कविता के पीछे रहता है, लेकिन कहानी के आगे रहता है। जिस दिन कहानी जीवन को आगे कर नहीं चलेगी, उस दिन वह मर जायगी। जीवन के इतने अधिक नैकट्य के कारण ही उसकी शिल्प-विधि में विविधता आती है, वह नाटक और कविता की भाँति नियमों और सिद्धांतों के जटिल बंधनों में अपने को बाँध नहीं पाती, बाँध नहीं सकती। कविता की भाँति कहानी आत्मपरक भी नहीं होती। इसलिए 'नयी कविता' और आधुनिक कहानी को समकक्ष रखने की चेष्टा अवैज्ञानिक है। इधर इस संबंध में जितनी चर्चाएँ पढ़ी-सुनीं, उनमें यह देखने को मिला कि उसकी भाषा-शैली और शब्दावली लगभग वही है जो 'नयी कविता' पर विचार करते समय व्यवहार में लायी जाती थी। मेरी समझ में यह ठीक नहीं है। कहानी कविता के वज़न की चीज़ नहीं—हो नहीं सकती।

आज की कहानी के संदर्भ में, उसकी नवीन कलात्मक सर्जना और सत्यान्वेषण के संदर्भ में, हिंदी-कहानी-परंपरा पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यह सर्वविदित है कि हिंदी कहानी का जन्म राष्ट्रीय और सामाजिक आंदोलनों के क्रोड़ में हुआ और उस समय के कहानी-लेखकों ने उस काल के संपूर्ण स्थूलत्व के साथ कहानी-कला का ढाँचा प्रस्तुत किया। प्रेमचंद और 'प्रसाद', सुदर्शन, कौशिक और चतुरसेन शास्त्री आदि कहानी-लेखकों ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण ग्रहण किया था। प्रेमचंद ने यथार्थवादी-आदर्शवादी परंपरा को जन्म दिया, तो 'प्रसाद' ने आदर्शवादी और कल्पना-प्रधान परंपरा को। विभिन्न कहानी-लेखकों की शैलियों में वैविध्य अवश्य था। किंतु सबने प्रकारांतर से पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति प्रकट की। इन कहानी-लेखकों की रचनाओं में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाती है। प्रेमचंद के बाद जैनेंद्र और अज्ञेय जैसे कहानी-लेखकों की रचनाओं में यही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता अधिक प्रमुख हो जाती है। उन्होंने मध्यमवर्गीय जीवन के रहस्यपूर्ण कोनों में झाँका और रहस्यपूर्ण कोनों में झाँकने के फलस्वरूप उनकी शैली में एक नया मोड़ आया। स्थूल सामाजिक यथार्थ प्रगतिवादी कहानी-लेखकों में अधिक उभरा। उन्होंने भी मध्यम और निम्न वर्गों की वर्गीय परंपराओं, रीति-नीति आदि ग्रहण कर अपने अनुकूल प्रसंगों की उद्भावना की। जैनेंद्र को छोड़ कर अन्य कहानी-लेखकों ने सामाजिक और राष्ट्रीय विषमताओं को अधिक परखा। जैनेंद्र की जीवन-दृष्टि अधिक दार्शनिक थी। इस दिशा में अज्ञेय ने प्रतीकात्मकता द्वारा हिंदी-कहानी को अधिक कोमल और मानव-संवेदनापूर्ण बनाया। स्थूलतः द्वितीय महायुद्ध के बाद की कहानी में कहानी की प्रकृति और परंपरा सुरक्षित रहते हुए भी उसमें सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना व्यक्त होते हुए भी वह अधिक सूक्ष्म हो गयी है। उसने मानव-मन को पहले की अपेक्षा अधिक गहराई के साथ नाप कर उसे

शिल्पगत नवीन रूप प्रदान किया है। इस प्रकार आज की कहानी निस्संदेह एक सीमा तक आगे बढ़ी है। उसके विषय-चयन और तकनीक दोनों में ताज़गी है।

—२, सर पी० सी० बनर्जी रोड,
एलेनगंज, इलाहाबाद।

कोमल सिंह सोलंकी

नयी कहानी की दिशा

नयी कहानी वर्तमान दशक की ऐसी उपलब्धि है जिसके विषय में विभिन्न मंतव्य पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलते हैं। आज की, नयी दुनिया की, संचेतना को नयी कहानी सशक्त रूप में प्रकट करने का दावा करती है; वह सामाजिक और समाज से संपृक्त व्यक्ति की यथार्थ-चेतना की ओर उन्मुख है। वह युग-बोध की यथार्थ अभिव्यक्ति है। उपर्युक्त मंतव्य साहित्य की किसी भी विधा को नया रूप प्रदान करने में सक्षम है, किंतु आज जब अकहानी की बात पढ़ते-सुनते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि कहानी-समीक्षकों और कहानी-लेखकों ने नयी कहानी की दिशा प्रकट करने के पूर्व ही नये नाम की घोषणा कर दी है और इस प्रकार भाषा की कलात्मक व्यंजना का सहारा ले कर हम अपने दायित्व से मुक्त होना चाहते हैं। युग-संदर्भ से पृथक साहित्य में कुछ नया और कुछ पुराना नहीं है, किंतु युग-बोध से हीन साहित्य व्यक्ति के वास्तविक मनो-जीवन का प्रतिफलन भी तो नहीं हो सकता, इसलिए पारंपरिक रूढ़ि और मरण-धर्मा जीवन से उबार कर जो साहित्य हमें स्वस्थ संस्कार, उदात्त सामाजिक मूल्य, वृत्तियों के परिष्कार में सौंदर्य-बोध को विकसित करने में दायित्व-बोध को जाग्रत करता है वही साहित्य है। नयी कहानी इस दृष्टि से अपनी कोई दिशा न दे सकी है यद्यपि आत्म-प्रशंसा और हीन आत्मश्लाघा से पीड़ित हमारे कुछ कहानीकार कहानी-पाठकों और दायित्व-बोध की बात करने वाले समीक्षकों को कहानी समझने का पात्र ही नहीं समझते हैं। इस असामान्य प्रवृत्ति के बाद भी कुछ कहानियाँ पढ़ी जाती हैं; यद्यपि यह कहना कठिन है कि नयी कहानी के नाम पर पूर्णतया चौंकाने और उत्तेजना देने वाली कहानियों को पाठक किस रूप में ग्रहण करता है।

नयी कहानी के नाम से प्रकाशित रचनाओं में से कुछ कहानियों में काव्य एवं शिल्प की दृष्टि से अनेक प्रवृत्तियाँ परिपुष्ट होती दिखायी पड़ती हैं; यद्यपि इन्हें अधुनातन अथवा नितांत असंपृक्त कहना भी कठिन है। नये कथानकों को ले कर आंचलिक और गाँव के जीवन का चित्रण, मध्यवित्तीय संघर्ष, नये चरित्रों के द्वारा आधुनिक जीवन-बोध, सामाजिक आक्रोश, समानांतर पीड़ा एवं यौन कुंठाओं की प्रकट व्यंजना नयी कहानी की अपनी विशेषता है। स्थानीय रंग एवं बिंब-बोध के द्वारा शिल्प भी नयी कहानी का बदला हुआ है। नवलेखन की दृष्टि से यह उपलब्धि आधुनिकता की देन है किंतु यह प्रश्न भी अपने स्थान पर कम महत्वपूर्ण नहीं है कि लोक-चेतना के संस्पर्श के बिना क्या कोई साहित्य जीवित रह सकता है? तब फिर नयी कहानी अपने को कितना ही प्रगतिशील और आधुनिक घोषित क्यों न करे, वह लोक-ग्राह्य न हो कर साहित्य के मूल मंतव्य से पृथक हो जाती है। यही कारण है कि नयी कहानी गुटों और प्रगतिशील कहे जाने वाले नामधारी वर्गों से मुक्त नहीं हो पायी है।

कहानी युगों से एक ऐसी विधा रही है जिसका मानस पर प्रत्यक्ष एवं गहन प्रभाव पड़ता है, यद्यपि वह रागात्मक संबंधों से असंपृक्त हो कर भी जीवन-सत्यों के मानवीय मूल्यों की अनुभूतियों का साधारणीकरण करने को व्याकुल रहती है। साहित्य के चिरजीवी होने का सत्य भी इसी में छिपा हुआ है। मनुष्य में अपनी विशिष्ट अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाने की लालसा दुर्निवार है; यही सर्जनेच्छा है। जब सर्जन की यह इच्छा रूढ़ि, आग्रह और परंपरा का निर्वाह मात्र हो कर लोक-संपर्क से शिथिल हो जाती है तब उसका लोक-जीवन की उष्ण धमनियों से संबंध टूट जाता है। दूसरी ओर, बिल्कुल नये रूपों में रूढ़ि और परंपरा के विरोध के फलस्वरूप असामान्य प्रवृत्ति को ले कर, अंतर्मन और अचेतन मन की कुंठा की प्रतिक्रिया-मात्र हो कर, लोक-जीवन से बेमेल साहित्य अपनी दिशा को निर्धारित करने में सक्षम नहीं होता। नयी कहानी को इस दृष्टि से अपना दिशा-निर्देश करना होगा। प्रायः नयी कहानी की जब चर्चा होती है तब कहानीकारों के नामों और कहानियों के कथ्य-उल्लेखों से हम संतुष्ट हो जाते हैं किंतु विचारणीय यह है कि नयी कहानी का कौन सा समग्र प्रभाव हमारे वर्तमान जीवन पर है; कौन सी एक अथवा अनेक स्थापनाएँ हमसे मेल खाती हैं?

अनेक रचनाकार और समीक्षक भी 'नये' प्रत्यय-बोध की समस्या सुलझा कर नयी कहानी का विश्लेषण कर लेते हैं किंतु मैं इस विवाद में नहीं पड़ना चाहूँगा। नयी कहानी वर्तमान कहानी का ही नाम है, इस संदर्भ में नहीं कि नयी कहानी इसलिए नयी है कि वह कोई एकदम नयी चीज है। नयी कहानी का बोध परंपरागत रूप को तोड़ने के सचेत प्रयास से हमें हो सकता है। नये उन्मेष के रचनाकार शायद यह मानते हैं कि जो कहानी नयी नहीं है वह अच्छी हो ही नहीं सकती है। दूसरे शब्दों में, परंपरागत रूप को तोड़ने का सचेत प्रयास स्वतः अच्छा है, इस बात को मान लेना पड़ेगा। नये-पुराने का क्रम अस्थिर मूल्यों की सृष्टि करता है। कल से आज की सुबह नयी है और समय के रथ पर चल कर हम सायं तक और नये हो जायेंगे, किंतु यह कोई शर्त नहीं हो सकती कि मानव, जिसकी क्रोड़ में कहानी का सर्जन होता है, अच्छे से और अच्छा होता चला जायगा। प्रत्येक युग की सचेत सर्जना उस युग के लिए नयी होती है। आदि कहानियों

को इस प्रकार हम उस युग की नयी कहानी कह सकते हैं। इस आधार पर नयी कहानी की कोई दिशा स्थिर नहीं हो सकती। नामवर की बात पृथक है जिन्होंने शायद सबसे पहले नयी कविता के संदर्भ में कहानी का नामकरण किया, किंतु नयी कविता से भिन्न नयी कहानी का परिपार्श्व यथार्थपरक, समाजधर्मा और प्रगतिशील मूल्यों से संबद्ध है।

नयी कहानी के कथ्य और पात्रों के चित्रण में जिस यथार्थ दृष्टि का प्रभाव है उसमें से अधिकांश को वर्तमान पश्चिमी जीवन की उन्मुक्त काम-कुंठा की प्रतिक्रिया ही कहा जायगा। काम-कुंठा का प्रभाव सचेत मानव पर प्रत्येक युग में रहा है। आज का युग-बोध नारी के निरावृत सौंदर्य और पुरुष के पाशविक आचारों की अनगढ़ गाथा है। यदि नयी कहानी यथार्थपरक व्यंजना के नाम पर एक सस्ती सी उत्तेजना को ही अपना हेतु मानती है तो फिर शायद परंपरा से प्राप्त मानव की काम-वृत्ति के स्वस्थ और चिरस्थायी रूपों से वह अपने को पीछे ही पायेगी। काम-कुंठा अवचेतना की सक्षम प्रक्रिया है किंतु केवल काम का परिचय ही यथार्थ की परिधि नहीं है। प्राचीनों की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की धारणाएँ हम न भी मानते हों तो भी मानव यथार्थ रूप में काम के अतिरिक्त अन्य संभाव्य अवस्थाओं का बोधगामी है, वैज्ञानिक दृष्टि से हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा।

नयी कहानी समाजधर्मा है, इस कथन से भी कोई परिपुष्ट विचार सामने नहीं आता है। व्यक्तिधर्मा और समाजधर्मा जीवन की कल्पना, खंड चिंतन और प्रतिक्रियावादी विचार की सृष्टि है। व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं। ऐसे किसी मानव-समाज की कल्पना हम नहीं कर सकते हैं जिसमें व्यक्ति न हो, हाँ, व्यक्ति-निष्ठ जीवन का बोध लोकधर्मी नहीं हो सकता। युगों में होने वाले परिवर्तन इस बात की सूचना हैं कि कभी व्यक्ति और कभी समूह एक दूसरे को अपने अधीन रख कर अपने मंतव्यों को मनवाता रहा है, किंतु यह संघर्ष साहित्य को एक अवस्था-विशेष की संज्ञा दे सके, ऐसा संभव नहीं है। कहानी को तो दोनों के मध्य मानव-मूल्यों के सत्यों का उद्‌घाटन करना होगा, जो कभी व्यक्तिधर्मा भी हो सकता है तो कभी समाजधर्मा भी। साम्यवादी चिंतकों के संबंध में अवश्य यह कथन अनुकूल नहीं हो सकता, किंतु अभी तक विश्व इस बात से सशंक ही है कि केवल समाजधर्मा जीवन की परिणति क्या होती है!

इस नयी कहानी के प्रगतिशील होने की बात भी उलझी हुई-सी लगती है। हिंदी साहित्य के प्रगतिशील खेवे से यदि इसका संबंध है तब भी वह प्रगतिशील विचार हमारी भूमि के अनुकूल नहीं ठहरता, नहीं तो प्रगतिशील आंदोलन एक राजनीतिक रूप ले कर शीघ्र साहित्य से विदा न ले लेता, और केवल गति से, सचेतन अग्रसर होने के भाव से, उसका संबंध है तो उसे 'कैनवस' के विस्तार की आवश्यकता है। अकेले ही हिमालय की चढ़ाई संभव तो है किंतु साहित्य के मूल्यों में जब समाजधर्मी होना उसकी एक शर्त मानते हैं तो वह चढ़ाई मात्र दर्शकों को चौंकाने वाली होगी; इस विलक्षण आश्चर्य के लिए श्रद्धा-भाव व्यंजित करने वाली होगी। मेरी दृष्टि में यह निस्संग और निरपेक्ष भाव रचनाकार की वैज्ञानिक सर्जन-तटस्थता का प्रतिबोध है, पाठक का नहीं। पाठक का यह कौतूहल फिर से उसे रूढ़ि और परंपरा से जोड़ देगा। तब फिर नयी कहानी की क्या दिशा है, यह प्रश्न विचारणीय है। **—विवेकानंद मार्ग, लश्कर—ग्वालियर।**

जगदीश चतुर्वेदी

कथा-कृतियों का मूल्यांकन

सम-सामयिक हिंदी कहानी के संबंध में गत तीन-चार वर्षों से इतनी अधिक परिचर्चाएँ, गोष्ठियाँ, बहस-मुबाहिसे और नोंक-झोंक हुई है कि साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में सभी का ध्यान कहानी-साहित्य की ओर जाने या अनजाने ही केंद्रित हो गया है। किंतु लगता ऐसा है कि इन तमाम आयोजनों का संबंध उतना अधिक कृतियों के मूल्यांकन से नहीं रहा, जितना व्यक्तिगत प्रतिष्ठापनाओं और किसी दल-विशेष की महत्ता या कमज़ोरी को प्रदर्शित करने से रहा। तमाम कथाकार अपने को प्रतिष्ठापित कराने के लिए छोटे-छोटे वर्गों में बँट गये और यह वर्ग-वृत्ति चंद आलोचकों को साथ ले कर अपनी-अपनी विशिष्टताओं का प्रदर्शन करने का माध्यम मात्र रह गयी। इस प्रकार के प्रयास कई पत्रिकाओं में भी हुए और कई स्तंभों पर, अनेक नाम-धारियों ने गहरी स्याही से हाशिये पर कुछ नामों को चाक़ू से खुरेद कर काढ़ देने के भी प्रयास किये। किंतु हिंदी कथा-साहित्य का सीधा संबंध मनोरंजन और व्यावसायिकता से होने के नाते अच्छे कहानीकारों का अभाव सदा ही खटकता रहा। कई श्रेष्ठ कृतिकारों ने इस विधा को औसतन दूसरे दर्जे की चीज़ माना और वह इस विधा को अपने संवेदनात्मक आवेग को वहन करने के लिए सशक्त माध्यम न मान कर उपन्यास, नाटक अथवा काव्य की ओर मुड़ गये।

पर, जो लेखक कविता की संवेदनात्मक संपूर्णता के बाद इस विधा में लिखने लगे उन्हीं ने हिंदी कथा-साहित्य को एक नया उन्मेष, एक नयी दृष्टि प्रदान की। अज्ञेय जी को मैं मूलतः कवि मानता हूँ, पर अज्ञेय जैसा गद्यकार या कथाकार भी अभी तक हिंदी में पैदा नहीं हुआ है। अज्ञेय जी के अलावा कई श्रेष्ठ कवि, यथा उपेंद्रनाथ 'अश्क', प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, रघुवीरसहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और कुँवरनारायण आदि ने हिंदी कथा-साहित्य को एक नयी दृष्टि दी है। इसी परंपरा को आगे बढ़ाता है नरेश मेहता का सद्यः प्रकाशित कथा-संग्रह—'तथापि'।

नरेश मेहता नये कहानीकार के साथ ही नये कवि भी हैं, इसी कारण भूमिका तथा कहानियों में एक नया संस्कार, एक नयी दृष्टि तथा जीवन के विभिन्न परिप्रेक्षों में परंपरा से हट कर कुछ विशिष्ट भावभूमि खोजने की अकुलाहट भी उनमें दिखायी देती है। जो लोग स्वच्छ कथ्य या प्रेमचंद जैसी सहजता या समाजवादियों जैसी निष्कपट शैली के क़ायल हैं, उन्हें कदाचित नरेश मेहता की कहानियाँ नीरस, सपाट या महज कवित्वपूर्ण लगें। एक अस्पष्टता का बोध भी उन्हें

उनकी कहानियों में हो सकता है, पर मुझे तो नरेश की कहानियाँ उनके समकालीन तमाम नये कहानीकारों से बहुत आगे की और सच्चे अर्थों में प्रचलित कहानियों से भाव-भाषा सभी में भिन्न दिखायी दीं।

उनकी 'तथापि' कहानी का विपिन पारुल को सामने देख कर भावुक भी हो जाता है, बहुत दिनों के बाद सहसा उसे सामने पा कर जलभरी आँखों से निहारता भी है, परंपरावादी प्रेमियों की तरह लंबी-लंबी प्रेम की बातें भी सोच जाता है, पर जब अंत में वह कहता है—"चलो पारू! हम न तो पहले थे ही और न हैं ही, हमें तो होना है, यह होना ही हमारी संगति है, शृंखला है।" और यह 'होने' की यंत्रणा ही वह बिंदु है जहाँ नरेश की कहानी भावुकता से हट कर नये भाव-बोध से संश्लिष्ट हो जाती है। काफ़ी चतुराई से वे अपनी कवित्वपूर्ण भाषा-शैली में लिखी गयी कहानियों को भी उस अखंड भावुकता से दूर हटा देते हैं, जो कि आज के अधिकांश कहानीकारों में दिखायी देती है। यों भी उनकी कुछ अन्य कहानियाँ यथा 'निशा जी', 'वह मर्द थी', 'किसका बेटा' तथा 'चाँदनी' आदि प्रचलित कहानियों के रागात्मक बोध, संवेदना तथा चेतना से पर्याप्त भिन्न हैं। एक बौद्धिक अभिव्यक्ति उनमें है और इसी कारण नरेशीय भाषा की कमी (क्षमा करें श्री नरेश मेहता) भी अखरती नहीं है। वैसे शायद नरेश मेहता जिसे अपनी शिल्पगत उपलब्धि मानते होंगे, वही भाषागत पच्चीकारी उनकी कहानियों का सबसे बड़ा दोष है।

और यही दोष कमोबेश रूप में राजेंद्र यादव की कई कहानियों में दिखायी देता है। शिल्प-गरिमा के चक्कर में वह अपनी कहानियों को अति विस्तार से नहीं बचा पाते और बहुत सी कहानियाँ मात्र क़िस्सागोई का नमूना बन कर रह जाती हैं। यों उनके संग्रह 'किनारे से किनारे तक' की कुछ कहानियाँ अपनी इस कमी के बावजूद श्रेष्ठ रचनाएँ हैं और उनका स्थायी महत्व है। विशेष रूप से दो कहानियों की चर्चा करना चाहूँगा—'प्रतीक्षा' और 'किनारे से किनारे तक'। पहली कहानी समलिंगी लड़कियों से संबंधित है और दूसरी अपनी पत्नी के संदेहात्मक प्रेमी के पुत्र को नाव में डुबा कर बदला लेने की भावना से परिचालित। दोनों कहानियों का वातावरण तथा मनोवैज्ञानिक धरातल पर उनकी अभिव्यक्ति दोषरहित है। यों इस संग्रह की एक अन्य कहानी—'माध्यम का विद्रोह'—जो आंशिक रूप से 'फ़ार्मूला स्टोरी' कही जा सकती है—पढ़ने की सिफ़ारिश मैं पाठकों से करूँगा। शेष कहानियाँ राजेंद्र यादवोचित वक्तव्य तथा आधुनिकता-विरोधी क़िस्सागोई से आक्रांत हैं। राजेंद्र यादवोचित वक्तव्य के संदर्भ में यह बात स्पष्ट कर दूँ कि इस पुस्तक की भूमिका 'आज की कहानी : परिभाषा के नये सूत्र' में उन्होंने बहुत से दावे अपने कृतित्व के संबंध में किये हैं, जो बहुत सी कहानियों को पढ़ने के बाद काफ़ी निराशा देते हैं। साथ ही, उनकी घोषणाओं का विरोधाभास भी उनकी स्वयं की भूमिका में देखा जा सकता है।

रमेश बक्षी का संग्रह 'मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ' इसलिए महत्वपूर्ण है कि अन्य कथाकारों से हट कर, चित्रकला के समकक्ष कुछ नये प्रयोग करने की छटपटाहट उनकी कहानियों में भी दिखायी देती है। इसीलिए वह अपनी कहानियों को 'निओ-इंप्रेशनिज़्म' की संज्ञा के निकट 'प्रभाववादी' कहानियों के रूप में देखते हैं। कहीं-कहीं इन प्रयोगों में वह सफल भी हुए हैं और 'थर्मस में क़ैद कुनकुना पानी', 'बग़ैर शेड वाले बल्ब की रोशनी', 'क़िस्सा एक शतुर्मुर्ग का' तथा

एक समानांतर कहानी' जैसी कहानियाँ उस संपुंजित प्रभाव को व्यक्त भी कर सकी हैं। किंतु कथाकार के पास जैसी व्यापक दृष्टि होने की अपेक्षा होती है उसका उनमें अभाव परिलक्षित होता है। लगता है कि उनके 'कहानी में बँधे क्षण' मात्र कुछ कम उम्र लड़कियों के स्मृति-चित्रों से संश्लिष्ट हैं। यहाँ मेरा इरादा कोई निषेधात्मक बात करने का नहीं है, कहानी में कोई लड़की हो या लड़की का अंग अथवा चरित्र या जीवन का चित्रण मुझे कमी या दोष नहीं दिखायी देता, किंतु लेखक के प्रभाव-क्षणों की अभिव्यक्ति का लिजलिजापन या कैशोर्य भावुकता से भरी रचना-शिथिलता मुझे अच्छी नहीं लगती। सच तो यह है कि इसी कारण इतनी प्रांजल तथा सुथरी शैली में लिखी गयी कहानियाँ भी अपना आंशिक प्रभाव ही छोड़ पाती हैं। साथ ही ये कहानियाँ इसी एक अनुभूति से संश्लिष्ट होने से एकरसता से भी ग्रस्त प्रतीत होती हैं।

पर, कमलेश्वर के कहानी-संग्रह में विविध अनुभव-खंडों की संयोजना दिखायी देती है। गो उनकी कहानियों में शिल्पगत विशिष्टता का अभाव है फिर भी उनके सद्यः प्रकाशित कहानी-संग्रह 'खोयी हुई दिशाएँ' का महत्व इसलिए है कि इसमें उनके कथा-विकास की सहज उपलब्धि का पर्यवेक्षण संभव हो सका है। इस कथा-संग्रह में कदाचित पहली बार कमलेश्वर महानगर के जीवन के कुछ सहज अनुभूत चित्र प्रस्तुत कर सके हैं। फिर भी क़स्बे का मोह अभी छूटा नहीं है और कहीं वह 'पराया शहर' कहानी के पात्र सुखबीर के ज़रिए, कहीं 'दुःख भरी दुनिया' के दीपू के स्मृति-खंडों में व्यक्त होता रहा है। यों महानगर का माहौल, वहाँ के यांत्रिक जीवन की विडंबना का तादात्म्य कमलेश्वर के किसी पात्र से नहीं हो सका है। एक अलगाव और क़स्बे के अतीत का संमोहन उनकी सभी कहानियों में शेष है। इसे ही भावुकता का पर्याय भी माना जा सकता है। यों भावुकता का एक रूप उनकी सबसे अच्छी कहानी 'खोयी हुई दिशाएँ' में भी परिलक्षित होता है। प्रेयसि इंद्रा की याद आने पर चंदर का आत्म-विलाप और पत्नी निर्मला के सामने प्रदर्शित बदहवासी—परंपरागत प्रेमियों का सदियों पुराना रूप हमारे सामने उपस्थित करती है। इसी तरह 'एक थी विमला' कहानी में एक सा ही जीवन जीने वाली चार लड़कियों का चित्रण इतनी भावुकता से किया गया है कि ये चार लड़कियाँ कमलेश्वर के उपदेशात्मक आदर्श-वाद के चार सूत्रों जैसी मालूम पड़ती हैं। फिर भी बदलते मानव-मूल्यों की सहज संवेदना से युक्त अभिव्यक्ति की विविधता इस संग्रह की कुछ कहानियों यथा 'दिल्ली में एक मौत' तथा 'एक अश्लील कहानी' आदि में परिलक्षित होती है।

रामकुमार के कहानी-संग्रह 'एक चेहरा' की सभी कहानियों का प्रभाव क़रीब-क़रीब एक सा ही है और कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि रामकुमार ने मध्यमवर्गीय युवकों की मानसिक रुग्णता का यह एक साही वर्णन शायद अपने कथा-परिवेश के प्रति 'मूड' विशेष में विशिष्टता प्राप्त करने के लिए किया हो। जो भी हो, यह एकरसता ऊब देने वाली है। साथ ही एक विशेष कुहासा-मिश्रित अस्पष्टता का आभास भी उनकी कहानियों को पढ़ कर होता है, और उदास चेहरा लिये अतीत या भविष्य को निहारते नियतिवादी पात्रों का चित्रण अत्यंत रोमानी नज़र आता है। यों 'सर्दियों का आकाश' की राजी, 'छत' कहानी का सुकांत और 'सेलर' कहानी का ससुराल में रहने वाला निरीह पात्र—अपनी अमिट उदासी का प्रभाव छोड़ते हैं। यों उनकी

कुछ कहानियों का सीमित तंद्रिल परिवेश एक अमूर्त चित्र की तरह असर करता है, और वहाँ यह ऐंद्रजालिक कुहा या अवसाद उनकी कहानियों की विशेषता मालूम पड़ता है। उनके चित्रकार-व्यक्तित्व का ही शायद यह अनजाना प्रभाव उन पर रहा हो। हमें उनके विकास-क्रम को देखना है, यह उनकी मंज़िल नहीं है, मात्र उनका दूसरा कथा-संग्रह है।

(२)

मैं नव-कथा-लेखन के प्रति आशावादी हूँ। पिछले पाँच, सात वर्षों से जो कहानी-लेखक हिंदी में लिख रहे हैं, मुझे लगता है कि वे पिछले दशक के कथाकारों से भिन्न, अधिक विवेकशील और आत्म-सजग हैं। उनमें नयी रचना-प्रणालियों का उन्मेष दिखायी देता है और अपने अनुभव के अत्यंत छोटे से छोटे अंश को अत्यंत सहजता से वाणी देने के लिए भी वे कृत-संकल्प दिखायी देते हैं। मेरे सामने पाँच-सात वर्षों से प्रकाशित हो रहे लेखकों में से कुछ के संग्रह हैं। इन संग्रहों में न भूमिकाएँ हैं न लंबे-लंबे लेखकीय वक्तव्य। सीधे-सीधे कृतित्व के माध्यम से वे पाठकों के समक्ष आ रहे हैं। निश्चय ही, प्रथम संग्रह होने के नाते उनकी ये उपलब्धियाँ उनके भविष्य के प्रति आश्वस्त करती हैं।

वैसे भी, भावुकता और रोमांटिकता-विरोधी इन संग्रहों में कहानी-परंपरा का क्रमिक विकास दिखायी देता है। कृष्ण बलदेव वैद, मनहर चौहान, प्रयाग शुक्ल, धर्मेंद्र गुप्त, सुदर्शन चोपड़ा और रामकुमार 'भ्रमर' के ये संग्रह उस नयी जागरूकता का एक संकेत मात्र हैं, जो हिंदी के नये कहानी-लेखन में दिखायी दे रही है। शिल्प की ताज़गी, अनुभव की तटस्थ अभिव्यक्ति और क्षण-सत्यों का सहज संवेदन से भरा चित्रण उन्हें अपनी पिछले दशक की परंपरा से बहुत अंशों में पृथक कर देता है। कहीं उनकी कहानियाँ मुझे 'अकहानी धारा' के समीप मालूम देती हैं, कहीं 'अमेरिकन एक्टीविस्टों' की सक्रिय कहानी-धारा के समीप, जिसे उनमें से कुछ 'सचेतन कहानी' का नाम देते हैं। इस पीढ़ी के और भी लेखक हैं और वे भी इस नये उन्मेष में इनके समकालीन भाव-बोध को आगे बढ़ा रहे हैं। राजकमल चौधरी, मुद्राराक्षस, श्रीकांत वर्मा, अनंत, रामनारायण शुक्ल, मलयज, महीप सिंह, गंगाप्रसाद विमल, दूधनाथ सिंह, विजय चौहान, रवींद्र कालिया, परेश, ज्ञानरंजन आदि कई कहानीकार इस कथा-संयोजना का नवीन भाव-बोध कथा-लेखन के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं।

साथ ही यह नया भाव-बोध उन्हें अपने कथाकार-व्यक्तित्व के उस वैशिष्ट्य की ओर भी प्रेरित करता है जो 'आधुनिकता' के संदर्भ में अत्यंत आवश्यक तत्व है। व्यक्ति की विशिष्टता उसके अपने अनुभूत सत्यों के कलात्मक विवेचन तथा संवेदनात्मक धरातल से ही परिपोषित होती है। और, इसी संवेदनात्मक विविधता के कारण जहाँ कुछ कथाकार क़िस्सागोई के ढंग पर लिख कर भी व्यावसायिक कथा-लेखन से अपने को कुछ अंशों में पृथक कर लेते हैं, वहाँ कुछ कथाकार शिल्पगत प्रयोगों को चित्रकला की प्रयोगात्मकता के समीप तक ले जाते हैं।

कृष्णवलदेव वैद के संग्रह 'बीच का दरवाज़ा' की कहानियों के रंगों में यह विविधता उनकी विशिष्ट शैली तथा अत्याधुनिक कथा-प्रयोगों से सन्निहित है। प्रस्तुत संग्रह की अधिकांश कहानियों का रचना-विधान तथा पात्रों और स्थितियों को देखने का ढंग वैद का नितांत अपना है, जो उन्हें अन्य कथाकारों की भीड़ से अलग ले जाता है। 'बीच का दरवाज़ा' कहानी में, जो इस संग्रह की श्रेष्ठ कृति है, खन्ना साहब का परिवार और पड़ोस में रहने वाले युवक की खीझ और जवान लड़कियों के कारण खन्ना परिवार की शादी संबंधी फुसफुसाहटें, पड़ोस में रहने वाले युवक के प्रति संदेहात्मक स्थिति और फिर एक समझौता और शांति आदि पूरे वातावरण में कथा का एक प्रभाव है, जो न तो परंपरागत भावुकता से भरा है और न सपाट कथोपकथनयुक्त रसपरिपाक से संबद्ध। यही संयत कला-दृष्टि 'लछमन सिंह' कहानी में भी है। इसी प्रकार 'बदबूदार गली' का सारा वातावरण और 'उड़ान' कहानी में घरेलू स्त्रियों का घर से ऊब कर दिन भर भटकने का चित्रण इतना सजीव और निश्छल है कि एक भी वाक्य ऊब नहीं देता। निश्चय ही निम्नमध्यम-वर्गीय परिवारों, बस्तियों, गलियों तथा मुहल्लों का अत्यंत मार्मिक और सहज चित्रण कृष्णवलदेव वैद की कहानियों की अपनी विशेषता है।

इसी तबक़े के व्यक्तियों के जीवन से संबद्ध कथाचित्र प्रस्तुत करते हैं सुदर्शन चोपड़ा अपने सद्यः प्रकाशित कहानी-संग्रह 'हल्दी के दाग़' में। संग्रह की अधिकतर कहानियाँ शहर के उपनगरों में रहने वाले निम्न मध्यमवर्ग के लोगों से संबंधित हैं। 'चिम्मो' कहानी की चिम्मो, बिरजू, नेतू और उसकी इतराती हुई जवान बहू तथा आसपास के चमारों के अहाते का वातावरण और उनमें रहने वाले एक शहरी बाबू लाजपत का संकोची व्यवहार, उस विशिष्ट भाव-बोध की देन है, जो आज का लेखक अपनी भटरगश्ती की प्रवृत्ति या घुमक्कड़ जीवन में अनायास ही पा लेता है। इसी तरह की जरायमपेशा जाति के लोगों की एक कहानी है—'ओलिंपस'। अनुभव की विविधता के अनेक क्षण इस संग्रह की अन्य कहानियों तथा 'आपरेशन की रात', 'हस्ताक्षर', 'हल्दी के दाग़' आदि में भी प्रतिभासित हुए हैं। यों इस संग्रह की कुछ कहानियाँ कमजोर हैं और वे पुरानी क़िस्सा-गोई का उदाहरण मात्र हैं। 'तीसरी पीढ़ी', 'ज़िंदगी का सर्करामा', 'गुरुकुल का कांगड़ी : लकड़ी की वैसाखियाँ' आदि कहानियाँ मात्र 'फ़ार्मूला स्टोरीज़' हैं और उन्हें इसीलिए स्वीकार किया जा सकता है कि यह लेखक का पहला संग्रह है।

किंतु, अपने शिल्प के प्रति तथा अति नवीन भाव-बोध के प्रति विशेष आकृष्ट करते हैं—प्रयाग शुक्ल तथा मनहर चौहान के कथा-संग्रह।

प्रयाग शुक्ल के संग्रह 'अकेली आकृतियाँ' की कहानियाँ आधुनिक जीवन के बिखराव को अत्यंत कुशलता से चित्रित करती हैं। आधुनिकता के लिए जिस 'वेदना' की स्थिति की आवश्यकता अपरिहार्य है, उस वेदना की व्यंजना प्रयाग की कहानियों को नया धरातल प्रदान करती है। जीवन के सहज, संवेगपूर्ण क्षणों को कलात्मक अभिव्यक्ति दे कर, आत्मीयता से परिपोषित करना उन्हें आता है और यही उनकी कहानियों की सफलता है। जीवन की भाग-दौड़ में अनायास प्राप्त चरित्रों का प्रभाव अंतश्चेतना के इतने निकट से प्रसूत दिखायी देता है कि ये छोटी-छोटी कहानियाँ किसी कुशल चित्रकार के अस्पष्ट किंतु प्रभावपूर्ण रेखाओं जैसा असर छोड़ती हैं। 'अंत' कहानी

की लोरेन, 'बातें' कहानी की विभा और 'सामान' कहानी की रवि की पत्नी, अभिजात्य संस्कारों की लड़कियाँ हैं, उन्हें पुरुषों या प्रेमी अथवा मित्रों से समझौता करना आता है। वह ऐसी विवशता है जिनका प्रभाव काफ़ी गहरा होता है। इसके अतिरिक्त, प्रयाग शुक्ल की कुछ कहानियाँ 'मूड स्टोरीज़' हैं, यांत्रिक युग की ऊब, कड़ुआहट से भरी हुई। 'अकेली आकृतियाँ' के वर्मा, 'सड़क का दोस्त' का पंगु धनिक पुत्र, 'कड़ियाँ' का शिशिर, सभी उस एकांगी जीवन में डूबे हैं और असह्य स्थितियों को वहन कर रहे हैं।

यही कटुता नवीन संभावनाओं तथा आधुनिक इंद्रिय-बोध का एक नया आकलन प्रस्तुत करती है मनहर चौहान के संग्रह 'मत छुओ', की कहानियों में। व्यक्तित्व की तहों के विश्लेषण का एक सर्वथा नया रूप उनकी कहानियों में मिलता है। ऐसा लगता है कि कुछ विशिष्ट क्षणों को अभिव्यक्ति देने की अकुलाहट उनमें है। संग्रह की कहानी 'मत छुओ', जिस पर नामकरण हुआ है, एक अजीब सी उदासी और कड़ुआहट दे जाती है। बदलते सामाजिक संबंधों पर एक आधुनिक व्यक्ति का अहसास इस संग्रह की सबसे अच्छी रचना 'तैंतालीसवाँ युधिष्ठर' को पढ़ कर होता है। साथ ही अश्लीलत्व या अनगढ़पन का बोध इनमें कहीं नहीं होता। एकदम सहज सा लगता है सारा का सारा कथा-विकास और इन आवेगपूर्ण क्षणों का प्रभाव कलात्मक गरिमा को और अधिक बढ़ा देता है। समलिंगी स्त्रियों पर लिखी कहानी 'कुरेदन' अच्छी बन पड़ी है, गो कहीं-कहीं उसकी नाटकीयता अखरती है। हाँ, 'बरखा', 'नाशपातियाँ', 'रानी और मानी' तथा 'लाचार' आदि कहानियाँ शिल्प-सौष्ठव के चक्कर में सायास गढ़ी गयी प्रतीत होती हैं।

और शिल्प के प्रति अधिक सजग न रहते हुए भी कथ्य के प्रति काफ़ी संयत दिखायी पड़ते हैं धर्मेंद्र गुप्त। साथ ही, उनके कथा-संग्रह 'चंद रोमांसहीन कहानियाँ' का रोमांटिकता-विरोधी शीर्षक एक बड़ी चुनौती है जो हिंदी की अभी तक चली आयी भावुकता एवं रोमांस और वियोग-जन्य कुंठाओं से भरी हुई परंपरा पर व्यंग्योक्ति प्रतीत होता है। मुझे इस शीर्षक पर हेमिंग्वे का संग्रह 'मेन विदाउट वीमेन' याद आ जाता है। कोई तुलना के लिए नहीं बता रहा, पर इस संग्रह में भी स्त्री का दयनीय या पुरुष का कमनीय अथवा प्यास तथा आवेग से भरा प्रेमी रूप कहीं दिखायी नहीं देता। कुछ कहानियों में मुझे आंचलिक कहानियों सी ताज़गी अवश्य मिलती है ('रेणु' तथा मार्कंडेय की कुछ कहानियों सी), पर कुछ रचनाएँ कमज़ोर भी लगती हैं। उन कमज़ोर रचनाओं को मैं क़िस्सागोई के निकट ही मान सकता हूँ। वैसे 'नये पुराने जूतों के साथी' में जूतों पर पालिश करने वाले तीन लड़कों का चित्रण और उस कहानी का वातावरण असर छोड़ता है। 'एक आदमी की सल्तनत' का नवाब क़स्बे के परिवेश में रहने वाले एक मस्तमौला का सुंदर चित्र प्रस्तुत करता है। पर 'चाँदी की आँखें' और 'पब्लिक लायब्रेरी' कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से ही पुरातन क़िस्सागोई के ही निकट हैं।

यही क़िस्सागोई एक नये कथाकार रामकुमार 'भ्रमर' के संग्रह 'ड्यूटी मुस्कराने की' की अनेक कहानियों में भी है, किंतु अपने जीवन के अनुभवों में से कुछ विशिष्ट क्षणों को प्रतिभासित करने की एक अदम्य प्यास उनमें है और वे अपने नज़दीक के चरित्रों का वर्णन आत्मीयता से करने का प्रयास भी करते हैं। गो कहीं-कहीं उनका वर्णन छायावादी हो जाता है और कहीं-

कहीं वे अपने पात्रों के मुख से उपदेशात्मक बातें भी कराने लगते हैं। फिर भी 'ड्यूटी मुस्कराने की' का चौकीदार रामबली, 'क्लियोपेट्रा और एक बदसूरत औरत' कहानी के मि० लाल तथा 'बकुची' कहानी की अल्हड़ बकुची का चित्रण अत्यंत सहज, प्रभावपूर्ण और गहरी आत्मीयता से प्रसूत दिखायी देता है। हमें 'भ्रमर' के कथा-लेखन में इन कहानियों के आधार पर संभावनाएँ दिखायी देती हैं।

और, यही संभावनाएँ उन तमाम नये कथाकारों में पायी जाती हैं, जो इस विधा में सतत लिख रहे हैं। मुझे विश्वास है कि आज का कहानीकार संवेदनात्मक क्षमता में नयी कविता के भाव-बोध के समकक्ष आ रहा है और आज के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को अपनी समूची चेतना से आत्मसात कर अभिव्यक्ति देने के लिए प्रयत्नशील है। सभी देशों के, या दूसरे शब्दों में तमाम विश्व के आधुनिक साहित्यकार जीवन के जिस संघर्ष को भोग रहे हैं, वह संघर्ष उसे अपने सामने भी दिखायी दे रहा है और इसीलिए उसका संवेदनात्मक धरातल भी पिछले दशक के कथाकारों से सर्वथा भिन्न, अछूता तथा अधिक सांकेतिक है।

—२७।२३, ईस्ट पटेल नगर,
नयी दिल्ली।

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

दो कविताएँ

तितली और गुब्बारे

आज विदा-वेला में
बिखरी मुस्कान
समेटने में व्यस्त हाथ
फैले ही रह गये।

अनायास आया ध्यान
अनगिनत आँखों का
घूर रही होंगी हमें जो
अकारण ही।

गाड़ी के साथ-साथ
पँखुरियाँ बिखरतीं
औ' उड़ती चली गयीं,
तितली की तड़पन भी
दूर कहीं डूब गयी
धुएँ के गुब्बारों में।

अगस्त्य - पुत्र

आओ संपाती !
फिर दोनों साथ-साथ उड़ें
अनुभवी जटायु
गर लौटे तो लौट जाय।

भुनने दो रक्त-मांस
ढलने दो गलित स्वर्ण
और ठोस बने सूक्ष्म
और रोष जने शून्य,
घने-घने बनें विरल
जमे-जमे तरल-तरल,
अब न रहे धोखे में
सीमा की असीम परिधि
वारिधि-सी, व्योम बीच
लहर उठे निस्तरंग,
सूरज का द्रवित पिंड
पी लें अगस्त्य-पुत्र

अंग-अंग हो अनंग
सृजन उड़े संग-संग।

प्रिंसिपल,
माधव कॉलेज, उज्जैन।

भवानीप्रसाद मिश्र

अभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है,
मैं उसके ढंग नहीं सोचता !

सोची हुई अभिव्यक्ति ने
मुझे कभी व्यक्त नहीं किया;
छुपता ही हूँ मैं उससे;
अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है,
मैं उसके ढंग नहीं सोचता !

सोच कर नहीं रोया मेरा लड़का
और रोने ने उसे अभिव्यक्त किया।
तौल कर नहीं हँसी मेरी लड़की
और हँसने ने उसे अभिव्यक्त किया।

तुमने जमुहाई ली;
सोच कर ली थी ? नहीं;
इसीलिए उसने तुम्हारी समूची थकान को
खोला !

मछली को पकड़ो
तो वह पानी के लिए तड़पती है;
हम आफ़त में पड़ जायँ
तो एक दूसरे से सलाह लेते हैं;
शेर गोली खा के
चट्टानें चबा जाता है !

अभिव्यक्ति तो
होती ही रहती है,
मैं उसके ढंग नहीं सोचता !

पहाड़ की ढलान पर
किसी ने मुझे धक्का दे दिया
और मेरी ज़िंदगी ही बदल गयी!
मेरी टाँग टूट गयी
और मैं लँगड़ा कर चलने लगा!

अभिव्यक्ति अब
थोड़ी कोशिश से हुआ करेगी,
मगर मैं
उस कोशिश का
ढंग नहीं सोचता!

●

वाई-ज़ेड-४,
सरोजिनी नगर, नयी दिल्ली-३।

रमेश कुंतल मेघ

चीत्कारों का जन्म

चीत्कारों का जन्म
जहाँ, जब-जब हुआ है
स्वर्णयुगों ने माथ झुका माँगी दुआ है।
चीत्कारों का जन्म
यहाँ, जब हुआ है
मेरे व्यक्तित्व को मिल गया अपरिचित नया है।
जन्म में एक नया जन्म
नये जन्म में एक पुरा मर्म
हाथों पर—
इतिहास सुप्रिय लिख गया है!

चीत्कार वैयक्तिक मेरी है,
व्यक्तिगत हो कर भी उसकी है, तेरी है!
त्रासदी के मुखौटों को गिराती आतीं चीत्कारें
संस्कृति के धाराबिंब झिलमिलातीं
संघर्षप्रिया पुकारें!

चीत्कारें, चीत्कारें मुझमें उठ रही हैं।
कालजयी अश्वों की वल्गाएँ मुझे दिख रही हैं।
कौन दिग्विजयी होगा, यह प्रश्न है!
कौन चीत्कारों को अगली क़तार देगा, यह प्रश्न है!!
कौन नये जीवन को दिशाबोध देगा, यह प्रश्न है!!!

चीत्कारें कूक उठती हैं चारों ओर :
टूटे हुए रॉकेट-सा वसंत झमक जाता है;
सीता की चीत्कारों का अर्थ जान
राष्ट्र का महाभूत चरित्र ढल जाता है;

बच्चे के जन्म की पहली चीत्कार में
परिवार का भरतसूत्र निष्पन्न हो जाता है;
मेरी अकेली, मुझमें गूँजती चीत्कार—
जभी, तभी—कुरूप का अंत निकट आता है!

चीत्कारों की परिणति आनंदमय होती है।
चीत्कारों की संसृति द्विधा-विभक्त होती है।
कुरूप और रमणीय,
यंत्रणा और मंगल,
एकांत और शोरों
में, मुझे—
निर्णय ही करना है।
निर्णय भी बनना है।

यहाँ कौन दिग्विजयी होगा, यह प्रश्न है!

हारेगा जो—
वह पुनः-पुनः
चीत्कारों को देगा अंगारी परिणाम !

चीत्कारों का संधान-सूर्य
सदा तेज़ होता है :—
मुझमें जन्म ले कर भी मुझसे जन्मांतर-शिल्पी,
मेरे कलुष को धोता हुआ अनंत छविमान,
मेरे विक्षोभ की अभिव्यक्ति यह—
मुझसे भी प्रियंवद : एक आंदोलन !

चीत्कारों की वीणा में लघुत्व हो गया है काल-गायन !

चीत्कारें मैं स्वयं भी नहीं रोक पाऊँगा।
कोई नया अर्थ उनमें जी कर भर लाऊँगा।

प्रश्न बस एक है—कौन चीत्कारों को रूपांतरित करेगा आनंद में?
कौन शिव और शक्ति को

अणु में अभिषेकित करेगा ?
करेगा मुझे—
अर्धनारीश्वर ! ! !

●

हिंदी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

नईम

दो गीत

१

भीड़ की तनहाइयों में पर कपोती तोलती है।

सहज साँसों में समाया नीड़ का विश्वास है,
पास में ऊँची मुँडेरें, दूर नीलाकाश है।

दस्तकें सुन प्रेरणा की द्वार उठ कर खोलती है।

शोर में डूबे हुए संगीत-सी मजबूरियाँ हैं,
ठोस धरती पर अभी भी स्वर्ग जैसी दूरियाँ हैं।

बात सुन पाती नहीं वह जो कभी भी बोलती है।

रास्ते में घाटियाँ हैं, हैं कगारे, कूल हैं,
नील जल-गहराइयों में डूबते मस्तूल हैं।

साहिलों से दूर नौका भँवर में ही डोलती है।
भीड़ की तनहाइयों में पर कपोती तोलती है।

२

कल के आने वाले सुभग विहान को,
उम्र न लग जाये इस काली रात की।

काटे तो कटते-कटते कट जायेगी,
हाथ बटाने वाला हो बट जायेगी।
किंतु आज एकाकी लेटा है समय,
ऊपर से ओढ़े चादर बरसात की।

स्वप्न उसारे में सो जाते तान कर,
सत्य साँवला हो जाता विषपान कर।
बादल गरजे और कहीं बिजली गिरे,
कसक-कसक उठती पीड़ा आघात की।

यहाँ रो रहे हैं दिन के बूढ़े पहर,
यहाँ खो गये हैं मन के बिरले शहर।
दीवट पर असहाय बुझी सी रोशनी
याद दिला देती अपनी औक़ात की।

●

हिंदी विभाग,
गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज, देवास (म० प्र०)

प्रेमसागर

दो कविताएँ

स्मृति

श्याम-नील वर्ण वाला
भास्वर वह
नन्हा सा पाँखी
थिरकती उड़ान भर
जाने कहाँ खो गया।

तन्वी यह
प्रियदर्शन
(पूर्णकाम)
घट पुष्प वल्ली
देर तक
परस के झकोरे को
सहेजती सी
सिहरती रही।

और मैं
स्मृतियों की सरिता में
भीगा, डूबा, उतराया,
'औरे कछू'
चितवन के
परस की पुलक को
सहेजता सा, सिहरता रहा,
सिहरता रहा।

भटकती लय

मंद्र, मृदु, कुछ तड़पती सी, भटकती सी लय—
कई शतकों का धुँधलका चीर,
भटकती
कुछ धड़कनों, स्मिति-सिसकियों की कौंध—
प्रतिशिरा में तड़पती है, ललकती है—
टेरती हो ज्यों मुझे!

टेरती ज्यों मुझे,
तेरी भटकती सी, काँपती सी लय।
(आह, पर कुछ भी नहीं कहती!)

चीर कर गहरा धुँधलका,
चाह है, वे धड़कनें छू लूँ
निहारूँ मधुर स्मिति
मैं सिसकियाँ भर, सिसकियाँ चूमूँ,
तुम्हें हेरूँ, बुलाऊँ,
सब सुनूँ!
सब कुछ सुनूं!

हाय री, ओह, चाह! निष्फल चाह!

तड़पती है, भटकती है लय!
तड़पते हैं, ललकते हैं प्राण!

●

हिंदी विभाग, गवर्नमेंट कॉलेज, लुधियाना।

रामचंद्र 'चंद्रभूषण'

क्षण का दायित्व

तुमने दायित्व दिया क्षण का
बोध हुआ एक सगेपन का

शब्द मेरे वे न थे
कि जिन्हें गीतों में नींबू-सा निचोड़ा
शब्द थे वे
कि जिन्हें नक्षत्रों में प्रक्षेपणास्त्र-सा छोड़ा

रचनात्मक सूत्र गढ़ा
जिनसे
दिक्-काल के गठन का
शिल्प मेरा वह न था
कि प्रश्नों को देखा विराम की आँखों
शिल्प तो वह था
कि इतिहास को देखा आयाम की आँखों
ज्यामिति से जिसकी
परिभाषित
किया कोण मन का

चित्र मेरे वे न थे
कि जिन्हें टाँगा कोठरियों, ओसारे पर
चित्र तो वे थे
कि जिनसे चरित्र लिया भाड़े पर
नया-नया अर्थ रचा
जिनसे
युग के संयोजन का

●

पोस्ट सीतामढ़ी कोर्ट, जिला मुजफ़्फ़रपुर।

राजकमल चौधरी

कहानी

रिद्धी नेपाल को

रामबहादुर के चेहरे में ऐसी सादगी, ऐसा अपनापन है, जो उम्र के साथ घटता नहीं, फैलता ही जाता है। कोमलता की रेखाएँ और घनी होती जाती हैं। उनकी बातें सुनने वालों को लगता है, वह किसी सफ़ेद पहाड़ी झरने के पास बैठा है; मीठे दूध का झरना, जो शोर नहीं करता, पत्थर की चट्टानों पर सहमें-सहमें उतर कर, तराई के वनखेतों को सींचने वाला सोता बन जाता है। रामबहादुर कहता, "धन्ना जी, आदमी की सबसे बड़ी मुसीबत यही है कि वह जानवर नहीं बन पाता है।"

धन्ना जी सिर हिलाते हैं, उनकी नसों में गुदगुदी लगती है, अफ़ीम का नशा नीले रंग का साँप बन कर उनकी पीठ पर रेंगने लगता है। 'जानवर' एक शब्द है, जिसे सुनते ही उन्हें एक साथ दो औरतों की याद आती है—एक रामबहादुर की पत्नी रिद्धी, और दूसरी धन्ना जी की बहन रिद्धी। दोनों औरतें एक ही हैं। रामबहादुर ने ही धन्ना जी की बहन से जाति-प्रथा के अनुसार सात बार क़सम खा कर ब्याह किया है। लेकिन धन्ना जी को एक साथ दो जानवरों की याद आती है। एक जानवर अँधेरी झाड़ी में छिप कर गुर्राता है, और अचानक उछल कर राह चलते मुसाफ़िर पर आक्रमण कर देता है; और दूसरा जानवर पालतू होता है, भूख से तड़पता है, लेकिन रस्सी तोड़ कर भागना नहीं चाहता।

नीले रंग क़ा साँप पीठ पर, नसों में और दिमाग़ पर रेंगने लगता है तो धन्ना जी को एक ही जानवर में दो औरतें नज़र आती हैं—पहली औरत रिद्धी और दूसरी औरत भी रिद्धी! रामबहादुर अधपके बालों और बीच से टूटे हुए धनुष की तरह दोनों ओर लटकी हुई अधपकी मूछों वाले अपने इस दोस्त, और दोस्त से अधिक रिश्तेदार, धन्ना जी की बातें सुन कर मुस्कराता है। फिर कहता है, "धन्ना भाई, मैंने रीधी से साफ़ कह दिया है, मुझसे सब हो सकता है, पाप नहीं हो सकता। पाप वे करें, जो ग़रीब हैं, भूखों मरते हैं, रात की सर्दी में जिनकी आत्मा सिकुड़ जाती है। पाप वे करें, रीधी नहीं करेगी; रामबहादुर और श्रीमंत धन्ना जी नहीं करेंगे। क्यों, धन्ना जी, तुम करोगे ?"

धन्ना जी जानवर और औरत, दोनों भूल जाते हैं। रामबहादुर ने जो पूछा है, उसका जवाब उन्हें देना ही होगा। सवाल पाप का नहीं है, सिर्फ़ इस बात का है कि रिद्धी कैथोलिक मिशिनरियों के स्कूल में नेपाली पढ़ाने जाय या नहीं। वह काशी विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी में

एम० ए० पास कर आयी है। दिल्ली के नेपाली दूतावास में तीन साल काम भी कर चुकी है, जहाँ उसकी रामबहादुर से भेंट हुई थी। परिचय होने के एक ही सप्ताह बाद रिद्धी ने नौकरी से इस्तीफ़ा दिया था, और 'नेपाल एयर लाइन्स' के 'वाइकाउंट' पर उड़ कर रामबहादुर के साथ काठमांडू वापस आ गयी थी।

हवाई जहाज़ की ऊँचाई से देखी गयी काठमांडू-पहाड़ी रिद्धी को कितनी खूबसूरत, कितनी छोटी, कितनी नज़दीक लगी थी। जैसे शीशे के तालाब में सातों रंगों की नन्हीं-नन्हीं मछलियाँ तैर रही हों। ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ने की चौड़ी सीढ़ियों की तरह धान के खेतों के ढलान; बर्फ़ की परतों से ढके पेड़-पौधे; लाल खपरैल की छतों वाले छोटे-छोटे मकानों के गाँव। हवाई जहाज़ के हल्के और मीठे शोर में अपने अंदर आवाजों का ताना-बाना बुनती हुई रिद्धी ने अचानक रामबहादुर के ओवरकोट के कालर पर अपना तेज़ नुकीला चेहरा रख कर कह दिया था, "रामबहादुर—रामबहादुर भाई, आपने अब तक शादी क्यों नहीं की?"

'क्यों नहीं की?'—अपने प्रश्न का यह अंतिम खंड रिद्धी ने कहा या नहीं कहा, और रामबहादुर ने इसे सुना या नहीं, यह रामबहादुर को अब याद नहीं है, क्योंकि उस वक़्त वह काठमांडू के बड़े राणा युद्धमान थापा के बारे में सोच रहा था। उन दिनों बड़े राणा के बारे में सोचना उसे अच्छा लगता था। पूरे शहर में यह बात प्रसिद्ध थी कि थापा-महल की दीवारें अंदर से पोली हैं, और उनमें असली सोने की लाखों ईंटें पड़ी हैं। एक दर्जन गोरखाली बहादुर खुली खुखड़ी और 'थ्री-नाट-थ्री' की भरी राइफ़िल ले कर दिन-रात पोली दीवारों की रखवाली किया करते हैं।

बड़े राणा की एकमात्र लड़की को अंग्रेज़ी, हिसाब, संगीत और विलायती क़ायदा पढ़ाने वाली आइरिश महिला हमेशा के लिए छुट्टी ले कर अपने मुल्क वापस लौट गयी थी। रामबहादुर मन-ही-मन तय कर रहा था कि रिद्धी रोज़ सुबह फ़िटन गाड़ी पर राणा-महल से वापस आ जायगी। महल की सीढ़ियाँ संगमर्मर की हैं, और संगमर्मर पर रासलीला और रामायण की तस्वीरें बनी हैं।

सौ गोपियाँ हैं, और कृष्णमुरारी हर गोपी के साथ अलग-अलग लता-कुंज में विहार कर रहे हैं। कोप-भवन में कैकेयी मूर्छित पड़ी है। क्रोध से नीली पड़ गयी है, और अयोध्या के राजा दशरथ का मुकुट उसके पाँवों के पास लुढ़का हुआ है। सीता अशोक वाटिका में है, राक्षसियों से घिरी हुई। श्रीकृष्ण कदंब-वृक्ष की डाल पर बैठे यमुना में नहाती गोपिकाओं की प्रार्थना सुन रहे हैं। रावण का शव गोद में लिए मंदोदरी विलाप कर रही है। और, मर्यादा पुरुषोत्तम राम अपनी पत्नी की अग्नि-परीक्षा ले रहे हैं।

अग्नि साक्षी है, मैं पापाचारिणी नहीं हूँ। मैंने पर-पुरुष-गमन नहीं किया है। मैं पृथ्वी की तरह पवित्र, आकाश की तरह स्वच्छ, आत्मा की तरह अदग्धा हूँ। मुझे स्वीकार करो, मुझे अपनी प्रीति और अपना साहचर्य दो—सीता ने कहा। रामबहादुर की मोह-निद्रा में तैरती राणा-महल की संगमर्मरी सीढ़ियाँ टूट गयीं। निद्रा टूट गयी, वह मुस्कराया और खिड़की से

नीचे देखने लगा। पशुपतिनाथ-मंदिर के स्वर्णकलश पहाड़ की सुनहली धूप में चमक रहे हैं। काठमांडू शहर आ गया है।

धन्ना जी रहस्यमय चरित्र के व्यक्ति हैं, और राजशाही से आतंकित रहने वाले सभी व्यक्ति इनसे डरते हैं। अफ़ीम, त्रिभुवन चौक के क़हवाघर, दो-तीन अख़बारों के दफ़्तर और पत्थर वाली गली के एक पुराने मकान में रहने वाली विधवा ब्राह्मणी के सिवा धन्ना जी के जीवन में और कुछ प्रकट नहीं, स्पष्ट नहीं है। फिर भी लोग डरते हैं। लोग कहते हैं—राणाओं और गोरखा सरदारों के प्रत्येक महल में, राजनीति में, अंतःपुर में, व्यवसाय में धन्ना जी के पाँव हैं; वामन भगवान के पाँव। लेकिन इन पाँवों से रामबहादुर को उस रात भी डर नहीं लगा था जब रिद्धी उसके बिस्तरे से डरी हुई बिल्ली की तरह उछल पड़ी थी और कमरा खोल कर नंगे पाँव पहाड़ी ढलान पर उतर गयी थी; दौड़ती-भागती अपने भाई के घर चली गयी थी।

धन्ना जी पत्थर वाली गली की विधवा ब्राह्मणी के मकान में रात बिताते थे। यही उनका घर, और यही उनका दरवाज़ा था। अपना पुश्तैनी मकान 'धन्वंतरि-निवास' उन्होंने रिद्धी के विवाह के बाद ही पंचायती बालिका विद्यालय वाले को दान कर दिया था, और अपनी राइफ़िल और ज्योतिष-सामुद्रिक की किताबें पालकी में लाद कर पत्थर वाली गली में चले आये थे। सारा दिन बीतता था क़हवाघरों में, अंतःपुरों में, अख़बारों में; और अफ़ीम की पिनक में आ कर राणाशाही के नाम गलियाँ निकालने में सारा दिन, सारी रात बीत जाती थी।

रात के ग्यारह-बारह बजे रिद्धी पत्थर वाली गली में आयी। धन्ना जी सो गये थे। विधवा जस्सो देवी, जो अपने को बड़े गौरव से स्वर्गीय जंग शमशेर की बेटी (अंग्रेज़ी के 'कान्कुबाइन' का नेपाली पर्याय) कहती थी, उम्र पैंतीस साल, रंग ताँबे का, देह पके हुए अमरूद सी, बातों में तेज़-तर्रार, मुफ़्त मिलने पर शराब पीती है और बात-बात पर रो देने का जिसे अभ्यास है, अभी हँस रही थी। हँसती जा रही थी, क्योंकि धन्ना जी सो गये थे और इस तरह खर्राटे ले रहे थे कि सारा मुहल्ला जग जाय। रिद्धी सामने आ कर खड़ी हो गयी तो धन्ना जी की नींद खुल गयी, और जस्सो देवी का हँसना रुक गया। धन्ना जी ने कहा, "जस्सो, मेरी बहना को एक साड़ी पहना दो और अपने बिस्तरे पर सुला दो। रात में पानी माँगे तो शराब देना, और शराब माँगे तो कहना कल सुबह ज़हर ला दूँगी।"

इतना कह कर धन्ना जी सोने ही को थे कि रामबहादुर आ गया। रामबहादुर आ गया क्योंकि उसका रक्त नेपाल के सर्वहारा वर्ग का रक्त है। वह नेपाली नहीं है, गोरखाली भी नहीं है, ऊपर नेपाल के पहाड़ी भोटिया जाति का है। यह तो महज़ एक संयोग था कि अमरीकी पर्वत-यात्रियों के एक दल के साथ उसने कैलाश की यात्रा की, और उन्हीं के साथ न्यूयार्क चला गया। 'गाफा-गाफा मिंग, गाफा मिंग . . .गाफा मिंग' के पहाड़ी लोक-संगीत के बाद ही उसे 'जाज़' और 'रॉक-एन-रोल' का सभ्य संगीत सुनना पड़ा, किंतु इस परिवर्तन से उसके जीवन या उसके मन में कोई परिवर्तन नहीं आया।

वह पहाड़ का लड़का था। चार साल अमरीका में, और चार साल यूरोप में रह कर रामबहादुर दिल्ली आया तब भी वह पहाड़ का लड़का ही था। कपड़े बदल गये थे, ज़ुबान बदल गयी थी, मगर मुस्कराहट वही थी, सादगी वही थी, चेहरे पर अपनापन वही था, जो उम्र के साथ घटता नहीं है, फैलता ही जाता है। रामबहादुर मीठे जल का सफ़ेद पहाड़ी झरना था, सो वह अब भी है, इसलिए वह कहता है, "रिद्धी, यह विधवा जस्सो तुम्हें अपने घर में रहने नहीं देगी। चलो, अपने घर वापस लौट चलो।"

धन्ना जी कंबल में सिर ढँक कर सो गये थे। रिद्धी वापस रामबहादुर के कमरे में चली आयी थी। पके हुए शरीर वाली जस्सो हँस कर बोली थी, "नयी-नयी शादी में ऐसा होता ही है। पशुपतिनाथ दया रखेंगे तो सब ठीक हो जायगा। हमारे साथ भी कभी ऐसा ही होता था। कभी राणा जी का महल छोड़ कर पत्थर वाली गली हम भी भाग आते थे।"

गली के बाहर आते ही रामबहादुर ने हाथ-रिक्शा बुलाया और रिद्धी रिक्शे पर बैठ गयी। रामबहादुर भी बैठ गया। कहने लगा, "इसमें मेरा क्या अपराध था? मैंने तो तुम्हें सब तरह की छूट दे रखी है। जैसे रहो, जिस तरह सुख पाना चाहो, मैंने अपनी रीघी से कभी इन्कार नहीं किया है।"

जानवर ने सिर झुका लिया था। जानवर ने दिल्ली और काठमांडू की रातों की याद कर के, रातों की तुलना कर के हाथ-रिक्शे का वक़्त काट देना चाहा था। उसके पाँव नंगे और खुले थे, उँगलियाँ जमी जा रही थीं। रामबहादुर ने अमरीकी फ़ैशन में अपना हाथ उसकी कमर के घेरे में डाल दिया था। जानवर की देह में गर्मी नहीं थी, बर्फ़ीली रात की सर्दी भी नहीं थी। हाथ-रिक्शा रामबहादुर के बताये रास्ते पर चल रहा था। त्रिपुरेश्वर का रास्ता पार कर के हाथ-रिक्शा टुड्डीखेल के मैदान के किनारे आ गया। अब 'युद्ध सड़क' पर पहले नेगड़ी राजा का महल, फिर बागमती नदी। बागमती के पश्चिम किनारे काली माटी में रामबहादुर का अपना मकान है। मकान के पीछे स्वयंभू का विशाल मंदिर, और मंदिर के पीछे हिमालय। इस वातावरण में एक नींदमाते जानवर के साथ घर लौटता हुआ रामबहादुर कितना बीमार दीखता है।

घर पहुँच कर फिर वही कमरा, जिसमें पति-पत्नी सोते हैं। खिड़कियाँ बंद हैं। दरवाज़े बंद कर लिये गये हैं। दीवार पर एक बड़ी-सी तस्वीर है, जिसमें एक 'पब्लिक स्कूल' के बच्चे खेल रहे हैं। ढेर सारे बच्चे। रुई और मखमल और ऊन के गोलों की तरह ख़ूबसूरत बच्चे। और रिद्धी इन बच्चों में शामिल होती हुई बिस्तरे के एक किनारे शाल ओढ़ कर बैठी है। रामबहादुर रज़ाई के नीचे पाँव फैला कर लेट गया है। उसकी आँखें अपनी पत्नी को घूर रही हैं। पत्नी तस्वीर में गुम हो चुकी है।

पैसों की दिक़्क़त होती है तो रामबहादुर को यह सब तमाशा अच्छा नहीं लगता है। पैसों की दिक़्क़त हो गयी है। नेपाल-तराई के नये क्रांतिकारी नेताओं के भय से बड़े राणा अपनी लड़की के साथ कलकत्ता भाग गये हैं। अभी वहीं रहेंगे। राणाशाही ख़त्म हो चुकी है। नेपाली कांग्रेस का शासन क़ायम हो गया है। बी० पी० की दहाड़ से काठमांडू के पुराने महल काँपने लगे हैं। सम्राट चुप हैं। संभ्रात चतुर राजनीतिज्ञ की तरह परिस्थितियों को देख-समझ रहे हैं,

और अपनी ताक़त तौल रहे हैं। अखबारों में बी० पी० के मंत्रिमंडल की तस्वीरें छपती हैं। अखबारों में छपता है कि चीन की मदद से, भारत और अमरीका की मदद से नेपाल को स्वर्ग बना दिया जायगा। रामबहादुर बेहद धीमी आवाज़ में बुदबुदाता है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी!'

बड़े राणा और उनकी तेरह-चौदह साल की लड़की 'एयर इंडिया' के जहाज़ पर चढ़ कर कलकत्ता चले गये थे। उनके महल के ख़िदमतगार चंद्रबहादुर गुमरौता ने छाती में खुखड़ी भोंक कर आत्महत्या कर ली थी। कंचन शमशेर ने अपने अखबार 'वीरभूमि' में एलान किया था कि राणा-महल को नेपाल-बैंक का सदर दफ़्तर बना दिया जायगा। मगर सम्राट ने मना कर दिया था।

रामबहादुर के पास पैसे नहीं रह गये थे। उसके बार-बार कहने पर भी, भागते हुए बड़े राणा से, रिद्धी रुपये नहीं माँग सकी थी। अपने बाक़ी रुपये भी नहीं। वह हवाई अड्डे तक गयी भी नहीं, सिर्फ़ महल में जा कर कमला को अंग्रेज़ी गुलाब का एक बड़ा गुलदस्ता और एक किताब 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' दे आयी। कमला चाय लाने गयी तो बड़े राणा ने कहा, "रिद्धी मेम साहब, हमारे साथ कलकत्ता चलो। वहीं रहना। वहाँ अपने पास इससे भी बड़ा मकान है। तुम मेरे साथ चलो, रिद्धी मेम साहब!"

वह चाय पी कर और कमला को पढ़ाने-लिखाने की बातें समझा कर अपने घर चली आयी। हवाई अड्डे तक नहीं गयी। लौट कर रामबहादुर ने बताया, "बड़े राणा चले गये। कमला चली गयी। अब महल में पाँच रानियाँ हैं, और बीस-पचीस ख़िदमतगार और दाइयाँ। महल के फाटक पर पुलिस-चौकी लगी है। मगर तुमने अपने रुपये यों नहीं माँगे, रीधी?"

रामबहादुर ने दुबारा कहा, "धन्ना जी, आदमी की सबसे पहली मुसीबत यही है कि वह जानवर नहीं बन पाता है। और आदमी जानवर नहीं है, तो वह पाप क्यों करे?"

धन्ना जी अफ़ीम के नशे में डूबे हुए थे और रामबहादुर के बैठकख़ाने में चाय का इंतज़ार कर रहे थे। रामबहादुर गोद में लिखने की तख़्ती डाल कर उद्योग मंत्री के नाम दरख़्वास्त लिख रहा था कि एक नेपाली फ़िल्म बनाने के लिए उसे तीन लाख रुपये उधार दिये जायँ। आधा रुपया नेपाल सरकार देगी, आधा रुपया बड़े राणा देंगे, और फ़िल्म में नेपाल का महान इतिहास दिखाया जायगा। फ़िल्म की नायिका होगी—श्रीमती रिद्धी रामबहादुर।

रिद्धी चाय ले कर आ गयी; तिपाई पर केतली और प्याले रख कर चाय बनाने लगी। बोली, "धन्ना भाई, मैं कल से मिशन स्कूल पढ़ाने जा रही हूँ। नेपाली और हिंदी पढ़ाऊँगी।"

"मैंने मना किया था न! जानते नहीं हैं, धन्ना जी, ये मिशन स्कूल, ये विदेशी कल-कारख़ाने, ये सड़कें, धोखा हैं। जानते हैं, लार्ड मेकाले ने क्या कहा था—किसी मुल्क को गुलाम बनाना चाहते हो तो पहले उसकी भाषा, उसके धर्म, उसकी राष्ट्रीय संस्कृति को खत्म करो। ये मिशनरी वही करना चाहते हैं। ये विदेशी मददगार वही करना चाहते हैं। यह सब पाप

है, अपराध है, रीधी !" रामबहादुर ने बड़ी सादगी से कहा, अपने एक-एक शब्द में मिठास भर कर कहा। फिर, चुप हो कर अपनी दरख़्वास्त लिखने लगा—तीन लाख रुपये उधार दिये जावें।

रिद्धी ने पहले अपने बड़े भाई की ओर देखा कि वे कुछ बोलते हैं या नहीं। धन्ना जी को चुप देख कर उसने कहा, "पाप क्या है, यह तुम समझते रहो। मुझे बड़े राणा के यहाँ तुमने भेजा था। मिशन स्कूल में भी तुम्हीं भेजोगे। मैं चली जाऊँगी। धन्ना भाई की बहन हो कर भी मैं तुम्हारे कहने से जिस तरह दिल्ली वाली नौकरी छोड़ कर चली आयी थी, जहाँ कहोगे, चली जाऊँगी, और जब कहोगे, चली आऊँगी। लेकिन कब तक ? रामबहादुर जी, लेकिन कब तक ?"

चाय के अपने प्याले में चीनी डालने की इच्छा रिद्धी को नहीं हुई। चीनी ली जायगी तो प्याले में चम्मच चलाना पड़ेगा। आवाज़ होगी। प्याला बजेगा। रिद्धी अभी कोई आवाज़ सुनना नहीं चाहती थी। वह सिर्फ़ अपने पतिदेव को सुनना चाहती थी। रामबहादुर की मीठी आवाज़, दूध के झरने की तरह; बैलों के गले में बँधी पीतल की घंटियों की तरह; पहाड़ी मंदिरों की पुजारिनों के गीतों की तरह रामबहादुर की मीठी आवाज़।

चाय पी कर धन्ना जी ने अपनी छड़ी उठायी, डूबी हुई आँखों की बोझिल पलकें उठा कर एक बार रिद्धी को देखा, और चुपचाप उठ कर बैठकखाने से बाहर चले गये। रामबहादुर ने बैठकखाना अंदर से बंद कर लिया। सुबह की धूप का अंदर आना उसे अच्छा नहीं लग रहा था। खिड़कियाँ पहले से ही बंद थीं। कमरे में लगभग अँधेरा फैल गया। उसने लिखने की तख़्ती और अधूरी दरख़्वास्त झुक कर फ़र्श पर डाल दी। रिद्धी की नीली आँखें चमकने लगी हैं। नुकीला चेहरा चमकने लगा है। रामबहादुर कहता है, "धन्ना जी के सामने नंगे हो जाने की क्या ज़रूरत थी ? मैंने तुम पर कभी किसी बात के लिए दबाव नहीं डाला है। मिशन स्कूल में जाना, या नहीं जाना, बड़ी बात नहीं है। बहुत मामूली बात है।"

"मामूली बात है, तो तुम झूठ क्यों बोलते हो ? क्यों कहते हो कि तुम्हें मिशन स्कूल में मेरा काम करना पसंद नहीं है ?"—रिद्धी का चेहरा भारी हो गया है। वह धीमी आवाज़ में बोल रही है, लेकिन उसकी आवाज़ काँप रही है। रामबहादुर फ़र्श से तख़्ती और काग़ज़ उठाता है, बनियान में लगा फाउन्टेनपेन निकाल कर लिखना चाहता है। रिद्धी पास आ जाती है। सीधे सवाल की तरह तन कर खड़ी हो रहती है। फिर कहती है, "मिशन स्कूल के बाद तुम मुझे उद्योग-मंत्री के पास ले जाओगे। मैं चली जाऊँगी। लेकिन, कब तक ? मुझे बताओ, कब तक ?"

रिद्धी लंबी औरत है। मगर उसके टखने भारी हैं और उसकी देह भारी है। लाल रंग की मोटी-चौड़ी पट्टियों वाली पोशाक में रिद्धी लंबी नहीं दिखती, भरी हुई और भारी दिखती है। रामबहादुर इस औरत से डरता नहीं, लेकिन उसके सवाल का जवाब देना नहीं चाहता है। तख़्ती और काग़ज़-क़लम कुर्सी पर रख कर वह खड़ा होता है। कहता है, "बचपन से बनारस और दिल्ली में रह कर तुम नेपाल को भूल चुकी हो। तुम मुझे या धन्ना जी भाई को या नेपाल को समझ नहीं पातीं। इसलिए सच को झूठ समझती हो। बचपन में जिस नेपाल को तुमने देखा था, अब वह नेपाल नहीं है। बदल चुका है। नेपाल बदला नहीं होता तो धन्ना जी राज-दरबार

में सबसे ताक़तवर आदमी होते, और काठमांडू के सारे राणा-महाराणा मेरे इशारों पर नाचते होते।"

रिद्धी ने नये नेपाल को समझना नहीं चाहा, क्योंकि वह समझ रही थी कि जो आदमी एक झूठ बोल सकता है, वह सौ झूठ भी बोल सकता है। इन सौ झूठों में सच सिर्फ़ एक ही बात है कि रामबहादुर को रुपए चाहिए और रुपये सिर्फ़ रिद्धी ला सकती है; रामबहादुर नहीं ला सकता। रिद्धी को यह सच पसंद नहीं है। यों, हर औरत चाहती है कि किसी न किसी बात के लिए उसका मर्द उस पर निर्भर करे, उसका आश्रित रहे। सुबह और शाम के भोजन के लिए या प्यार के मीठे दो बोल के लिए, या सिर्फ़ इस बात के लिए कि देखो मेरे दोस्त, यह मेरी औरत है, मेरी अपनी औरत ! इसका शरीर चाँदी की सिल की तरह सुडौल और मज़बूत है, और यह औरत मुझसे अलग नहीं रह सकती; इसे मैं जैसे चाहूँ रख सकता हूँ।

रिद्धी भी ऐसा चाहती है मगर जिस तरह रामबहादुर चाहता है, उस तरह नहीं। इसलिए वह इत्मीनान की साँस ले कर सामने कुर्सी पर बैठ जाती है, और नहाने के लिए बालों का जूड़ा खोलने लगती है। जूड़े के फूल, उजले फूल, प्लास्टिक के जापानी फूल फ़र्श पर गिर पड़ते हैं। रिद्धी उन्हें उठाती नहीं, पड़ा रहने देती है। बालों को दोनों ओर कंधे पर बिछा कर वह झुकती है और अपनी क़मीज़ उतारने लगती है। क़मीज़ के नीचे ऊनी ब्लाउज़ है। रामबहादुर की उपस्थिति की उसे परवाह नहीं है। वह क़मीज़ उतार रही है और सामने झुकी हुई है। उसके पीछे रामबहादुर खड़ा है और अपनी बीवी पर अपनी बात का असर देखना चाहता है।

असर नहीं हुआ है। रामबहादुर समझ गया है, असर नहीं हुआ है। असर होता तो रिद्धी क़मीज़ उतारने नहीं लगती ; चुपचाप पत्थर बन कर कुर्सी पर बैठी रहती और अपने पतिदेव की ओर देखती रहती। पहले ऐसा ही होता था। रिद्धी चुप रहती थी। बड़े राणा आते थे; अमरीकी दूतावास का जन-संपर्क अधिकारी आता था; कलकत्ते और बंबई के बड़ी पूँजी वाले सेठ आते थे—रिद्धी देखती रहती थी।

लेकिन अब वह सिर्फ़ अपनी क़मीज़ उतार रही है और अंदर की ऊँनी ब्लाउज़ पर छोटे-छोटे फूल मुस्करा रहे हैं। ऊनी ब्लाउज़ के फूल जैसे छोटे-छोटे आईने हैं और इन आईनों में रामबहादुर को अपना चेहरा दीख रहा है—प्यार और सादगी से, शांति और अपनत्व से भरा मीठा चेहरा ! लेकिन, रामबहादुर आईनों में देखता है, यह चेहरा धीरे-धीरे काला पड़ता जा रहा है। काला और बदसूरत !

रामबहादुर दोनों हाथों से रिद्धी के कंधे पकड़ता है और उसे उठा कर दूर ढकेल देता है। मगर रिद्धी तेज़ जानवर है। दीवार से टकराती नहीं, उछल कर घूम जाती है, अपना बचाव कर लेती है, रुक जाती है, हँसने लगती है। रिद्धी कहती है, "तुम जानवर नहीं बन सकते रामबहादुर! तुम आदमी भी नहीं बन सकते। इन दोनों में किसी भी बात की कोशिश मत करो, तकलीफ़ तुम्हीं को होगी। तुम जैसे हो, वैसे ही बने रहो। मैं वह सब कर दूँगी, करती रहूँगी, जो तुम कहोगे। क्योंकि मैं उसी नेपाल की लड़की हूँ, जो अब नहीं है। नेपाल नहीं है, मगर मैं हूँ

और मैं रहूँगी। तुम या कैथोलिक मिशन या बड़े राणा की बीमार बातें, कुछ भी मुझे बदल नहीं सकेंगी!"

रिद्धी कहती है और चुप हो जाती है। रामबहादुर बैठकखाने से बाहर निकल जाता है। उसका चेहरा बदल गया है। आज वह पहली बार अफ़ीम खायगा और आज वह पहली बार घन्ना जी की पत्थर वाली गली में रात बितायगा।

—रामेश्वर प्रसाद हाउस,
भिखना पहाड़ी,
पटना-४।

धर्म, मंदिर और मैथुन-प्रतिमाएँ

लगभग एक वर्ष पूर्व सेठ गोविन्ददास जी के कनिष्ठ पुत्र जगमोहनदास जी के निधन के कारण उन पर जो दैवी आघात हुआ उसने उन्हें इस प्रकार झकझोर दिया कि उनका जीवन-प्रवाह ही बदल गया। उनका सारा जीवन राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्र में तथा हिंदी की सेवा में व्यतीत हुआ है, परंतु उस जीवन में एक गुप्त आध्यात्मिक धारा भी बहती रही थी, जिसे अब प्रधानता मिल गयी है। उन्होंने इधर न जाने कितने महात्माओं और संतों से भेंट कर, न जाने कितने विषयों पर चर्चा की। ऐसी ही एक चर्चा में जबलपुर के महाकौशल महाविद्यालय के दर्शन विभाग के आचार्य श्री रजनीश से उन्होंने भारत के उन विभिन्न तीर्थ-स्थलों, देव-मंदिरों की उन अश्लील प्रतिमाओं का प्रसंग उठाया जो विशेषकर जगन्नाथपुरी, कोणार्क और खजुराहो आदि में मंदिरों के प्राकार एवं बाह्य भित्तियों पर निर्मित हैं। इस चर्चा में मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय के भू० पू० मुख्य न्यायाधीश एवं सागर विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री गणेशप्रसाद जी भट्ट ने भी भाग लिया।

सेठ गोविन्ददास जी : प्रश्न उठता है कि क्या इन मैथुनरत प्रतिमाओं के प्रदर्शन से दर्शनार्थियों के उस सात्विक, धार्मिक अंतःकरण में, जिससे प्रेरित हो मनुष्य मंदिर जाता है, विकृति और विसंगति के भाव उत्पन्न नहीं होते ? और यदि हाँ, तो क्या निर्विवाद रूप से ये मैथुन-प्रतिमाएँ हमारी धार्मिक आस्था और विश्वासों के विपरीत काम-भावनाओं एवं कुविचारों के उद्दीपन का कारण बन हमारे लिए अहितकर नहीं हैं ?

इस संदर्भ में आचार्य रजनीश ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा : मनुष्य वस्तुतः अपने सहज रूप से ही वासनाओं से संचालित होता है और इसमें काम-वासना उसकी एक प्रधान वृत्ति है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि आधुनिक युग का मनुष्य जितना अधिक काम-वासना से ग्रसित है, जितना अधिक वह काम-वासना से प्रेरित होता है, अतीत में कदाचित ही होता था।

रजनीश जी के उक्त कथन की संपुष्टि में सेठ जी ने कहा : और इसलिए भी ये मैथुन-प्रतिमाएँ, जिनसे कामुकता भड़कती है, हमारी आस्तिकता और धार्मिकता के माध्यम इन मंदिरों के लिए एक अभिशाप हैं। फ्रायड के मत का प्रतिपादन और पक्ष-पुष्टि साहित्य के माध्यम से इन

दिनों तेज़ी से हो रही है; फिर अतीत के इन मंदिरों से तो फ़्रायड का मनोविज्ञान, जो मात्र काम-वासना पर आधारित है, हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अपने आधिपत्य को पुष्ट कर रहा है, क्या यह हमारे लिए दुर्भाग्यजनक नहीं है ?

रजनीश जी ने कहा : यह बहुत ही महत्वपूर्ण समस्या है। धर्म जो हमारे आधिभौतिक और आध्यात्मिक जीवन रूपी गाड़ी की धुरी है उस पर सवार मनुष्य को यह देखना है कि वस्तुतः उसकी जो गाड़ी है, जो उसकी मुक्ति की मंज़िल की ओर बढ़ रही है, किन तत्वों से निर्मित है? स्पष्ट है, और जैसा कि ऊपर कहा गया है हमारी इस गाड़ी के अध्यात्म और अधिभूत दो चक्र हैं। ये समान गतिवाले, समानधर्मा हों तो हमारी गाड़ी निर्विघ्न रूप से आगे बढ़ेगी और यदि इनकी गति में व्यतिक्रम हुआ तो वह अटक जायगी। अतः हमें अध्यात्म के साथ अधिभूत को भी एक बराबरी के दर्जे पर ले कर चलना पड़ेगा और इस अधिभूत का, जो मनुष्य के अचेतन मन की अमूर्त आशंकाओं से घिरा और भरा हुआ है, अध्यात्म से तारतम्य बैठाना होगा। मनुष्य की अंतर्प्रवृत्तियाँ दो प्रकार से संचालित होती हैं—एक अचेतन मन से, दूसरे अतिचेतन मन से। मन की ये दो अवस्थाएँ ही हमारे अधिभूत और अध्यात्म का सूत्र हैं। अचेतन के अभाव में अतिचेतन का उपयोग अर्थहीन है। उसी प्रकार अतिचेतन के अभाव में अचेतन मात्र का उपयोग भी अर्थहीन और अकल्याणकर है।

अचेतन मन से स्फुरित प्रवृत्तियाँ और वासनाएँ हमें भौतिकता की ओर उन्मुख करती हैं जबकि अतिचेतन से उत्प्रेरित भावनाएँ अध्यात्म की ओर। दोनों का संघर्ष सतत और सत्वर चलता रहता है।

हमारे इन मंदिरों की पृष्ठभूमि में भी यही मूल भावना काम कर रही है। अध्यात्म, जिसकी प्रथम सीढ़ी अधिभूत ही है और जिससे मनुष्य चतुर्दिक घिरा हुआ है, बिना उससे पूर्णतया मुक्त हुए अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाता। यदि वह ऐसा करने का दावा करता है तो वह झूठा है, महज़ उसका दंभ है। उदाहरण के तौर पर हम मंदिर जाते हैं, देव-मूर्त्ति के दर्शन करते हैं, किंतु वास्तव में हम अपने अधिभूत के जंजाल में इतनी गहराई तक डूबे रहते हैं कि एक क्षण को भी मूर्त्ति की उस दिव्यता के दर्शन करने में समर्थ नहीं होते जो उसकी प्राण-प्रतिष्ठा का हेतु है। फिर, जैसा मैंने अभी कहा, हमारे समस्त कार्यव्यापार और भौतिक प्रवृत्तियों एवं उपलब्धियों का केंद्र काम ही है, और इस काम-वासना से उत्प्रेरित हो कर ही हम कार्यक्षेत्र में उतरते हैं, यही हमारा प्रेय है जो अंततः श्रेय का भी साधन बनता है।

भट्ट जी : क्या जो प्रेय है वह श्रेय भी होगा यह ज़रूरी है ?

रजनीश जी : जो प्रेय है वह श्रेय हो यह जरूरी नहीं है, किंतु प्रेय का व्यापक स्वरूप ही श्रेय की प्रथम सीढ़ी है। काम-वासना से ग्रसित, उसके द्वारा संचालित मनुष्य प्रेय जीवन जीता है, और जब तक वह इस वासना के जंजाल में बँधा रहता है श्रेय जीवन की ओर उसके पैर नहीं बढ़ पाते। किंतु जिस क्षण वह इस काम-वासना, मैथुन-प्रवृत्ति से मुक्त हो अतिचेतन मन में विचरण करने लगता है, उसका श्रेय जीवन शुरू हो जाता है।

सेठ जी : आपके इस कथन से भी उक्त मैथुन-प्रतिमाएँ क्या मानव के श्रेय जीवन के लिए बाधक और अवरोधक नहीं हैं?

रजनीश जी : कदापि नहीं, वे बाधक नहीं, वरन साधक हैं। मनुष्य का अचेतन मन, उसकी सहज वृत्ति काम-वासना अथवा मैथुन-प्रवृत्ति से परिपूर्ण रहती है। उसे यदि दबाया जाय तो वह एक क्षण या कुछ अधिक समय को भले ही एक सुप्त अवस्था को प्राप्त हो जाय किंतु जब वह जाग्रत होगी तो निर्बाध रूप में अमर्यादित ढंग से अपनी तुष्टि करने में जुट जायगी। इसके बजाय जो स्वयं प्रभूत है उसे हम दबायें न और एक मुक्त वातावरण में उसे छोड़ दें। फल यह होगा कि उसकी काम एवं कामुक प्रवृत्तियों के संबंध में सारी जिज्ञासा समाधान पा कर जाती रहेगी और अंत में उसके अंतःकरण में एक विमल मति का प्रादुर्भाव होगा और वह अपने अचेतन मन की ग्रंथियों से मुक्त अतिचेतन अंतःकरण में आनंद-विहार कर सकेगा।

सेठ जी : तुलसीदास जी ने कहा है—**'जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम'** का क्या भावार्थ है?

रजनीश जी : आपने बिल्कुल ठीक कहा। तुलसीदास जी के इस कथन में जो भाव है वही इन मंदिरों की मैथुन-प्रतिमाओं से भी प्रतिध्वनित होता है। प्रायः नित्य ही सहस्रों दर्शनार्थी मंदिर में देव-प्रतिमाओं के दर्शन को जाते हैं, किंतु कितने ऐसे हैं जो प्रतिमाओं की सही प्रतिछबि और उनकी दिव्यता को देख पाते हैं? स्पष्ट है, बहुत कम। इसका कारण यही है कि हर दर्शनार्थी, चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी और किसी भी देव का भक्त क्यों न हो, अपने अचेतन मन की काम-वृत्ति से ओतप्रोत अवस्था में घिरा रहता है। हर क्षण वह मन की इस अवस्था में ही अन्वेषण करता रहता है और उसकी जिज्ञासा इसी घेरे में घूमती रहती है। उदाहरण के तौर पर हमारे सामाजिक जीवन को ही लीजिए। जहाँ पर्दा है, पर्दे के भीतर क्या है यह जानने के लिए हम आकर्षित और व्याकुल हो उठते हैं। इसके विपरीत, जहाँ पर्दा नहीं है, हम आकर्षित नहीं होते। यदि होते भी हैं तो ऐसी स्थिति में हमारा यह आकर्षण हमारे सौंदर्य-बोध का परिणाम होगा, मन की अज्ञान अवस्था की आकुलता नहीं। मंदिर की देव-प्रतिमाओं को ही लीजिए। मंदिर में स्थित देव-प्रतिमाओं के पुजारी और दूरागत दर्शनार्थियों की भावनाओं में भी इसी पर्दे का आकर्षक है। पुजारी नित्य और निरंतर देव-मूर्ति के सानिध्य एवं दर्शन-लाभ के कारण अपनी जिज्ञासा का समाधान पा चुका होता है जबकि दूरागत दर्शनार्थी मंदिर के भीतर स्थित मूर्ति के रूप-स्वरूप, भाव-भंगिमा आदि अपने मन के अनेक अमूर्त भावों एवं कल्पनाओं से प्रेरित हो मंदिर की ओर दौड़ा हुआ आता है और जब वह मूर्ति के दर्शन कर लेता है तब उसकी भी जिज्ञासा का समाधान हो जाता है और उसका जो मूर्ति के प्रति आकर्षण था वह समाप्त हो कर एक दिव्य आस्था अथवा श्रद्धा-भाव में परिणत हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुजारी और दर्शनार्थी के बीच अज्ञानता और आवरण का जो भेद है, उसे मिटाने की ओर ही ये मैथुन-प्रतिमाएँ हमें इंगित करती हैं। इन मैथुन-प्रतिमाओं का भाव ही यही है कि हे दर्शनार्थी! पहले तू अपने अचेतन मन को पूर्णतया जिज्ञासा से भर ले और यदि तेरी जिज्ञासा का समाधान हो कर अचेतन मन की तृप्ति हो जाय और यदि तेरे भीतर इस मृगतृष्णा से परे एक शाश्वत सत्य को

जानने की, एक सच्चे और स्थायी आनंद को प्राप्त करने की लालसा जगे तो तू अपने अतिचेतन मन और मुक्त अंतःकरण से मंदिर के भीतर जा। तुझे देवमूर्ति में उस दिव्यता के दर्शन होंगे जिसकी तलाश में मानव युग-युगों से भटक रहा है। गोस्वामी तुलसीदास जी के उक्त कथन का भी यही भाव है।

सेठ जी : तो आपका अभिप्राय यही है कि काम-प्रवृत्तियों के परिचय और प्रतीक रूप ये मैथुन-प्रतिमाएँ हमारी धार्मिक आस्था के लिए अभिशाप नहीं वरन वरदान हैं।

रजनीश जी : निस्संदेह ! जब तक हमारे भीतर काम अथवा मैथुन-प्रवृत्ति प्रधान रूप से विद्यमान है, हम उस सात्विक रूप में अपने मैथुन-केंद्र के अतिरिक्त अन्य किसी को प्रेम नहीं कर सकते, जो हमारी धार्मिक आस्था का तक़ाज़ा है।

सेठ जी : गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है, **'कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम।'**

रजनीश जी : जी हाँ, कामी पुरुष को केवल स्त्री प्रिय होती है; वह भी जो उसे अभीष्ट हो, किंतु अकामी धार्मिक पुरुष को समस्त जड़-जंगम सृष्टि से प्यार हो जाता है। वह जहां भी देखता है प्रभु का प्यार पाता है। और इसीलिए भक्त तुलसीदास के शब्दों में वह कह उठता है:

सियाराममय सब जग जानी।
करहु प्रनाम जोरि जुग पानी॥

कामी पुरुष केवल कुछ पाने के लिए प्यार करता है, किंतु अकामी का प्यार कुछ पाने के लिए नहीं, वह तो कुछ देने के लिए होता है। जो कुछ पा चुका होता है वही देने की स्थिति में होता है। कामी सदा पियासा-अतृप्त रहता है जबकि अकामी सदा तृप्त। कामी पुरुष जब अपनी प्रियतमा को प्यार करता है, उसका चुंबन लेता है, उसका आलिंगन करता है अथवा अपने बाहुपाश में उसे आबद्ध करता है तब उसका अपहरण करता है; किंतु अकामी जब यही क्रिया अन्य किसी प्रेमी जन के साथ करता है तब वह अपना प्यार उसे देता है, अपने को लुटाता है और इस प्रकार आनंद का वितरण करता है। कामी का प्रेम एक से होता है, अकामी का समस्त से। यह वह स्थिति है जिसकी ओर मैथुन-प्रतिमाएँ हमें इंगित करती हैं। जिस क्षण हमारे अचेतन मन की समस्त आकांक्षाएँ, संपूर्ण जिज्ञासाएँ एवं वासनाएँ शांत और समाप्त हो अतिचेतन मन के तल को छू लेंगी उसी क्षण हमें उस असीम प्यार का सूत्र मिल जायगा और हम उस अंतर्दृष्टि के अधिकारी बन जायेंगे जिसमें इन मैथुन-प्रतिमाओं और मंदिर की देव-प्रतिमाओं में कोई व्यवधान और विरोधाभास न दिखायी दे कर हमारे लिए वे सूत्र रूप में उस दिव्य और सत्य के साक्षात्कार का साधन बन जायेंगी जिसकी तलाश में हम मंदिर जाते हैं।

भट्ट जी : काम-शक्ति और दिव्य ऊर्जा (सेक्स इनर्जी और डिवाइन इनर्जी) में क्या संबंध है?

रजनीश जी : इन दोनों में कोई विरोध नहीं वरन काम-शक्ति ही रूपांतरित हो कर

दिव्य ऊर्जा बन जाती है। जो साधारणतः काम की तरह प्रकट होता है, वही साधना से गुज़र कर ब्रह्मचर्य बन जाता है। जैसे, खाद की दुर्गंध फूलों की सुगंध में परिणत हो जाती है और सरोवर का कीचड़ कमल बन सकता है वैसे ही मनुष्य की काम-शक्ति को भी दिव्य ऊर्जा में परिणत करने के उपाय हैं। इस जगत में मूलतः कोई विरोध नहीं है; सब विकास है।

इसी अर्थ में इन मंदिरों में यही सत्य प्रतीक रूप में प्रकट किया गया है; बाहर काम-शक्ति का चित्रण है, भीतर दिव्य ऊर्जा का। परिधि पर जो काम की भाँति प्रकट हो रहा है, केंद्र में वही दिव्य है। केन्द्र से जो जितनी दूर जाता है वह उतना ही कामुकता में गिरता है और परिधि से जो केंद्र की ओर चलता है उसका भागवत चैतन्य में आरोहण अवश्यंभावी है। मनुष्य के लिए दो ही गतियाँ हैं—दिव्य से काम की ओर या काम से दिव्य की ओर। पहली गति संसार में ले जाती है; दूसरी मोक्ष में। इसी का अद्‌भुत प्रतिचित्रण इन मंदिरों में हुआ है। ये एक वैज्ञानिक सत्य के प्रतीक हैं और जब इनके रहस्य को पूरा समझा जा सकेगा तब जिन्होंने इनकी कल्पना की और इन्हें निर्मित किया उनकी मनीषा के प्रति हम अत्यंत अनुग्रह अनुभव करेंगे।

भट्ट जी : जब काम-शक्ति से व्यक्ति ऊपर उठता है तब काम की शक्ति किस रूप में परिणत होती है?

रजनीश जी : प्रेम में। काम की सारी शक्ति प्रेम में परिणत हो जाती है। जैसा कि अभी मैंने कहा, काम माँगता है, और प्रेम देता है। काम शोषण है, प्रेम दान। काम दरिद्र करता है, प्रेम सम्राट बनाता है। और जिसे पूर्ण प्रेम उपलब्ध हो जाता है वही प्रभु को अनुभव करता है। क्राइस्ट का वचन है—**प्रेम ही प्रभु है!**

सेठ जी : ये मैथुन-चित्र किस भाँति काम से मुक्त करने में सहयोगी हैं?

रजनीश जी : इन मैथुन-चित्रों का निरीक्षण, शांत, शून्य भाव से इनका तटस्थ दर्शन, इनसे मुक्ति पाने का मार्ग है। ये ध्यान के विषय हैं। यदि कोई व्यक्ति मुर्दों पर ध्यान करे तो मृत्यु का भय विलीन हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति देह की आंतरिक संरचना पर ध्यान करे तो देह की आसक्ति शून्य हो जाती है। ऐसे ही यदि कोई व्यक्ति मैथुन पर ध्यान करे तो मैथुन का रस विलीन हो जाता है। ये सब रस मूर्छाओं में हैं। जो व्यक्ति अपनी वासनाओं के प्रति जितना मूर्छित है वह उतना ही रसलिप्त होगा; जो उनके प्रति जाग कर उनका सम्यक निरीक्षण करता है वह उनसे मुक्त हो जाता है।

सेठ जी : पहले ये धर्म-संस्थान प्रधानतया साधकों के लिए होते थे। ये साधक यहाँ नित्य साधना किया करते थे। उस काल में ये मूर्तियाँ आपके कथनानुसार चाहे उन साधकों की वृत्ति को अधिभूत से अध्यात्म में प्रेरित करने के लिए एक बड़ा भारी साधन हों, परंतु आज इन देव-मंदिरों में इस प्रकार के साधक क्वचित ही निवास करते हैं। ये देव-मंदिर अब यात्रियों के दर्शनार्थ ही रह गये हैं और आज के समय में ये मूर्तियाँ इन यात्रियों को अधिभूत से अध्यात्म की ओर ले जाने में कोई सहायता देती हैं, कम से कम मैं इसे नहीं मानता। राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टंडन इस मत के थे कि या तो इन मूर्तियों को छेनी से छील दिया जाय अथवा इन पर सीमेंट लगवा कर इन्हें अदृश्य कर दिया जाय। प्राचीन काल में इन मूर्तियों का जो उपयोग था

उसमें मेरा आपसे मतैक्य है, परंतु इस काल में इन मूर्तियों का क्या किया जाय, इस संबंध में मैं टंडन जी से सहमत हूँ।

रजनीश जी : यह तो ठीक है, किंतु मेरे मत से ये मैथुन-प्रतिमाएँ जो इन देव-मंदिरों पर अंकित हैं हमारे संघर्षरत अचेतन मन की उस व्यवस्था की प्रतीक हैं जिसमें हम आकंठ डूबे हुए हैं। इस संघर्ष से, जो निर्बाध रूप से हमारे भीतर चलता रहता है, विमुक्त हुए बिना हमारा मंदिर-प्रवेश और देव-मूर्ति-दर्शन वैसा ही है जैसा किसी नास्तिक द्वारा मूर्ति-पूजन। सिद्धांत रूप से जो बात इन साधकों के लिए उस वक़्त लागू थी, जो किसी समय इन देवस्थलों में साधनारत थे, वही बात आज उन श्रद्धालु भक्तों पर भी लागू होती है जो मन के किसी क्षणिक आवेग या अभ्यास-स्थिति की पूर्ति के लिए मंदिर आते हैं।

—गोविंदप्रसाद श्रीवास्तव,
राजा गोकुलदास महल,
जबलपुर।

देवदत्त

संस्मरण

ध्वंसावशेष

चोलमंडलम् के समुद्र-तट को छूती-छूती सड़क चली जा रही है। दायीं ओर है जलधि का अनंत विस्तार और बायीं ओर ऊँचे-ऊँचे झाऊ के वन. . .कभी गेरुई पहाड़ियाँ, कभी टूटे भग्न मंदिर या मंडपम्. . .मुझे सत्रहवीं शती के इतालवी कलाकारों की याद आती है। प्रकृति-चित्रण से अधिक प्रमुख था उनमें प्रकृति का संयोजन। मुझे फिर याद आता है महाबलीपुरम् . . .वहाँ के बंदरों की, गायों की अनुकृतियाँ. . .।

पूरा वातावरण मानो एक सरकते हुए 'कैनवेस' सा लग रहा है। कार धीरे-धीरे सरक रही है. . .बंग समुद्र की गोद से नये सूर्य का उदय हो रहा है. . .सूर्य की लाल किरणें. . .लहरों पर रक्तिमा और गेरुई पपड़ियाँ. . .।

जिनकी कार में मैं इतना आनंद भोग रहा हूँ वे मेरे बग़ल में बैठे हैं—आँखें बंद किये, सिर को एक ओर टिकाये। वे भारत के एक प्रसिद्ध फ़िल्म-निर्माता हैं। प्रकृति को वे तभी देख पायेंगे जब उनका निर्देशक 'आउट डोर शूटिंग' में उन्हें दिखाये. . .।

चंद मिनटों में ही सूर्य की गरमी बढ़ जाती है। मेरे मित्र सिर उठाते हैं और पूछते हैं—क्यों देवदत्त, ध्यान कैसे किया जाता है?

वज्रपात! मैं सोच रहा था कि वे नींद में हैं; जब उठेंगे तब फ़िल्मों के बारे में चर्चा करूँगा, और वे तो ध्यान कर रहे थे। मैंने बात बदलने की कोशिश की—हम लोग मधुरांतकम् पार कर गये हैं। मीनम्बाक्कम् पहुँचने पर आपके 'प्लेन' को एक घंटा रहेगा?

पर वे माने नहीं। हार कर मुझे समझाना शुरू करना पड़ा कि ध्यान के पहले भी बहुत-कुछ करना पड़ता है। भूतशुद्धि और मनःशुद्धि के तमाम स्तरों से गुज़रना पड़ता है। यह विषय बड़ा कठिन है अतः आइए, यह ध्यान-धारणा की बातें छोड़ कर फ़िल्म की बातें की जायें।

मेरी बातों से उन्हें काफ़ी निराशा भी हुई पर मैं सोच रहा था कि आदमी चाहे जितना भी इधर-उधर दौड़े, अंत की परिणति उसे अध्यात्म की ओर मुड़ने को मजबूर किया करती है। पर जहाँ अध्यात्म की जड़ में भय होता है वहीं उसकी समाप्ति असफलता में होती है—आनंदे ब्रह्म विजानीयात्।

हवाई अड्डा आ गया है और ध्यान के प्रति आकर्षण व्यापारिक प्रतिनिधियों और कलाकारों में लीन हो गया है। पिछले दिनों इन्होंने नये चेहरे की खोज में कमाल हासिल किया

है। मैं स्वयं नवीनता का विरोधी नहीं पर यदि नाटकों में बराबर नये लोगों को लेना पड़े तो अभिनय को ताक पर रख देना होगा!

संप्रति मेरे पास कोई काम नहीं; मैं हवाई अड्डे के चारों ओर एक व्यर्थ नज़र डालता हूँ। हर देश की वायु-सेवाएँ अपने विशेषत्व को सामने लाती हैं, पर कोई अगर पूछे कि निपुणता में इतना नाम कमाने के बावजूद भारतीय वायु-सेवा, उसमें काम करने वाले तथा उड़ने वाले लोग किन अर्थों में भारतीय हैं, तो क्या उत्तर होगा? क्या देश का साधारण नागरिक इससे कभी अपनत्व अनुभव कर सकेगा? क्या देश की जनता की आशा-आकांक्षाओं से इन बड़े लोगों की सेवा करने वालों की आशाएँ-आकांक्षाएँ मेल खाती हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न से अधिक पेचीदा है पर पेचीदगी के कारण प्रश्न को तो नहीं टाला जा सकता!

यहीं पर मॉरीशस के एक प्रवासी भारतीय से भेंट हो जाती है जो एक सेठत्वहीन व्यक्ति के धोती-कुरते की ओर आकृष्ट हुआ है। वास्तव में उनकी फ़ांसीसी-भरी अंग्रेज़ी ने स्थानीय अधिकारियों को अधमरा कर दिया था और भोजपुरी-भरी हिंदी का तो कहना ही क्या! विदेश से आ कर यहाँ इस तरह हिंदी बोलने की अहमियत?

मित्र महोदय का हवाई जहाज़ उन्हें बंबई ले जाता है और उनकी कार मुझे नगर की ओर; वे मॉरीशसनिवासी सज्जन भी उसी कार में हैं।

और मद्रास नगर...मेरे मित्र मॉरीशस में ही भारत में हुए गृह-युद्ध की ख़बरें सुन चुके थे। मैं उनके दुभाषिये का काम करता हुआ नगर देख रहा हूँ। दीवारों पर हिंदी के विरुद्ध जो गालियाँ लिखी गयी हैं उनसे तो धर्मवीर भारती के उस लेख की याद आती है जिसमें उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा पद से रिहाई देने का सुझाव भी दिया था। वैसे इन गालियों को सुनने का मैं इतना अभ्यस्त हो गया हूँ कि इनका उतना ही असर होता है जितना कि कोई बंगीय व्यक्ति 'साला' कहे तो होगा, पर कुछ पंक्तियों के नमूने तो बड़े अजीब लगे—'हम चीनी भाषा सीखेंगे पर हिंदी नहीं।'

ग़नीमत है मेरे मित्र तमिल नहीं पढ़ पाते। वैसे वे जिन विद्यार्थियों से मिले उन्होंने बातें सारी वही बतायीं जो बहुत पहले 'टेप रेकार्ड' की जा चुकी हैं। व्यक्तिगत रूप से मित्र महोदय मुझे बताते रहे कि हिंदीद्वेषी आंदोलन ने भारतीयों की प्रतिष्ठा को, उनके अपने देश में, कितनी क्षति पहुँचायी है। कभी वहाँ के भारतीय स्वतंत्र होने पर भारत में मिलने का स्वप्न देखा करते थे, पर आज...।

सहसा यही प्रश्न उन्होंने एक हिंदी-विरोधी छात्र-नेता से पूछा, "कल्पना कीजिए, आज मॉरीशस भारत में मिल जाय तो आप को ख़ुशी होगी?"

"जी हाँ!"

"तो किस भारत में हम मिलेंगे—हिंदीभाषी भारत में, या अहिंदीभाषी भारत में?"

नेता महोदय ने उन्हें समझाया कि भारत एक है इसी से हम सारे देश में अंग्रेज़ी चलाना चाहते हैं।

"ठीक है, पर आप जानते हैं कि मैं फ़ांसीसी में ही कार्य कर सकता हूँ। ऐसी अवस्था

में इस देवदत्त के स्थान के लोग और हम लोग मिल कर भारत में फ़्रांसीसी के लिए आंदोलन करें तो कैसा रहेगा ?"

नेता महोदय ने समझाना शुरू किया कि अंग्रेज़ी बड़ी समृद्ध भाषा है। बस इसी बात पर मेरे मित्र महोदय का पारा चढ़ गया। फ़्रांसीसी के समक्ष अंग्रेज़ी की प्रशंसा करने की हिमाक़त! इसी अंग्रेज़ी-फ़्रांसीसी की गर्मागर्मी में भेंट ख़त्म हो गयी और मित्र महोदय भारत सरकार के सारे शिक्षामंत्रियों और शिक्षा-विभाग की, जिसने इतनी होनहार पीढ़ी का निर्माण किया है, कटु आलोचना करते घर लौटे।

मैं तो मारे शर्म के मित्र महोदय को बता न सका कि कभी-कभी मेरा भी मन होता है कि हिंदी-विरोध शुरू कर दूँ। हिंदी-विरोध के नाम पर कई विद्यार्थियों ने लाखों बना लिये; यहाँ एक-एक पैसे के लिए पाँच बार सोचना होता है। ग़नीमत थी कि इसके बाद मित्र महोदय ने संग्रहालय, थियोसाफ़िकल सोसायटी और कलाक्षेत्रम् देख कर बंबई का हवाई जहाज़ पकड़ा और मैं छुट्टी पा सका।

अचानक मुझे ध्यान आया कि अब नगर को पर्यटक क़ी दृष्टि से नहीं, व्यक्ति की नज़र से देखना प्रारंभ करना है। मगर नगर-दर्शन तो मेरा काम नहीं था। मैं यहाँ मंडन मिश्र की जीवनी के विषय में लिखी जा रही अपनी पुस्तक के सिलसिले में कांचीकामकोरिपीठम् के शंकराचार्य से मिलने आया था। यह दूसरी बात है कि मैं पूरे दिन दीवारों पर—'हिंदी राक्षसी है', 'हिंदी वेश्या है', 'हम चीनी भाषा सीखेंगे पर हिंदी नहीं' आदि आदर्श वाक्य पढ़ता रहा और मद्रास नगर में भविष्य में खुलने वाले अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों के विज्ञापन देखता रहा। हठात मेरे मन में शरारत सूझी और मैंने अपने को प्रवासी बंगाली घोषित कर दिया। इसके बाद तो मैं जितने भी लोगों से मिला उन्होंने तमिल और बंगाली की एकता पर अतीव ज़ोर दिया और मेरी यह बात तक मानने को तैयार हो गये कि तमिल लोग बंगाल के तमलुक नामक स्थान से ही यहाँ आये और इसी से इस प्रदेश का नाम तमिलनाडु पड़ा। यहाँ पर इस बात की आशा की जा रही है कि विवेकानंद मुखोपाध्याय, अशोक सरकार, रमेशचंद्र मजुमदार और देवज्योति वर्मन के नेतृत्व में अगले हिंदी-विरोधी आंदोलन के समय बंगाल भी दिल्ली सरकार को मज़ा चखा देगा।

इसी संदर्भ में मुझे सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय याद आ रहे हैं। भद्रलोक जब बंग साहित्य सम्मेलन के कटक अधिवेशन के सभापति थे तब उन्होंने 'बांग्ला खेदो' जैसे आंदोलन का आविष्कार किया था, जिसके कारण प्रवासी बंगाली जन या तो उत्तर प्रदेश आदि से खदेड़े जा रहे हैं या वहाँ पर नारकीय यंत्रणाएँ भुगत रहे हैं। बंग भाषा को देवनागरी में लिखने का विरोध केवल इस आधार पर किया कि पूर्वी पाकिस्तान के लोगों पर अरबी लादी जायगी और दोनों बंगालों का सांस्कृतिक संबंध नष्ट हो जायगा। मेरे जैसा छद्मवेशी बंगाली किस तरह सुनीति बाबू से कह सकता है कि इतने हत्याकांडों में जब भी किसी ने शुद्ध बंगला में प्राण-दान माँगा तो उसे छुट्टी मिल गयी और आज जो शरणार्थी पूर्वी बंगाल से भारत आ रहे हैं वे भाषिक एकता के आदान-प्रदान के अनुपम सूत्र हैं।

मेरे सामने भी वही समस्या थी जो सुधन्वा की रानी के सामने थी--'किं करोमि, क्व गच्छामि, को वेदान् उद्धरिष्यति।' पर उसको समाधान दिया था कुमारिल ने। मैं भी सारी शंकाएँ बटोर कर कांची शंकराचार्य के वर्तमान आवास की ओर चल पड़ता हूँ। कुछ वर्ष पहले तक ये आचार्यगण इतने कुतूहल के विषय नहीं थे। तब तो सामान्य दाक्षिणात्य भी धोती पहनता था। पर आधुनिक सभ्यता ने इन आचार्यों को नुमाइश का अजूबा बना दिया है। आदमी छोटा सा काषाय धारण करे, एक समय खाये, सत्रह भाषाएँ जानें और बड़े लोगों से आदर पा कर भी निःस्पृह रहे, इससे बड़ा मज़ाक़ इस शती में और क्या हो सकता है! इसी का अन्यवसान होता है तामसिक भक्ति में। जैसे धनी आदमी अपना ड्राइंगरूमी कुत्ता सबको दिखाता है, उसी तरह कई धनी शिष्य भी अपने आचार्य को अपने घर पर बुला कर उनका प्रदर्शन करते हैं।

मठ पर ही मैंने भावी शंकराचार्य, और मेरे लिए व्यक्तिगत रूप से माननीय मित्र, से आवश्यक विवरण प्राप्त किया, और चला संस्कृत कॉलेज की ओर।

पिछले पचास वर्षों में मद्रास में संस्कृत की इतनी उन्नति हुई कि राजा जी तक को चिंता होने लगी कि भविष्य में संस्कार कौन करायेगा? इसका प्रभाव संस्कृत कॉलेज पर भी पड़ा है और आश्चर्य है कि अभी तक कॉलेज चल रहा है। जिन सज्जन के पास मैं गया वे यहीं पर वेदांत के प्राध्यापक हैं। मंडन-मत के निष्णात, कांची मठ के परम भक्त, कल्पना कीजिए कि इतने बड़े विद्वान का वेतन कितना होगा? जब मैंने उनसे पूछा कि परिवार के अन्य लोगों ने संस्कृत क्यों नहीं पढ़ी तब उनका छोटा सा उत्तर था--'भोजन नहीं है' (आहारं नास्ति)।

कल्पना कीजिए कि इनके पास, पोलक राम शास्त्री के पास, भोजन की समस्या है; संस्कृत कॉलेज के विद्वान विवाह कराते और दक्षिणा लेते घूमते हैं। संस्कृत की आवश्यकता भारत की अस्मिता का ज्ञान कराने के लिए नहीं, श्राद्ध, पिंडदान और विवाह आदि कराने मात्र के लिए रह गयी है और सारे देश में अंग्रेज़ी का प्रचार करने में कटिबद्ध (या गलाबद्ध) लोग संस्कृति और संस्कृत के उत्थान के लिए भगीरथ प्रयास कर रहे हैं।

वैसे सुनीति बाबू पूर्वी पाकिस्तान के बंगलाभाषियों के साथ सांस्कृतिक (आत्मिक नहीं) एकता स्थापित करने और कुटिलाक्षरों की हिफ़ाज़ती जंग में कम से कम हमदर्दी का इज़हार करने भी पूर्वी पाकिस्तान नहीं गये, पर राजा जी और मुंशी जी को कौन रोके है कि वे संस्कृत के उत्थान में भाषण देने के बजाय (जो संस्कृत में नहीं अंग्रेज़ी में होते हैं) अन्य तरीक़ों से सहयोग करें। इनके बच्चे इतनी संस्कृत जानते हैं कि जब मैंने एक धनी ब्राह्मण के लड़के से मिल कर पूछा--'कहो, तुमने संस्कृत सीखी है?' तब उसने तुरंत उत्तर दिया--'हाँ!'

"क्या?"

"यही, ओम तोम नमो शिवाय" और वह अपनी 'काऊ ब्वाय' पैंट में हाथ डाले आगे बढ़ गया।

दक्षिण के मठों और मंदिरों ने भी सारी स्थिति इतनी उन्नत बनाये रखने में कम सहयोग नहीं दिया है। पिछले दिनों मैंने श्रृंगेरीपीठाधीश श्रीमद्शंकराचार्य अभिनव विद्यातीर्थ जी के श्रीचरणों में पत्र प्रेषित किया और निवेदन किया कि अकिंचन मंडन मिश्र पर एक पुस्तक लिख

रहा है और इसी संबंध में कुछ प्रश्नों के उत्तर माँगे थे। उत्तर आया 'शंकर कृपा' नामक पत्रिका के संपादक का; वह भी अंग्रेज़ी में। दशा यह है कि आज मठों में भी मठाधीश के अतिरिक्त सभी लोग अंग्रेज़ी का व्यवहार करते हैं, और मठाधीश का अंग्रेज़ी-ज्ञान उसकी आध्यात्मिक उन्नति और महापुरुषत्व का प्रतीक माना जाने लगा है।

इसी मंडन के चक्कर में संस्कृत कॉलेज, थियोसाफ़िकल लाइब्रेरी तथा शंकराचार्य जी के वर्तमान आवास के बीच चक्कर लगा रहा हूँ। जहाँ कांचीपीठाधिपति ठहरे हैं उस छोटे से मकान के बाहर नयी-नयी कारों की भीड़ लगी है। लोग आ रहे हैं, प्रणाम करते हैं, किसी-किसी से गृहस्थी की कुशल-क्षेम की बात हो जाती है और आदमी प्रणाम करके आशीर्वाद प्राप्त कर लौट जाता है। अद्वैत या अध्यात्म से किसी को कुछ लेना-देना है, ऐसा तो नहीं लगता। क्षण भर में इस श्रद्धा-भरी भीड़ का एक अन्य रूप मेरे सामने उभर आता है—यश, धन, पुत्र-कलत्र की कुशलता के लिए स्वामी जी का आशीर्वाद माँगता हुआ स्वरूप! मैं चुप हूँ क्योंकि अध्यात्म के नाम पर मैं इस प्रकार के जन-समूह और व्यवहार के बारे में कुछ कहूँ तो नास्तिक घोषित कर दिया जाऊँगा।

और इस भक्ति का स्वरूप क्या है? धर्माचार्य का काम है विशिष्ट जीवन-पद्धति के अनुरूप दृष्टिकोण प्रदान करना। स्वभावतः ही ये दृष्टिकोण शास्त्रविहित और सार्वलौकिक होते हैं पर पिछले दिनों जब कांचीपीठाधिपति ने तिरुथवई और कुरल के वास्तविक स्थानों का निर्देश किया, तब तमिल की स्वाभिमानिनी जनता विरोध कर उठी। धर्म उन्हें उतना ही स्वीकृत है, जितना वह अहंकार की तुष्टि कर सके। फलस्वरूप कहा गया कि स्वामी जी की बातों का यह अर्थ नहीं था।

इधर पिछले दिनों संस्कृत कॉलेज में ही शंकराचार्य की जयंती मनायी गयी थी। अब भी द्वार पर आधुनिक तमिल अक्षरों में 'जय जय शंकर' लिखा हुआ था। मैंने एक अध्यापक श्री कृष्णमूर्ति से पूछा, "कहिए इस 'जय जय शंकर' को यदि मेरे जैसा तमिल भाषा का ज्ञाता 'छप-छप शंकर' पढ़े, तो क्या होगा?"

कृष्णमूर्ति महोदय ने एक काग़ज़ निकाला; यह दिल्ली में आयोजित शंकर-जयंती का निमंत्रण-पत्र था। पूरा का पूरा अंग्रेज़ी में। फिर उन्होंने मुझे बताया कि हिंदी-विरोध के युग में हम ग़रीब अध्यापक देवनागरी लिख कर मार नहीं खाना चाहते; और फिर अंग्रेज़ी तो हमारे यहाँ रहने के लिए आयी है।

दो क्षण के लिए यह प्रश्न मेरे दिमाग़ से हवा हो जाता है कि मंडन मिश्र एक थे या दो थे। मैं पंडित कृष्णमूर्ति शास्त्री के उस पुराने और ग़रीबी-समेटे घर की ओर देखता हूँ और मुझे इस भय, आशंका, अविश्वास और पराजय-वृत्ति, सबका उत्तर एक साथ मिल जाता है।

मद्रास में जिनके घर में ठहरा था, वे नगर के ऊँचे लोगों में से हैं। फलतः कभी-कभी मुझे स्वयं प्रदर्शन की सामग्री बनना पड़ता है। अच्छा तैराक़ होने के कारण सुबह-सुबह उनके बच्चों को तैरना सिखाने के लिए एक बड़े 'क्लब' के जलाशय में ले जाता था। ग़नीमत थी कि मित्र महोदय साथ ही रहते थे, वर्ना पहली बार मेरे कपड़े सम्हालने वाले नौकर ने मुझसे एक

पैसा भी न पा कर मुझे ऐसी नज़र से देखा था कि मन हुआ, उसे अपनी वास्तविक स्थिति बता कर स्वयं ही माँगना शुरू कर दूँ, पर मित्र महोदय ने स्थिति सम्हाल ली थी। ऐसे 'क्लब' मानो आज भी अन्य देशवासियों के सलीक़े के प्रदर्शन-घर हैं और मेरा अनुमान है कि २०० रुपये से अधिक वेतन पाने वाले लोग इन्हें सीखने को बहुत लालायित रहते हैं।

गया था दो छात्रों के साथ, पर पहले ही छात्र-छात्राओं की संख्या पर्याप्त हो गयी। कई माता-पिता अपनी किशोरी कन्याओं के साथ आये थे और मेरे मित्र द्वारा दिये गये परिचय के कारण वे उन्हें मुझे सौंप कर यूँ चले गये, मानो मैं भीष्म का नया अवतार हुआ हूँ। वैसे कुछ विदेशी भी वहाँ उपस्थित रहते थे पर वे कभी अपने शरीर को यूँ नहीं देखते, मानो मिठाई देख रहे हों। ज़माना बदल रहा है। कुछ ब्राह्मण-कन्याएँ थीं, जिन्हें तैरना सीखने से अधिक तैरने की पोशाक़ पहने रहने में अधिक आनंद आता था।

तैरना एक आवश्यकता से अधिक विलास की वस्तु हो सकती है, यह तो मुझे इन्हीं लोगों के बीच पता चला। फिर भी मैं समाज में था। औपचारिकता की रक्षा करनी थी, अतः चुपचाप तैरना सिखाता रहा। उन लोगों ने भी इसी कारण मेरी हिंदी सहन की। वर्ना वे सब तो आपस में भी अंग्रेज़ी में बोलते थे। इसी बीच एक दिन दो बालिकाएँ आयीं और मैंने उनके गुलाब की तरह ग़ोरे डहडहे चेहरों से पता चला लिया कि वे जर्मन हैं। फिर क्या, जर्मन भाषा के व्याकरण की हत्या करने का इससे अधिक अच्छा मौक़ा कहाँ मिल सकता था! मैंने और उन दोनों ने साथ मिल कर जो छलाँग के साथ कूद का प्रदर्शन किया, तो लोग देखने जुट आये, और फिर भाषा——मेरी एक आंग्ल-भारतीय छात्रा ने आ कर पूछा कि यह क्या वला है, तुम अंग्रेज़ी नहीं, पर जर्मन क्यों बोलते हो?

उत्तर देने का कोई प्रश्न नहीं था। जो लोग कमलों की खेती में विश्वास रखते हैं, वे गेहूँ का स्वाद बहुत कम पा सकेंगे। देश और समाज में बहुत परिवर्तन देखें हैं, अतः इससे निराश होने का कोई कारण नहीं दीखता, पर एक पीढ़ी पूर्व तक धर्म या बिरादरी के नाते व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता था। केवल नौकरी के नाते बनी अगली पीढ़ी क्या भारत का प्रतिनिधित्व कर सकेगी?

इसी नगर-दर्शन के बीच, बालक-बालिकाओं के अनुरोध पर, शिशु-प्रेक्षागृह में फ़िल्म देखने जाना पड़ा था। वैसे सूचना विभाग अमीरों के लड़के-लड़कियों की रुचि का पर्याप्त ध्यान रखता है, पर पता नहीं कैसे, उस दिन 'विनोबा, द मैन' शीर्षक अंग्रेज़ी वृत्तचित्र भी लग गया था। रामधुन प्रारंभ होते ही हॉल में जो चीखें शुरू हुईं कि मैंने बग़ल की लड़की से पूछा कि तुम लोगों ने इन्हें 'बीटनिक' या 'बीटल्स' के आस-पास की कोई चीज़ तो नहीं समझ रखा था। अधिकांश छात्र इस नाम से इतने अपरिचित थे कि मन हुआ कि चिकोटी काट कर अपने को विश्वास दिलाऊँ कि भारतवर्ष में ही हूँ और स्वप्न नहीं देख रहा हूँ।

इसी संतरण-क्रीड़ा और शंकराचार्य के बीच लटकता हुआ मैं मंडन-मत पर काफ़ी सूत्र हस्तगत कर चुका था, अतः आवश्यकता थी कि मैं अपने रक्षा-कवच, श्री अरविंद आश्रम में वापस चला जाऊँ। वैसे मेरे दफ़ा होने की बात सुन कर कई लड़कों ने ऐसा 'मूड' बनाया, मानो

एक 'बोर डेटिंग' से छुट्टी पा रहे हों और कई लड़कियों ने आँसू तो बहाये नहीं, पर रूमाल से काजल की रेखाएँ बिगाड़ कर नाक यूँ सुड़की मानो ज़ोर का ज़ुकाम हो गया हो। मगर जब मैं बस पर सवार हो सका, तभी राजा जी, सुनीति बाबू और मद्रास की हस्तलिखित पोथी-पुस्तकालय के अंग्रेजियत में सराबोर लोगों के चिंतन से छुट्टी पा सका हूँ। मेरी बस फिर चोल मंडलम् के समुद्र-तट से गुज़र रही है। चोल राजाओं के अर्धध्वस्त नगारा मंडप बीच-बीच में मिल जाते हैं। इन ध्वंसावशेषों को पीछे छोड़ती हुई बस इस विशाल और समृद्ध फलक पर सरक रही है: फिर भी इन ध्वंसावशेषों से पीछा नहीं छूटता। मेरे सामने की 'सीट' पर बैठे, इस गर्मी में भी टाई-कोट धारी, दो सज्जन बड़ी भ्रष्ट अंग्रेज़ी में भाषा-समस्या पर बहस कर रहे हैं और मैं स्वयं उनके बीच एक ध्वंसावशेष बन कर रह गया हूँ।

—श्री अरविंद आश्रम,
वेदपुरी, पांडिचेरी-२।

गिरिराज किशोर

कहानी

ज़नाने डिब्बे में मर्द

इंजन के बाद शयनिका, फिर मर्दाना और ज़नाना तीसरा दर्जा. . .दूसरा दर्जा, और फिर वातानुकूलित और पहले दर्जे की एक क़तार। मर्दाना तीसरा दर्जा पूरी तरह से भरा है और बाहर खड़े लोग ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा पीट रहे हैं। दरवाज़ा पीटना आक्रोश की अभिव्यक्ति है। दरअस्ल कुछ लोगों को जगह मिल गयी है। जगह पाने वाले वे लोग हैं जो बाहर खड़े लोगों को यह आश्वासन दे कर खिड़की से अंदर गये थे कि वे अंदर पहुँच कर उनके लिए दरवाज़ा खोल देंगे। लेकिन वे सभी अंदर वालों के साथ मिल कर बाहर वालों को हुल्लड़बाज़ बता रहे हैं। और बाहर खड़े हुए लोग उनके चटख़नी चढ़ा देने वाले विशेषाधिकार के सामने परास्त हैं।

मैं सोचता हूँ अगर मैं भी अकेला होता तो खिड़की के ज़रिये पहुँच कर अंदर वालों में शामिल हो जाता। लेकिन मेरी बड़ी बहन भी मेरे साथ हैं; मुझे उन पर ज़ोर से ग़ुस्सा आया हुआ है। टिकट ख़रीदते समय ही मैंने पूछा था, 'दूसरे दर्जे के टिकट ख़रीद लूँ?' लेकिन उन्होंने मना कर दिया। जब भी हम लोग सफ़र करते हैं तब यह समस्या हम दोनों के बीच साही के काँटे की तरह उभर आती है। तीसरे दर्जे में सफ़र करना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं। वहाँ एक चिड़िया-घर का सा वातावरण रहता है—तरह-तरह की गंध और अजब-अजब तरह की बोलियाँ सुनायी पड़ती हैं। लगता है जैसे संस्कारहीन मिट्टी के पुतले बैठे हुए हैं जो भरे हुए 'रिकार्ड' की तरह बोलते जा रहे हैं।

दूसरे दर्जे में यह सब नहीं होता। एक ख़ास तरह के लोग होते हैं जो रूमाल से सीट साफ़ कर के और पीछे से अपनी पतलून की 'क्रीज़' को सँवार कर बैठते हैं। फ़ैशन के तौर पर आपस में इसलिए बातें करते हैं कि बराबर वाला ऊबे न। या फिर, अंग्रेज़ी जासूसी उपन्यास पढ़ते रहते हैं। इससे पास वाले को कोई असुविधा नहीं होती। बातें शुरू करने के लिए अंग्रेज़ी में (सामान्यतः) या हिंदी में बराबर वाले से पूछते हैं, 'कहाँ जाइएगा?' और दूसरा आदमी बड़ी शालीनता के साथ बता देता है, 'अमुक जगह'। दूसरा सवाल होता है, 'सर्विस करते हैं?' और उस प्रश्न के स्वीकारात्मक उत्तर से बहुत ही कम लोग बच पाते हैं। सरकारी नीतियों का (ज़बानी तौर पर) विरोध या समर्थन होता है। महँगाई की बातें होती रहती हैं। और फिर सब ग़ुस्सा 'रेलवे' पर उतर जाता है—दुर्घटना होने की बातें. . .गाड़ियों के आमतौर से 'लेट' हो जाने पर आक्रोश. . .'प्लेटफ़ार्मों' की गंदगी—ये सब उन बातों की सुर्ख़ियाँ रहती हैं। धीरे-धीरे बातें चुक जाती हैं और लोग ख़ामोशी से सफ़र करते रहते हैं। इस शालीनता का मैं बहुत क़ायल हूँ। एक बात और है।

इस दर्जे में सफ़र करने से मध्यवर्गीय लोगों के अहं को भी थोड़ा सा संरक्षण मिल जाता है। वे सदा अपने को किसी 'गावदी' से यह कहने की स्थिति में पाते हैं—'ड्योढ़ा है बाबा', और वह चुपचाप आगे बढ़ जाता है। लेकिन तीसरे दर्जे में ये सब बातें दूसरे ढंग से होती हैं। तीसरे दर्जे में सफ़र करने वाले लोग बीड़ी तक अपने बराबर वाले से इजाज़त ले कर नहीं पीते। लेकिन जीजी को तीसरे दर्जे में सफ़र करना ही अधिक पसंद है; दूसरे दर्जे में चलने को फ़िज़ूलख़र्ची मानती हैं।

गाड़ी चलने को तैयार है और चलने से पहले का पूरा कर्मकांड दिखलायी पड़ने लगा है। 'सिगनल' ने अपनी आँखों की सुर्ख़ी को हरे रंग में बदल डाला। 'गार्ड' और इंजन चलने की ख़ुशी में पुर्र..पुर्र सीटियों पर सीटियाँ बजा रहे हैं। जीजी ज़नाने डिब्बे में ही चढ़ जाती हैं और मुझे भी अंदर आने के लिए कहती हैं।

'ज़नाने डिब्बे में . . . ?' मैं सोचने लगता हूँ। जीजी का कहना है कि अगले स्टेशन पर दूसरा डिब्बा बदल लूँ।

लेकिन मैं अनिश्चय की स्थिति में ही झुँझला कर कह देता हूँ—'बड़ी ज़िल्लत उठानी पड़ रही है।' इस वाक्य से जीजी और नाराज़ हो जाती हैं। कहती हैं, 'मेरे साथ चलने में तो तुम्हें हमेशा ही ज़िल्लत महसूस होती है। तुम जा कर दूसरे दर्जे में बैठ जाओ। अगले स्टेशन पर आ कर अपना खाना ले जाना।' और खिड़की से हट कर दूसरी तरफ़ अपनी जगह पर जा बैठती हैं। मैं फिर सोचता हूँ। जानता हूँ कि दौड़ कर जाने पर भी अगले मर्दाने तीसरे दर्जे को नहीं पकड़ पाऊँगा। दूसरे दर्जे में जाना, जब कि जीजी तीसरे दर्जे में हैं, उचित नहीं लगता। गाड़ी ने अंतिम सीटी दे दी। मैं ज़नाने डिब्बे का ही दरवाज़ा ढकेल कर अंदर चला जाता हूँ। सामने ही बैठी हुई एक महिला शोर मचाती है, 'ज़नाना है, ज़नाना . . . !' फिर कई महिलाएँ शोर मचाने लगीं। वे सब गलियारे की दीवार के दूसरी ओर इकट्ठा हो गयी हैं। क्षण भर को मुझे अपनी स्थिति भेड़ों के बीच पकड़े गये भेड़िये जैसी लगने लगती है।

मैं धीरे से कहता हूँ, 'मैं जानता हूँ . . . लेकिन गाड़ी चल दी थी।' गलियारे की दूसरी तरफ़ गुरसलों की सी चक-चक अभी भी मची हुई है। एक महिला मुझे सुना कर कहती है, 'ज़ंजीर खींच दो अभी पता चल जायगा। साल भर की जेल काटनी पड़ेगी बच्चू को ! पता नहीं कहाँ से उचक्का आ मरा।'

जीजी आगे बढ़ जाती हैं और उनमें से एक-दो महिलाओं को पढ़ी-लिखी समझ कर समझाती हैं, 'यह मेरा भाई है...गाड़ी चल देने के कारण इस डिब्बे में चढ़ गया . . . अगले स्टेशन पर उतर जायगा।' लेकिन वे औरतें उन्हें भी नहीं बख़्शतीं। बड़े भोंड़ेपन से कहती हैं, 'भाई-बहन बन कर तो सभी आते हैं...अगर किसी का सामान चला गया तो ? . . . तू तो अपने भाई के साथ लंबी बनेगी।' मुझे फिर जीजी पर बड़ी ज़ोर से गुस्सा आ जाता है और चिल्ला कर कहता हूँ, 'आप चुपचाप क्यों नहीं बैठतीं...खींचने तो दीजिए ज़ंजीर।' मेरे इस तरह कहने में एक प्रकार की धमकी है और मेरी यह चाल काम कर गयी। उसके जवाब में ही दूसरी तरफ़ से एक आवाज़ सुनायी पड़ती है, 'अरे आप लोग तो ऐसा डर रही हैं कि जाने क्या होने जा रहा है...ये बेचारे तो अकेले हैं... अगले स्टेशन पर उतर जायेंगे।' यह आवाज़ किसी तिलिस्मी लेप की तरह काम करती है और

वहाँ खड़ी सब महिलाएँ एक-एक कर न जाने कहाँ ग़ायब हो जाती हैं। कुछ देर बाद सुनायी पड़ता है वही महिला और महिलाओं से धीरे-धीरे कह रही है, 'चुपचाप चली चलो. . .अगले स्टेशन पर धीरे से टी० टी० से कह कर पकड़वा देंगे। जाने कैसा आदमी हो।' मैं देखता हूँ जीजी इतना खिसिया गयी हैं कि थोड़ा सा छेड़ देने पर रो देंगी। लेकिन हम दोनों एक दूसरे से नहीं बोलते।

गाड़ी की खटाखट और क्लिच कर के लाइन बदल देना, ये सब आवाज़ें मेरे अंदर की ख़ामोशी को और गहरा किये दे रही हैं। बाहर का अंधकार निपट गूँगे की तरह मौन है। कभी-कभी सूखी घास को जलाने के लिए लगायी गयी गोलाकार आग दिखलायी पड़ जाती है। पर वह इतने बड़े जंगल की ख़ामोशी को लील जाने का बालसुलभ प्रयत्न मात्र सा लगता है। और फिर सहसा मुझे लगने लगता है कि मैं किसी अपराध में पकड़ लिया जाने वाला हूँ।

धीरे-धीरे मेरी चर्चा यानी ज़नाने डिब्बे में पुरुष के घुस आने की घटना विस्मृत सी होती जा रही है। महिलाएँ सामान्य हो कर बैठ गयी हैं; अपने सहयात्रियों तथा संबंधियों से और-और बातें करने लगी हैं। जीजी मुझे फिर इशारे से बुलाती हैं। उनके सामने वाली एक 'सीट' ख़ाली है। लेकिन महिलाओं के उस जमाव में जा कर बैठना मुझे अपने प्रति तिरस्कार की भावना जगाना सा लगता है। और वसे भी वहाँ पर मेरी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे कहानी का अश्लील अंश। मैं स्त्रियों की प्रकृति के बारे में सोचने लगता हूँ। शायद महिला-समूह के बीच किसी अनजान आदमी का चले जाना ही उनके लिए खुली यौन-क्रिया की तरह होता है।

दीवार के दूसरी ओर से कुछ बातें सुनायी पड़ रही हैं। बात करने वाली शायद कोई नव-बधू है जो रस ले-ले कर अपने पति की ही बातें किये जा रही है। शायद उसके पति बहुत सुशील और स्नेही हैं। पहली भेंट में ही पतिदेव ने उसे बताया था कि लगभग दो सौ लड़कियाँ नापसंद करने के बाद वह पसंद आयी है। जितनी 'चाहना' उसके पति को उसकी है उतनी शायद किसी की भी नहीं रही। मेरा मन उस 'दो सौ एकवीं' को देखने के लिए उतावला हो जाता है। लेकिन गलियारे की उस दीवार के दूसरी ओर झाँकना 'करफ़्यू' में घर से बाहर निकलने से कम ख़तरनाक नहीं। मैं चुपचाप अपनी जगह पर ही खड़ा रहता हूँ।

'दो सौ एकवीं' अपनी शादी से पहले की कुछ घटनाएँ भी सुना रही है। पक्का रंग होने के बावज़ूद लड़के उसे कितना पसंद करते थे। कहते थे कितनी. . .अपील है. . .आँखों से ही पकड़ लेती है. . ! लेकिन कभी उसने किसी को प्रोत्साहित नहीं किया। अगर किया भी तो बस ज़रा तफ़रीह के लिए। बाद में उसने अपनी इस बात की पुष्टि पति के इस वाक्यांश से की—'इतना नमक किसी और में नहीं देखा।' यह बता कर वह ही. . .ही. . .हँसने लगती है। मैं सोचने लगता हूँ कि महिलाएँ अनजान आदमी की उपस्थिति मात्र को ऐसी फ़ोश बातों से अधिक अश्लील समझती हैं।

जीजी मुझे खाने के लिए बुलाती हैं। न चाहते हुए भी मुझे उनके पास जाना पड़ता है। लेकिन मुझे गलियारे से निकल कर उन तक पहुँचना ठीक वैसा ही लगता है जैसे पुलिस के सामने समर्पण करने जा रहा हूँ। इधर-उधर नज़र घुमा कर नहीं देखता। उस तरफ़ भी नहीं, जहाँ 'दो सौ एकवीं' शहरज़ादी की तरह अपने किसी हमसफ़र को अपने रोमांटिक अनुभवों की अलिफ़-

खेला सुना रही है। किसी तरफ़ भी नजर घुमा कर देखना दूसरे लोगों को बेपर्दा करने की तरह लगता है। मैं जीजी के सामने जा कर खड़ा हो जाता हूँ—बाक़ी चारों तरफ़ मेरी पीठ है। मैं जीजी से कहता हूँ, 'लाइए, मैं वहीं खड़े हो कर खा लूँगा।' लेकिन जीजी सामने वाली 'सीट' पर बैठने के लिए कहती हैं। बड़े जोर से गुस्सा आ जाता है, 'यहाँ कैसे बैठ सकता हूँ। इतनी महिलाएँ लेटी-बैठी हैं; सब मिल कर मुझे खिड़की से बाहर नहीं ढकेल देंगी ?' यह बात धीरे से कहता हूँ। जीजी तुनक जाती हैं और मुझसे पूछती हैं, 'इन सब के घरों में मर्द नहीं ?'

मैं उन्हें समझाना चाहता हूँ कि सवाल घरों में मर्द होने या न होने का नहीं है। मर्दाने डिब्बे में तो ये सब ही औरतें जाने-अनजाने मर्दों के सामने खाती, लेटती, बैठती हैं। लेकिन मेरा जनाने डिब्बे में दाखिल हो जाना तो अनाधिकार चेष्टा मात्र है। अधिकारों में हिस्सेदारी भला कौन पसंद करेगा। लेकिन मैं ये सब बातें जीजी को नहीं समझा पाता और सोचने लगता हूँ कि यदि मेरी जगह कोई और पुरुष डिब्बे में घुस आता तो जीजी सबसे पहले उसका विरोध करतीं। एक बार कुछ पुरुषों के ज़नाने डिब्बे में घुस आने पर उन्होंने तब तक गाड़ी नहीं चलने दी थी जब तक पूरा डिब्बा पुरुषों से ख़ाली नहीं हो गया था। और उस रोज़ स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा कर के उन्हें प्रसन्नता हुई थी।

अचानक पीछे से एक आवाज़ सुनायी पड़ती है, 'हाय कैसा कलयुग आ गया! ज़नाने डिब्बों में भी आदमी सफ़र करने लगे। क्या पर्दा रह गया! मुस्टंडे दूसरों की बहू-बेटी तकते फिरते हैं।' उस बात की मुझ पर क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए समझ नहीं पाता। लेकिन जीजी बड़े ज़ोर से चिल्ला कर कहती हैं, 'आपको शर्म नहीं आती गाली देते हुए। आप इतनी बड़ी उम्र की हो कर भी ऐसी बातें करती हैं...!'

'अगर इसे साथ ले कर बैठना था तो फस्स किलास में बैठी होतीं।'—जीजी उस बुढ़िया की बात का जवाब देना चाहती हैं लेकिन मैं उन्हें चुपा देता हूँ कि बेकार उसे क्यों मुँह लगाती हैं। और फिर सोचने लगता हूँ, अगर मर्दाने डिब्बे में जीजी से किसी ने यह बात कही होती तो शायद मार-पिटायी की नौबत आ जाती। लेकिन यहाँ तो मैं पहुँचे हुए राजनीतिक की तरह ठंढा बना हुआ हूँ।

खाना ले कर जब मैं अपनी जगह आने लगता हूँ तब एक महिला अंग्रेज़ी में वहीं बैठ कर खाने का आग्रह करती हैं। मैं उनकी ओर ग़ौर से देखता हूँ। सभ्य, सुसंस्कृत, सुरुचिपूर्ण और आकर्षक हैं। लेकिन वहाँ खड़े रहना मुझे किसी ख़तरे से कम नहीं लग रहा। मैं आभारपूर्वक उनसे क्षमा माँगता हूँ। लेकिन उनका अनुरोध मेरे प्रतिवाद से कहीं भारी पड़ जाता है। मैं उनकी 'सीट' पर ही एक ओर बैठ जाता हूँ और गर्दन नीची किये ही खाना शुरू कर देता हूँ। जब जीजी उनसे पूछती हैं—'आप भी खाइए' तब मुझे अपनी ग़लती का ध्यान हो आता है और बड़ा लज्जित-सा उनसे क्षमा माँगता हूँ। वे मुस्करा भर देती हैं। जीजी दुबारा उनसे पूछती हैं। मैं देखता हूँ उनका मना करना सभ्यतापूर्वक 'हाँ' करने की कोटि में आता है। जीजी के खाना बढ़ा देने पर उन्हें एतराज़ नहीं होता। आँखों में हल्का सा आभार भर कर खाना शुरू कर देती हैं। जीजी, मैं और वह महिला—तीनों चुपचाप खाते रहते हैं। खा कर जब मैं उठने लगता हूँ तब वे

महिला बैठे रहने का अनुरोध करती हैं। मेरे चेहरे पर संकोच उभरता देख कर समझाने लगती हैं—'आप बैठे ही तो हैं...किसी को कुछ कह तो नहीं रहे। किसी का सिरफिरा है जो आपसे लड़ने आयगा!' मैंने उत्तर देना चाहा कि जब मैं इस डिब्बे में घुसा था तब ही मैंने किसको क्या कहा था; लेकिन बिना कुछ कहे पुनः बैठ जाता हूँ। उन महिला को मुझसे बातें करते देख कर दूसरी 'सीट' पर लेटी एक वृद्धा मुँह बिचका कर दूसरी तरफ़ गर्दन घुमा लेती है।

वे महिला मुझसे बात करती रहती हैं, पर मेरा मन इस बेगानेपन से उभर नहीं पाता। इस बीच मेरी नज़र कई तरफ़ घूमती रहती है मात्र यह देखने के लिए कि किसकी नज़र में मेरे लिए क्या भाव है। जो मेरा ख़याल था कि पूरे डिब्बे की महिलाएँ मेरी तरफ़ घृणा से देखे चली जा रही होंगी, स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। लगभग सब कम उम्र की महिलाएँ सो रही हैं या मुर्गों और बटेरों की तरह गप्प लड़ा रही हैं। बीच-बीच में जब कभी उन बूढ़ियों की नज़र मेरी नज़र से मिल जाती है तब उनके चेहरों पर विरोधी भावों की भीड़ जमा हो जाती है और उसे व्यक्त करने के लिए वे पिच से थूक देती हैं। मैं दूसरी तरफ़ देखने लगता हूँ। और कभी-कभी सामने बैठी हुई तीन-चार लड़कियाँ मेरी तरफ़ देख कर इस तरह मुस्कराने लगती हैं जैसे कॉलेज की बहुत सी लड़कियों के बीच कोई लड़का फँस गया हो।

वे महिला बराबर मुझसे कुछ न कुछ बातें किये जा रही हैं—'मैं तो ज़नाने डिब्बे अलग करने के पक्ष में ही नहीं हूँ...खतरनाक तो है ही, भेदभाव भी है। औरतें भी तो मर्दाने डिब्बे में मरने जाती हैं।' मैं धीरे से कहता हूँ, 'वे डिब्बे मर्दाने नहीं 'जनरल' (सामान्य) होते हैं। मेरी बात पर वे महिला बहुत ज़ोर से हँस देती हैं। मेरी नज़र जीजी पर चली जाती है। वे सो रही हैं। और फिर मैं जीजी की तरफ़ देखता हुआ गाड़ी की रफ़्तार महसूस करने लगता हूँ। गाड़ी असंपृक्त सी दौड़ी चली जा रही है।

'दो सौ एकवीं' शायद अब सो गयी। उधर की तरफ़ से किसी तरह की कोई आवाज़ नहीं आ रही। वे महिला मुझसे कहती हैं, 'पैरों पर कंबल डाल लीजिए...सर्दी है।' मैं मना करता हूँ लेकिन वे कंबल के कोने को इस तरह झटकती हैं कि कंबल का वह कोना मेरे घुटनों पर आ गिरता है। मैं उसे नहीं हटाता।

लेकिन कमान की तरह झुकी एक बूढ़ी महिला—शायद कोई बंगालिन—शौचालय की तरफ़ जाने का प्रयत्न कर रही है। शरीर पर केवल एक वस्त्र है। उसके अंग-प्रत्यंग को देखने से लगता है कि समय ने उसे अपने चरणों से खूब मथा है। यहाँ तक उसके सूखे हुए स्तन भी, जो कभी स्वस्थ थे, गिद्ध की गर्दनी-खाल की तरह लंबे लटक गये हैं। जाने की कोशिश करते-करते वह एक महिला पर गिर पड़ती है। हालाँकि वह महिला भी उसी के पथ की तरफ़ तेज़ी से बढ़ रही है लेकिन वह उसके अंग-अंग के संबंध में अपनी शंकाएँ व्यक्त करने से बाज़ नहीं आती—'आँखें फूट गयीं? पाँव टूट गये?' वृद्धा अपने भाव को उसके सामने दोनों हाथ जोड़ कर व्यक्त करती है। लेकिन उस औरत की ज़बान बेलगाम चलती रहती है। वृद्धा उठने का प्रयत्न करने लगती है पर बिना सहारे के उठ पाना उसके लिए असंभव सा मालूम पड़ रहा है। अतः मैं सहारा दिये बिना नहीं रह पाता। मैं देखता हूँ, हालाँकि उसकी आँखों से एक-एक कर सब रंग चले गये, फिर भी

वह आँखों में एक हल्का सा आश्चर्य भर कर मेरी ओर देखती है। मैं उसे शौचालय तक ले जाने का प्रयत्न करता हूँ। पीछे कोई कह रहा है—'देखा, बेशर्मों की तरह बैठा-बैठा ताक-झाँक कर रहा है।' लेकिन इस बात का कहीं कोई प्रतिवाद नहीं। मैं अंदाज़ लेता हूँ सब लोग उसकी इस बात से सहमत हैं। वृद्धा को फिर उसकी जगह ला कर बैठा देता हूँ। वह मेरे सामने भी उसी तरह हाथ जोड़ती है जैसे उस महिला के सामने जोड़े थी।

लौट कर गलियारे की तरफ़ जाने लगता हूँ क्योंकि लगभग आधा-पौन घंटे में अगला स्टेशन आने वाला है। तब मुझे यह डिब्बा बदल ही देना होगा। लेकिन वे महिला मुझे फिर अपने पास बैठा लेती हैं और आँखों में प्रशंसात्मक भाव भर कर देखती हैं। उनके बराबर में बैठते ही हँसने की आवाज़ सुनायी पड़ती है। मुझे लगता है इस हँसी का संबंध मुझसे ही है। मैं इधर-उधर न देख कर ज़मीन ताकता रहता हूँ।

जीजी करवट बदलती हुई मुझसे पूछती हैं—'क्या बज गया ?'

'दस !' मैं कहता हूँ।

अगला स्टेशन आने में अभी भी आधा घंटा बाक़ी है। उस आधे घंटे की कल्पना एक युग के बराबर लगती है। रह-रह कर मेरे कानों में कई हँसी की घंटियाँ टुनटुनाने लगती हैं, जो गुट बना कर किसी मजबूर खिसियाहट के उपलक्ष में बज रही हैं।

उन महिला का कंबल मेरे घुटनों पर फिर आ गया। अपने विद्यार्थीकाल की बात सुनाती-सुनाती वे मेरे नज़दीक खिसक आयीं। हम दोनों के शरीर के बीच एक सटाव स्थिर हो जाता है। उन महिला का हाथ मेरे घुटने और बायीं जाँघ से रह-रह कर टकरा रहा है। मैं नीचे की तरफ़ सरक जाता हूँ। सामने ही मेरी बहन बैठी-बैठी सो रही हैं। शाल से उनके हाथ-पाँव ढके हुए हैं। उधर चारों ओर बेगाने लोग हैं, जिनकी आँखों में मैं बहुत देर से खटक रहा हूँ। कंबल के नीचे एक घुटना मेरी जाँघ में गड़ने लगता है, और लगातार गड़ता रहता है। मन होता है ज़ंजीर खींच कर इसी समय डिब्बा बदल लिया जाय। लेकिन अगले स्टेशन तक जाना ही उचित है। बहाना कर के मैं शौचालय की ओर झपटता हूँ, लेकिन वह घुटना मुझे अपनी जाँघ पर ज़ोर देता हुआ महसूस होता रहता है।

'दो सौ एकवीं' का ध्यान आता है, जिसके साथ शादी करने से पहले उसके पति ने दो सौ लड़कियाँ नापसंद कर दी थीं। शादी से पहले की भी उसके जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें वह अब भी तफ़रीहन मानती है।

गाड़ी की तेज़ रफ़्तार के बावजूद, लगता है, अचानक गाड़ी खड़ी हो गयी और उन सब औरतों ने मिल कर मुझे डिब्बे से नीचे ढकेल दिया।

—१३ महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद।

९

अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

करुण रस क्या सुखात्मक और अलौकिक है?

भवभूति ने जब कहा था—करुण रस ही वस्तुतः एक रस है, और अन्य सब रस उसके विवर्त मात्र हैं :

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

तब शायद ही उस कवि ने यह अनुभव किया था कि वह साहित्य-शास्त्र में एक नवीन शास्त्र को जन्म दे रहा है। संयोग-वियोग के परिणाम से भिन्न सर्वथा स्वतंत्र करुण रस है; यह सिद्धांत, साहित्य-शास्त्रियों ने सरलता से नहीं माना। परंतु आधुनिक साहित्याचार्य इसको एक स्वतंत्र रस ही नहीं कहते, अपितु मानते हैं कि यह सुखात्मक और अलौकिक है। आचार्य जॉन की यही मान्यता है।

साधारण व्यक्ति शायद ही माने कि करुण रस सुखात्मक होता है। नदी से स्नान कर के निकली सीता को देख कर तमसा कहती है :

परिपांडुदुर्बलकपोलसुन्दरं
दधती विलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥

इस पर मुरला पूछती है, क्या वही सीता है? इसके शोक का तो पारावार ही नहीं है :

किसलयमिव मुग्धं बंधनाद्विप्रलूनं
हृदयकमलशोषी दारुणो दीर्घशोकः।
ग्लपयति परिपांडुक्षाममस्या शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम्॥

सीता के दुख के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है। पर रंगमंच पर इस सीता को देख कर क्या अलौकिक आनंद की भी उत्पत्ति होती है? यदि नहीं होती, तो हम बार-बार उसको देखने क्यों जाते हैं; कवि क्या दुख पर कोई आकर्षक स्वर्णिम मुलम्मा चढ़ा देता है, जिससे हम बार-बार उस दृश्य को देखना चाहते हैं? इसका अर्थ है कि कवि का कृतित्व हमें आकृष्ट करता है, करुण रस उत्पन्न करने वाली घटना या वस्तु नहीं।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। आप यमुना-स्नान करने जाते हैं। घाट पर भिखारी पंक्ति लगाये बैठे हैं। उनकी दयनीय दशा आपको दयार्द्र कर देती है, आप यथाशक्ति उनको कुछ देते भी हैं। परंतु क्या इस दृश्य को देखने से आपको कुछ सुख प्राप्त हुआ? परंतु यदि यह दृश्य रंगमंच पर आकर्षक रूप में दिखाया जाय, अभिनय यथार्थ हो और सुंदर हो, तो आपको आनंद का अनुभव हो सकता है और वह यदि वस्तुतः सुंदर हुआ, तो आप उसको फिर देखने जाना पसंद करेंगे। इसका अर्थ है कि कृत्रिम रूप में उत्पन्न किया गया करुण रस ही सुखात्मक हो सकता है, यथार्थ नहीं।

भूकंप से ध्वस्त, उजड़ा एक शहर सिनेमा में आपको दिखाया जाता है। आपका हृदय वहाँ मलवे के नीचे पड़े चीत्कार कर रहे लोगों के प्रति सहानुभूति से भर जाता है। हिरोशिमा और नागासाकी पर बम गिरने से गृहहीन हुए भटकते बच्चों को देख कर हृदय में करुणा अवश्य उत्पन्न होती है, उनके प्रति दया भी उत्पन्न होती है और यदि कोई उनको दुत्कारता है, सहायता देने के व्याज से उनको ठगता है, उनके साथ प्रवंचना का व्यवहार करता है, तो रोष उत्पन्न होता है और मन भी क्षुब्ध होता है। परंतु इसको क्या सुखात्मक कहा जा सकता है?

एक और उदाहरण लीजिए। पति-पत्नी दोनों बहरे हैं। रात के समय उनका बच्चा बिस्तरे से गिर जाता है। बच्चा चिल्लाता है, पर दोनों में से कोई नहीं उठता। कड़ी सर्दी के कारण ठिठुर कर बच्चा मर जाता है। माता-पिता पछताते हैं और रोते हैं। यह दृश्य क्या दर्शकों को सुख देता है? यह उनको दुखी भी नहीं करता। अन्यथा फ़िल्म-महोत्सव पर इसको देखने वालों की सदा भीड़ नहीं होती। यहाँ जो आनंद और सुखात्मक वृत्ति का उदय है, वह उस घटना के कारण वस्तुतः नहीं है, प्रत्युत उसको चित्रित करने के प्रकार और ढंग के कारण है। ठीक है, रूसो सदृश व्यक्ति ने भी तो कहा है—**दूसरों का दुख देख कर मनुष्यों को आनंद होता है।** अतः दुखांत नाटक आनंद उत्पन्न करेगा। यह मानव की आसुरी वृत्ति का सूचक है। दुखांत दृश्य से उत्पन्न होने वाला आनंद ब्रह्मानंदसहोदर है, अलौकिक है, यह सर्वथा अमान्य भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि कम से कम संस्कृत कविता का उद्गम करुण रस से हुआ है। व्याध द्वारा क्रौंच पक्षी के मारे जाने से ही आदि कवि के मुख से शोकोद्गार कविता के रूप में स्फुट हुआ :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है, यदि क्रौंच मिथुन न होता, अकेला होता, और वह मारा जाता

तो क्या आदि कवि का रोष जागता; उनके हृदय में करुण रस का उद्रेक होता? क्रौंच 'मिथुन' है और उनमें से एक मारा गया है। इस कारण आदि कवि क्षुब्ध हुए। शिकारी रोज़ ही पक्षियों को मारते हैं। पर किसी कवि ने उसके बाद पक्षियों के मारे जाने पर दुख प्रकट नहीं किया। इसका अर्थ है कि करुण रस उत्पन्न करने के लिए परिस्थिति विशेष चाहिए।

कल्पना कीजिए, विवाह-वेदी पर वर-वधू बैठे हैं। पुरोहित मंत्र पढ़ रहा है, और उन दोनों के दुपट्टों की गाँठ बाँधने के लिए उठा है। इसी समय पुलिस आती है, लड़के को पकड़ कर ले जाती है, उस पर किसी लड़की को मारने का आरोप है, या दफ्तर का रुपया ग़बन करने का अभियोग है। दुखी सब होंगे। पर बराती और घराती क्या एक ही प्रकार के दुख से दुखी होंगे। इसी प्रकार कन्या और उसकी माँ भी क्या एक ही दुख से दुखी होंगे? यहाँ एक मिश्रित रस है। इसका सफल चित्रण करने वाले कवि या अभिनय करने वाले नट-नटी दर्शकों के हृदय में जो करुण रस उत्पन्न करेंगे, वह क्या अलौकिक और ब्रह्मानंदसहोदर न होगा? यदि वह न हो, तो क्या उसको देखने के लिए दुबारा जाने का कोई विचार भी करेगा?

राम वन जा रहे हैं। अयोध्या के नागरिक रोते हैं। सीता को जंगल में पैदल चलते देख कर रामचंद्र की आँखों से आँसू ढरक पड़ते हैं। यह पढ़ने वालों की आँखों में भी आँसू आ जाते हैं। यह दृश्य देखने वालों की आँखें भी अश्रुसिक्त हो जाती हैं। परंतु पाठक, वाचक और दर्शक का इससे कोई हानि-लाभ नहीं होता। यदि इससे उसके हानि-लाभ का वैयक्तिक संबंध होता, तो शायद ही वह इस दृश्य को देखना या पढ़ना पसंद करता।

हम उस कविता को भी बार-बार पढ़ते हैं, जिसको पढ़ने से हमारी आँखें सजल हो जाती हैं, और उस दृश्य को भी देखते हैं, जिसको देख कर हमारा हृदय 'करुणा-विगलित' होता जाता है। कवि हमारी अनुभूति को जगाता है, हमारी अनुभूति के साथ उसकी अनुभूति का जब साम्य और समन्वय होता है, तभी हम काव्य और दृश्य का आनंद पाते हैं। इस स्थिति में साहित्य-शास्त्री कहते हैं।

१. करुण रस का अनुभव सुख-दुखात्मक होता है।

२. व्यवहार का दुख और साहित्यिक दुख एक नहीं है; इनका अनुभव भी एक नहीं होता। यह अंतर तीव्रता या प्रमाण का होता है, परंतु स्वरूप व प्रकृति में अंतर नहीं है।

३. अनेक घटकों के कारण (जैसे जिज्ञासा, परदुखशीलता, वर्णन-कौशल आदि) दुख के अनुभव में तीव्रता कम हो जाती है, पर दुख तो रहता ही है।

४. अनेक घटकों और तत्वों के रहने से वह एक सा नहीं होता।

५. इस कारण वह वैसा ही अलौकिक भी नहीं होता।

साहित्यिक दुख और व्यावहारिक दुख में स्वरूप का नहीं, प्रकृति का नहीं, अपितु प्रमाण का अंतर है। यह मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि तथ्य और काल्पनिक आख्यान में भी कोई अंतर नहीं। एक धनी महिला के घर में चोर घुस कर उसका छोटा बच्चा उठा ले जाते हैं, और उसको तीन मील दूर ले जा कर मार देते हैं। इस घटना का सब वार्ताकार एक ही ढंग से वर्णन न करेंगे। इसका काल्पनिक वर्णन भी सब एक समान रीति से न करेंगे। इस फ़र्क़ का कारण विशिष्ट

की प्रतिमा का अंतर है। प्रतिभा की निर्माण-क्षमता जितनी व्यापक होगी और विश्वात्मक होगी, वह उतनी ही अधिक हृदय को प्रभावित करेगी।

परंतु एक दुखांत घटना से सब दुखी हों, यह क्या मानने की बात है? निःशस्त्र आचार्य द्रोण का शिर धृष्टद्युम्न ने काट लिया। शिर काटने पर वह नाचा। पांडव-दल हर्षित हुआ। पर अश्वत्थामा और कौरव-पक्ष दुखी हुआ। अश्वत्थामा और कृप के समान कर्ण और दुर्योधन भी दुखी नहीं हुए। इसका अर्थ है कि सुख-दुख की अनुभूति वैयक्तिक रागात्मक संबंध पर भी निर्भर है। दुःशासन को मार कर भीमसेन ने उसका हृदय चीर कर रक्तपान किया, द्रौपदी के केश बाँधे। भीमसेन की प्रतिज्ञा पूरी हुई, द्रौपदी के अपमान का प्रतिशोध हुआ, पांडवों का एक प्रबल शत्रु मारा गया, अतः ये सब प्रसन्न हुए। पर कौरव-दल का क्या हुआ? यहाँ पाठक और दर्शक की रागात्मिका वृत्ति यदि एकपक्षीय हुई, तो वह भी उसके अनुसार सुख, दुख का अनुभव करेगा। यहाँ परदुख-कातरता का गुण भी शायद ही प्रकट हो। क्योंकि दुःशासन के कार्यों ने मन में जो धारणा पैदा की है, उसके कारण उसके प्रति दर्शक तथा पाठक के हृदय में सहानुभूति का उद्रेक होना ही संभव नहीं। इसलिए दुख से सुख की उत्पत्ति होती है, यह सत्य क्या माना जा सकता है? असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। लकड़ी में आग विद्यमान है, अतः आग पैदा होती है।

कल्पना और तथ्य में प्रमाण का नहीं, प्रकृति का अंतर है। साहित्य केवल अनुकरण नहीं और न वह केवल प्रतिबिंब मात्र है। वह विश्वात्मक मानव-अनुभूति है। सुंदरता जहाँ होगी, उसको देख कर, सुन कर आनंद होगा, यह मानने में शायद किसी को आपत्ति न होगी। काव्य तथा नाटक में कवि या नाटककार अपने कौशल से, अपनी प्रतिभा और कला से (प्रमाणबद्धता, संवादिता, समप्रमाणता, व्यवस्था, विरोध, वैधर्म्य, औचित्य, सूचकता आदि) एक सौंदर्यपूर्ण सृष्टि का निर्माण करता है। यदि इसमें वह सफल होता है, तो भवभूति जैसा कवि पृथ्वी-माता की गोद में बैठ कर अदृश्य हो रही सीता को दिखा कर भी दर्शकों की वाहवाही लूट लेता है, और पाठक उस पर बलि-बलि जाते हैं और कहते हैं कि कवि-लेखनी चूमने की इच्छा होती है। परंतु यदि वह असफल हो, तो उसको कोई देखना भी न चाहेगा; सुनना भी न चाहेगा। इसलिए दुख नहीं, दुख का सुंदर कलापूर्ण वर्णन आनंद उत्पन्न करता है।

सौंदर्य का अनुभव करने की क्षमता का विकास प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति और रुचि पर निर्भर है। सौंदर्य के अनुभव का आधार आत्मानुभव ही है। सूर्य की किरण सर्वत्र समान रूप से पड़ती है। पर जल में पड़ने पर इंद्रधनुष उत्पन्न होता है; पत्थर पर पड़ने से नहीं। इसलिए सबका सौंदर्यानुभव भी एक सा नहीं हो सकता। देश-काल की बाधा भी इसमें बाधक नहीं होती। महाकवि गेटे को शकुंतला में पृथ्वी और स्वर्ग का सम्मिलन दिखायी दिया। 'जुलियस सीज़र', 'हेमलेट' और 'वार एंड पीस' एवं 'मेयर ऑफ़ केस्टरब्रिज' सदृश नाटकों और उपन्यासों को पढ़ कर हिंदीभाषी वैसा ही आनंद पाते हैं, जैसा वे 'रंगभूमि' और 'गोदान' पढ़ कर पाते हैं। देश, काल और भाषा इसमें बाधक नहीं। अतः यह मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि आत्मानुभव ही सौंदर्य-बोध का कारण है। परंतु कवि की 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिमा' की शक्ति ही अपूर्व

वस्तु का निर्माण करती है। प्रतिभा के दो गुण मुख्य हैं, चिंतन और निर्माण-क्षमता। मूलतः संवेदनात्मक अनुभव के आधार पर ही कवि का चिंतन निर्भर है। परंतु अनुभव निराकार है। कवि इस अनुभव को एक विशिष्ट शैली या रीति से प्रकट करता है। अनेक लोग इस रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं—**रीतिरात्मा काव्यस्य।** लेखक अपनी कल्पना, अनुभव, चिंतन, संस्कार-क्षमता के बल पर सौंदर्य की सृष्टि करता है। सौंदर्य वस्तुगत होता है। परंतु उसको परखने की कसौटी वैयक्तिक होती है। वैयक्तिक आनंद की अवस्था ही वह कसौटी है, जिससे साहित्य का सौंदर्य परखा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई व्यक्ति दुखग्रस्त है, आनंदशून्य है, तो वह काव्य-सौंदर्य के अनुभव से भी शून्य रहेगा। अतः सौंदर्य के वस्तुगत होने पर भी उसको परखने की कसौटी वैयक्तिक ही रहती है।

परंतु यह सर्वांश में सत्य नहीं है यह अर्द्ध सत्य है। क्योंकि सौंदर्य सदा आत्म-परक और व्यक्तिगत होता है। वस्तुतः सौंदर्य वस्तु में नहीं है, उससे साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति की भावना में है, उसके चैतन्यपूर्ण ज्ञान में है। मूर्तिकार संगमर्मर के पत्थर में एक भव्य व उदात्त मूर्ति का निर्माण करता है। क्या यह मानना ठीक होगा कि शिल्पी ने पत्थर में निहित मूर्ति को ही आविष्कृत किया है? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि कलाकार यदि उत्तुंग हिमालय को चित्रित करता है, तो वह श्मशान में खड़े हरिश्चंद्र का भी चित्रण करता है, जो पुत्र को जलाने को उद्यत शैव्या से आधा कफ़न माँगता है। इसी प्रकार, कवि की लेखनी यदि राम को अमर बनाती है, तो वह रावण को भी बनाती है। वह यदि पतिव्रता का चित्रण कर के उसको साहित्यिक जगत में अमर कर देता है, तो वह एक व्यभिचारिणी को भी अमर कर देता है। 'चरित्रहीन' के चित्रों को देखिए। 'रंगभूमि' में सूरदास के साथ उसकी मूर्ति को रात में तोड़ने वाला ज़मींदार भी तो उसके साथ अमर हो गया। सिगरेट का कारखाना बनाने वाला भी उसकी बेटी सोफ़िया के समान साहित्यिक जगत में अमर हो गया है। लेखक की कल्पना को भूल कर ही यह सिद्धांत मान्य किया जा सकता है कि सौंदर्य वस्तुगत होता है।

पंच ज्ञानेंद्रियों द्वारा ही व्यक्ति ज्ञान और अनुभव प्राप्त करता है। यह आत्मानुभव ही ज्ञान का आधार है। इसके बाद विज्ञान और ललित साहित्य, इन दो शाखाओं में ज्ञान विभक्त होता है। पहला बुद्धि-प्रधान है, तो दूसरा कल्पना-प्रधान। वैज्ञानिक की दुनिया में हृदय का स्थान शायद नहीं है। प्रयोगशाला में उसका संवेदनात्मक अनुभव भी कोई विशेष महत्व नहीं रखता।

परंतु साहित्य के क्षेत्र में आत्मानुभव ही काव्य और साहित्य का मूल आधार है। लेखक और कवि का यह आत्मानुभव रूपांतर होता है, व्यापक बनता है, और विश्वात्मक होता है। विश्वात्मक होने पर भी कवि का मूल आत्मानुभव उसमें विद्यमान रहता है। डॉ० नार्लीकर की गुरुत्वाकर्षण संबंधी खोज के बारे में क्या यही बात कही जा सकती है? अतः यह मानना होगा कि सौंदर्य वस्तुगत नहीं है, अपितु आत्मपरक है। आत्मानुभव सुखात्मक और दुखात्मक दोनों हो सकता है। यह परिस्थितियों पर निर्भर है। घर से लड़ कर गया व्यक्ति सिनेमा हॉल में मित्रों के बीच बैठ कर भी प्रसन्न नहीं होता, और जब सारा सिनेमा हॉल दर्शकों की हँसी से भर जाता है,

तब भी वह ग़मगीन ही बना रहता है। चित्रपट की ओर देख कर भी नहीं देखता। उसकी आँखें खुली होने पर भी कुछ देखती नहीं। इसलिए कहा गया है: **हृदय के पट खोल।**

अतः कोई विशेष रस सुखात्मक और दुखात्मक नहीं। संयोग भी वियोग में परिणत हो सकता है। अज-इंदुमती को ही ले लीजिए। माला गिरने से इंदुमती मर गयी। स्वयंवर में प्राप्त बाहुबल से अर्जित सुंदरी, चाँदनी रात में माला गिरने से मर गयी। स्वर्ग के देवता सबको जीवन देते हैं। परंतु उन्होंने इंदुमती को मृत्यु ी। अज का विलाप क्या आनंद की सृष्टि कर सकता है? परंतु वह बार-बार पढ़ा जाता है। यदि उसको पढ़ने से आनंद की प्राप्ति नहीं होती, एक सत्य का ज्ञान न होगा :

मरणं हि प्रकृति शरीरिणां
जीवनं हि मृत्युरुच्यते बुधैः।

तो क्या उसको लोग बार-बार पढ़ते? इसलिए किसी चीज़ को बार-बार पढ़ने और देखने के कारण यह मानना कि उससे आनंद प्राप्त होता है, ठीक नहीं। ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी पढ़ा जाता है और देखा जाता है। निःसंदेह ज्ञान आनंददायक है। गीता में कहा है :

न हि ज्ञानेन सदृशमिह पवित्रं विद्यते।

परंतु इस विश्व में दुख है, यह ज्ञान क्या कभी उल्लास को उत्पन्न कर सकता है?

—इतिहास सदन,
एम–११८, कनाट सर्कस,
नयी दिल्ली–१।

प्रेम कपूर

डायरी

बंबई : हादसे और अनुभव

१५/३/...

मस्जित स्टेशन से निकल बाहर सड़क पर आया। खोन्चे वालों की ख़ासी भीड़ रहती है। बिना बदन टकराये निकलना दूभर। दूकानदार, अढ़तिये शाम होते-होते ही दूकान, गद्दी बढ़ा चल पड़ते हैं इसलिए धक्का-मुक्की और बढ़ जाती है। एक ओर मजमा-सा लगा था। झाँक कर देखा—आदमी की ठठरी थी। सफ़ेद कफ़न पर सिक्के, ढेर सारे सिक्के! एक पुलिस वाला काली वर्दी में, मोटा सोंटा बग़ल से टिकाये खैनी बना रहा था। आने-जाने वाले कुछ पूछते, ठिठकते, फिर जेब से पैसे निकाल कर फेंकते और चले जाते। आध घंटे वहाँ खड़ा लोगों को देखता रहा। पुलिस वाला कहता जा रहा था—इसका कोई नहीं। दिक था। मर गया।

और पैसे। और पैसे। जेब में जाते हुए हाथ। बाहर आती अँगुलियाँ। दस और पाँच के सिक्के...चेहरे के भाव। राम, राम! च...च...करती ज़बान...गाड़ी पकड़ने की जल्दी...।

मरने वाला मर कर भी पैसे बटोर रहा था—काश, उसे ये ज़िंदगी में मिलते तब... मैं अपने से कट कर बहुत दूर चला गया था—न जाने कहाँ-कहाँ! उस भीड़ में कितना अकेला खड़ा था मैं। खन से पैसे ज़मीन पर गिरते थे और मैं चौंक जाता था। सफ़ेद कफ़न पर बिखरे आधुनिक पैसे...।

लोग विश्वास नहीं करते पर कहा जाता है कि सन १९४० से' ४५ के बीच १,७५०,००० आदमी चेकोस्लोवाकिया के 'डेथ कैंप' में 'गैस चेंबर' में मारे गये थे। मौत जो किसी समाज के लिए क़ानून के रूप में छा जाती है...वे सारे आदमी, औरतें, बच्चे जो केवल इसलिए गैस की कोठरियों में उतार दिये जाते थे कि उन्हें जीवित रखना विद्रोह को आमंत्रित करना है... उनके लिए खाने की व्यवस्था नहीं है...आदि...लेकिन!

आंद्रे मुंक ने अपनी अधूरी फ़िल्म में उन 'डेथ कैंपों' का सजीव चित्र पेश किया है और मैं 'रेमनार्ड लेबोरेटरी' में फ़िल्म के बाद कितनी देर तक उस अधूरी फ़िल्म को ..वह छोटी सी लड़की जो सीढ़ियाँ उतर कर 'चेंबर' में जा रही है, जाते-जाते पास खड़े नाज़ी सिपाही के झबरे कुत्ते के सिर पर प्यार से हाथ फेरने लगती है और फिर दो पल बाद...। ताहम ज़िंदगी-मौत की बात आते ही उस लड़की का भोला चेहरा मुझे सालता रहेगा।

उस लावारिस ठठरी के पास खड़ा मैं अपने उन सारे नज़दीकी और दूर-दराज़ लोगों को मरे हुए देख रहा था जिनकी याद जाने कहाँ गुम हो गयी थी और वे सब फिर से मरते हुये से दिखायी पड़ रहे थे।

●

२०/३/....

मैं दिल का बहुत ही कमज़ोर हूँ। कभी भी ताल ठोंक कर किसी बात को कहने की हिम्मत नहीं है मुझमें इसलिए चुप हर बात स्वीकार करनी पड़ती है। समझ में नहीं आता लोग जो खुद दुख उठा चुके हैं दूसरों को क्यों दुख देते हैं। क्या वे दुख की घड़ी को नहीं समझते? मेरा कुम्हलाया चेहरा देखकर एक व्यक्ति सामने से आता है और कहता है—दुख को अपनाना सीखो, इस तरह से उदास क्यों हो! मैंने उससे तो नहीं कहा था कि मैं दुखी हूँ। बात और आगे चलती है। वह बहुत कुछ कहता है पर मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ता। उसकी एक बात अच्छी लगी है: मिला हुआ सुख अपने लिए नहीं, दुखियों की धरोहर है। दुख का उपभोग करो। दुख का भोगी दूसरों को सुख देता है। जिस पर दुख का प्रभाव हो जाता है वह किसी को दुख नहीं देता। वह तो पर-पीड़ा से द्रवित ही होता है!

और जब भी मैं देर से घर लौटता हूँ तब मेरे मन में एक ही प्रश्न होता है—हम अपने कृत्य के साथ कितने पीछे जड़ तक ईमानदारी से जा पाते हैं? हम अपने दोष की स्वीकृति के लिए कितनी दूर तक जा सकते हैं, जहाँ से ग़लती ग़लती के रूप में आयी है? कितना कठिन होता है अपने विगत को पूरी तरह नग्न रूप में स्वीकार कर लेना! व्यक्ति अपने वचन से मुक्त नहीं। और वचन का जन्म कहने के पूर्व कहाँ से होता है? वहाँ से जहाँ से वह समाज के सामने आ जाता है। नहीं, उससे बहुत पहले—और उस समय से उसे न स्वीकार पाना ही असत्य है। अपने से धोखे के लिए कितने बड़े-बड़े क़िले आदमी रचता है और दुहाई देता है नियम की, अनुशासन की, चलन की। यह जानते हुए कि मैं असफल रहूँगा, मैं उसे सहज नहीं मान पाता, इसलिए मैं उसे बार-बार सोचता हूँ...। काश, मैं अपने कृत्य की सही प्रकृति को जान कर स्वीकार कर पाता!

●

२९/३/...

नये उपन्यास को खत्म किये आज छह महीने हो रहे हैं, लेकिन मैं,अभी तक उससे मुक्ति नहीं पा सका हूँ। जितना उससे पिंड छुड़ाने की कोशिश करता हूँ, उलझन बढ़ती जाती है। एक आध बार तो ऐसा लगता है जैसे कंबल मुझसे लपट गया हो और मैं अपना दोष कंबल के सिर मढ़ कर मुक्ति पाना चाहता हूँ। पर नहीं, बात कुछ और है। लोग हर चीज़ अपने नज़रिये से देखने के आदी होते जा रहे हैं और उनका अपना नज़रिया भी कैसा है! उस दिन...जी कह रहे थे—कुछ किताबें भेज दूँ; आलोचना करोगे? और मैंने समय का अभाव बता पिंड

छुड़ा लिया था। जानता हूँ सही बात कहने का जैसे ज़माना ही खत्म हो गया है। यह बात... जी ने भी मान ली थी। हर कोई दब कर, डर कर, मुँह देखी बातें करता है। सब के मन में यह शंका घर कर गयी है—कल को वह कहीं ऐसी जगह पहुँच गया तब? इसलिए फ़ायदा क्या है साफ़ कहने में। साफ़गोई से लोग कुछ चुनें, अपने को माँजें तब न हो। पर ऐसा होता नहीं है।

उनकी बात सुन कर मैंने...जी से कहा—तब क्यों मुझे ही हलाल करने के लिए तैयार हैं। वे भी हँस पड़े थे।

बोले, बात बड़ी साफ़ है। लोगों ने एक ओर जहाँ अपनी आलोचना की तोप दूसरों पर लगा रखी है वहीं उन्होंने मौन को भी स्वीकार किया है—पीठ पीछे ही ये तोपें चलती हैं और खूब मज़े से चलती हैं।

पहले किसी पर ज़्यादती होती थी तो लोग अपना रोना ले कर पहुँच जाते थे—आपस के चार बड़े उसके दुखड़े को सुन कर कहते थे मैं बताता हूँ उसको।

लेकिन अब?

अब दुखड़ा सुनने वाले बड़े पीठ पीछे गाली देते हैं और कोई जा कर ज़्यादती करने वाले की आँख में अँगुली डाल कर दिखाने की हिम्मत नहीं रखता। उल्टे कभी-कभी ज़्यादती सहने वाले का क़िस्सा इस तरह रखते हैं जैसे ज़्यादती करने वाले के प्रति अहसान कर रहे हों।

...मेरी बात सुनकर...जी ने ठंढी साँस छोड़ी और उठ कर चले गये।

× × ×

आज घर लौट कर एक और बात सुनने को मिली।

पत्नी ने खाना नहीं बनाया है। वह उदास बैठी है। बड़ी कठिनाई से उसने बताया... 'सुनिये! कहाँ आ गये हम लोग। दोपहर को बाज़ार गयी थी। ढाई-तीन का समय होगा। रास्ते में देखा, एक आदमी अकेला सड़क पर चल रहा है। उसके दोनों हाथ फैले हैं। सफ़ेद कपड़े में लिपटा सात-आठ वर्ष का बच्चा है। भरी हुई सड़क पर वह अकेला चला जा रहा था; एकदम अकेला। क्या उसके आगे-पीछे कोई नहीं था; मिलने-जुलने वाले कोई नहीं?'

उसकी भीगी आँखें मेरे सिर में आर-पार गड़ गयी थीं। मैंने 'टेबिल फ़ैन' बंद कर दिया था। पसीने में डूबा बैठा था।

सच, हम कहाँ आ गये?

●

३/४/...

और आवाज़।

कभी-कभी किसी व्यक्ति को देख कर मन नहीं होता कि इससे बात की जाय। अजीब लगता है बात करना। पिछले दिनों ऐसा ही एक व्यक्ति मिला। इस शहर में हर काम भाग-दौड़ में होता है। न जाने कहाँ की जल्दी पीछे लगी रहती है। वह आया और मैंने अपनी मेज़

ने सिर उठा कर फिर आँखें नीची कर लीं। वह आदमी दो मिनट बात कर चला गया। मुझे याद है, मैंने हाँ, हूँ कर उसे टाल दिया। वह कोई ऐसी अहम बात नहीं कह रहा था।

फिर आज एकाएक उसकी ज़रूरत पड़ी और मैंने उसे टेलीफ़ोन किया। उधर से उसने प्रत्युत्तर दिया। लगा कोई दूसरा बोल रहा है। मैंने उसका नाम ले कर पूछा। उसने बताया यही बोल रहा है। मैंने उसकी आवाज़ की तारीफ़ की जिसमें अजीब सी गमक और गहरापन था। जो लोग बनावटी ढंग से बोलते हैं वे कितने भद्दे लगते हैं! वह मेरी बातों को सुन कर हँस पड़ा।

मैंने उसे बताया कि अच्छी आवाज़ सुनने को मैं किस क़दर तरसा करता हूँ। बमुश्किल कभी-कभी मनपसंद आवाज़ सुनायी पड़ती है। मैंने उससे इसरार किया—क्या वह थोड़ी देर तक और बोलता रहेगा।

आवाज़ के संबंध में ऐसी ही एक घटना और आज याद आ गयी है। उन दिनों मैं डायरी नहीं लिखा करता था। मैं बस से कहीं जा रहा था। आदत है, अगर पास में कोई दोस्त हो तो उससे बराबर बोलता रहता हूँ और यह ध्यान नहीं रह जाता कि मैं बस में या किसी सार्वजनिक जगह पर हूँ।

पड़ोस में कोई मियाँ जी चल रहे हैं—यह ध्यान उस समय आया जब वे हम लोगों को चुप देख कर बोले, 'आप मेरठ की तरफ़ के हैं?' मैंने बताया, 'जी हाँ, मेरा दोस्त वहीं से आया है।'

उन्होंने कहा, 'आप कहाँ उतरेंगे?'

हम लोगों ने अपने उतरने की जगह का नाम बताया तो वे मायूस हो गये और बोले, 'थोड़ी दूर और चलिए न मेरे साथ। आप से बात करने की तबीयत है। फिर उन्होंने लंबी दास्तान सुनायी जो संक्षेप में इस तरह थी: मियाँ जी अपने लड़के के पास आये हैं। वह किसी कंपनी में मिस्त्री है। लड़का सुबह से ही चला जाता है। पास-पड़ोस वाले जिस ढंग की बात करते हैं वह मियाँ जी के पल्ले नहीं पड़ती। पिछले सात दिन से वे खोज रहे हैं कोई सही ढंग से बोलने वाला मिले।

ग़रज यह कि वे क़हक़हे लगाते हुए लतीफ़े सुनते-सुनाते रहे और हम लोग उन्हें उनके ठिकाने तक पहुँचा कर लौटे तो देर हो गयी थी। पत्नी को फिर से खाना गर्म करना पड़ा था और वह नाखुश थी।

ख़ैर, क्या कीजिएगा; आवाज़ की मुहब्बत ऐसी ही होती है। जिसने बड़े ग़ुलाम अली ख़ाँ के गले को सुना-परखा है उसको मेरी बात में मज़ा आयेगा।

●

२४/४/...

और जहाँ तरकारी-बाज़ार है उसके एक कोने में मछली मिलती है। मछली के नुक्कड़

के पास ही एक बड़ी सी आलमारी है जिसमें दरवे बने हैं। इनमें मुर्गे बंद रहते हैं। न जाने क्यों कौतूहलवश मैं वहाँ जा कर खड़ा हो गया।

ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ था।

एक आदमी ने मोल-भाव करके पाँच रुपये का मुर्गा खरीदा। बेचने वाले ने काठ के पटरे पर मुर्गे के पंखों को दबा कर चाकू उठाया और उसे उसी काठ पर रगड़ कर मुर्गे की गर्दन रेतने लगा। दो मिनट बाद उसने गर्दन एक ओर डाल दी थी और मुर्गे का धड़ फड़फड़ा रहा था। फिर जल्दी ही उसने पर नोचने शुरू कर दिये थे। जितनी देर में उसने गर्दन रेती थी क्या वह उससे जल्दी उसे जिबह नहीं कर सकता था? अभी कुछ देर पहले जो पंख फड़फड़ा रहा था वही इस क़दर असहाय पड़ा था।

कितनी ही बार उसी मुर्गे के धड़ की तरह अपने को असहाय पाता हूँ। जब मैं अपनी बात दूसरों तक नहीं पहुँचा पाता, कैसी तड़पन होती है उस समय। कितना बेबस और लाचार होता हूँ। मैं कुछ कहना चाहता हूँ—जो कुछ कहना चाहता हूँ उसे कितना बख़ूबी अनुभव करता हूँ पर...! जब उसे पेश करता हूँ तब नाकामयाबी हाथ लगती है; सुनने वाले मुझे क्यों नहीं समझ पाते? ऐसे क्षणों में मुझे उस ईसा की याद आती है जो अपने चेलों को सलीब ढोने से पहले कितना समझाता रहा लेकिन अपनी बात उनके गले में उतार न सका। वह जो सच का बेटा था, जो दूसरों का दुख ढोने के लिए इस धरती पर आया था अपने चेलों के, जिन्होंने उसके साथ मरने-जीने का वायदा किया था, गले में सच नहीं उतार सका था।

अपनी बात दूसरों तक पहुँचा पाने में हताश ईसा ने क्या सोचा होगा—मैं इस बात का स्पष्ट अनुभव कर सिहर उठता हूँ। वह जो अंत में एकाकी रह गया और जिसने अपना सलीब खुद ढोया, क्या निराश न हो उठा होगा? क्या उसके लिए दुनिया मृत्यु से पहले न खत्म हो गयी होगी? कितना परायापन उसे सता गया होगा। नहीं जानता क्या हुआ होगा पर जो खुद पर बीतती है वही कह सकता हूँ और कह न पाने की असमर्थता और व्यथा मन को कभी-कभी बहुत सालती है।

इस व्यथा का अंत! मैं मुर्गे की दूकान के आगे खड़ा अपनी गर्दन पर बेधार छूरियों का असर भोगता रहा। काश, मैं दुख के भोग से मुक्त हो दुख के प्रभाव से परिचित हो पाऊँ! कब, यह नहीं मालूम।

—२२६।३, जवाहर नगर,
गोरेगाँव बम्बई-६२।

जगदीश गुप्त

'रस-सिद्धांत'

विवेचना

'रस-सिद्धांत' अथवा 'सिद्ध रस' का अंत

डॉ० नगेंद्र का रस-सिद्धांत विषयक ग्रंथ। नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। सन १९६४। मूल्य : २०.००।

हिंदी के क्षेत्र में गत कई दशकों में काव्यशास्त्र को विविध प्रकार से परिवृद्ध और समृद्ध करने में जिन लोगों ने एकनिष्ठ शोध-वृत्ति के साथ संलग्न और जागरूक रह कर कार्य किया, उनमें डॉ० नगेंद्र का नाम मूर्धन्य माना जाता है। इस दिशा में उन्होंने अकेले जितना महत्वपूर्ण योगदान दिया है उतना किसी अन्य व्यक्ति से संभव नहीं हो सका है। धीरे-धीरे उनके चारों ओर एक ऐसा काव्यशास्त्रीय वातावरण निर्मित हो गया जिससे बहुतों को उनके प्रत्यक्ष संपर्क में आये बिना भी पर्याप्त प्रेरणा मिली और आधुनिक भारतीय साहित्य-चिंतन में एक निश्चित विचारधारा को शक्ति प्राप्त हुई। उन्हें 'रस-रक्षा-रत' कहा गया क्योंकि अपने पूरे सामर्थ्य के साथ उन्होंने प्राचीन रस-सिद्धांत को और भी अधिक व्यापक बना कर पुन:प्रतिष्ठित करने का दृढ़ संकल्प किया जिसकी चरम परिणति है प्रस्तुत 'रस-सिद्धांत' ग्रंथ। वैसे तो वह एक प्रकार से उनकी 'रीति-काव्य की भूमिका' का ही परिवर्धित और परिष्कृत रूप है परंतु इसमें दृष्टि और उद्देश्य का विस्तार तथा विषय-निरूपण में प्रौढ़ता अधिक लक्षित होती है।

जहाँ तक मेरा प्रश्न है मुझे इसको पढ़ कर लगा कि उनकी यह कृति ज्ञान-वृद्धि तो कर सकती है पर विवेक-वृद्धि इससे संभव नहीं है। भारतीय दृष्टि सात्विक ज्ञान उसे मानती है जिससे विभक्त में अविभक्त की प्रतीति उत्पन्न हो परंतु विभक्त करना विवेक का कार्य है, ज्ञान का नहीं और अविभक्त क्या है यह ज्ञान इस पर निर्भर करता है कि हम उसे कितना और कैसे विभक्त कर सकते हैं। इसीलिए ज्ञान से विवेक को ऊपर माना जाता है। भ्रामक ज्ञान का निराकरण सूक्ष्म विवेक के ही द्वारा संभव होता है।

'रस-सिद्धांत' को लेखक ने अपनी 'साहित्य-साधना का उत्तमांश' और उसकी 'अंतिम

परिणति' कहा है जो ठीक ही है। इसकी रचना उसने अत्यंत गंभीर उद्देश्य से की है, इसमें संदेह नहीं। उस उद्देश्य के पीछे तेहरी आकांक्षा निहित है—

१. आज तक के रस संबंधी समस्त चिंतन को अत्यंत परिश्रम और मनोयोग पूर्वक एकत्र कर के उसे एक ज्ञान-कोश का रूप देने की। २. भारत की संपूर्ण काव्यशास्त्रीय परंपरा को आत्मसात करते हुए अखिल भारतीय स्तर पर रसविषयक अध्ययन के क्षेत्र में मराठी-बंगला आदि के समक्ष हिंदी के गौरव को प्रतिष्ठित करने की। और अंत में ३. अत्यंत साहस के साथ भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों को समीकृत करते हुए, देश-कालनिरपेक्ष यानी सार्वभौमिक और सार्वकालिक साहित्यालोचन-सिद्धांत के प्रतिष्ठापन की। कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक की पहली दो आकांक्षाएँ बहुत अंशों में पूरी हुई हैं पर तीसरी, शायद नहीं। मेरी दृष्टि में आगे भी उसकी संभावना नहीं है।

ग्रंथ की योजना जिस रूप में हुई है उसमें काफ़ी दोहराव मिलता है। वेद से ले कर 'नयी कविता' तक की एक यात्रा रस के इतिवृत्त के सिलसिले में पूरी की गयी; फिर उसके बाद रस-रसांग की चर्चा करते हुए सैद्धांतिक समस्याओं का विश्लेषण-विवेचन करने में समन्वय का मार्ग अपना कर एक बार और वहीं पहुंचा दिया गया है। पहले अध्याय में उद्धरणों का क्रम ऋग्वेद से चल कर जगदीश गुप्त तक पहुँचा है और अंत में संपूर्ण ग्रंथ के उद्धरणों का सम भी उन्हीं पर टूटा है। ऐसे में यदि मैं यह मान कर चलूँ कि यह ग्रंथ 'नयी कविता' को रस-सिद्धांत मनवाने के उद्देश्य से लिखा गया है तो इसे प्रमाद न माना जाय। यद्यपि लेखक ने रस-सिद्धांत को सभी साहित्यिक विधाओं पर लागू करने की बात कही है पर कविता के प्रति उसका विशेष पक्षपात है और 'नयी कविता' के लिए तो उसका स्पष्ट संदेश है—**वास्तव में नयी कविता का भी कल्याण इसी में है कि वह इन रसमय बंधनों को स्वीकार कर ले और इसमें उसे इतिहास से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।** (पृ० ३४९)

यह संदेश है कि उपदेश है कि आदेश, यह जानना मेरे लिए संभव नहीं हो सका। अतः मैं उस इतिहास की परीक्षा करना चाहूँगा जिसे लेखक ने 'इतिवृत्त' कह कर प्रारंभ में ही प्रस्तुत किया है। हो सकता है कि हमारी इतिहास-दृष्टियों में ही अंतर हो या ग़लत ढंग से तथ्यों को सामने रख कर इतिहास को यों रचा गया हो कि वह रस-स्निग्ध हो जाय।

कहने के लिए यद्यपि लेखक ने रस-सिद्धांत को शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त नैतिकता से परिबद्ध तथा अनुभूति के मंत्र-बल से संयुक्त किया है पर उसकी मनोवृत्ति यही रही है कि येन केन प्रकारेण यह सिद्ध कर दिया जाय कि रस के भीतर यानी उसकी सीमा में ही सब कुछ आ जाता है; साथ ही वह असीम भी है अर्थात स्वयं उसकी सीमा मानना भी और दूसरे को न मानने देना भी—दोनों एक साथ। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इतिहास को यदि लेखक ने विशेष दृष्टि से देखा है तो पहले यह समझना होगा कि वह विशेषता क्या है और उसकी वस्तुगत सत्ता है अथवा वह केवल सहृदय के **'हृदय का वैशद्य'** ही है।

'रस-सिद्धांत' में आदि से अंत तक एक ही मूल समस्या है और वह यह कि किस विधि

से विशिष्ट प्रकार की अनुभूति——रसानुभूति——को साहित्य से उपलब्ध होने वाली प्रत्येक प्रकार की अनुभूति—सौंदर्यानुभूति—से एकीकृत कर दिया जाय। 'आदर्श' वस्तु को किस प्रकार 'साधारण' से मिला दिया जाय। रस के अवयवों का साधारणीकरण तो प्राचीन काव्यशास्त्रों में बहुधा वर्णित है पर इस ग्रंथ में अनगिन नयी परिभाषाएँ दे कर रस की धारणा का ही साधारणीकरण कर दिया गया है। अब इतने पर भी यदि किसी को रस-निष्पत्ति न हो तो इसमें लेखक का क्या दोष!

इतिवृत्त की कुछ मान्यताएँ

रस-संप्रदाय का इतिवृत्त बताते हुए अनेक स्रोतों से गृहीत प्रचुर सामग्री व्यवस्थित रीति से प्रस्तुत की गयी है किंतु पहले ही अध्याय 'भारतीय सौंदर्य-कल्पना' के अंतर्गत ऐसी दो मुख्य स्थापनाएँ की गयी हैं जिनका औचित्य संदिग्ध कहा जा सकता है। ये हैं—(i) ऐहिक दृष्टि के कारण 'कामसूत्र' अथर्ववेद की लौकिक एवं अभिचारपरक परंपरा में आता है।[1] (ii) वात्स्यायन का 'कामसूत्र' भरत के नाट्यशास्त्र से पहले की रचना है।[2]

इन दोनों महत्वपूर्ण स्थापनाओं को प्रमाणित करने के लिए किसी नवोपलब्ध विश्वसनीय शोध-सामग्री या अधुनातन अभिमत का निर्देश नहीं किया गया है जब कि संस्कृत साहित्य के अध्येताओं की दृष्टि में ऐसे अनेक मत और प्रमाण रहे हैं जिनसे इनका विरोध है। डॉ० नगेन्द्र का आधार मात्र इतना ही है कि भरत ने चारों वेदों को पाँचवें नाट्य-वेद का मूल बताते हुए अथर्ववेद से रस का तत्व ग्रहण करने की बात कही है——**रसनाथर्वणादपि**। इसकी संपुष्टि उन्होंने कीथ द्वारा उद्धृत वैबर के मत से की है जिसके अनुसार स्तोत्र ऋग्वेद से और ऐहिक श्रृंगार-मुक्तक अथर्ववेद से अनुप्रेरित हैं।

नगेंद्र जी का यह कथन कि कामसूत्र में 'रस' शब्द का प्रयोग नाट्य-शास्त्र से मिलते-जुलते अर्थ में हुआ है, समुचित नहीं लगता। 'रस' शब्द का अर्थ-विकास निरूपित करते हुए उन्होंने जो तीन उद्धरण दिये हैं उनमें से पहले दो में प्रयुक्त 'रस' शब्द स्पष्टतः काम और कामोद्वेग के

---

१. यदि इस तर्कना-पद्धति में बल है तो रसशास्त्र का संबंध कामसूत्र के माध्यम से अथर्ववेद के साथ सहज ही स्थापित हो जाता है : अथर्ववेद के श्रृंगारपरक अभिचार मंत्र→कामसूत्र→रसशास्त्र।——रस-सिद्धांत पृ० १२।

२. (i) ...भरत के नाट्य-सूत्रों से बहुत पहले——कामसूत्र के प्रभाव के फलस्वरूप अनुमानतः चौथी-पाँचवीं शती ईसा पूर्व से ले कर दूसरी-तीसरी शती ईसा पूर्व तक हुआ होगा। —वही पृ० ९।

(ii) यह युग सूत्र-काल कहलाता है और इसका विस्तार ५–६ शती ई० पू० से ५–६ शती ईस्वी तक माना जाता है। इस कालावधि में ही सूत्र-शैली का पूर्ण प्रसार हुआ। कामसूत्र की रचना इसके पूर्वार्ध में और भरतसूत्र की कदाचित उत्तरार्ध में हुई। —वही, पृ० ८।

अर्थ में आया है, जो भरत के अर्थ से इसलिए तत्वतः भिन्न है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र में रस को रति और काम तो क्या, केवल श्रृंगार तक भी सीमित नहीं माना है जब कि काम-सूत्र उसे मात्र 'सुरत-पर्याय' के रूप में प्रयुक्त करता है। शेष तीसरे उद्धरण में जो 'लीला' शब्द आया है उसका पाठ-भेद अनेक संस्करणों में 'शीला' मिलता है जिसकी ओर विद्वान लेखक ने ध्यान नहीं दिया। इस संबंध में निर्णयसागर प्रेस तथा चौखंभा से प्रकाशित 'कामसूत्र' एवं उनके साथ संयुक्त 'जयमंगला' टीकाएँ द्रष्टव्य हैं। ऐसी स्थिति में 'लीलानुवर्तन' 'शीलानुवर्तन' हो कर अन्य अर्थ देने लगता है जो पूर्व-प्रयुक्त 'भाव' को रसावयव के रूप में ग्रहण करने की अनिवार्यता उत्पन्न नहीं करता, चाहे जयमंगलाकार यशोधर ने ही उसे वैसा क्यों न समझ लिया हो, यद्यपि वैसा है नहीं।

कामसूत्र को नाट्य-शास्त्र से पूर्व मान कर परंपरा के ज्ञात संबंध-सूत्रों तथा ग्रंथों की बहुमान्य पूर्वापर स्थिति की बिना पर्याप्त कारण दिये, अवहेलना की गयी है। स्वयं वात्स्यायन ने कामशास्त्र की जो सुदीर्घ परंपरा निर्दिष्ट की है उसमें अथर्ववेद का कोई उल्लेख नहीं है और न उसे ऐहिकतापरक मुक्तकों की कोटि में रखा जा सकता है जिसके लिए वैबर का मत उल्लिखित किया गया।

डॉ० नगेंद्र की पहली स्थापना इसलिए संदिग्ध लगती है कि अन्यत्र स्वयं भरत ने नाट्य और श्रृंगार का उद्भव यक्ष-राक्षस और गंधर्वों की परंपरा से बताया है। नाट्यशास्त्र में श्रृंगार का उद्भव गांधर्व काव्य के निषेवण से माना गया है (ना० शा० १।६२); यह पर्वतीय सभ्यता अथर्ववेद की पश्चिमी 'भार्गवांगिरस' सभ्यता से भिन्न है और कामाचार तथा मदनोत्सव आदि लोकरंजक बातों का संबंध अथर्ववेद की अपेक्षा यक्ष-गंधर्व सभ्यता से जोड़ना अधिक संगत दिखायी देता है। कामसूत्र में 'यक्ष रात्रि' का उल्लेख मिलता ही है। (१,४,२७)।

वेलंकर और सुकथंकर आदि ने अथर्वण-परंपरा का सम्यक विश्लेषण कर के उसकी निजी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है जिसकी सापेक्षता में डॉ० नगेंद्र की धारणा पर पुनर्विचार आवश्यक प्रतीत होता है। फिर ऐसा भी नहीं है कि 'रस' शब्द केवल अथर्ववेद में मिलता हो। ग्रंथ-लेखक ने स्वयं ऋग्वेद के अनेक उद्धरण दे कर भरत की मात्र अथर्ववेद से रस ग्रहण करने की उक्ति का एक प्रकार से प्रत्याख्यान कर दिया है, भले ही उसने दोनों में किंचित अर्थ-विकास प्रदर्शित किया हो। समग्र रूप से वैदिक दृष्टि लोक-विमुख नहीं रही अन्यथा भरत चारों वेदों से नाट्यशास्त्र का संबंध न जोड़ कर केवल अथर्ववेद से ही जोड़ते। मेरे विचार से यह पहली स्थापना शक्तिशाली आधार पर खड़ी नहीं है। किसी एक स्रोत तक नाट्यशास्त्र की लौकिकता और रस-दृष्टि को सीमित कर देना उचित नहीं है। मुझे उसमें अनेक स्रोतों का मिश्रण दिखायी देता है।

दूसरी स्थापना की असंगति की ओर कुछ संकेत ऊपर किया जा चुका है, यहाँ उसकी कुछ और परीक्षा की जा सकती है। कामसूत्र को नाट्यशास्त्र से पहले मानने का विचार कहाँ से प्राप्त हुआ और कैसे इतना पुष्ट होता गया, इस बात की खोज करने में मुझे कुछ श्रम और कुछ दिशांतर भी करना पड़ा, परंतु शीघ्र ही बात मेरी पकड़ में आ गयी। यद्यपि लेखक ने इस प्रसंग में स्वयं किसी पूर्व मत का निर्देश नहीं किया है तथापि उसकी इस धारणा को तीन व्यक्तियों के

मत से उद्भूत कह सकते हैं। एक हैं अभिनवगुप्त, जिन्होंने अपनी 'अभिनवभारती' में उस वैशिकशास्त्रकारैश्च की व्याख्या करते हुए कामसूत्र का नाम लिया है। उसमें **कामसूत्रं ये कृतवंतस्तैः** लिख कर कामसूत्र के अनेक रचयिताओं का निर्देश किया गया है जो भरत के **वैशिक-शास्त्रकारैः** के बहुवचनात्मक प्रयोग के अनुरूप है। यहाँ इससे केवल वात्स्यायन के कामसूत्र का अभिप्राय ग्रहण नहीं किया जा सकता यद्यपि अभिनव ने अन्यत्र ऐसा ही किया है। मुझे आश्चर्य है कि अपने समर्थन में डॉ० नगेंद्र ने अभिनव का मत क्यों उद्धृत नहीं किया यद्यपि वैसा करते से भी समस्या का निदान नहीं होता क्योंकि परवर्ती होने के कारण अभिनवगुप्त कामसूत्र के काल-निर्णय के प्रमाण नहीं हो सकते। उनके समय में वैशिक अधिकरण से युक्त वात्स्यायन का कामसूत्र सर्वप्रसिद्ध एवं उपलब्ध था, इसीलिए उन्होंने उसका उल्लेख कर दिया।

दूसरे व्यक्ति हैं पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जिन्होंने कामपरक साहित्य और उसके आराध्य कंदर्प देवता दोनों का संबंध बराबर यक्ष-गंधर्व संस्कृति से जोड़ा है, परंतु अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' में कामसूत्र को नाट्यशास्त्र से पहले माना है।

तीसरे और सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार दासगुप्त जिनका मत ही डॉ० नगेंद्र और डॉ० द्विवेदी के पूर्वोक्त मतों का मुख्य आधार है। दासगुप्त ने कामपरक साहित्य के संबंध में व्यक्त किये गये जर्मन विद्वान श्मित के अभिमत (ई० पू० दूसरी शती) से प्रेरित हो कर कामसूत्र को संभवतः ईस्वी सन के लगभग प्रारंभिक काल में विरचित माना है।[1] डॉ० नगेंद्र की तरह इनमें से किसी ने भी उसे चौथी-पाँचवीं शती ईसा पूर्व तक नहीं खींचा है। कीथ ने तो कामसूत्र को ४०० ई० के भी बाद निर्मित बताया है।[2] तारापोरवाला वाले संस्करण में उसके संपादक एस० सी० उपाध्याय ने जो मत उद्धृत किये हैं उनके अनुसार कामसूत्र किसी भी प्रकार आभीरों एवं कुंतल शातकर्णी के उल्लेख तथा अर्थशास्त्र की परंपरा के स्पष्ट अनुसरण आदि विभिन्न कारणों से ईसा की प्रथम शती से पूर्व नहीं माना जा सकता। कीथ से ले कर सूर्यनारायण व्यास तक बहुत से संस्कृतज्ञ कामसूत्र को कालिदास से पूर्व मानने को प्रस्तुत नहीं हैं।[3] जहाँ तक दासगुप्त का संबंध है उनके मत में एक भारी विसंगति मिलती है और वह यह कि उन्होंने कालिदास को ईसा पूर्व प्रथम शती (शुंगकाल) में साग्रह प्रतिष्ठित किया है। किंतु नाट्यशास्त्र को दूसरी या तीसरी शती ईस्वी में स्थान दिया है जो स्पष्टतः आपत्तिजनक है, क्योंकि भरत को कालिदास ने

---

१. अ हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, क्लासिकल पीरियड। —खंड १, पृ०, xxxiii, ६४५।

२. कालिदास लाइक अश्वघोष निउ ऐन अर्ली कामशास्त्र एँड बी कैन नाट प्रूव दैट ही एक्चुअली यूज्ड वात्स्यायन फ़ॉर हिज डिस्क्रिप्शंस. . .फ़ोर्थ सेंचुरी ए० डी०. . .इज टू हाई ऐंड दैट ए० डी० ५०० इज अ रीजनेबुल डेट फ़ॉर दि अर्थशास्त्र मे नाट बी अर्लियर दैन सी० ए० डी० ४००, ऑर इवेन लेटर।

—हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर—ए० बी० कीथ, चैप० xxivi।

३. कामसूत्रम्, पृ० १० (काशी संस्कृत ग्रंथमाला, २९)

११

मुनि रूप में स्मरण किया है। कामसूत्र के विषय में दासगुप्त से प्रभावित हो कर भी 'कालिदास की लालित्य-योजना' में द्विवेदी जी ने भरत को कालिदास से पूर्व ही स्वीकार किया है। 'मालविकाग्निमित्र' और 'कुमारसंभव' में नाट्यशास्त्र के कई अध्यायों के श्लोकों के उद्धरण मिलते हैं, जिसके आधार पर डॉ० काणे ने नाट्यशास्त्र को कालिदास से कम से कम २०० वर्ष पूर्व रचित माना है तथा उसका रचना काल ई०पू० तृतीय या चतुर्थ शताब्दी के लगभग निर्धारित किया है।[१] यह विचित्र बात है कि डॉ० नगेंद्र ने स्वसंपादित 'भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा' में काणे का अनुसरण करते हुए नाट्यशास्त्र का संग्रह काल ई० पू० से तीसरी शती ई० पू० के बीच माना है[२] और उन्होंने ही रस-सिद्धांत तक आते-आते दासगुप्त का मत स्वीकार कर लिया तथा निस्संकोच उसे ईस्वी सन के बाद की शताब्दियों में उतार दिया। ऐसा शायद कामसूत्र को अत्यधिक महत्व देने के उद्देश्य से किया गया है।

मेरी समझ में रस-सिद्धांत की परंपरा निर्धारित करने में कामशास्त्र को इतनी महत्ता देना आवश्यक नहीं था। ऐसा करने से यही लगता है कि रस से मतलब है श्रृंगार रस और श्रृंगार रस से मतलब है नायिका-भेद। इसी तर्क से रस-सिद्धांत वहाँ पहुँच गया जहाँ रीतिकाल स्थित है। डॉ० नगेंद्र ने कामसूत्र को बिना किसी हिचक के अथर्ववेद और नाट्यशास्त्र के बीच स्थापित कर दिया; इसके पीछे मुझे एक और कारण दिखायी देता है और वह है आधुनिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष में रस और रस के अंगों की व्याख्या। मनोविज्ञान में नगेंद्र जी फ़ॉयड के विचारों से घोषित रूप से प्रभावित हैं और वही प्रभाव उन्हें वात्स्यायन की ओर ले गया। रीति-काव्य के विशेष अध्ययन के संस्कार उनके मन में थे ही। इस तरह कहा जा सकता है कि काम-दर्शन ही उनके रस-सिद्धांत का आधारभूत दर्शन है। 'साहित्य की प्रेरणा' नामक उनका निबंध इसका साक्षी है।[३]

'इतिवृत्त' में एक और असंगत बात यह भी दिखायी देती है कि अनेक अलंकार-मतावलंबियों को 'रस-विरोधी धारा' के अंतर्गत रख कर उन्हें स्पष्टतः रस का विरोध करने वाला सिद्ध किया गया है जब कि उनके ग्रंथों में और चाहे जिस चीज़ का विरोध किया गया हो, रस का विरोध कदापि नहीं किया गया है। इसके विपरीत कहीं-कहीं समर्थक वाक्य अवश्य मिल जाते हैं जिनकी संख्या परवर्ती ग्रंथों में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। डॉ० सत्यदेव चौधरी जो डॉ० नगेंद्र के सहयोगी, हैं, स्पष्ट रूप से भामह, दंडी और रुद्रट में 'रस के प्रति आस्था' प्रदर्शित करते हैं।[४] यही नहीं, 'रस-सिद्धांत' के लेखक ने स्वयं भी आगे चल कर एक दूसरे स्थल पर उनकी दृष्टि को उदासीन और 'काफ़ी स्निग्ध' कहा है (द्र० पृ० ३२३)। जो उदासीन और स्निग्ध दृष्टिकोण रखता हो वह

---

१. हिंदी साहित्य, प्रथम खंड, पृ० २८९।

२. पृ० ६१७ (परिशिष्ट)।

३. काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है...हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम-वृत्ति का प्राधान्य है...ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम-वृत्तिकी प्रमुखता असंदिग्ध ही है।—विचार और अनुभूति, पृ० १०।

४. हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य, पृ० १८५।

विरोधी कोटि में कैसे गिना जा सकता है! 'रस-सिद्धांत' के एक समीक्षक डॉ० रामचंद्र द्विवेदी ने भामह आदि के रस-विरोधी कहे जाने पर आपत्ति करते हुए लिखा है—'**मुझे ऐसा कोई काव्य याद नहीं आता जिसमें रस का विरोध किया गया हो।**'[1]

रस को ध्वनि के ऊपर प्रतिष्ठित करना एक और अतिवाद है जिसकी प्रेरणा डॉ० नगेंद्र को 'अभिनवभारती' से मिली। अभिनव ने **तेन रस एव वस्तुत आत्मा** लिख कर ऐसी धारणा व्यक्त की कि काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि का महत्व कम हो गया। इस आधार पर नगेंद्र जी ने एक नया शब्द गढ़ कर अभिनव को 'रसध्वनिवादी' की संज्ञा प्रदान की और इसी प्रवृत्ति को ध्वनि-परवर्ती काल में प्रमुख माना है (पृ० ५३)। यह संज्ञा अभिनवगुप्त को तो दी जा सकती है पर समस्त ध्वनि-परवर्ती काल को रस-ध्वनिवादी कहना उचित नहीं है, क्योंकि सबने रस को ध्वनि की आत्मा नहीं माना है। मम्मट और जगन्नाथ को 'ध्वनिरसवादी' कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि इन दोनों ने काव्य के उत्तमादि भेद रस के आधार पर न कर के ध्वनि या व्यंग्यार्थ के आधार पर ही किये हैं। डॉ० नगेंद्र रस-ध्वनि के ही अर्थ में ध्वनि-काव्य को उत्तम मानते हैं, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि के अर्थ में नहीं (पृ० ६४)। यह कहना कठिन है कि तत्वतः 'ध्वन्यालोक' के रचयिता का भी ठीक यही मत था जो डॉ० नगेंद्र का है। ध्वनिकार ने रस की सारी महत्ता बताते हुए भी अंततः प्रतीयमान ध्वन्यर्थ के लिए ही **तदिदं काव्यस्य परमिति** कहा है।[2] अभिनव के 'लोचन' से देखने पर अवश्य वह वैसा लग सकता है, परंतु उसमें व्याख्याकार की निजी दृष्टि का विशेष समावेश हो गया है, जिससे मूल स्थापना बहुत-कुछ आच्छादित हो गयी है। आज का विचारक अपेक्षाकृत अधिक अनाविल दृष्टि रख सकता है। डॉ० सत्यदेव चौधरी और डॉ० भोलाशंकर व्यास ने ध्वनिकार के मत को बिना रसवादी आग्रह के प्रस्तुत किया ही है।

रस की सबसे बड़ी सीमा यही है कि उसमें उसी को आधार मान कर तारतम्यमूलक (वर्टिकल) भेद करना संभव नहीं है। व्यंग्य गुणीभूत अवस्था में भी व्यंग्य ही रहता है, परंतु रस गौण होते ही रस नहीं रह जाता, क्योंकि वह मनोगत रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न एक स्थिति विशेष का द्योतक है। उस प्रक्रिया की अपूर्णता में या तो वह स्थायी भाव हो जाता है या मात्र भाव रह जाता है अथवा रसवत् अलंकार की कोटि में पहुँच जाता है। इस स्थिति में यह कहना कि 'स्थायी भाव' या 'भाव' तो रस ही है, प्रकारांतर से यह कहना है कि 'रस' स्वयं 'रस' नहीं है। ध्वनि-सिद्धांत रस-सिद्धांत से कम भारतीय नहीं है और उसकी व्यापकता भी रस-सिद्धांत से निश्चित रूपेण कहीं अधिक है। उसके आधार पर काव्य की व्याख्या अधिक सही, उदार और यथार्थ रीति से की जा सकती है; की गयी है। काव्य के मूल्यांकन में इसीलिए रस को एक प्रकार का आदर्श तो माना जा सकता है, परंतु उसी के आधार पर काव्य मात्र की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि वैसा करने से मुक्तक से ले कर प्रबंध तक सभी रसमय काव्य एक ही कोटि में आ जाते हैं, जब कि इनमें रचना-विधान, रसानुभूति की प्रगाढ़ता एवं निष्पत्ति की दृष्टि से पर्याप्त अंतर दिखायी

---

१. ज्ञानोदय, अगस्त, १९६५, पृ० १२३।
२. ध्वन्यालोक, ३।३७।

देता है। बहुत सा ऐसा भी काव्य है जिसके लिए रस का आधार लेना ही उपयुक्त प्रतीत नहीं होता और न यही लगता है कि वह हीन कोटि का है। डॉ० मनोहर काले ने रस-सिद्धांत की इस कमी की ओर स्पष्ट संकेत किया है।[1] मराठी के अनेक विद्वानों ने रस की मूल्यांकनपरक सीमा को लक्षित किया है। 'भावगंध' को सैद्धांतिक आधार पर प्रतिष्ठित करने वाले डॉ० देशमुख ने 'रस-स्वरूप' की संकीर्णता को सही रीति से परख लिया और आधुनिक संदर्भ में 'भाव' को 'रस' से कम दर्जे का नहीं माना है। उन्होंने रस की परिधि में सारे भाव-वैविध्य को समेटने के बजाय 'भाव' को 'रस' जैसी महत्ता प्रदान करने का उपक्रम किया है; दोनों का सैद्धांतिक कोटि-भेद समझते हुए भी।[2] डॉ० नगेंद्र ने रस को अनेकानेक आत्मोद्भूत नयी परिभाषाओं से विभूषित करते हुए ग्रंथ के अंत में यह सिद्ध करना चाहा है कि रस का मतलब साहित्यिक अनुभूति के प्रत्येक रूप से है।[3] मेरे गले यह बात उतरती नहीं है क्योंकि तात्विक दृष्टि से रस के पूर्व की स्थितियों और रसांगों को रस की संज्ञा देना किसी प्रकार संभव नहीं है। पृ० ३५६ पर पुनः यही किया गया है। रस की धारणा परिणाममूलक है, ध्वनि की प्रक्रियामूलक। इसीलिए काव्य की व्याख्या ध्वनि-सिद्धांत से अधिक सही ढंग से हो पाती है। रस को ब्रह्म जैसा विस्तार दिये बिना ध्वनि की तरह सर्वग्राही एवं व्यापक सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि दृश्यकाव्य के संदर्भ में कहा गया भरत का वाक्य **न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते** श्रव्यकाव्य पर लागू नहीं किया जा सकता।

डॉ० नगेंद्र ने रस-सिद्धांत की व्यापकता को सीमित व्यापकता कहा है यानी राग के सीमित क्षेत्र में रस सर्वव्यापक ही नहीं, सर्वग्रासी भी है। हर अनुभूति रस के भीतर आ ही जायगी या उसे आ ही जाना चाहिए, ऐसा उनका आग्रह है। यह आग्रह कवि पंत के आग्रह जैसा ही है जिसके अनुसार छायावादोत्तर काल की हर प्रवृत्ति छायावाद के ही किसी न किसी रूप की परिणति सिद्ध हो जाती है। रस-सिद्धांत का क्षेत्र तो छायावाद की अपेक्षा शताब्दियों तक ही नहीं सहस्राब्दियों तक विस्तृत है अतः उसमें और छूट मिल गयी।

जिस प्रकार अभिनव ने ध्वनि की वास्तविक आत्मा रस बतायी है उसी प्रकार क्षेमेंद्र ने सिद्ध रस की आत्मा 'औचित्य' निर्धारित की है। डॉ० नगेंद्र की तरह यदि इसके लिए रस-ध्वनि-वादी जैसा शब्द गढ़ा जाय तो बनेगा 'औचित्य-रसवादी' या 'औचित्य-रस ध्वनिवादी'। औचित्य-

---

१. कल्पना अंक सं० १६५, पृ० ७३।

२. आधुनिक हिंदी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११६, १२४।

३. (i) शब्दार्थ चमत्कार के माध्यम से भाव के आस्वाद का अथवा भाव की भूमिका पर शब्दार्थ के सौंदर्य का आस्वाद ही वस्तुतः रस है।—पृ० ३२०।

(ii) जीवन के प्रति यह सूक्ष्म अनुराग, यह मीठी सहानुभूति ही तो जीवन का रस है और इसका आस्वाद रसानुभूति ही है। —पृ० ३३६।

(iii) बिंब को जीवंत करने वाला तत्व तो मानव-चेतना का स्पर्श ही है और उसी का नाम रस है।—पृ० ३५७।

सिद्धांत ने यह प्रकट कर दिया कि रस की धारणा स्वयंसिद्ध नहीं मानी जा सकती है। रस-निष्पत्ति भी औचित्य के व्यापक आधार के भीतर ही हो सकती है। आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त आदि ने भी औचित्य को रस की सफल निष्पत्ति के लिए आवश्यक माना है।[1] आधुनिक संदर्भ में युगबोध से औचित्य शब्द को जोड़ा जा सकता है और इस प्रकार बोध-वृत्ति राग से ऊपर पहुँच जाती है। आज के युग का यही सत्य है। राग को बोध-वृत्ति के ऊपर रखना उल्टी गंगा बहाना है। पर यहाँ शायद उल्टी जमुना बहाना कहना अधिक उचित और रसमय होगा। रास में जमुना का प्रवाह उलट ही जाता था, रस में उलट जाय तो क्या आश्चर्य!

आगे चल कर 'शक्ति और सीमा' नामक अंतिम अध्याय में पुनः ध्वनि और रस-सिद्धांत के पारस्परिक संबंध एवं सापेक्षिक महत्व का व्याख्यान करते हुए इस बात को दोहराया गया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है और ध्वनि की आत्मा रस है।[2] **ध्वनि का शुद्ध रूप रस-ध्वनि ही है** वाक्य में **शुद्ध** शब्द ध्यान देने योग्य है; यह लेखक की निजी धारणा का परिचायक है। ध्वन्यालोककार ने ध्वनि के भेदों में शुद्धता और अशुद्धता का विचार समाविष्ट किया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। 'इतिवृत्त' का अंतिम अंश लेखक के दृष्टिकोण को समझने में सबसे अधिक सहायक प्रतीत होता है। इसमें उसने अखिल भारतीय स्तर पर होने वाले रसविषयक अनुसंधान का संक्षिप्त विवरण देते हुए भारतीय काव्यशास्त्र के विकास को कई चरणों और वर्गों में बाँट कर स्पष्ट रीति से उसकी महत्ता का आकलन किया है और आगे का दिशा-संकेत भी दिया है। उसके अनुसार पिछली तीन-चार दशाब्दियों के प्रबुद्ध आलोचकों के योग के फलस्वरूप **एक नये संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का उदय हो रहा है** (पृ० ७३)। इसी प्रसंग में आगे चल कर जो वाक्य आता है वह लेखक पर भी लागू होता है—**पाश्चात्य साहित्य और साहित्य-शास्त्र के अध्ययन से व्युत्पन्न गंभीरवेता भारतीय आलोचक अनिवार्यतः इसकी (रस-सिद्धांत की) ओर आकृष्ट हुआ है।**—पृ० ७४। डॉ० नगेंद्र के अनुसार जिस चरण में संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का भारत में उदय हो रहा है वही **तीसरा चरण रस-सिद्धांत का स्वर्ण युग है,** मुझे इस धारणा में आत्मप्रक्षेप और स्वप्नदर्शिता लक्षित होती है, वस्तु-सत्य नहीं।

रस-सिद्धांत के विरोध में आने वाली प्रवृत्तियों को उन्होंने लोक-कल्याणवादी मूल्यों के पक्ष लेने वालों और रागतत्व से बुद्धि-तत्व को प्राधान्य देने वालों से—यानी प्रगतिवाद और प्रयोगवाद से—संबद्ध किया है। अंत में यह कहना उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ कि **रस-सिद्धांत का यह विरोध उसके अपूर्ण ज्ञान पर आश्रित है।** अब इसे मैं उनका दुर्भाग्य ही कहूँगा जिन्हें रस-सिद्धांत पूरा पढ़ जाने के बाद भी वह पूर्ण ज्ञान उपलब्ध नहीं हुआ जिससे वे उसके पाश में प्रेमपूर्वक आ कर रस के आनंद-सिंधु में निमज्जित होने की दिव्य स्थिति प्राप्त कर सकें।

---

१. (i) **प्रसिद्धौचित्य बंधस्तु रसस्योपनिषत्परा—ध्वन्यालोक।**
(ii) **विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ता कवेरिति—अभिनवभारती।**

२. **रस-सिद्धांत, पृ० ३२१–३२२।**

इतिवृत्त के बाद तथा 'शक्ति और सीमा' से पहले

अध्याय २ से अध्याय ५ तक रस की परिभाषा, स्वरूप, निष्पत्ति-स्थान और साधारणीकरण आदि का विवेचन किया गया है, जिसका बहुत सा अंश पूर्वलिखित एवं प्रकाशित तथा सुपरिचित रहा है। कुछ बातें नयी भी जोड़ी गयी हैं। नवीन संशोधन से प्राप्त निष्कर्षों को विशेषतः संयुक्त किया गया है, परंतु लेखक की निजी दृष्टि उनके संग्रह-त्याग और प्रस्तुतीकरण में सर्वत्र प्रधान रही है। ग्रंथ के इस भाग में परंपरागत शास्त्रीय चर्चा को पर्याप्त स्थान मिला है। लेखक की व्यवस्था-बुद्धि बराबर सक्रिय रही है और उसने चेष्टा की है कि रस संबंधी प्रत्येक महत्वपूर्ण समस्या को सही परिप्रेक्ष में उसकी विशेषताएँ और न्यूनताएँ प्रदर्शित करते हुए प्रस्तुत किया जाय। पाँचवें अध्याय की सामग्री आधुनिक संदर्भ को भी ले कर चली है। विशेषतः रस-विघ्न और रसाभास के प्रसंग में लेखक ने कुछ उदाहरण भी ले कर अपनी बात स्पष्ट करनी चाही है। मैं इस भाग की कुछ ऐसी समस्याओं पर दृष्टिपात करूँगा जिनके विषय में मुझे लगता है कि और विचार होना चाहिए।

शंकुक और बौद्ध न्याय

यद्यपि 'रस-सिद्धांत' में नवान्वेषित तथ्यों को स्वीकार करने के प्रति लेखक में एक सामान्य उन्मुखता मिलती है, परंतु कहीं-कहीं उसने उनके ग्रहण में विचित्र प्रकार का संकोच और ऊहापोह दिखाया है। एक उदाहरण बहुत ही रोचक है। 'हिंदी अनुशीलन' (वर्ष १४, अंक १) में कुछ वर्ष पूर्व डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त का एक लेख मैंने छपा देखा जिसका शीर्षक था—**आचार्य शंकुक के अनुमानवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि।** मुझे यह जानने की अत्यंत उत्सुकता हुई कि क्या कोई नयी बात कही है लेखक ने शंकुक के संबंध में। लेख पढ़ कर लगा कि लेखक की यह स्थापना प्रामाणिक और साधार है कि शंकुक का अनुमानवाद जिस न्याय-दर्शन से प्रभावित है वह प्राच्य न्याय न हो कर बौद्ध न्याय है। बौद्ध दार्शनिक ने प्रत्यक्ष और अनुमान केवल यही दो प्रमाण माने हैं : **प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा**—सर्वदर्शन-संग्रह (बौद्ध दर्शन)। 'न्याय-प्रवेश' और 'न्यायद्वार' आदि ग्रंथ जो दिङ्नाग के नाम से जाने जाते हैं, इस बौद्ध न्याय की सत्ता को सिद्ध करते हैं। दिङ्नाग ने अपने 'प्रमाणसमुच्चय' में यही दो प्रमाण माने हैं : **प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।**

डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने उस लेख के बाद प्रकाशित अपने 'रसगंगाधर' विषयक शोधग्रंथ में इस समस्या को और भी विस्तार और तर्कशीलता के साथ प्रस्तुत किया। शंकुक ने जिस 'चित्र-तुरंगन्याय' से रस-निष्पत्ति की व्याख्या की है वह बौद्धों की परंपरा से संबद्ध है। निष्पत्ति को उन्होंने अनुमान इसलिए माना कि स्थायी प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता अतएव उसकी रस में परिणति अनुमान ही हो सकती है, क्योंकि तीसरी कोई स्थिति बौद्ध न्याय में मान्य नहीं थी। शंकुक का यह मत सहज ही समझ में आ जाता है और इस खोज के लिए शोधक को हार्दिक बधाई देने की इच्छा होती है, पर डॉ० नगेंद्र की इस पर क्या प्रतिक्रिया है, वह भी देख लीजिए—**किंतु यहां एक शंका उठती है और वह यह कि रस-सिद्धांत के प्रति एक बौद्ध दार्शनिक के आकृष्ट**

होने की संभावना कहाँ तक हो सकती है? वैदिक दर्शनों विशेषकर शैव दर्शन आदि के साथ रस-सिद्धांत का जैसा प्रत्यक्ष संबंध रहा है, वैसा अवैदिक दर्शनों के साथ नहीं।...यद्यपि यह शंका भी अपने आपमें कोई विपरीत प्रमाण नहीं है, फिर भी मैं समझता हूँ कि वैदिक और अवैदिक न्याय के प्रपंच में न पड़ कर शंकुक को केवल नैयायिक ही मानना अधिक प्रामाणिक होगा।[1]

स्वयं एक भी विपरीत प्रमाण न देना और यों ही प्रामाणिकता की बात कर के शंका उठाना जिस संकोच की सूचना देता है वह संकोच भी कितना उथला है, यह इस बात से पता चल जाता है जब हम कुछ ही पृष्ठों बाद अध्याय के अंत में शंकुक के आगे 'न्याय' और कोष्ठकों में 'बौद्ध' शब्द छपा हुआ पाते हैं। यह असंगति क्यों? यदि केवल नैयायिक मानना अधिक प्रामाणिक था तो बौद्ध शब्द से विपरीत निर्देश क्यों? वास्तव में बुद्धि से तो वे उसे मान चुके थे पर एकदम मान लेते तो गौरव घट जाता! करने और कहने के बीच की यह द्विधा इस बात को सिद्ध करती है कि लेखक नये शोध से शंकित भी होता रहा है। वह भूल गया कि भामह का काल-निर्णय बौद्ध पृष्ठभूमि में ही हो पाता है और एक जगह स्वयं अभिनवगुप्त ने बौद्ध 'विज्ञानवाद' का आधार लिया है। रस की व्याख्या करते हुए **अत्र च विज्ञानवादो तथा विज्ञानवादलंबनात्'** उन्हीं के द्वारा लिखा गया है। भामह से ले कर अभिनव तक बौद्ध विचारधारा तेजस्वितासंपन्न रही है और ऐसी दशा में यह शंका कोई अर्थ नहीं रखती कि रस-सिद्धांत पर शंकुक द्वारा बौद्ध न्याय की पृष्ठभूमि में विचार कैसे संभव हुआ।

महारस

अभिनवगुप्त ने स्फोट के समान 'महारस' के रूप में शांत रस की विशाल कल्पना की, इसका उल्लेख तो मुझे 'रस-सिद्धांत' में मिला, पर 'अलंकारकौस्तुभ' के रचयिता ने इस महारस के निमित्त एक विलक्षण स्थायीभाव की कल्पना की है, जिसका नाम सुन कर प्रसन्नता होती है। यह नाम है **आस्वादांकुरकंद** अर्थात आस्वाद का अंकुर उपजाने वाला कंद। इसमें वही कंद प्रयुक्त हुआ है जो **आनंदकंद** में है पर आनंद के मारे दिखायी नहीं देता। डॉ० नगेंद्र ने स्थायी भावों के प्रसंग में इसे कहाँ स्थान दिया है, मैं नहीं जान सका, क्योंकि ऐसे विशाल ग्रंथ में कोई शब्दानुक्रमणिका तक नहीं है कि अपनी त्रुटि का परीक्षण कर सकूँ।

भट्ट तौत का मत

अभिनवगुप्तपादाचार्य के गुरु भट्ट तौत के प्रसिद्ध कथन **नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः** को ले कर साधारणीकरण की व्याख्या में नायक और सहृदय के अतिरिक्त कवि को भी संमिलित करने की परंपरा चल पड़ी। अभिनवगुप्त ने भी उसका समर्थन किया और नगेंद्र जी ने तो कवि की अनुभूति का ही साधारणीकरण होता है, ऐसी अकाट्य स्थापना कर डाली।

---

१. पृ० १५९–१६०।

यहाँ भट्ट तोत के कथन में प्रयुक्त **समान** शब्द विचारणीय है। **समान** का अर्थ किसी प्रकार एक नहीं माना जा सकता। समानता तभी प्रदर्शित की जाती है जब उसके संवाहक आधार अनेक होते हैं। समानता इस बात को प्रमाणित करती है कि नायक, कवि और सहृदय का अनुभव सर्वथा एक नहीं होता, वह एक दूसरे के जैसा यानी अत्यंत निकट मिलता-जुलता हो सकता है। इससे जैसे **रसानुभूति** का पक्ष समर्थित माना जाता है वैसे ही **सह-अनुभूति** का भी माना जा सकता है। पर नगेंद्र जी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है जो अपने काव्य से '**दूसरों के हृदय में समान भाव जगा सके वही कवि है**।'[1] इसे सिद्ध करने के लिए रस-सिद्धांत अनिवार्य नहीं है, विशेषतः तब जब वे एक जगह यह भी लिख देते हैं कि **रस अपने व्यापक अर्थ में मानसिक अनुभूति ही है**।[2] इससे तो आत्मिक आनंदवाद की सारी भूमिका ही समाप्त हो जाती है। रस को बहुत व्यापक सिद्ध करने के फेर में अनेक अंतर्विरोध आ गये हैं जिनकी ओर समीक्षकों का ध्यान गया है। भगीरथ दीक्षित की 'धर्मयुग' (१९६५, ७ मार्च) में प्रकाशित समीक्षा में इसकी ओर निर्देश किया गया है। उनके अनुसार रस-सिद्धांत में एक जगह शुक्ल जी के मत को समझाते हुए कहा गया है कि भट्ट तोत का भी यही मत है और दूसरी जगह शुक्ल जी के उसी मत का खंडन किया जाता है जिससे भट्ट तोत का मत भी स्वतः खंडित हो जाता है। इस आलोचना में कुछ तो सार दिखायी ही देता है।

वस्तु का आत्यंतिक निषेध

रस का स्थान निरूपित करने के प्रसंग में डॉ० नगेंद्र ने एक और महत्वपूर्ण स्थापना की है जो उनकी उस मुख्य धारणा की ही एक परिणति है कि **संवेद्य कवि की अनुभूति ही है कथा का एक अणु भी नहीं।...इस प्रकार तत्व रूप में वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतंत्र नहीं है।** —पृ० १८९।

इसी के आधार पर उन्होंने रस की दृष्टि से ऐतिहासिक राम का कोई रामत्व नहीं माना और गुप्त जी की प्रसिद्ध पंक्तियाँ :

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

के विषय में अपनी राय दे डाली कि वे मूल में जा कर उनकी भक्ति-भावना की ही व्यंजक हैं, राम के रामत्व की नहीं।[3] मुझे पूर्वोक्त स्थापना और यह निष्कर्ष दोनों ही भ्रामक दिखायी देते हैं। इनकी संगति न तो तुलसी के कथन **भनित भदेस वस्तु भलि बरनी** से मिलती है और न वस्तुवादी आधुनिक

१. पृ० २१३।
२. पृ० ३४६।
३. पृष्ठ १९०।

प्रगतिशील दृष्टि से। यही नहीं, इससे प्राचीन भारतीय 'सिद्ध रस' की धारणा भी खंडित होती है जिसका विचार डॉ० नगेंद्र ने नहीं किया है।

'ध्वन्यालोक' में 'रामायण' आदि की काव्य-कथा में निहित रस को 'सिद्ध रस' कहा गया है :

संति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः,
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

(ध्वन्यालोक, पृ० १४८)

उक्त श्लोक में यह स्पष्ट आदेश दिया गया है कि कवि सिद्ध रस से युक्त उनके अर्थ के साथ रस-विरोधिनी अपनी इच्छा या कल्पना का योग कभी न करे। अभिनवगुप्त ने भी अपने 'लोचन' में इसे मान्यता प्रदान की है। बल्देव उपाध्याय ने इसी सिद्ध रस को रामायण में स्वीकार करते हुए लिखा है : **उसके कथानक मात्र से हमारा हृदय आनंद-विभोर हो उठता है—इसीलिए रामायण को 'सिद्ध रस' का काव्य कहा गया है।** —भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ५०४।

अब ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि नगेंद्र जी ने रस-सिद्धांत को जिस तरह से प्रस्तुत किया है, उससे इस सहज स्वीकृत, परंपरानुमोदित, शास्त्रविहित 'सिद्ध रस' की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार उनके रस-सिद्धांत का अर्थ हुआ 'सिद्ध रस' का अंत। निबंध का शीर्षक मैंने निराधार नहीं दिया है। सिद्ध रस की इस धारणा का मूल भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है। भरत ने सहृदय पर होने वाले अंतिम प्रभाव को 'रस' न कह कर 'दैविकी सिद्धि' कहा है। बाद के व्याख्याकारों ने उसे भी रस कह दिया। जिन कथाओं में कवि को अनुभूति के स्पर्श से स्वतः या पूर्वकवियों के योग से 'सिद्धि' प्रतीत हो, वहीं सिद्ध रस मानना होगा।

रही गुप्त जी की पूर्वोक्त पंक्तियों की सही व्याख्या की बात, तो यह विचित्र सत्य है कि जिसे डॉ० नगेंद्र जी जैसे गुप्त-काव्य-प्रेमी नहीं समझ सके उसे नायिका-भेद के विशेषज्ञ डॉ० राकेश गुप्त ने यों ही समझ लिया। 'मुंशी अभिनंदन-ग्रंथ' में इन्हीं दोनों पंक्तियों के विषय में राकेश जी ने लिखा है—**गुप्त जी के पक्ष में यदि इसे मात्र विनय ही कहा जाय तो भी जिस मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर ये पंक्तियाँ संकेत करती हैं, उसकी सत्यता में संदेह नहीं किया जा सकता।** —पृ० ३२७।

लेखक द्वारा इससे पूर्व यह मान्यता प्रकट की गयी है कि विषय-सामग्री की **'अभिव्यक्ति से सर्वथा स्वतंत्र रूप में भी महत्वपूर्ण सत्ता है'** और उसका निर्बाध आकर्षण उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। वस्तु को भारतीय काव्यशास्त्र ने सदा काव्य का आवयविक तत्व माना है।

(अगले अंक में समाप्य)

—मोती महल, दारागंज, इलाहाबाद।

मुक्तिबोध : स्मृति या समारोह ?

भोपाल के कुछ साहित्यकारों ने कई मास पूर्व स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध की स्मृति में एक आयोजन करने का विचार किया था; लेकिन संकटकालीन स्थिति के कारण इसे उस समय स्थगित कर देना पड़ा। आठ तथा नौ जनवरी को यह कार्यक्रम पुनः आयोजित किया गया। कार्यक्रम में सम्मिलित होने वाले साहित्यकारों की लंबी सूची के पूर्वप्रकाशन के कारण प्रबुद्ध जनता में उत्सुकता स्वाभाविक ही थी, किंतु जब द्विदिवसीय कार्यक्रम का प्रारंभ स्थानीय सदरमंज़िल में हुआ, तब लोगों को गहरी निराशा हाथ लगी, क्योंकि पैंसठ प्रतिशत अतिथि अनुपस्थित थे। दिल्ली के नेमिचंद्र जैन, श्रीकांत वर्मा, जगदीश चतुर्वेदी, गंगा प्रसाद विमल और प्रयाग शुक्ल को छोड़ कर शेष सभी मध्यप्रदेश के ही साहित्यकार थे।

आठ जनवरी को साढ़े छह बजे संध्या को पहली गोष्ठी मुक्तिबोध के व्यक्तित्व पर आयोजित थी। गोष्ठी का समारंभ मुक्तिबोध के चित्र को पुष्प-हार पहनाने के बाद हुआ। प्रभागचंद्र शर्मा, प्रमोद वर्मा, जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही', शरद कोठारी, हनुमान वर्मा, नर्मदाप्रसाद खरे, श्रीकांत वर्मा, नेमिचंद्र जैन तथा हरिशंकर परसाई आदि ने मुक्तिबोध के बहुमुखी व्यक्तित्व से संबंधित अपने संस्मरण सुनाये। इनमें से अधिकांश वक्ताओं ने मुक्तिबोध के बजाय अपने निजी व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने के कार्य को अधिक प्रमुखता दी। सभी वक्ताओं ने मूल रूप से इस तथ्य को स्वीकार किया कि मुक्तिबोध एक सहज और विशिष्ट मानव-अनुभूति के कवि थे, उनके अध्ययन का क्षेत्र व्यापक था, और विश्व की प्रत्येक घटना की प्रखर अनुभूति उन्हें होती थी। सबसे अधिक चुभती हुई बातें कहीं जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही' ने, जो नागपुर में मुक्तिबोध के अंतरंग साथियों में रहे हैं। 'विद्रोही' ने मुक्तिबोध के नाम पर किये जाने वाले ढकोसलों पर प्रहार करते हुए कहा कि मुक्तिबोध अपने आपमें एक ऐसा मंत्र है, जिसे जपने के लिए 'लाउड स्पीकर' की आवश्यकता नहीं है। निश्चय ही उनका आशय मुक्तिबोध के जीवित रहते उनकी उपेक्षा और मृत्यु के बाद एकदम उन्हें एक स्वर से महान कहने की असंतुलित प्रवृत्ति से था।

यद्यपि यह कार्यक्रम मुक्तिबोध की बरसी के संदर्भ में आयोजित था और इस समय मुक्तिबोध की कमी महसूस कर दुख की ही अनुभूति होती थी, लेकिन अनेक वक्ताओं ने इसे मुक्तिबोध-समारोह कह कर संबोधित किया। और चूंकि साहित्यकार के वचन ब्रह्मवाक्य होते हैं, इसलिए स्थानीय पत्रकारों ने भी अपने प्रकाशनों में इस आयोजन को मुक्तिबोध-समारोह

लिखा। एक और मौलिक उपलब्धि थी, नेमिचंद्र जैन, नर्मदाप्रसाद खरे तथा श्रीकांत वर्मा का एक अध्यक्ष-मंडल बैठाना। किसी व्यावसायिक संस्थान या बैंक के लिए तो अध्यक्ष-मंडल वाली बात सुनी थी, लेकिन उस दिन हुए इस नये अनुभव से ज्ञान-वृद्धि ही हुई। नौ जनवरी को प्रातः साढ़े नौ बजे से मुक्तिबोध के कृतित्व पर एक गोष्ठी हुई। इसके लिए भी नेमिचंद्र जैन, हरिशंकर परसाई तथा प्रमोद वर्मा का एक अध्यक्ष-मंडल बनाया गया। तीनों गोष्ठियों में यह गोष्ठी सबसे अधिक महत्वपूर्ण और गंभीर रही। इस गोष्ठी में प्रेमशंकर, धनंजय वर्मा, जगदीश चतुर्वेदी, प्रयाग शुक्ल, नेमिचंद्र जैन, श्रीकांत वर्मा, हरिशंकर परसाई, चंद्रकांत देवताले, शिवकुमार मलय तथा पार्थसारथी ने अपने-अपने निबंध पढ़े। प्रत्येक वक्ता ने मुक्तिबोध के कृतित्व पर गंभीरता तथा निजी ढंग से विचार प्रकट किये। केवल पार्थसारथी ने अपना निबंध अंग्रेज़ी में पढ़ा, चूँकि वे हिंदी में अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में कठिनाई महसूस करते थे। लेकिन निबंध प्रारंभ होने के कुछ ही क्षणों में पार्थसारथी की प्रखर विश्लेषण-शैली ने श्रोताओं को मुग्ध कर लिया। उन्होंने मुक्तिबोध की रचनाओं की जैसी सुलझी व्याख्या प्रस्तुत की, वैसी प्रायः एक अहिंदीभाषी से अपेक्षा नहीं की जा सकती। पार्थसारथी राजनांदगाँव में मुक्तिबोध के साथ एक ही विद्यालय में प्राध्यापक रहे हैं और उन्हें मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया तथा रचनाओं को समझने का पूरा अवसर मिला है।

तीसरी और अंतिम गोष्ठी के इसी दिन संध्या को साढ़े छह बजे आयोजित होने की घोषणा थी, लेकिन दिल्ली लौटने वाले कुछ अतिथियों की गाड़ी को ध्यान में रखते हुए उसे साढ़े तीन बजे दिन को रख दिया गया। विषय था—'नयी कविता : उपलब्धि और संभावनाएँ'। इस गोष्ठी के लिए भी जब गंगाप्रसाद विमल तथा श्रीकांत वर्मा की संयुक्त अध्यक्षता प्रस्तावित की गयी, तब इन पंक्तियों के लेखक को पुनः इसके प्रयोजन पर गंभीरता से सोचना पड़ा। गोष्ठी का समय निश्चित अवधि से काफ़ी आगे खिसक गया था और श्रीकांत वर्मा को गोष्ठी के बजाय अपनी गाड़ी की चिंता अधिक थी, अतः उन्होंने आने वाले लोगों की प्रतीक्षा किये बग़ैर चंद्रकांत देवताले को अपना निबंध पढ़ने के लिए आमंत्रित किया। देवताले ने कम से कम इतना तो किया ही कि अपना निबंध पढ़ कर वातावरण गंभीर बना दिया। इसके बाद दुष्यंत कुमार को निबंध-पाठ के लिए बुलाया गया। उन्होंने मंच पर आते ही अपने एक्टराना लहजे में सारी गंभीरता को नाटकीय मोड़ दिया। कुछ क्षण पन्ने उलटने-पलटने के बाद जब दुष्यंत जी ने अपना निबंध-पाठ शुरू किया, तब धीरे-धीरे यह बात साफ़ होती गयी कि नयी कविता पर उनके विचार स्वयं एक नयी उपलब्धि हैं। उन्होंने निबंध के शुरू में ही कहा—'इस निबंध में मैंने जिन दो कवियों की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं, वे दोनों मंच पर अध्यक्ष के रूप में मौजूद हैं।' इस पर एक श्रोता ने जगदीश चतुर्वेदी की तरफ मुख़ातिब हो कर कहा—'ऐसा इन्होंने केवल इसलिए किया कि अध्यक्षता आख़िर किसी भी गोष्ठी में इनके हाथ नहीं लगी।' बहरहाल, दुष्यंतकुमार ने श्रीकांत वर्मा की कुछ कविताओं के ऐसे उद्धरण पेश किये, जिनके शाब्दिक अर्थों की प्रतिध्वनि से एक सस्ते क़िस्म का हास्य व्याप्त हो गया। दूसरा प्रहार नये गीतकारों पर करते हुए उन्होंने कहा कि 'धर्मयुग' सरीखे लोकप्रिय पत्रों ने अपने व्यावसायिक दृष्टिकोण के कारण ही ऐसी रचनाओं को प्रश्रय दिया

है; वास्तव में ऐसी रचनाएँ लोकगीतों के स्तर से ऊपर नहीं जातीं। निबंध के समापन के साथ दुष्यंतकुमार ने एक और उपलब्धिमूलक घोषणा की कि नयी कविता की उपलब्धि शून्य है।

ज़ाहिर है कि इस निबंध को सुन कर श्रोताओं में काफ़ी सरगर्मी आ गयी थी। इसके बाद जगदीश चतुर्वेदी और धनंजय वर्मा मंच पर आये और उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण सामने रखे। तत्पश्चात नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी का नाम पुकारा गया। उन्होंने बड़ी तल्खी के साथ कहा कि आज स्थिति यह हो गयी है कि हर नया कवि अपने आपको एक 'इंस्टीट्यूशन' समझने लगा है और इस भावना के कारण या तो वह अपने आपको ही नयी कविता की उपलब्धि मानता है; या फिर अपने सीमित दायरे में दीक्षित चंद मित्रों को उपलब्धि स्वीकारता है। अन्य कवियों को हाशिये जैसा नकार देने की प्रवृत्ति आम हो गयी है। नयी कविता के क्षेत्र में व्यक्ति की उपलब्धि शून्य हो सकती है, लेकिन जब हम संपूर्ण नयी कविता की उपलब्धि की बात करते हैं, तब निश्चय ही वह शून्य के समकक्ष नहीं होती। मुझे ऐसे नये कवियों से पूरी सहानुभूति है, जो लगभग तीन दशक की नयी हिंदी कविता की उपलब्धि शून्य मानते हैं।

एक दृष्टि से देखा जाय तो यह गोष्ठी सबसे अधिक सरगर्मी से पूर्ण थी। गोष्ठी में लगभग एक दर्जन कवियों ने अपने विचार व्यक्त किये। जब दो नये गीतकार, ओम प्रभाकर तथा नईम मंच पर बोलने आये, तब उन्होंने भी दुष्यंतकुमार द्वारा नये गीतकारों पर की गयी टिप्पणी पर अपनी असहमति प्रकट की। अपने संक्षिप्त भाषणों में नेमिचंद्र जैन तथा श्रीकांत वर्मा ने भी दुष्यंतकुमार की नयी कविता की उपलब्धिहीनता वाले पक्ष का खंडन किया। श्रीकांत वर्मा ने मंच पर आते ही अपना वक्तव्य बोदलेयर के एक संस्मरण से शुरू किया। उन्होंने कहा—"एक बार बोदलेयर एक मशहूर वेश्या को पेरिस की प्रसिद्ध 'आर्ट-गैलरी' दिखाने ले गया। जब दोनों एक प्रख्यात कलाकृति के सामने जा खड़े हुए, तब वेश्या ने दोनों हाथों से अपना मुह ढँक लिया। इस पर जब बोदलेयर ने कारण जानना चाहा, तब वेश्या ने धीरे से कहा, 'मुझे शर्म आती है इस नंगी औरत को देख कर!' श्रीकांत वर्मा ने कहा, "यही हाल दुष्यंतकुमार का है, जिन्होंने अभी कुछ समय पूर्व मेरी कुछ कविताओं के उद्धरण आपके सामने रखे।" श्रीकांत वर्मा का एक-एक शब्द व्यंग्य का चुभता हुआ नमूना था और यह वक्तव्य स्वयं भी अपने आपमें इस गोष्ठी की एक और उपलब्धि थी। अपने वक्तव्य के बाद ही श्रीकांत वर्मा दिल्ली की गाड़ी पकड़ने की जल्दी में उठ पड़े और उनके साथ ही दिल्ली के अन्य साहित्यकार भी। इन अतिथियों को विदा देने के लिए कई आयोजक भी सभा-भवन से बाहर आ गये।

गोष्ठी की शेष कारंवाई अकेले अध्यक्ष गंगाप्रसाद विमल को ही चलानी पड़ी। बाद में और क्या-क्या उपलब्धियाँ और संभावनाएँ उभरीं, इसे देखने-सुनने का साहस इन पंक्तियों के लेखक में भी नहीं बचा था; क्योंकि पहले की उपलब्धियाँ ही काफ़ी भारी पड़ रही थीं!

—नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी,
१३।१०, नार्थ टी०टी० नगर,
भोपाल।

समीक्षाएँ

●●

पानी के प्राचीर

रामदरश मिश्र का उपन्यास। हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। सन १९६१। मूल्य ५.००।

रामदरश मिश्र के उपन्यास 'पानी के प्राचीर' का 'बलचनमा' और 'मैला आँचल' की तरह का विज्ञापन नहीं हुआ, पर यह तगड़ी कला-कृति है। औपन्यासिक गठन और अन्विति की कुछ कमी जान पड़ती है; पात्र और घटनाएँ बेशुमार आते-जाते हैं—लगता है, जैसे कई छोटी-छोटी कहानियों की मणि-माला हो—पर संमिलित प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है। 'बहती गंगा' के लेखक ने जैसे बनारस को शब्द-चित्रों में खड़ा कर दिया; इस उपन्यास के माध्यम से गोरखपुर जिले में 'राप्ती' और 'गोर्रा' नदियों की धाराओं से घिरा एक विशाल भू-भाग यहाँ सजीव हो उठा है। लेखक का परिचय इस भू-भाग के चप्पे-चप्पे से, खेत-खलिहान से, झोपड़ी-झोपड़ी से है। उसने वहाँ के जन-जन के सुख-दुख को अपनी अनुभव-संवेदना से ग्रहण किया है। उसकी वर्णन-शक्ति बहुत सहज और प्राणवान है। बहुत थोड़े शब्दों में बहुत बड़ा चित्र। लेखक मूलतः कवि है। उसका यह पहला ही उपन्यास है। पर इसे पढ़ते-पढ़ते मुख्यतः दो समस्याएँ उठी हैं।

पहली समस्या है हिंदी साहित्य में गाँवों के चित्रण को लेकर। प्रेमचंद का आदर्शवादी चित्रण 'गोदान' तक आते-आते यथार्थ, ठोस भूमि पर आने लगा था। गाँव की समस्याओं का समाधान उनके इसी तरह के गाँव बने रहने में नहीं है, ऐसा वहाँ लगने लगा था। सन '३६ के बाद गाँव के प्रति हमारे कथाकारों और कवियों की विचार-धाराएँ बदलीं। पंत की 'ग्राम्या' में गाँव के सुंदर-सुंदर रूप के साथ-साथ 'हे ग्रामदेवता! रामराम' भी है। अब वह पुराना दुखड़ा नहीं बचा है कि 'ऊजड़ ग्राम' क्यों? और 'देहाती दुनिया' क्यों न फिर से बसायी जाय? 'अहा, ग्राम जीवन भी क्या है' का सपना टूट चुका है। आक्रोश हिंदी के सभी 'पलजी समाज' पर आधारित उपन्यासों में स्पष्ट है, चाहे राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह के हों या भैरवप्रसाद गुप्त के। गाँव टूटने लगे; देश में नागरीकरण बेहद जोरों से शुरू हुआ, पर लेखक की गाँव के प्रति ललक, एक तरह का निरीह, निपट गँवई सौहार्द-भाव (नास्टेल्जिया) बचा रहा। क्या यह रोमांटिक वृत्ति है?

मैं समझता हूँ कि इसका उत्तर देना होगा—'नहीं।'

गांधी और विनोबा ने 'गाँवों की ओर' लौटने का आदेश दिया, रवींद्रनाथ ने 'माटीर डाक' पर कविताएँ लिखीं, कालिंदीचरण पाणिग्राही ने 'माटीर मानुष' और रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'मिट्टी की मूरतें' लिखीं—तो क्या यह सब 'रोमांटिक' कह कर टाल दिया जा सकता है ? भारतीय जनमानस में एक अनिर्वचनीय 'माता भूमिः' वाला भाव है। गाँव हमारे लिए ठीक वह चीज़ नहीं है, जो तुर्गनेव के या शोलोख़ोव के लिए हैं। 'वर्जिन स्वाइल' और वर्जिन स्वाइल अपटर्न्ड' में ज़मीन तोड़ने वाले ट्रैक्टरों की ध्वनि भिन्न है। हार्डी के गाँवों के दुखड़े का नियतिवाद और तरह का है। भारतीय उपन्यासकार, विशेषतः हिंदी का नया और 'आंचलिक' उपन्यासकार, गाँव की प्रतिष्ठा केवल एक सुवर्ण-रूप-रस-गंधमय अनुभव के नाते नहीं करता। वह गाँव को शहर से भागने का एक अप्सराद्वीप मात्र नहीं मानता। वह गाँव के बारे में हमारी मिथ्या धारणाओं को भी सामने रखता है। वह वहाँ के लोगों के अदम्य उत्साह, उत्सवप्रियता, उद्दाम वासनाओं का चित्रण करता है—साथ ही उनके विरोध में वहाँ के कटु-कर्कश-कठिन यथार्थ को भी प्रस्तुत करता है। उसके लिए गाँव दूध और शहद की नदियों वाले स्वप्नरंजन नहीं हैं, वहाँ के झगड़े-टंटे, जाति-विष, आर्थिक-विषमताएँ सब उसके लिए यथार्थ हैं।

उदाहरण के लिए 'पानी के प्राचीर' में जहाँ एक ओर प्रकृति-वर्णन है, जैसे—पृष्ठ १६८ (पहले दो अनुच्छेद) और पृष्ठ ३३ (दूसरा अनुच्छेद), वहाँ उस जीवन के कठिन कलेसों का भी जीता-जागता यथार्थ चित्र है, यथा—पृष्ठ १६९ (दूसरा अनुच्छेद) और पांडेपुरवा की गरीबी का यह हाल (पृष्ठ २८९, अनुच्छेद २)

यह ठीक है कि रामदरश जी का कवि कहीं-कहीं प्रबल हो उठता है और वे भावुक हो उठते हैं—ऐसे कई प्रसंग हैं—पर वे बार-बार चौंक कर जैसे पुनः सचेत हो उठते हैं ख़ुद ही। बाढ़ के वर्णन या गाँव में सास-बहू के झगड़े, या क्रांति के प्रति गाँव वालों की सहानुभूति और वर्ग-विशेष की असहानुभूति, इन सब विवरणों में वे भावुकता से अपनी आँखों के आगे झीना धुंध नहीं छाने देते। इतने पात्रों के और छोटे-छोटे टूटे सूत के गुच्छों जैसे कथोपकथा-प्रसंगों के बावजूद एक विराट सत्य यथार्थता से सबको घेरे रहता है कि गाँव शहर नहीं बन सकता—जो शहर आ गया, उसे गाँव क्या अच्छा लगेगा? उद्धरण—(पृष्ठ १७२ और १७३ पर क्रमशः अंतिम और प्रथम दो अनुच्छेद—संभाषण...)

'रोमांटिक फ़ैलेसी' वहाँ होती है, जहाँ यथार्थ को नज़र-अंदाज़ कर दिया जाय या आँख से ओझल कर दिया जाय। रामदरश चाहते हैं गाँव की अच्छाई-बुराई सबको अपनी पूरी गोलाई के साथ स्वीकार करना। वे सिर्फ़ एकपक्षीय हो कर गाँव में सब कुछ मधुर-मधुर नहीं देखना चाहते, न प्रगतिवादी सिद्धांताग्रहियों की भाँति वहाँ की गंदगी, बुराई और मुफ़लिसी को ही उभार कर सामने लाना चाहते हैं। उनकी इस वृत्ति को 'रोमांटिक' शब्द से अभिहित कर मैं टाल नहीं पाता।

असल में हमने 'रोमांटिक' शब्द के अर्थ भी विदेशी आलोचना से लिये। वहाँ ग्रीक सौंदर्यवाद की ओर उन्मुख उन्नीसवीं शताब्दी का जर्मन-ब्रिटिश काव्यांदोलन, जो ईसाई मत की शुद्धतावादिता का विरोधी

था, 'रोमांटिक' या 'पेगन' कहलाया। हमारी परंपरा में कहीं ऐसा जीवन-निषेध नहीं था, जो उसका विद्रोह 'रोमांटिक' कहलाया जाय। द्विवेदीयुगीन उपदेशवादियों, इतिवृत्तात्मक छंद-व्यवसायियों और आर्य समाज-प्रणीत शृंगार-विरोधियों की प्रतिक्रिया में आया छायावाद, पश्चिम के 'रोमांटिक' का पर्याय-वाची नहीं मानना चाहिए। जब छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद आया, वह हिंदी में, उर्दू की देखादेखी, और ज़्यादा रोमांटिक हो गया। 'नवीन', 'अंचल', नरेंद्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन'—सबमें गहरा 'रोमांटिक' तत्व है। उस अर्थ में रामदरश का गद्य (और पद्य भी) रोमांटिक नहीं है।

नागार्जुन और फणीश्वरनाथ 'रेणु' की पहली सशक्त औपन्यासिक कृतियों में 'ऐंटी-रोमांटिक' (कोमल-कोमल सुंदर-सुंदर 'कला के लिए कलावाद' का विरोध) प्रचुर मात्रा में था। रामदरश ने दोनों एकांतिकताओं से बच-कर एक समन्वय निर्माण करने का प्रयत्न इस उपन्यास में किया है।

दूसरी समस्या भाषा, उपभाषा, जन-भाषा की है। मैं जब-जब कोई आंचलिक उपन्यास पढ़ता हूँ तब-तब पहला प्रश्न जो मेरे मन में उठता है, वह यह है—'क्या इसका अनुवाद संभव है?' यदि नहीं तो इसका आनंद क्या उस भाषा-उपप्रदेश तक ही सीमित रहेगा?

यह समस्या और भी तीव्र रूप से मेरे मन में उठने का कारण 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' के गुरुवार अक्तूबर ८, १९६४ के संपादकीय 'वन आर ट्वेंटी' (एक या बीस) है। उसमें 'दक्षिण अमरीका की इस्पाहानी भाषा का क्या भविष्य है?' यह प्रश्न उठा कर संपादक ने सिन्नर ब्रोर्जेस के लेख 'अर्जेंटाइन लेखक और परंपरा' का हवाला देते हुए लेखक एर्नेस्टो साबाटो का प्रश्न दुहराया है—आखिर लतीनी अमरीका के लेखक कैसी इस्पाहानी भाषा लिखें, जो उनके उपप्रदेश में समझी जाती है, या जो यूरोप में सर्व-प्रचलित है? अमरीका में १९६३ में एक परिसंवाद 'लातीनी अमरीकी साहित्य' पर रखा गया जिसमें अर्जेन्टाइना के लेखक एदुआर्दो माल्लिया ने कहा कि हस्पाहानी अमरीकी लेखन सर्व-सुगम हो। हस्पाहानी भाषा का प्रयोग ऐसे किया जाय कि वह सबकी समझ में आ सके, वह केवल स्थानिक बोली ही बन कर न रह जाय, यही बात भाषा-विद् और समीक्षक आमादो आलोंसो ने भी दुहरायी। हस्पाहानी भाषा बोलने, प्रयोग करने वाले स्वतंत्र उन्नीस राष्ट्र हैं, पर कोई पुस्तक, मसलन, मिगुइल एंजेल अस्तुरिया की 'मकई के मनई' (मेन आफ़ मेज़) जैसा आंचलिक उपन्यास इसलिए सर्वत्र प्रचलित नहीं हो सका, चूँकि उसमें ग्वाटामाला के इंडियनों की बोली और रिवाज़ों का ही अधिक उपयोग किया गया था। संपादकीय का अंत इस वाक्य से है कि **बीस बोलियों की अपेक्षा एक भाषा कहीं अच्छी है।**

आंचलिक शैली के उपन्यासकारों की ओर से कहा जा सकता है कि जब तक वे स्थानिक बोली का प्रयोग न करें, वहाँ की सच्ची रंगत नहीं आ पाती; उपन्यास के मूल स्वर की आधिकारिकता (ऑथेंटिसिटी) कम हो जाती है। क्या हमारे गाँवों का ऐसा 'साधारणीकरण' सिनेमा वालों ने नहीं किया है कि वहाँ की मिट्टी की मिट्टी पलीद कर दी है? मूल स्वर, मूल गंध, मूल रंग तो रहे

और फिर भी उपन्यास सर्वग्राह्य-सर्वप्रिय, सार्वजनीन बन सके—यह दोहरी समस्या ऐसे लेखकों के सामने होती है। कुछ उपन्यासों में, यथा 'मैला आँचल' में अध्यायों के अंत में स्थानीय शब्दों के अर्थ खड़ी बोली में दिये गये हैं। इस उपन्यास 'पानी के प्राचीर' में संवादों के खड़ी बोली में रूपांतर दिये गये हैं, यथा पृष्ठ ९४, ९५, ९८, १९०, १९७, ३०२।

अब ये पाद-टिप्पणियाँ इस भोजपुरी या सीमावर्ती भाषा से परिचित व्यक्ति के लिए व्यर्थ हैं, और जिन पाठकों को ये बोलियाँ नहीं पता उनके लिए मूल व्यर्थ है। यदि यही नियम पालना था, तो कई स्थलों पर जो लोकगीतों के उद्धरण दिये हैं, उनके भी अनुवाद आवश्यक थे।

प्रश्न यह है कि वह क्या तत्व है जो 'बोली' से खड़ी बोली को विच्छिन्न करता है, और अनुवाद से जिसका 'रस' कम हो जाता है? क्या उस तत्व की रक्षा उपन्यास के पूरे ताने-बाने को देखते हुए आवश्यक है? यदि हाँ, तो अनुवाद कहाँ तक उसकी रक्षा कर पाते हैं? और प्रश्न केवल संलापों का नहीं, पदावली, रीति-रिवाज, स्थानिक नाम, कहावतों, मुहावरों, भाषा की उच्चारण-पद्धति, हँसी और व्यंग्य के उपादान आदि कई चीज़ों का है। हिंदी के जो आंचलिक उपन्यास और लोग लिख रहे हैं, (जैसे, गोंड-प्रदेश के बारे में राजेंद्र अवस्थी, पहाड़ी अंचल पर शैलेश मटियानी, राजस्थान के बारे में यादवेंद्र चंद्र शर्मा) छत्तीसगढ़ के बारे में और बुंदेलखंड के बारे में और हरियाणा के बारे में और और अंचलों के बारे में लिखा जायगा और यह प्रश्न और भी उभर कर सामने आयेगा। क्या हिंदी इन सब प्रदेशों की सामान्य भाषा है? क्या हिंदीभाषी प्रदेशों की जनता का निरक्षर ८५ प्रतिशत जनसमुदाय खड़ी बोली हिंदी समझता है? और समझता भी है तो कितनी हद तक।

और हमारे आंचलिक लेखक उस विषय में क्या करें? यह सब सोचने की बातें हैं। कला के संदर्भ में ही यह प्रश्न अर्थपूर्ण है—अन्यथा नहीं।

—प्रभाकर माचवे,
१२०, रवींद्रनगर, नयी दिल्ली।

'आधार' का 'सचेतन कहानी' विशेषांक

महीप सिंह द्वारा संपादित। हिंदी भवन, इलाहाबाद। सन १९६४। मूल्य २.५०।

सचेतन कहानी आंदोलन का सही प्रारंभ 'आधार' के इस 'सचेतन कहानी विशेषांक' से ही माना जा सकता है, यद्यपि इसकी चर्चा की शुरुआत कुछ पहले से हो चुकी है। जहाँ इसमें कुछ आलोचनात्मक निबंधों के द्वारा इसके स्वरूप को समझने-समझाने की कोशिश है, वहाँ सचेतन कहानियाँ भी हैं, जो अपनी नवीनता और सचेतनता का प्रमाण स्वयं हैं।

महीप सिंह के स्पष्ट और निर्भीक संपादकीय के अनुसार, 'सचेतनता एक दृष्टि है, जिसमें

जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है।' और यह दृष्टि उन्हीं के शब्दों में मनुष्य की उस मूल संघर्षरत प्रवृत्ति से संबद्ध है, जो 'जीवन से भागने' की न हो कर 'जीवन की ओर भागने की नियति' से परिचालित है। आज के संक्रांतिकाल में व्यक्ति को 'आत्म-सजग' हो कर टूटते और उभरते मूल्यों में सही पहचान कर बदली हुई मान्यताओं से संपृक्ति बैठाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, तभी उस 'अजनबीपन', 'नैराश्य' और 'ऐकांतिकता' से मुक्ति मिल सकती है, जो पिछले एक दशक से 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' का प्रमुख वक्तव्य बन गया है। राजीव सक्सेना के लेख में कुछ उल्लेखनीय साहित्यिक प्रश्न उठाये गये हैं, जिनमें एक नवलेखन के उद्देश्य से संबद्ध उनकी यह विशिष्ट स्थापना है कि मात्र युगबोध को प्रामाणिक रूप से ईमानदारी से 'तटस्थतापूर्वक' अभिव्यक्त करना ही नवलेखन की विशेषता नहीं है। यह दृष्टि परिवेश के प्रति निष्क्रियता तथा जीवन-संघर्ष में 'आत्मसमर्पण' का भाव उत्पन्न करती है। सक्सेना के विचार से सचेतन कहानीकार 'आश्वस्त है कि संघर्ष कैसा भी हो, मनुष्य मात्र मानव-मूल्यों की रचना कर के ससम्मान जीवित रहने की प्रक्रिया नहीं छोड़ सकता।' महीप सिंह के वक्तव्य में नयी कहानी और उसके रचयिताओं के प्रति जो आरोप हैं, उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनसे लेखक अपने को असहमत पाता है, जैसे 'उसने (नयी कहानी ने) पुरानी लीक से हट कर कुछ नये धरातलों की खोज करने की अपेक्षा अपना अधिक आग्रह कुछ व्यक्तियों की अपनी प्रतिस्थापना पर ही रखा।' मैं समझता हूँ, साहित्य-रचना में नीयत पर संदेह करना प्रायः इसलिए असंगत होता है, क्योंकि उसके लिए न तो आरोपकर्ता को ही निश्चित प्रमाण की उपलब्धि होती है और न तथाकथित अभियुक्त (?) के लिए सफ़ाई देने की गुंजाइश होती है। और ऐसे आरोपों पर उठे विवाद सैद्धांतिक न रह कर वैयक्तिक हो जाते हैं।

राजीव सक्सेना का साहित्यिक आंदोलनों को 'वैचारिक' और 'शिल्पगत' इन दो कोटियों में विभाजित करना और सचेतन कहानी आंदोलन को मात्र वैचारिक आंदोलन बताना भी उपयुक्त नहीं लगता। वास्तव में कोई भी साहित्यिक आंदोलन न कोरा वैचारिक होता है और न कोरा शिल्पगत। किसी एक तत्व की प्रधानता हो सकती है। प्रगतिवाद का विचार पक्ष ही नहीं, शिल्प तत्व भी छायावाद से सर्वथा भिन्न था। बल्कि यूँ कहें कि नये विचार हमेशा नये शिल्प को जन्म देते हैं, तो शायद ग़लत न होगा। उपेंद्रनाथ 'अश्क' का निबंध गंभीर न हो कर, उस प्रकार की निर्णयात्मक आलोचना का रूप ले गया है, जो नाम पुकार-पुकार कर प्रमाणपत्र वितरित करती और 'दल' के फ़रमान निकालती है। उनकी कुछ कहानियों की आलोचना तो नये क्या पुराने और मँजे लेखक के छक्के छुड़ाने में समर्थ है। उनकी यह प्रतिक्रिया ही सचेतन कहानीकारों के संतोष के लिए यथेष्ट है कि 'इस संग्रह की कहानियों में से अधिकांश में कथाकारों की दृष्टि सचेतन है, यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है।' जैनेंद्र जी ने श्याम परमार और जगदीश चतुर्वेदी द्वारा लिए गये इंटरव्यू में सचेतन कहानीकारों को प्रोत्साहन दिया है।

प्रभाकर माचवे का लेख मूल्यांकन की

अपेक्षा प्रशंसापूर्ण स्वागत का भाव ही अधिक लिये हुए है। अप्रासंगिक होते हुए भी आज की आलोचना के जिन दोषों की गणना उन्होंने अपने निबंध में की है, यह आशा करना शायद अनुचित न था कि कम से कम इन निबंधों में उनके निराकरण का प्रयत्न होता। वीरेंद्र-कुमार गुप्त ने अपने निबंध का प्रारंभ सच्चे साहित्य को आंदोलनों से ऊपर मानते हुए किया है और फिर उन्हें अनावश्यक, क्षणिक और हानिकारक मानते हुए उनसे मुक्त होने का उपदेश भी दिया है। इन दोनों बातों में अंतर्विरोध तो है ही, यह भी ध्रुव सत्य है कि गुप्त जी के नाराज़ होने से साहित्य का क्षेत्र आंदोलनों से शून्य नहीं हो सकता। प्रत्येक आंदोलन जीवन के विशिष्ट दृष्टिकोण का परिचायक होता है। मध्ययुग में होने वाले धार्मिक आंदोलन भी सामाजिक परिवेश के परिवर्तनों से तादात्म्य स्थापित करने और युगानुकूल जीवन-दर्शन की स्थापना के सुप्रयत्न थे और आधुनिक काल में तो जीवन की संसृष्टता, उसके स्तर-भेद तथा संघर्षरत मानवता की आसन्न संकटों की उत्तरोत्तर तीव्र होती चेतना के परिणामस्वरूप यदि समानधर्मा, सहभोगी साहित्यकार, सहयोगी हो कर अपनी आस्था के अनुरूप किसी विशिष्ट जीवन-प्रणाली अथवा दृष्टि के निर्माण, मूल्यांकन एवं उसकी महत्व-प्रतिष्ठा के हेतु समान रूप से कटिबद्ध होते हैं, एक आंदोलन के रूप में अग्रसर होते हैं, तो उसे अभिनंदनीय ही कहा जा सकता है, कम से कम 'अपराध' तो घोषित नहीं किया जा सकता। किसी भी आंदोलन के साथ न होना निस्संज्ञता, निष्क्रियता, यथास्थिति को बनाये रखने की अनजान कोशिश या उसे अनिवार्य मान लेने की नियति-वादी विवशता का द्योतक हो सकता है और सचेतन कलाकार इनमें से प्रत्येक स्थिति का प्रतिवाद करता और उसे ग़लत समझता है।

श्याम परमार का लेख सचमुच अत्यंत स्पष्ट और अच्छी समीक्षा का उदाहरण है। उसमें सचेतन दृष्टि के विश्लेषण का प्रयत्न है और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सचेतनता कोई 'लेबिल' नहीं है। नयी कहानी के नाम से आने वाली अनेक रचनाओं में भी सचेतन दृष्टि उपलब्ध है। और अंतर को तत्व से परखना होगा, नाम से नहीं।

वक्तव्यों की संक्षिप्त समीक्षा के बाद कहानियों पर आइए। पहली कहानी आनंद प्रकाश जैन की 'आटे का सिपाही' है। संपादक ने बहुत पहले 'कहानी' में प्रकाशित और पुरस्कृत इस रचना को संग्रह में स्थान दिया तो इसका कारण यही था कि संकलन की अनिवार्य शर्त 'सचेतनता' का गुण इस कहानी में विद्यमान था। कमल जोशी की कहानी 'ढलान' का उठान तो रोचक और औत्सुक्य-पूर्ण है, परंतु ढलान और अंत तक पहुँचते-पहुँचते उसका प्रभाव कम हो जाता है। स्वभाव और व्यवहार-वैचित्र्य तथा सामाजिक परिवेश में व्याप्त अनुभूतिशून्यता की जो प्रखर अनुभूति कहानी दे जाती है, वही इसकी उपलब्धि है। कुलभूषण की कहानी 'पहली सीढ़ी' जिस परिस्थिति और घटना को अपना विषय बनाती है, अनेक बार आवृत्त होने के कारण उसमें विशेष आकर्षण नहीं है, परंतु लेखक ने मीरा के पतन के पहले और बाद की उसकी मन:स्थिति का जो विश्लेषण किया है, वह अत्यंत स्वाभाविक और रोचक है। नैतिक मान्यता और महत्वाकांक्षा के द्वंद्व को साकार करने में लेखक को सफलता मिली

है। कहानी के अंत में मीरा के मन के निश्चय और पति के संमुख कथन में अंतर्विरोध प्रदर्शित कर लेखक ने मीरा के द्विधाविभाजित व्यक्तित्व को देखने की पारदर्शक दृष्टि पाठक को प्रदान की है।

धर्मेंद्र गुप्त की कहानी 'मोड़ से पहले' में शिक्षा का व्यवसाय करने वाली कॉलेज नामधारी प्राइवेट दुकानों के वातावरण का वास्तविक चित्र है। उनमें काम करने वाले अवकाशप्राप्त वृंदों और बेकार नवयुवकों की मनोदशा, उनके कर्ता-धर्ताओं की शोषण वृत्ति और व्यापारिक दृष्टि सभी कुछ विश्वसनीय और तीक्ष्ण वास्तविकता के बोध से पूर्ण है। नायक कपिल को कठोर यथार्थ के आघात से राजनीतिक आदर्शवादिता को तिलांजलि दे कर न केवल आर्थिक शोषण के चक्र से अपितु अपनी सौंदर्य-वृत्ति से भी समझौता करना पड़ता है। इसे प्रदर्शित कर के कहानी वाह्य और आभ्यंतर-चित्रण में संतुलन उपस्थित करती है।

जगदीश चतुर्वेदी की कहानी 'अधखिले गुलाब' अंक में ही सतही आलोचना का शिकार हो गयी है। लेखक ने कहानी के नायक मिश्रा के रूप में एक विकृत मनोवृत्ति का चरित्र प्रस्तुत किया है। इसके साथ-साथ, कहानी आज के जीवन की विषम आर्थिक अवस्था और उससे उत्पन्न दुष्परिणामों पर भी प्रकाश डालती है। विकृत यथार्थ के प्रति लेखक का जुगुप्सा-भाव सांकेतिक होते हुए भी अत्यंत स्पष्ट है। बलराज पंडित की कहानी 'मटियाले' दफ़्तर के दमघोट, नीरस वातावरण से उत्पन्न ऊब का तीखा प्रभाव छोड़ने में समर्थ है। मधुकर सिंह की 'सैलाब' कहानी में दरिद्रता की चक्की में पिसती निम्न मध्य वर्ग की स्त्री लक्ष्मी के मानस पर आस-पास के उत्तेजनात्मक वातावरण का प्रभाव अंकित किया गया है। मनहर चौहान की कहानी 'बीस सुबहों के बाद' सशक्त व्यंग्यात्मक रचना है, जिसमें आज के यंत्रयुग में मनुष्य की स्वयं को धनार्जन की मशीन बना लेने की प्रवृत्ति पर आघात है। कहानी के एक पात्र स्वामिनाथन इस प्रवृत्ति के जीते-जागते नमूने हैं, जो सुबह से आधी रात तक अनेक नौकरियाँ करते हुए आपाधापी और व्यस्तता की ज़िंदगी बिताते हैं। ममता अग्रवाल की कहानी पुरानी पीढ़ी की रूढ़िवादिता और संकीर्ण दृष्टि को उपस्थित करती है, जिसमें एक आशाप्रद संतान की आकांक्षाओं और संभावनाओं को देखने की शक्ति नहीं है।

महीप सिंह की कहानी 'स्वराघात' में इस मनोवैज्ञानिक सत्य की सूक्ष्म पकड़ है कि मनुष्य का मन दुख और शोक की परिधि तोड़ कर जीवन की सामान्य सुखमय परिस्थिति को पाने के लिए स्वभावतः व्याकुल होता ही है, भले ही सामाजिक रूढ़ियों के प्रभाव से इस आकांक्षा को निस्संकोच भाव से व्यक्त न कर सके। पुत्री विमला के हृदय रोग से पीड़ित होने के कारण उसकी मृत्यु के पूर्व से ही लाला जी (पिता) निरंतर अनिवार्य आशंका से पीड़ित रहे हैं और अब उसकी मृत्यु का शोक भोगने के पश्चात, उनका मन मानो अकुला उठता है, विद्रोह कर उठता है। यद्यपि अपनी रूढ़िग्रस्त मनोवृत्ति के कारण वे स्वयं अपने मन की इस सुख की माँग पर लज्जित होते प्रदर्शित किये गये हैं।

योगेश गुप्त की 'इनक्लोज़र' की काफ़ी प्रशंसा हुई है और वह है भी इस योग्य। कहानी मानवीय चेतना के अनवरुद्ध प्रवाह को

अंकित करने में तथा अंतर्मन के विश्लेषण में समर्थ है। यांत्रिक और नीरस ज़िंदगी से ऊबे हुए श्रमिक की सुख की प्राप्ति की छटपटाहट को कहानी ने मूर्तिमान सा कर दिया है। कहानी का अंत सशक्त और कलात्मक है। रामकुमार 'भ्रमर' की कहानी क़ानून के मानवीय संवेदना से शून्य होने की ओर संकेत करती है। वेद 'राही' की 'जुगतिया' साधारण कहानी है। शक्तिपाल केवल की कहानी 'वापसी' मेरे विचार से काफ़ी कमज़ोर कहानी है और उसे वास्तव में सचेतन कहानी न कह कर उसका विपर्यय ही कहा जा सकता है। मनुष्य के विश्वासों के टूटने की बात वहीं तक बर्दाश्त की जा सकती है, जब कि वह स्वयं जीवन में पाठक का विश्वास न तोड़ दे। श्याम परमार की कहानी मुझे आंचलिक प्रकार की लगी। शकुंतला शुक्ल की 'भार-मुक्ति' में अर्थ-संकटग्रस्त पिता को वयस्क अविवाहिता पुत्री की मृत्यु, भले ही यह निष्ठुर और विचित्र लगे, एक उत्तरदायित्व का बोझ उतार देने वाली और राहत देने वाली प्रतीत होती है। इस कहानी में सतीश का प्रसंग न भी होता तो कोई हानि न थी; कहानी में मुख्य कथा में उसका अस्तित्व नगण्य सा है। सुखबीर की 'गोली और चुंबन का रहस्य' कहानी और रिपोर्ताज के बीच की चीज़ है। वैसे सुखबीर की शैली प्रभावपूर्ण है और व्यापक मानवीय संवेदना में धनी इस लेखक से कहानी के क्षेत्र में पर्याप्त आशाएँ हैं। प्रियदर्शी प्रकाश की कहानी 'आँधी के स्वर' संकुचित दायरे में एक सामान्य कहानी है। हृदयेश की 'आइसक्रीम वाला लड़का' इस संग्रह की अच्छी कहानियों में गिनी जा सकती है। कहानी में लेखक की संवेदन-क्षमता, अंतर-विश्लेषण का कौशल और कला की सांकेतिक सोद्देश्यता की सूक्ष्मता सभी कुछ हृदयग्राही है। कहानी का शिल्प सरल, नैसर्गिक और अंत अत्यंत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है।

हिमांशु जोशी की कहानी 'आदमी : ज़माने का' सतही दृष्टि वाले प्रशंसक तो पा सकती है, परंतु उसमें वातावरण और घटनाक्रम में विश्वसनीयता के गुण का अभाव है। कहानी तभी प्रभावशाली बनती है, जब वह विश्वासोत्पादक भी हो। सामाजिक आलोचना को कथा का विषय बनाने वाले कलाकार को अत्यंत सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि विवरणात्मकता और अभिधात्मकता के ख़तरे इस क्षेत्र में सबसे अधिक होते हैं।

—कृष्णबिहारी मिश्र,
ई १।५८ लाजपत नगर, नयी दिल्ली-१४।

हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन

एस० एन० गणेशन की आलोचना-पुस्तक। राजपाल एंड संस, दिल्ली। सन १९६२। मूल्य : १२.००।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने हिंदी उपन्यास साहित्य को संसार के तीन अत्यंत समृद्ध उपन्यास-साहित्यों, अर्थात फ़्रांसीसी, रूसी और अंग्रेज़ी उपन्यासों की तुलना में देखा है। लेखक ने इस प्रबंध को पी-एच० डी० की

उपाधि के लिए डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में तैयार किया था। लेखक ने प्रकाशित होने के पहले यह आवश्यक नहीं समझा कि इस पुस्तक के प्रकाशन के समय तक उपन्यास-साहित्य में जो महत्वपूर्ण कृतियाँ आयी थीं, उनकी भी चर्चा कर देता। जहाँ तक मैं समझता हूँ सन १९६३ तक रूसी में बोरिस पास्तरनाक का प्रसिद्ध उपन्यास 'डाक्टर जिवागो' प्रकाशित हो चुका था। हिंदी में श्री अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र', श्री भगवतीचरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र' और श्री यशपाल का 'झूठा सच' न सिर्फ़ प्रकाशित हो चुके थे बल्कि उनकी काफ़ी चर्चा हो चुकी थी। इस प्रबंध में इनका कहीं जिक्र नहीं है। यह देख कर आश्चर्य हुआ कि इस पुस्तक में प्रसिद्ध उपन्यासकार अमृतलाल नागर का कहीं नाम नहीं आया है और उनके हिंदी साहित्य में पर्याप्त प्रसिद्धि पाये हुए उपन्यासों 'महाकाल', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर' इत्यादि का भी कहीं नाम नहीं लिया गया।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय बहुत विस्तृत है और इसके साथ पूर्ण न्याय करने के लिए फिर भी जितने गंभीर और विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता थी, वह नहीं हो पाया, यह पुस्तक से प्रकट हो जाता है। संसार के साहित्य में अच्छे उपन्यासों की कमी नहीं है लेकिन इस पुस्तक में बार-बार जितने थोड़े से उपन्यासों के उद्धरण दे कर या उनकी चर्चा कर के पाठक के धैर्य की परीक्षा की जाती है, वह बहुत खटकता है। यह ठीक है कि अपेक्षाकृत हिंदी में अच्छे उपन्यास कम हैं, परंतु इस विषय के साथ न्याय करने के लिए फिर भी जितने उपन्यास पढ़ कर उनके संबंध में अपनी स्वतंत्र सम्मति बनाने की आवश्यकता थी, लेखक उस सीमा तक न कर पाया। यह मैं मानता हूँ कि उपन्यास साहित्य इतना विस्तृत है और उसका आलोचना और विवेचना की दृष्टि से इस प्रकार अध्ययन करना कि कोई महत्वपूर्ण कृति न छूटे और सबके साथ पूर्ण न्याय हो, जुट कर करने लायक़ काम है। दो-चार वर्ष में भी इस प्रकार का सब दृष्टि से संतुलित कार्य नहीं हो सकता। कम ही कृतियों की चर्चा करने या उनके ही उद्धरण देने का एक कारण यह भी हो सकता है कि लेखक ने उपन्यासों के विभिन्न तत्वों को परखने की जो कसौटी बनायी है, इतनी ऊँची है कि उस पर बहुत थोड़े उपन्यास खरे उतरते हैं।

इस स्थान पर यह कहना भी अनुचित न होगा कि लेखक ने हिंदी उपन्यास साहित्य की तुलना जहाँ फ्रांसीसी, रूसी और अंग्रेज़ी उपन्यास-साहित्य से की, वहाँ यदि वह इसकी तुलना बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल और उर्दू प्रभृति भारतीय भाषाओं के उपन्यास-साहित्य से भी कर देता, तो देश-काल की दृष्टि से हिंदी उपन्यास के तुलनात्मक विकास का एक उचित रूप पाठक के सामने आता। किसी भी भाषा के साहित्य की उन्नति जिस देश में वह फल-फूल रही है, उसकी सभ्यता, संस्कृति, संस्कार तथा परिस्थितियों के अनुसार होती है। उपर्युक्त भारतीय भाषाएँ उसी वातावरण में विकसित हुई हैं, जिसमें हिंदी। इसलिए इनसे तुलना होने पर हिंदी उपन्यास की अपनी परिस्थितियों के अनुसार उचित उन्नति हुई है या नहीं, यह सही दृष्टि से हमारे सामने आता। हिंदी कथा-साहित्य पर बंगला कथा-साहित्य का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा

है। बंकिमचंद्र चटर्जी, प्रभातकुमार मुखोपाध्याय, राखालदास बंद्योपाध्याय, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, रवींद्रनाथ ठाकुर इत्यादि बंगला के उपन्यासकारों की कृतियों ने जिस तरह हिंदी उपन्यास की जड़ को सींचा है और उसके पल्लवित-पुष्पित होने में योगदान दिया है, उसके विषय में मौन रह कर हिंदी उपन्यास के रूप का उचित चित्रण कर सकना असंभव ही दिखलायी देता है। इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि इन भारतीय भाषाओं के उपन्यास-साहित्य से तुलना भी एक बहुत बड़ा काम होता और इससे पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जाता। यह ठीक ही है, परंतु यदि उतने विस्तार से तुलना न की जाती, जितनी पाश्चात्य उपन्यास से की गयी है, इस विषय पर एक छोटा अध्याय भी लिख दिया जाता, तो यह महत्वपूर्ण कमी इतनी अधिक न खटकती।

विभिन्न प्रकार के उपन्यासों का विवेचन करते समय लेखक ने ऐतिहासिक उपन्यास का विवेचन नहीं किया। अन्य प्रकार के उपन्यासों के साथ उसने ऐतिहासिक उपन्यासों को भी ले लिया है, जो उचित नहीं हुआ। ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास तथा औपन्यासिक तत्व के संमिश्रण, ऐतिहासिक उपन्यासों में लेखक का कल्पित घटनाओं अथवा छात्रों के संमिलित करने का अधिकार कितना है, किस दशा में तथाकथित ऐतिहासिक उपन्यास केवल इतिहास अथवा ऐतिहासिक बाना धारण किये हुए उपन्यास मात्र रह जाते हैं, इसका गंभीर विवेचन करने की आवश्यकता थी। लेखक ने यत्र-तत्र राहुल जी तथा वृंदावनलाल वर्मा का ज़िक्र आने पर इस विषय पर कुछ अत्यंत संक्षेप में लिख दिया है, जो अपर्याप्त है। उपर्युक्त दोनों लेखकों के उपन्यासों के अतिरिक्त नागर का 'शतरंज के मोहरे', आनंदप्रकाश जैन का 'कठपुतलियों के धागे' तथा चतुरसेन शास्त्री के कई उपन्यासों को इस दृष्टि से परखने की आवश्यकता थी।

इस पुस्तक का सबसे बड़ा गुण इसके लेखक की स्पष्टवादिता और पूर्वग्रह की कमी है। हिंदी के जिन बड़े लेखकों के आसपास एक प्रकार का वृत्त-सा बन जाने के कारण उनकी रचनाओं की संतुलित तथा स्पष्ट आलोचना नहीं हो पायी थी, उनकी भी लेखक ने बहुत स्पष्ट और निर्भीक आलोचना की है। यहाँ तक कि अपने गुरु आचार्य द्विवेदी जी की आलोचनाओं पर भी उसने स्पष्ट विचार प्रकट किये हैं।

लेखक को नयेपन के संबंध में भी दुराग्रह नहीं है। वह नयी प्रवृत्तियों का स्वागत करता है, परंतु जहाँ उसे ऐसा लगता है कि अमुक क़दम वास्तविक विकास के लिए हानिकर होगा, वहाँ निःसंकोच इसे प्रगट कर देता है। इधर कथा-साहित्य में कथानक के ह्रास के संबंध में बहुत कुछ लिखा गया है। डॉक्टर गणेशन ने प्रथम अनुच्छेद में ही लिखा है: **नवीन उपन्यासों में जीवन का जो विश्लेषणात्मक अध्ययन होता है, वह कथा को गौण बना देता है। किंतु यह निश्चित है कि वैचारिक एकता तथा शिल्प-चारुता के सुरक्षित्व के लिए कथा कम उपयोगी नहीं है। पाठक की दृष्टि से कथा ही उपन्यास की प्रथम आवश्यकता है। दर्शन, मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र का अभाव उसे सह्य होता है। उपन्यास में अपार ज्ञान-भंडार का समावेश हो, तो भी कथा के अभाव में वह**

भारी लगता है। **इसके विरुद्ध एक आकर्षक कथा हो, तो पाठक थोड़े-बहुत दर्शन, मनोविज्ञान आदि का भार भी सह सकता है।** लेखक ने यहाँ सीधे-सीधे पाठक के साधारण दृष्टिकोण को व्यक्त कर दिया है। विद्वानों का मनोरंजन दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र मनोविज्ञान आदि से हो सकता है। साधारण पाठक के मनोरंजन के लिए तो केवल कथा-साहित्य ही है, जिसका कथानक ही उसे विशेष रूप से आकृष्ट करता है। उसे भी गंभीर बनाने के चक्कर में या जीवन के निकट लाने की बात कह कर, दर्शन अथवा मनोविज्ञान की गुत्थियों को सुलझा कर या कथानक को अतिक्षीण कर के यदि हमने नया स्वरूप दे दिया, तो सर्वहारा वर्ग का यह एकमात्र संबल भी छिन जायगा।

उपन्यास-साहित्य किस ओर जा रहा है, उसकी नयी प्रवृत्ति क्या है, यह स्पष्ट करते हुए लेखक ने लिखा है, **नये दृष्टिकोण के अनुसार उपन्यासकार का कर्तव्य जीवन को सुधारना नहीं, उसे समझना है। उपन्यास का महत्व बतलाते हुए वह आगे लिखता है, भले ही कोरे अप्रायोगिक आदर्शवाद का अंत हो चुका हो, तो भी जीवन के प्रति उपन्यास का दायित्व उसे प्रतिबिंबित करने मात्र तक सीमित नहीं है। व्यक्ति और समाज का अध्ययन करने के साथ-साथ मनुष्य को समग्र रूप में समझ कर उसके जीवन के सात्विक लक्ष्यों को प्रकट करना ही उसका ध्येय है।**

निरपेक्ष दृष्टि से तटस्थ रहते हुए किसी कृति अथवा किसी लेखक की समस्त रचनाओं का इस प्रकार मूल्यांकन करना, जिसमें हमारी अपनी वैयक्तिक रुचि अथवा पूर्वग्रह की गंध न आवे, कम ही हो पाया है। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसा नहीं है, इसमें यथासंभव लेखक की रचनाओं के गुण-दोष का संतुलित विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' की हिंदी में बहुत चर्चा हुई है। हिंदी उपन्यास के इतिहास में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है। 'शेखर' कहाँ तक एक स्वतंत्र रचना है और कहाँ तक वह रोम्याँ रोलाँ के 'जाँ क्रिस्तोफ़' से प्रभावित है, इसका बहुत अच्छा अध्ययन लेखक ने प्रस्तुत किया है।

डॉक्टर गणेशन ने इसके पश्चात अनेक उदाहरण दे कर उपर्युक्त दोनों कृतियों में समानता दिखलायी है, यहाँ तक कि हम यह न भी मानें कि, 'शेखर' 'जाँ क्रिस्तोफ़' का अनुकरण मात्र है, परंतु हम यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि 'शेखर' का लेखक 'जाँ क्रिस्तोफ़' से बहुत प्रभावित है। इस निश्चय पर पहुँचने के पश्चात भी डॉक्टर गणेशन ने हिंदी उपन्यास में 'शेखर' का जो स्थान है, वह उसे बराबर दिया है। उनकी संतुलित आलोचना-शैली का यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।

जिन प्रसिद्ध से प्रसिद्ध लेखकों की उसने उनके किसी गुण विशेष के लिए मुक्त कंठ से प्रशंसा की है, उनके दोषों की ओर इंगित करने में तनिक भी संकोच नहीं किया है। पुस्तक में कुछ तथ्य लेखक ने स्वतंत्र रूप से बड़े स्पष्ट शब्दों में अंकित किये हैं। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' हिंदी जगत में कवि के रूप में विख्यात हैं। उनके चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। उनका उचित मूल्यांकन अब तक नहीं हो पाया था। डॉक्टर गणेशन ने इन उपन्यासों को उनका उचित स्थान दिलाने का प्रयास किया है। इसी प्रकार हिंदी

के एक बहुत बदनाम उपन्यास 'घेरे के बाहर' की चर्चा करते हुए भी उन्होंने बड़े साहस और संतुलन का परिचय दिया है।

पुस्तक बहुत बड़ी है और एक ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखी गयी है, जिसकी मातृभाषा मलयालम है, फिर भी पुस्तक की भाषा बड़ी सशक्त और प्रभावोत्पादक है। कहीं-कहीं नये तथा हिंदी में अप्रचलित प्रयोगों में बड़ी ताज़गी मिलती है। यत्र-तत्र भाषा-शैथिल्य भी दिखलायी देता है। उदाहरणार्थ पृष्ठ १०४ : **विशेष कर हार्डी के स्त्री पात्र की कोमलता का पुंज है।** पृष्ठ १६४ : **गिरती दीवारें का अध्याय पचास पूरा सबसे कमजोर है।** यहाँ लेखक संभवतः यह लिखना चाहता है कि पूरा पचासवाँ अध्याय सबसे कमजोर है। पृष्ठ ३०७ **लेकिन जब कभी वह पड़ोस की अक्सीनिया को देखे उसका सिर फिर जायगा।** पुस्तक में कई स्थानों पर 'निर्भाग्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। लेखक ने 'खाल उधेड़ना' के लिए 'खाल उखाडना' मुहावरे का प्रयोग किया है, अर्थ एक ही होते हुए भी हिंदी में मुहावरा पहले रूप में ही प्रचलित है।

इतनी अच्छी तथा उपयोगी पुस्तक लिखने के लिए मैं डॉक्टर गणेशन को बधाई देता हूँ।

--गंगाप्रसाद मिश्र,
प्रधानाचार्य, राजकीय इंटर कॉलेज, फैज़ाबाद।

वीणापाणि के कंपाउंड में

केशवचंद्र वर्मा का काव्य-संग्रह। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। सन १९६१। मूल्य : ३.००।

साहित्य में यदि जीवन सचमुच प्रतिबिंबित होता है, तो यह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य भारतीय जीवन का ठीक से प्रतिनिधित्व नहीं करता; क्योंकि जीवन में जितना हास्य-व्यंग्य पाया जाता है, उसका शतांश भी साहित्य में परिलक्षित नहीं होता। जीवन में हमें रात-दिन हास्य-व्यंग्य के अवसर मिलते हैं। राजनीति, धर्म और समाज-सुधार आदि में से कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ इन अस्त्रों को हम पैना न करते हों। व्यक्तिगत बातचीत से ले कर बड़ी से बड़ी सभाओं में जीवन की ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जहाँ इनका प्रयोग हम न करते हों। जीवन में उदासी है, तो मुस्कान भी; लेकिन न जाने क्या बात है कि हमारे लेखकों ने उदासी को अपना कर मुस्कान की ओर से आँखें फेर ली हैं?

कुछ विषय ऐसे होते हैं जो हास्य-व्यंग्य में ही खिल सकते हैं। विकृतियों का क्षेत्र ऐसा ही है। ये विकृतियाँ हमारे व्यक्तित्व को कुंठित करती हैं, समाज की गति को अवरुद्ध करती हैं, जीवन में हताश-भावना का प्रसार करती हैं। इन्हें यों ही नहीं छोड़ा जा सकता। यह भी निश्चित है कि गंभीर साहित्य इनसे लोहा नहीं ले सकता। इस दृष्टि से भी हास्य-व्यंग्य के लेखकों की संख्या कुछ अधिक ही होनी चाहिए थी।

पत्र-पत्रिकाओं में जो रचनाएँ प्रकाशित होती हैं, उनका स्तर, अपवादों को छोड़ कर, एकदम निम्न कोटि का होता है। गद्य में तो कभी-कभी कोई अच्छी रचना पढ़ने को मिल भी जाती है; पर कविताएँ इतने भोंडे ढंग की प्रकाशित होती हैं कि उन्हें कविता कहने में भी संकोच का अनुभव होता है। हास्य-व्यंग्य के क्षेत्र में जो दो-चार नाम सुनायी देते हैं, जैसे अमृतलाल

नागार, हरिशंकर परसाई और श्रीलाल शुक्ल हैं, उनमें से कवि एक भी नहीं है। रह गये काशी और दिल्ली के पद्यकार तथा मथुरा और हाथरस के तुक्कड़, उनका तो उल्लेख न करना ही ठीक होगा। ऐसी दशा में पतझर में खिले फूल के समान अकेले केशवचंद्र वर्मा रह जाते हैं।

हास्य-व्यंग्य के क्षेत्र में केशवचंद्र वर्मा ने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति उपन्यास, नाटक, निबंध एवं कविता सभी माध्यमों से की है। इस समय हम इनके काव्य-संग्रह 'वीणापाणि के कंपाउंड में' की कुछ विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

इन रचनाओं में हास्य-व्यंग्य के प्राचीन आलंबनों को एकदम त्याग कर नये विषयों की खोज की गयी है; प्रस्तुतीकरण में आधुनिक दृष्टिकोण से काम लिया गया है; तुक के प्रति आग्रह न प्रदर्शित कर मुक्त छंद को अपनाया गया है, और साथ ही अभिव्यक्ति का स्तर साहित्यिक है। इस प्रकार विषय, रूप और उद्देश्य की दृष्टि से ये कविताएँ एक नयी चेतना की वाहक हैं। 'नयी कविता' के क्षेत्र में गंभीर रचनाएँ करने वाले बहुत हैं; पर हास्य-व्यंग्य के सफल कवि केवल केशवचंद्र वर्मा हैं। इस प्रकार उन्होंने प्रयोगवादी काव्य के एक अभाव की पूर्ति कर उसके क्षेत्र को व्यापक बनाने में श्लाघनीय कार्य किया है।

आधुनिक जीवन से संबंधित कोई ऐसा विषय नहीं है जिसे इन्होंने इस ग्रंथ में किसी न किसी रूप में समेट न लिया हो। धर्म, राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य और कला को ले कर स्थान-स्थान पर व्यंग्य के छींटे मारे गये हैं। गंभीर काव्य के प्रणेताओं तथा हास्य-व्यंग्य के लेखकों के दृष्टिकोण में जो अंतर होता है, वह इन रचनाओं से एकदम स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए, इन्होंने सुमित्रानंदन पंत, अज्ञेय, बच्चन और कोकिल जी की कुछ कविताओं की 'पैरोडी' प्रस्तुत की हैं। इनके द्वारा इन्होंने एक ही वस्तु के दूसरे पक्ष को उभार कर उक्त कवियों की अतिशय भावुकतावादी वृत्ति की विसंगति को पाठकों के सामने प्रत्यक्ष किया है। जीवन के प्रति इसी दूसरे पक्ष को उभारना इनकी रचनाओं का मुख्य उद्देश्य है।

केशवचंद्र वर्मा संतुलित दृष्टिकोण के कवि होने के साथ उस अतिरंजना-दोष से मुक्त हैं जिसका सहारा प्राचीन काल से ले कर पिछली पीढ़ी तक के कवि लेते आये हैं। राजनीति में इन्होंने जैसे साम्यवाद और उसके समर्थकों को तीखे व्यंग्य-बाणों का लक्ष्य बनाया है, वैसे ही वर्तमान शासन के व्यापक भ्रष्टाचार पर पड़े पर्दों को भी उठा दिया है। साहित्य में छायावादी और नयी कविता दोनों की सीमाओं को प्रदर्शित करने में ये एक-सा रस लेते रहे हैं। इनके काव्य में जहाँ छायावादी प्रतीकों और बिंबों के घिसेपिटेपन का विवेचन मिलता है, वहाँ इस ग्रंथ में ढाई पंक्ति की एक ऐसी मनोरंजक प्रयोगवादी कविता भी है, जिसका शीर्षक छह पंक्तियों का है। इसके अतिरिक्त, व्यापारियों, संपादकों, असफल प्रेमियों और कुँवारे लोगों की खबर लेते हुए वर्मा जी ने आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषता यह बतलायी है कि इसमें सब एक दूसरे को न केवल मूर्ख समझते हैं, बल्कि मूर्ख बनाते भी हैं।

कला की दृष्टि से इनका व्यंग्य पंक्ति विशेष में न चमक कर पूरी रचना में अनुस्यूत रहता है। वह शब्दों के जोड़-तोड़, यमक-श्लेष, उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार-विधान पर निर्भर नहीं करता; बल्कि एक चेतना (स्पिरिट) है जो

धीरे-धीरे रचना पूरी होने पर अपना प्रभाव पाठकों के मन पर छोड़ती है।

हिंदी में हास्य-व्यंग्य की कमी का एक कारण भारतीय जनता पर धर्म और दर्शन के गंभीर प्रभाव में ढूँढा जा सकता है। दूसरा कारण यहाँ के नागरिक का तुनकमिज़ाज होना भी है। उसमें स्वभाव का वह खुलापन नहीं पाया जाता, जो दूसरे देशों के निवासियों की साधारण विशेषता है। किसी के संबंध में सामान्य-सी बात भी कहिए,तो लोग उसे व्यक्तिगत राग-द्वेष से प्रेरित अशोभन आक्षेप का नाम देने लगते हैं। इससे व्यक्ति और समाज की विकृतियाँ बढ़ती जाती हैं। परिणाम यह हुआ है कि जीवन का उजला मुख जन-साधारण की दृष्टि से एकदम ओझल होता जा रहा है। फिर भी जिस समाज में केशवचंद्र वर्मा जैसे लेखक हों, उसे निराश या उदास होने की आवश्यकता नहीं है।

—विश्वम्भर 'मानव'

८८८, कल्याणी देवी, इलाहाबाद-३

पत्रिका संबंधी घोषणापत्र

१. पत्रिका का नाम	:	माध्यम
२. प्रकाशन की अवधि	:	मासिक
३. मुद्रक तथा प्रकाशक का नाम	:	श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
४. संपादक का नाम	:	श्री बालकृष्ण राव
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
५. पूँजी का विनियोक्ता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

मैं पूरी जानकारी और विश्वास से घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण सत्य हैं।

रामप्रताप त्रिपाठी, प्रकाशक तथा मुद्रक, द्वारा हस्ताक्षरित

प्राप्ति-स्वीकार

नैवेद्य निकेतन, वाराणसी

कुटज (हजारीप्रसाद द्विवेदी)

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

१. कृष्णपक्ष (विनोदचंद्र पांडेय)
२. कल्पवृक्ष (रवींद्रनाथ त्यागी)
३. कोहवर की शर्त (केशवप्रसाद मिश्र)
४. आदिवासी भारत (योगेश अटल)
५. एक पंखड़ी की तेज़ धार (शमशेर सिंह नरुला)
६. वंशी की धुन (कन्हैयालाल मुंशी)
७. सनसनाते सपने (राधाकृष्ण)
८. हिरोशिमा के फूल (एदिता मारिस : अनु० मोहन राकेश)
९. धीरे बहे दोन रे (शोलोखोव : अनु० गोपीकृष्ण गोपेश)

गया जिला तरुण साहित्यकार संघ, गया

१. जागा हिंदुस्तान (त्रिवेणी शर्मा सुधाकर)
२. मगही तरंग (त्रिवेणी शर्मा सुधाकर)

कल्पना पाकेट बुक्स

नैवेद्य (गुरुदेवनारायण)

नालंदा साहित्य सदन, कलकत्ता

मेरे फूल तुम्हारा आँचल (गौरीरमण शर्मा मिलिंद)

श्री गणपत प्रकाशन, पटना

१. प्राथमिकी (बदरीनारायण सिनहा)
२. यह हिंदी हिंदवी है (" ")
३. मैना के उलझ गये डैना (" ")

कमलवीर प्रकाशन, नयी दिल्ली

सफ़र के साथी (सुनीता)

संत सूफ़ी साहित्य संस्थान, इलाहाबाद

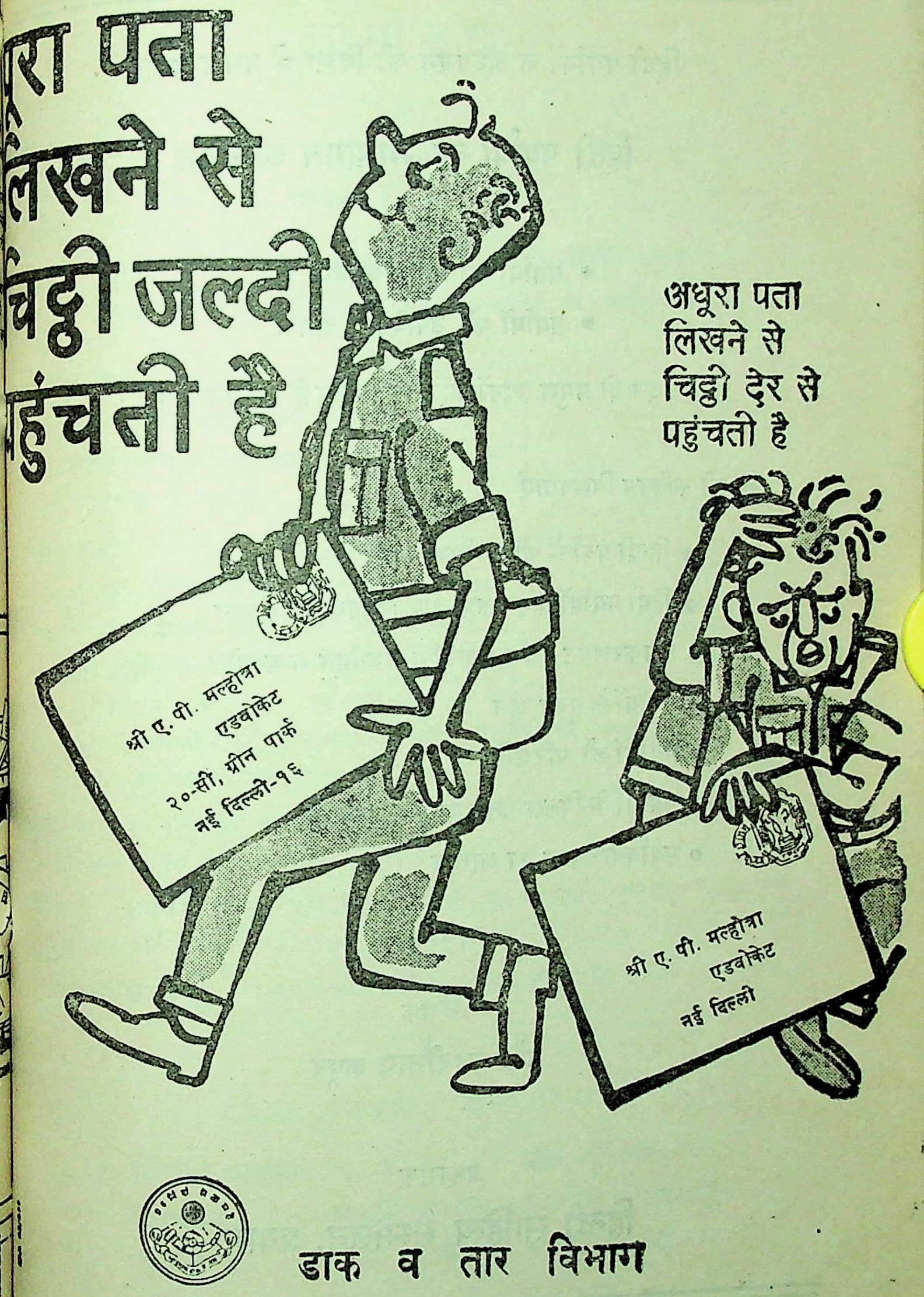
संत कवि मलूकदास (त्रिलोकीनाथ दीक्षित)

रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद

केरल वैभव (एन० वेंकटेश्वरन)

कपोत प्रकाशन, डाल्टनगंज

साहित्यकार प्रेमचंद्र : जीवन और साहित्य (सत्यनारायण)


रा पता
लिखने से
चिट्ठी जल्दी
हुंचती है
श्री ए. पी. मल्होत्रा
एडवोकेट
२०-सी, ग्रीन पार्क
नई दिल्ली-१६
अधूरा पता
लिखने से
चिट्ठी देर से
पहुंचती है
श्री ए. पी. मल्होत्रा
एडवोकेट
नई दिल्ली
डाक व तार विभाग

हिंदी पर्यायों के अध्ययन की दिशा में प्रथम प्रयास

हिंदी पर्यायों का भाषागत अध्ययन

- **पर्यायों की परिभाषा क्या है ?**
- **पर्यायों की उपादेयता क्या ?**

इन दो प्रमुख प्रश्नों के उत्तर निहित हैं इस ग्रंथ में।

ग्रंथ की कतिपय विशेषताएँ

- हिन्दी पर्यायों की पर्यायवाचकता की कोटियाँ
- हिंदी पर्यायों के उद्भव और विकास पर चिंतन
- व्याकरणगत विभिन्न भेदों में प्रवाहित शब्द-स्रोत
- पर्यायों के मुख्य क्षेत्र
- पर्यायों की परिणति
- पर्यायों के विवक्षागत अंतरों के प्रस्थापन
- पर्यायवाचकता का आधार

मूल्य ७.००

लेखक

डॉ० बदरीनाथ कपूर

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

ज्ञानोदय

●

सम्पादक

लक्ष्मीचन्द्र जैन : रमेश बक्षी

आधुनिक भावबोध, कला संवेतना और नवीनता का प्रतिनिधि मासिक

'कथा-मंच : विशेष परिशिष्ट' के बाद मार्च १९६६ का साधारण अंक

अब नये स्तंभ

० समय बोध ० मुक्त चिंतन ० ताज़े संदर्भ

० साहित्य-भूमि ० नयी कला

० प्रश्नान्तक ० तारीखें

विशेष शीर्षक

० संवाद––माईकेल एंजिलो : साये बढ़ रहे हैं...

० मलयाली वंशी––सप्तक : शंकर कुरूप की कविताएँ

० अंतर्राष्ट्रीय राम-झरोखा : नयी कला

० सोवियत कवि के घर एक शाम : एक गोष्ठी

० घायल दिशाओं में टूटे हुए आकाश की तलाश : सन पैंसठ की कविता

० कैकेयी का आत्मनिवेदन : तीखा व्यंग्य

कहानियाँ : स्व० मुक्तिबोध की लंबी कहानी 'विपात्र' के साथ ही कर्तारसिंह दुग्गल, पानू खोलिया, हिमांशु जोशी तथा बटरोही की कहानियाँ।

कविताएँ : बच्चन। अंचल। रामदरश मिश्र। कैलाश वाजपेयी। रणजीत। निर्मल वर्मा। देवदत्त। नीलम सिंह। ऋतुराज। विनय दुबे।

अन्य स्तम्भों के साथ ही : हरिभाऊ उपाध्याय, वीरेंद्र अग्रवाल, कोलिन विलसन की रचनाएँ भी.....

●

एक प्रति : एक रुपया : : वार्षिक दस रुपये

संपादकीय कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता – २७

वितरण केंद्र : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी

प्रमुख वितरक : बेनेट कोलमैन एंड कंपनी लि० बंबई – १

मुद्रक तथा प्रकाशक : रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

माध्यम

वर्ष २ : अंक १२
अप्रैल १९६६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

अप्रैल १९६६
वर्ष २ : अंक १२
पूर्णांक : २४

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

कविता

कहानी, लघुकथा

विविधा

विवेचना

गोष्ठी-प्रसंग

समीक्षाएँ

माध्यम

का

अंक २५

बहुप्रतीक्षित

केरल विशेषांक

● ●

आवश्यक निवेदन

प्रकाशनार्थ स्वीकृत सामग्री के आधिक्य के कारण हमें अनेक बार अपने एकाधिक स्थायी स्तंभों को रोकना पड़ा है। पाठकों ने देखा ही है कि तीन अंकों में 'विवेचना' का स्तंभ नहीं गया। 'सहवर्ती साहित्य' के स्तंभ के बिना भी कुछ अंक निकले हैं और यही स्थिति 'प्रतिपत्तिका', 'विविधा' और 'हिंदी जगत' शीर्षक स्तंभों के विषय में भी है। अब हमें प्रकाशनार्थ स्वीकृत रचनाओं की पंक्ति के विस्तार को देखते हुए विवश हो कर पूर्वस्वीकृत सामग्री के प्रकाशन को प्राथमिकता देने का निर्णय करना पड़ रहा है। फलतः कुछ समय तक किसी भी अंक में एक से अधिक स्थायी स्तंभ न दिया जा सकेगा।

पुस्तक-समीक्षाओं पर इस निर्णय का कोई प्रभाव न पड़ेगा।

—संपादक

नवलकिशोर

धर्म बनाम मानववाद

मानवता की तरक़्क़ी में मज़हबों ने बहुत मदद की है; उन्होंने चीज़ों की क़ीमत तय की है, मापदंड बनाये हैं और ज़िंदगी में रास्ता दिखाने वाले उसूलों को बताया है। लेकिन जो कुछ भलाई उन्होंने की है, उसके साथ ही ख़ास शक़्ल या पक्के यक़ीनों में उन्होंने सत्य को क़ैद करने की भी कोशिश की है। जिज्ञासा और विचार को बढ़ावा देने की जगह उसने प्रकृति के सामने, स्थापित संप्रदाय के सामने और सारी मौजूदा व्यवस्था के सामने सिर झुकाने के फ़लसफ़े का प्रचार किया है।[1]

सामाजिक विकास के आरंभ से धर्म ही नैतिक धारणाओं का उत्स था। उसने मनुष्य को सामाजिक हितों के लिए वैयक्तिक स्वार्थों के बलिदान को प्रेरित किया और प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि भावनाओं को बद्धमूल कर मानव-मूल्यों की आधारशिला रखी। सभी महान धर्म-प्रवर्तक मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर ही प्रवचन-प्रवृत्त हुए थे। विभिन्न धर्म-मतों को उचित सम्मान दिये बिना न इतिहास बोधगम्य है और न उन सांस्कृतिक आंदोलनों को हृदयंगम किया जा सकता है, जो विशिष्ट धार्मिक विचारों के प्रभाव में विकसित हुए। सभ्यता के विकास में धर्म का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है।[2] पश्चिम में पुनरुत्थान के बाद धर्म का सर्वव्यापी प्रभुत्व समाप्त होने लगा और विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास से उसका प्रभाव क्षीण होता गया। भारतीय नवजागरण में धार्मिक नवोन्मेष मिलता है, पर आगे चल कर पाश्चात्य वैज्ञानिक विचारों एवं मानववादी दर्शन का प्रभाव भारतीय चिंतनधारा पर भी पड़ा।

मानववादी आस्थाओं और धर्म के प्रचलित विधि-निषेधों के बीच विगत युगों में सदा संघर्ष हुए हैं, किंतु बहुत से आधुनिक धर्म-चिंतन मानववाद और धर्म की सहधर्मिता का प्रतिपादन करते हैं।[3] वे यह नहीं मानते कि धर्म का संबंध केवल मनुष्य के पर-लोक के कल्याण से

---

१. हिंदुस्तान की कहानी, अनु० : हरिभाऊ उपाध्याय।

२. लिटरेचर एंड वेस्टर्न मैन, पृ० ४४४-४५।

३. धार्मिक मानववादियों के एक वर्ग ने १९६३ में एक १५ सूत्री मानववादी घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था। उसके सूत्र निस्संदेह मानववादी आस्थाओं को व्यक्त करते हैं, लेकिन जैसा कि कार्लिस लेमाँ का कहना है, उन्हें प्राचीन और पवित्र धर्म शब्द के अपरित्याग का औचित्य सिद्ध करना चाहिए था।

है और इस लोक के कल्याण के प्रति वह उदासीन है। वे यह भी अस्वीकार करते हैं कि शाश्वत जीवन की खोज में धर्म नश्वर का निरादर करता है। न वे यह मानते हैं कि त्याग एवं तपस्या को गौरव देने का अर्थ पलायन-वृत्ति को प्रश्रय देना है और न यह स्वीकार करते हैं कि धर्म मनुष्य को निष्क्रियता या निरीहता की सीख देता है। उनकी मान्यता है कि सामाजिक आदर्शों और मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा धर्म के आधार पर ही संभव है--**सच्चा धर्म सामाजिक आदर्शवादियों से इस बात में सहमत है कि शाश्वत जीवन इसी पृथ्वी पर उपभोग्य है। मानव-प्रेम ईश-वंदना के तुल्य ही धर्म का मूलाधार है। हमें अपना विकास इस जीवन के ही माध्यम से इसे अतिक्रांत करते हुए करना है। सामाजिक आदर्शवादी आदर्श और यथार्थ के वैषम्य में--दो विरुद्ध विश्व-व्यवस्थाओं के असामंजस्य में विश्वास करते हैं जब कि उनकी एकता सब धर्मों का सार-तत्व है।**[1]

धर्म के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह है कि वह संपन्न वर्ग के स्वार्थ-साधन का निमित्त है, जो दरिद्र को दरिद्रता में और सामान्य जन को दासता में तुष्ट रख कर शोषण को ईश्वरीय विधान का अंग बना देता है। मार्क्सवादी धर्म को अफ़ीम के समान हेय समझते हैं। किंतु धार्मिक मानववादी न केवल इस आक्षेप का खंडन करते हैं, अपितु धर्म को मानववादी न केवल इस आक्षेप का खंडन करते हैं, अपितु धर्म को सामाजिक न्याय और समानता का स्रोत बताते हैं। प्रसिद्ध कैथोलिक मानववादी जेक्विस मेरिटेन[2] के अनुसार **संगठित समाज जिस ध्येय के लिए स्वभावतः ही प्रयत्नशील है, वह है जन-समाज के सामान्य हितों को इस रूप में उपलब्ध करना कि अलग-अलग व्यक्ति, केवल विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के नहीं, बल्कि संपूर्ण जनता के सदस्य, वास्तव में स्वाधीनता के उस प्रतिमान तक पहुँच सकें, जो सभ्य जीवन के उपयुक्त है और जो कार्य तथा संपत्ति की आर्थिक सुरक्षाओं, राजनीतिक अधिकारों, नागरिक गुणों एवं मानसिक समृद्धि से संवलित है।**[3]

धार्मिक चिंतन हमारे वर्तमान की कुत्साओं का कारण आज के जीवन में व्याप्त धार्मिक दृष्टि के अभाव में ढूंढ़ते हैं। उनके अनुसार धर्म के बिना समाज अधिक समय तक स्थिर नहीं रहेगा, वह युद्ध या अन्य किसी मूढ़ आचरण द्वारा स्वयं को विनष्ट करने के लिए बाध्य होगा। अमानवीय प्रवृत्तियों से संभावित सर्वनाश से रक्षा केवल धर्म की शरण लेने पर ही संभव है। लेकिन ऐसे अधिकांश लोग अपने विशिष्ट धर्म के प्रचार-प्रसार में ही विश्व-कल्याण की संभावना देखते हैं। जे० बी० प्रीस्टले ने इनकी आलोचना करते हुए लिखा है कि 'मेरे विचार में वे ग़लत हैं। यदि उनके लिए कोई विश्वास या कोई चर्च अथवा कोई धर्म हितकर है तो ठीक है, उनके निजी विश्वास को ले कर मैं विवाद नहीं करता। लेकिन न मेरा कोई धर्म है और न मेरे अधिकांश

---

१. ईस्ट एंड वेस्ट इन रेलिजन, डॉ० राधाकृष्णन।

२. जेक्विस मेरिटन का मानववाद कैथलिक मानववाद या अखंड मानववाद (इंटेगरल ह्यूमेनिज़्म) भी कहलाता है।

३. आई बिलीव, पृ० २३२, जार्ज एलेन एंड युनिविन लि०, पंचम संस्करण।

मित्रों का। मेरे विवेच्य (अभिप्राय 'लिटरेच एंड वेस्टर्न मैन' में चर्चित लेखकों से है— ले०) प्रमुख आधुनिक लेखकों में बहुत कम के पास कोई धर्म है; जो निश्चित है वह यह है कि हमारे समाज के पास कोई धर्म नहीं है, भले ही वह किसी को अपना बताये। अब वह केवल अधार्मिक ही नहीं, बल्कि प्रबल धर्म-विरोधी है। और हम चाहे किसी विद्यमान ईसाई चर्च के अनुगामी बन जायँ, हम उसे वह शक्ति नहीं दे सकते कि अब तक जो घट चुका है, उसे वह मिटा दे।'

वैज्ञानिक उन्नति और तकनीकी विकास तथा जीवन की संचालक मूल वृत्तियों और जगत की नियामक शक्तियों की खोज ने मनष्य की सनातन मान्यताओं और युग-युग से चली आती आस्थाओं को नष्ट कर दिया है, फलतः हमारी नैतिक धारणाएँ ध्वस्त हो चुकी हैं और धर्म का हमारे जीवन से प्रभुत्व उठ गया है। धर्मोद्धार की कतिपय नवीन चेष्टाओं के बावजूद धर्म-निरपेक्षता की एक अप्रतिबाध्य प्रक्रिया आज सक्रिय है। दिव्य सत्ता की उपस्थिति का मान हमारे पूर्वजों के अनुभव-जगत में कितना ही महत्वपूर्ण रहा हो, हमारे अपने जीवन से उसका दूर होना ही अधिक सत्य है।

परम प्रभु की अनुपस्थिति के तीव्र बोध से व्यथित धार्मिक मानववादी उसकी पुनः स्थापना चाहते हैं। टी० एस० इलियट के अनुसार दिव्य सत्ता से विरहित 'मानवीय' की कल्पना असंभव है—**मेरे विचार से मानववाद अधिकतर 'मानवीय' शब्द के वाक्छल पर और साधारणतः उस पर उन विशिष्ट दार्शनिक विचारों के आरोपण पर जो उसमें हैं ही नहीं, निर्भर करता है। मेरा विरोध यह है कि मानववादी प्राकृतिक से मानवीय के पृथक्करण में उसी 'अति प्राकृत' का प्रयोग करता है, जिसका वह यों निषेध करता है। मेरी यह दृढ़ प्रतीति है कि यदि इस 'अति प्राकृत' का दमन किया जाता है (मैं आध्यात्मिक शब्द से बच रहा हूँ, क्योंकि इसका कुछ भी अर्थ लिया जा सकता है) तो मनुष्य और प्रकृति का द्वंद्व ही तत्क्षण विलीन हो जाता है, क्योंकि वह अति प्राकृतिक वास्तविकताओं को महसूस कर सकने के कारण ही मनुष्य मनुष्य है न कि इसलिए कि वह उनका आविष्कार कर सकता है। या तो मनुष्य में प्रत्येक वस्तु का विकास नीचे से होता है या कुछ ऊपर से अवतरित होता है। इस द्विधा से बचा नहीं जा सकता, या तो आपको प्रकृतिवादी बनना होगा या अति प्राकृतवादी। यदि आप 'मानवीय' शब्द को उस सबसे वंचित कर देते हैं, जो अति प्राकृतिक के प्रति आस्था ने मनुष्य को दिया है, तो आप मनुष्य को अंतिम रूप से अति चतुर, अवसरवादी और धूर्त एवं क्षुद्र पशु से अधिक गौरव नहीं दे सकते।**[1] अतः धार्मिक मानववादियों की दृष्टि से मात्र मानववाद अपूर्ण है, लेकिन वे उनके विषय में तनिक भी चिंता करने को उद्यत नहीं हैं, जो उनकी तरह सहज भाव से मानवोपरि शक्ति में विश्वास नहीं कर पाते।[2] धार्मिक मानववादियों के लिए चूँकि ऐसा विश्वास वांछनीय है, अतः इसका

---

१. सेकंड थॉट ऑन ह्यूमेनिज्म, टी० एस० इलियट, सेलेक्टेड एसेज, पृ० ४४७।

२. सी० ई० एम० जोड के अनुसार मानवेतर को स्वीकार करने की असफलता ही पतन (डिकेडेंस) का कारण है। द्रष्टव्य डिकेडेंस, माडर्न फ़िक्शंस, एम० जी० मुलर (अ थियरी ऑफ़ वैल्यू : ह्यूमेनिज्म, पृ० ९७।)

औचित्य उनके लिए अतर्क्य है। कौन सा मत ग्राह्य है, यह प्रश्न भी उनके संमुख नहीं है—व्यक्ति अपने पूर्वजों का विश्वास संस्कारवश सहज ही स्वीकार कर लेता है, इसीलिए इलियट का कथन है कि **हमारे लिए धर्म का अर्थ है ईसाइयत।**

विकासवाद की तर्क-प्रणाली का आश्रय ले कर अरविंद ने एक भविष्यवाणी की है। उन्होंने मानव-चेतना के कुछ स्तर परिकल्पित किये हैं। मनुष्य के निरंतर विकास-क्रम में चेतना ने पशु-धरातल से मानव-धरातल पर संचरण किया है और अब कोई कारण नहीं कि इसकी गति रुक जाय। वर्तमान स्थिति का अतिक्रमण कर वह अतिमानव-स्तर को प्राप्त करेगी। ऊर्ध्व चेतना के इस सोपान पर शीघ्र पहुँचा जा सकता है, यदि हम ऊर्ध्व संचरण के लिए प्रयत्नशील हों। दिव्य शक्ति स्वयं हमारी सहायता को प्रस्तुत है। मनुष्य के अंदर दिव्य का साक्षात्कार होने पर समस्त सांसारिक वैषम्य निश्शेष हो जायँगे। अरविंद मनुष्य में संकल्प-वृत्ति को जगाते हैं, किंतु जहाँ वे आचरण की मर्यादा को वर्तमान जीवन के बजाय किसी रहस्यमय भविष्य और मानवोपरि दिव्य सत्य की ओर उन्मुख मानने लगते हैं, वहाँ उसी प्रकार के पलायन का प्रतिपादन करते हैं, जो स्वप्न संसार में आकांक्षा-पूर्ति (विद फ़ुलफ़िलमेंट) के परिणामस्वरूप जन्म लेता है। अरविंद का नवमानववाद एक प्रकार के रहस्यवाद का रूप धारण कर लेता है।

धर्म का इतिहास मानव-महत्व के वैतालिकों को दी गयी यातनाओं से आपूर्ण है। पोप की आज्ञा से ब्रूनो को जीवित जलाये जाने, गैलीलियो को यंत्रणा दिये जाने आदि घटनाओं से हम परिचित हैं। धर्मोन्माद ने मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा के जो बीज बोये, उन्होंने विष-फल देना आज भी बंद नहीं किया है। धर्म युद्धों की रक्तरंजित कथाओं से भी वाक़िफ़ हैं। धर्म के नाम पर हुए नृशंस हत्याकांडों और निर्मम अत्याचारों की कहानी को दुहराने का यहाँ अवसर नहीं है। धार्मिक मानववादी इस सबसे अनभिज्ञ हों, ऐसा नहीं है, पर वे धर्म के वास्तविक रूप को इससे अस्पृष्ट (अंटच्ड) मानते हैं। धर्म के आलोचकों के अनुसार मानव-भाग्य का संचालन-सूत्र किसी अदृश्य शक्ति को सौंपने के लिए धर्म अपनी प्रकृति से ही बाध्य है। पोप पायस द्वारा १९३२ में भयानक मंदी (ग्रेट डिप्रेशन) के समय दिया गया परितोष (कांसोलेशन) इस दृष्टि से उल्लेखनीय है—**ग़रीब और वे सब लोग जो इस समय रोजगार की कमी और खाद्य के अभाव की कठिन परीक्षा का सामना कर रहे हैं, उन्हें तपस्या के भाव से अत्यंत त्यागपूर्वक अपने उन कष्टों को भोगना चाहिए, जिन्हें दुर्भाग्य के इन दिनों और समाज की अवस्था ने थोपा है और जो दिव्य नियति की निरंतर प्रिय किंतु अबूझ योजना के अनुसार निर्दिष्ट हैं।** स्पष्ट ही इस प्रकार की पराजय-भावना और ऐसा नियतिवाद मानववाद की मूल चेतना के विरुद्ध है, जिसके अनुसार मनुष्य ही एकमात्र कर्ता है जो अपने दुर्भाग्य से जूझता है और अंततोगत्वा सब बाधाओं को वशीभूत कर लेता है, अपूर्णताओं से लड़ता है और अभावों को भरता है—जो स्वयं अपने भाग्य का निर्माण करता है।

भौतिक सुखों के प्रति धर्म का उपेक्षा-भाव मानववाद को आलोचना का एक और आधार देता है। धार्मिक मानववादी लोक के भौतिक कल्याण को उपेक्षणीय नहीं मानते, किंतु वे अंतिम महत्व व्यक्ति के आध्यात्मिक कल्याण को ही देते हैं, उदाहरण के लिए चार पुरुषार्थों

को स्वीकार कर के भी भारतीय धर्म-साधना मोक्ष (अर्थात् संसार-चक्र से छुटकारे) को ही चरम पुरुषार्थ मानती है और ईसाई धर्म में शारीरिक वासनाओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। मानववाद मनुष्य की कामादि मूल-वृत्तियों को न केवल महत्व देता है, अपितु यह स्वीकार कर चलता है कि उनकी उचित संपूर्ति ही सभ्य मानव के निर्माण के उपकरण जुटाती है।

यदि विविध धर्मों का समाज-शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन किया जाय, तो पता लगेगा कि वे विशिष्ट समाजों की अलग-अलग माँगों के उत्तर में जन्मे, बढ़े और बदले। अपने युग की समस्याओं का समाधान एक सीमा तक प्रत्येक धर्म ने किया। उनसे हमारे युग के प्रश्नों के हल की अपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए। आज हमें नैतिक प्रेरणा न तो बड़े-बड़े धर्मपीठों से, न दैनिक जीवन से दूर की औपचारिक आराधनाओं से और न उत्तराधिकार में प्राप्त मतों से मिल सकती है। मिल सकती है, तो मानव-प्रगति के प्रति आस्थाशील किसी रचनात्मक नयी इंजील से ही।

धर्म वस्तुतः आज वैयक्तिक विश्वास की वस्तु है। यदि धार्मिक प्रेरणा में कोई अपने व्यक्तित्व की सार्थकता ढूँढ़ता है और यदि उसने व्यक्तिगत और सामाजिक स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित कर लिया है, तो मानववादी को उसकी मान्यताओं के प्रति कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मनुष्य की बुद्धि से किन-किन चिंतन-सरणियों का उद्भव होगा और उसका हृदय किन आस्थाओं को जन्म देगा—अंततोगत्वा यह प्रश्न सर्वथा अज्ञेय है। सह-अस्तित्व और औदार्य सभ्य जीवन की आवश्यक शर्तें हैं। अतः कुछ मानववादियों का आत्यंतिक धर्म-विरोध वांछनीय नहीं है; क्योंकि उससे एक रूढ़िवादिता मानववाद में स्थान पा जाती है।

क्या मानववाद और धर्म में समन्वय संभव है? डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'ईस्ट एंड वेस्ट इन रेलिजन' की भूमिका में विश्व के क्षितिज पर एक नव-मानववाद के उदय की घोषणा की है। वे इस नव-मानववाद का संबंध विभिन्न धर्मों के आदर्शों की छत्रछाया में संगठित एक विश्व-व्यापी मानव-चेतना से जोड़ते हैं और उनके अनुसार धर्म मनुष्य के भौतिक और सामूहिक कल्याण की भी उतनी ही चिंता करता है, जितनी आध्यात्मिक और वैयक्तिक कल्याण की। जे० बी० कोट्स को उस विकृत धार्मिकता के विरुद्ध मानववाद के आक्षेपों से कोई शिकायत नहीं है, जो मनुष्य की स्वतंत्र कर्तृत्व-शक्ति को अस्वीकार करती है। वे स्वयं ईश्वर की ऐसी ही व्याख्या करते हैं, जो मनुष्य को मूल्यों का कर्ता और अपने भविष्य का विधाता बनने का सामर्थ्य देता है।[1] जेक्विस मेरिटन ने कैथलिक धर्म के आदर्शों के आधार पर संगठित एक सुखी समाज की कल्पना की है, जिसमें न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा होगी। धर्म और मानववाद के समन्वय के प्रयास उल्लेखनीय हैं, किंतु समन्वय की अपेक्षा दोनों का सहअस्तित्व ही अधिक संभव प्रतीत होता है। मानवोपरि दिव्य सत्ता की कल्पना के बिना धर्म की स्थिति ही संभव नही है, जब कि वैज्ञानिक मानववाद अपनी प्रकृति से ही किसी मानवेतर सर्वशक्तिमान को अस्वीकृत करने के लिए बाध्य है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक और चिंतक जूलियन

१. द क्राइसिस ऑफ़ ह्यूमन पर्सनालिटी।

हक्सले के अनुसार विकासशील मनुष्य न तो उस परम पिता के चरणों में जा कर अपने एकांत से त्राण पा सकता है, जिसे उसने ही सिरजा है। और न दिव्य शक्ति की शरण ले कर निर्णय के दायित्व से बच सकता है और न अपनी वर्तमान समस्याओं का सामना करने से भाग सकता है और न एक सर्व-समर्थ किंतु दुर्भाग्य से अगम्य नियति पर विश्वास कर अपने भविष्य के लिए आयोजन करने से विमुख हो सकता है।[11]

मानववाद के लक्ष्य ही इस धरती पर जीवन का अर्थ पाना है। मानववाद सब अति प्राकृतवादी धर्मों से इस बात में भिन्न है कि इसके ध्येय का केंद्र इस दुनिया के सिवाय और कोई दुनिया नहीं है। इसका यह एक मौलिक अभिप्राय है कि इस दुनिया और इस पर की ज़िंदगी को बेहतर बनाया जा सकता है और इन्हें उन्नत बनाने का उद्योग करना हमारा कर्तव्य है। मानव के लिए सुख ऐसी नैतिक धारणा है जिसका संबंध उसके मर्त्य जीवन से ही है।

अंध नियति के विरुद्ध एक अविराम संघर्ष मनुष्य का चरम इष्ट है। वह स्वयं अपना भाग्य-विधाता है। धार्मिक सुधारवादियों से कुछ आचारपरक (एथिकल) और सामाजिक उद्देश्यों में मानववादी सहमत हो सकते हैं, किंतु मानव-केंद्रित जीवन-दर्शन के रूप में मानववाद किसी आध्यात्मिक उपलब्धि को चरम लक्ष्य मानने वाले धार्मिकों की विचारणा के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि पार्थिव जीवन को महत्व देने के बावजूद भी उन धार्मिकों का परम इष्ट दिव्य जीवन ही रहता है।

—हिंदी विभाग, उदयपुर वि० वि०,
(एम० बी० कॉलेज), उदयपुर।

११. हिंदुस्तान टाइम्स, २४ सितंबर, १९६१ से उद्धृत (मूल 'आब्ज़र्वर')

ओमप्रकाश दीपक

साहित्य में व्यक्ति और समूह का द्वंद्व

व्यक्ति और समूह के द्वंद्व का एक बड़ा ही महत्वपूर्ण पक्ष, विशेषतः कला के संदर्भ में, अल्पसंख्यक समूह और बहुसंख्यक समूह का द्वंद्व भी होता है। साहित्य का माध्यम उसे एक अल्पसंख्यक समूह (किसी भाषा-समूह) के साथ संबद्ध करता है, लेकिन सभी कलाओं की भाँति साहित्य भी सीमाओं को लाँघने की चेष्टा है, और इस कारण मूलतः सार्विक होता है। इसलिए अल्पसंख्यक समूह और बहुसंख्यक समूह के द्वंद्व का सामना लेखक को भी करना पड़ा है।

सबसे बड़ा समूह है मानव-जाति। (यूँ कोई दार्शनिक विवेचन करना चाहे तो प्राणिमात्र या सृष्टि-मात्र को भी ले सकता है, लेकिन उसकी यहाँ कोई ज़रूरत नहीं। यहाँ समूह से मेरा तात्पर्य केवल मानव-समूहों से है।) मानव-जाति अपनी संपूर्णता में असंगठित है; संस्थागत नहीं है। फलस्वरूप मानव-जाति की धारणा केवल मानवीय गुणों और मानवीय संबंधों से जुड़ी हुई रही है—तर्क बुद्धि, प्रेम, करुणा जैसे गुण और मानवी एकता के संबंध ('वसुधैव कुटुंबकम्', 'समान प्रसवः जातिः')। ये गुण और संबंध सार्विक हैं, इसलिए सर्वथा वैयक्तिक भी हैं। वैयक्तिकता और सार्विकता के इन मिले-जुले तत्वों के विरुद्ध हम राज्य, राष्ट्र, जाति, धर्म, वर्ग, समुदाय अथवा सभ्यता जैसे समूहों को पाते हैं, जो मानव-जाति की तुलना में अल्पसंख्यक हैं, और किसी न किसी रूप में संगठित हैं। व्यक्ति-मानव के साथ ये सभी समूह टकराते हैं, क्योंकि ये उसके गुणों और संबंधों को सीमित करते हैं; बाँधते हैं। और ये समूह आपस में भी टकराते हैं—धर्म और राज्य, राज्य और सभ्यता, वर्ग और राज्य आदि।

पिछली तीन शताब्दियों में इन संघर्षों में राज्य की हर जगह विजय हुई है, और आज बीसवीं शताब्दी के मध्य में राष्ट्र-राज्य सबसे महत्वपूर्ण और सशक्त समूह है। फलस्वरूप व्यक्ति और समूह के द्वंद्व का सबसे मुखर रूप है व्यक्ति-मानव और राष्ट्र-राज्य का द्वंद्व। राज्य की सीमाओं के अंदर लेकिन अपने प्रभावों में उन सीमाओं को लाँघता हुआ है वर्गों और वर्णों का टकराव—काले-गोरे का टकराव, किसान-भूस्वामी का टकराव, मालिक-मजदूर का टकराव, शुद्र-द्विज का टकराव।

इन संघर्षों की पृष्ठभूमि में मनुष्य द्वारा पूर्णता की आकांक्षा और प्रयास, जिसमें स्त्री-पुरुष संबंधों के नये रूपों की तलाश भी आ जाती है—संपूर्ण आधुनिक साहित्य को इस संदर्भ में समझा और निरूपित किया जा सकता है, वस्तुतः संपूर्ण आधुनिक कला को ही।

इन संघर्षों के फलस्वरूप कभी-कभी मूर्त और अमूर्त का संबंध-विच्छेद हो जाता है—राष्ट्र (या सर्वहारा या आर्य जाति या गोरी सभ्यता या ईसाई धर्म अर्थात कोई भी समूह) महान है, और जनता (यानी अलग-अलग व्यक्ति) क्षुद्र है, मूर्ख है। यह संबद्ध-विच्छेद अक्सर तानाशाहियों को जन्म देता रहा है। लेकिन साहित्य मे यह संबंध-विच्छेद एक प्रकार के अभिजात विद्रोह या अलगाव को भी जन्म देता है, जिसकी परिणति कभी-कभी एक प्रकार के मृत्यु-मोह में होती है। लेखक मानवीय गुणों से भी जुड़ा रहना चाहता है, और समूह की महानता, व्यवस्था, और परंपरा से भी। लेकिन होता इसके विपरीत है। परंपरा की जड़ता, व्यवस्था का अन्याय और महानता की क्रूरता उसे समूह से नहीं जुड़ने देती, और व्यक्ति की क्षुद्रता, मूर्खता और अंध-विश्वास उसे जन-सामान्य से काटते हैं, और अंत में वह अपने को बिल्कुल अकेला पाता है। वह जिनके बारे में लिखना है, उनके लिए नहीं लिखता। वह संबोधित करता है अपने परिवेश के बाहर किसी अपरिभाषित समूह को, या फिर अपने जैसों के एक विशिष्ट वर्ग को। यह विशिष्ट वर्ग धीरे-धीरे सिकुड़ता हुआ उसके अपने व्यक्तित्व तक सीमित रह जाता है। कभी-कभी फिर वह भी नहीं रह जाता और लिखना सिर्फ़ एक बेबसी रह जाता है। इसकी परिणति होती है आम तौर पर मृत्यु-मोह में।

इस परिणति से बचने का सीधा सा उपाय होता है व्यक्ति या समूह में से किसी एक की सर्वोच्चता स्वीकार कर लेना, इसमें कुछ आत्म-वंचना निहित हो सकती है, लेकिन यह रास्ता कुछ आसान है, क्योंकि इस तरह आदमी अकेला नहीं रह जाता।

इस प्रसंग में आंतरिकता, आध्यात्मिकता अथवा किसी प्रकार के रहस्यवाद के रूप में धर्म की ओर वापसी भी समस्या का हल प्रस्तुत करती प्रतीत होती है, क्योंकि संगठित धर्म संगठित राज्य से पराजित हो चुका है और आंतरिकता या आध्यात्मिकता सहज मानवीय गुण है। दिक़्क़त यह है कि धर्म पराजित भले ही हो गया हो, असंगठित नहीं है, और अंततः आध्यात्मिकता का मानवीय गुण भी ईसाइयत या इस्लाम या बौद्ध धर्म या हिंदू धर्म के साथ जुड़ जाता है। और किसी भी सूरत में इससे किसी लेखक की व्यक्तिगत समस्या भले ही सुलझ जाय, व्यक्ति और समूह के द्वंद्व का समाधान नहीं होता।

किसी वर्ग (जैसे सर्वहारा) या वर्ग (जैसे गोरे लोग) के रूप में राज्य से भिन्न किसी समूह की उच्चता स्वीकार कर लेने से भी द्वंद्व का समाधान नहीं होता, क्योंकि अपने संगठित रूप में ये समूह अपने सदस्यों के प्रति भी उतने ही अमानवीय होते हैं, जितने अन्य समूहों के प्रति। इस अमानवीयता को स्वीकार कर के, अर्थात उस सीमा तक स्वयं स्थानच्युत हो कर ही लेखक इस प्रश्न का उत्तर पा सकता है कि वह किसके बारे में लिखे, किसके लिए लिखे।

व्यक्ति की सर्वोच्चता स्वीकार करते ही सवाल उठता है, कौन व्यक्ति ? व्यक्ति केवल मानवीय गुणों और संबंधों से ही बँधा नहीं होता, किसी न किसी रूप में विभिन्न समूहों से भी जुड़ा रहता है, क्योंकि सामाजिकता भी एक मानवीय गुण है। और सामाजिकता के माध्यम होते हैं संगठित समूह।

फिर लेखक क्या करे? द्वंद्व की उपेक्षा कर के किसी अज्ञात मित्र को संबोधित करे? या आने वाली पीढ़ियों के अज्ञात भविष्य को?

ये उत्तर भी संतोष नहीं देते, क्योंकि आंतरिकता या किसी को भी संबोधित न करने से दृष्टिकोण की भाँति ये समस्या को बचा भले ही जायँ, उसका कोई हल प्रस्तुत नहीं करते। उनसे भी अधिक से अधिक किसी लेखक की अपनी व्यक्तिगत समस्या ही हल हो सकती है। बल्कि जैसा हम आगे देखेंगे, यहाँ भी लेखक किसी हद तक स्थानच्युत हो जाता है। और लेखक मात्र के सामने ही भाषा के लेखक के सामने जो समस्या है, उसका कोई समाधान नहीं मिलता।

मेरा ख़याल है कि व्यक्ति और समूह के संबंधों के प्रसंग में कला का क्या स्थान है, इसे समझने की कोशिश अगर हम करें तो अपनी समस्या का समाधान खोजने में सहायता मिल सकती है। हर व्यक्ति कुछ संगठित समूहों का सदस्य होता है, इसलिए बहुधा ऐसा कह दिया जाता है कि व्यक्ति समाज का अंग है। यह बात बिल्कुल ग़लत और भ्रामक है, क्योंकि 'समाज' से केवल संगठित समूहों का ही बोध होता है, जब कि व्यक्ति का संबंध असंगठित समूहों से भी होता है। दूसरे सदस्यता और आंगिता, ये संबंध एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होते हैं। व्यक्ति समाज का अंग होता है, यह धारणा उतनी ही ग़लत है, जितनी यह कि व्यक्ति का अस्तित्व सर्वथा समाजनिरपेक्ष होता है।

पहले भी कई स्थानों पर मैं इस प्रश्न की चर्चा कर चुका हूँ। यहाँ मैं केवल इतना ही कहूँगा कि जीवन के अन्य बहुतेरे द्वैधों के समान यहाँ भी अन्योऽन्याश्रित का संबंध है, या अधिक वैज्ञानिक शब्दावली में 'ध्रुवीय संबंध' (अन्योऽन्याश्रित की धारणा को व्यक्त करने वाला यह शब्द सुझाने के लिए मैं अपने मित्र श्री बद्रीनाथ तिवारी का आभारी हूँ)। अर्थात व्यक्ति और समूह दोनों एक दूसरे पर कार्य करते और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह संबंध आज बिल्कुल विगड़ गया है, यह अलग बात है। व्यक्ति के जीवन में समूह का हस्तक्षेप बहुत अधिक बढ़ गया है, व्यक्ति का जीवन बहुत अधिक समूह-निर्देशित और समूह-नियंत्रित हो गया है। यह बात हमारे युग की सभी समाज-व्यवस्थाओं के लिए सच है, चाहे वे 'व्यक्तिवादी' कहलाती हों या 'समाजवादी'। इसकी विस्तृत चर्चा दिलचस्प और लाभदायक हो सकती है, लेकिन यहाँ अप्रासंगिक होगी।

हमें मतलब इस बात से है कि साहित्य शायद जीवन का वह सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसमें व्यक्ति समूह पर कार्य करता है और उसे प्रभावित करता है। सीमित रूप में एक ऐसा ही अन्य क्षेत्र है स्वतंत्र मतदान। दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति एक सामाजिक दायित्व का निर्वाह करता है। यह ठीक है कि अपने आपमें और अपने प्रभावों में लेखक का दायित्व अधिक व्यापक और गंभीर होता है। लेकिन दोनों ही स्थितियों में इस दायित्व पर किसी प्रकार का भी बाह्य नियंत्रण सर्वथा अवांछनीय होता है—चाहे वह नियंत्रण राज्य, दल अथवा पूँजीपतियों जैसे किसी वर्ग का हो, अथवा अन्य किसी अप्रसांगिक तत्व का।

इस प्रकार व्यक्ति और समूह के संबंधों के प्रसंग में साहित्य पर समूह का नियंत्रण या हस्तक्षेप उतना अनुचित और अवांछनीय है, जितना व्यक्ति द्वारा सामाजिक नियमों का उल्लंघन।

कठिनाई यह है कि समूह अपने नियमों के उल्लंघन को दंडित कर सकता है, लेकिन व्यक्ति केवल विद्रोह कर सकता है। जहाँ स्वतंत्र वोट का अधिकार छीन लिया जाय या सीमित कर दिया जाय, वहाँ सामान्य व्यक्ति भी संगठित या असंगठित विद्रोह ही कर सकता है। व्यक्ति और समूह के संबंध चूँकि हर जगह बिगड़े हुए हैं, व्यक्ति चूँकि कहीं भी सचमुच स्वतंत्र नहीं है, इसलिए हर सर्जनशील लेखक, हर कलाकार मूलतः विद्रोही होता है।

इस पृष्ठभूमि से ज़ाहिर है कि लेखक की ज़िम्मेदारी पूर्णतः अपने अनुभूत यथार्थ के प्रति अपने व्यक्तित्व और अपने भावबोध के प्रति, अपनी मानवीयता के प्रति होती है। यह उसकी अपनी निष्ठा की ही नहीं, उसके सामाजिक दायित्व की भी माँग है। किसी बाहरी दवाव से प्रभावित हो कर न मतदाता अपने दायित्व का निर्वाह कर सकता है, न लेखक। यह भी ज़ाहिर है कि यथार्थ एक चुनौती होती है, जिसके विना वह अपनी ज़िम्मेदारी नहीं निभा सकता।

अतः व्यक्ति और समूह के संबंध किसी स्थिति विशेष में चाहे जो भी हों, हर हालत में लेखक को इन संबंधों की समस्या का सामना अलग-अलग अपने आप ही करना होगा। इसके साथ ही अपनी रचना के साथ लेखक के संबंध का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। लेखक के लक्ष्य से अलग, रचना की उपलब्धि का बहुधा अपना महत्व होता है। लेखक किसे संबंधित करता है, क्या कहता है, इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि रचना किसे संबोधित करती है, क्या कहती है, जिस परिवेश में जन्म लेती है, उसे कहाँ तक लाँघ जाती है। किसी विशिष्ट स्तरीय पाठक को संबोधित करना आज की विशिष्ट स्थिति में किसी हद तक लेखक की मजबूरी हो सकती है, क्योंकि उसका परिवेश ही नहीं, आम तौर पर उसका व्यक्तित्व भी खंडित है, और पाठक-समूह भी न केवल विशाल है वरन वँटा हुआ भी है। लेकिन हर सूरत में लक्ष्य एक ही हो सकता है जिसे प्राप्त करने की चेष्टा हर लेखक को हमेशा करनी होगी——व्यक्ति की सीमाओं से लाँघ कर बीच के अल्पसंख्यक समूहों के साथ व्यक्ति के संबंधों को समेटते हुए सार्विकता की उपलब्धि। यह काम आज बहुत ही कठिन हो गया है, लेकिन आसान तो कभी भी नहीं था।

——८७४४, शीदीपुरा,
करोलबाग़, नयी दिल्ली-५।

ज्योत्स्ना देवधर

स्वातंत्र्य-वीर की समरगाथा

स्वातंत्र्य-वीर विनायक दामोदर सावरकर का दुखद देहावसान दिनांक २६ फ़रवरी १९६६ को हुआ। उनका पूरा जीवन एक अपूर्व समरगाथा है। एक बलशाली सत्ता के साथ किये गये संग्राम की वह गाथा है; पारतंत्र्य की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए अपने आपको धधकती ज्वाला में झोंक देने की एक धीर-गाथा है; चौदह साल तक नारकीय यातना भुगतने वाले एक दार्शनिक की कहानी है। उनकी उम्र थी ८३ साल की, लेकिन मन और बुद्धि का अभिनिवेश था एक युवक-सा।

रे मरण! रुक, अभी और रुक जा।
अधूरा मेरा कार्य, मुझे यहीं छोड़ जा।।
रे मरण! तू मत आना मेरे द्वार।
अभी और सहना है, पीना, झेलना है।।
रे मरण! तुझे बहुत बार रोका, थामा।
आवाहन नहीं माना, आह्वान दिया।।
मृत्यो! खोल महाद्वार मैं कृतकृत्य हो आया।
पारतंत्र्य की टूटी शृंखलाओं का उपहार लाया।।

उनका जन्म नासिक जिले में भगूर नामक ग्राम में २८ मई, १८८३ को हुआ। बचपन में ही पिता दामोदर पंत के मुख से रामविजय, हरिविजय, पांडव-प्रताप, शिवलीलामृत, जैमिनि अश्वमेध आदि धार्मिक ग्रंथों से परिचय हुआ। सन १८९२ में माँ राधाबाई का देहांत हुआ। पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई बाबाराव तथा भाभी ही उनके माँ-बाप थे। सावरकर के बड़े भाई बाबाराव ने भी देशप्रेम से प्रेरित हो कर कारावास सहा। अंदमान में वे भी अपने छोटे भाई के साथ नरक-यातना भुगत रहे थे।

नासिक में सावरकर ने अंग्रेज़ी का अध्ययन प्रारंभ किया। १९०१ में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा दी। बचपन से ही कविता करते थे। वक्तृत्व-कला में निष्णात वे अपने भाषणों से

हज़ारों को मंत्रमुग्ध कर देते थे। उनकी वाणी तीखी और तेजस्वी थी। स्कूल से लौटते वक़्त रास्ते में लगे विलायती फूलों को अपनी छड़ी से पीट-पीट कर छिन्न-विच्छिन्न कर डालते तब उन्हें और उनके बाल-साथियों को एक अनोखा आनंद मिलता था। सावरकर में एक विशेष संघटन-शक्ति थी। बचपन से ही इनकी बाल-मंडली देश-प्रेम से प्रेरित हो इनका नेतृत्व मानती रही। आगे अंदमान जैसी काल-कोठरी में भी सावरकर ने अपनी संघटन-शक्ति से क़ैदियों को एक कर उन्हें सिखाया-पढ़ाया; व्याख्यान दिये।

उस समय भारत में ताऊन बुरी तरह फैला था। अंग्रेज़ अधिकारी इस दुर्दैव में लोगों की दुर्दशा कर रहे थे। इस अत्याचार के प्रतिकारस्वरूप चाफेकर बंधुओं ने रैंड और आयर्स्ट नामक दो अंग्रेज़ अधिकारियों को चलती बग्घी में गोली मार दी। चाफेकर-बंधुओं को द्रविड़ नामक भाइयों ने दस हज़ार रुपये के लोभ में पकड़वा दिया। इस कुकृत्य से नाराज़ हो कर चाफेकर भाइयों के तीसरे छोटे भाई वासुदेव ने और उनके मित्र रानाडे ने द्रविड़ भाइयों को जान से मार डाला। सरकार ने तीनों चाफेकर भाइयों तथा रानाडे को फाँसी की सज़ा दे दी।

वासुदेव और रानाडे ने फाँसी पर चढ़ते समय और **नैनं छिंदंति शस्त्राणि** आदि का ऐसी गर्जना करते हुए से पाठ किया था और दोनों हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गये थे। पंद्रहवर्षीय सावरकर का अंतर्मन मथ उठा। यही वह घटना थी जिसने सावरकर के जीवन का ध्येय निश्चित किया। भगूर में अष्टभुजा देवी के सामने उन्होंने शपथ ली, **देश का स्वातंत्र्य पाने के लिए मैं सशस्त्र क्रांति का झंडा गाड़ कर मारते-मारते मरूँगा।**

१९०५ में पूना के फ़र्ग्युसन कॉलेज से बी० ए० की पदवी पाने के बाद सावरकर एल० एल० बी० के लिए बंबई गये। १९०६ में बैरिस्टर होने के लिए इंग्लैंड जाने का निश्चय किया। अंतःस्थ हेतु था, वहाँ के भारतीय विद्यार्थियों के मन में स्वातंत्र्य-प्रेम की ज्योति प्रज्वलित करना। अपनी 'अभिनव भारत' नामक संस्था के लिए उन्होंने अनेक युवक इसी उद्देश्य से इकट्ठा किये थे। सावरकर के बड़े तथा छोटे दोनों भाई इस संस्था के प्रमुख कार्यकर्ता थे। इंग्लैंड में 'इंडिया हाउस' को केंद्र बना कर सावरकर ने क्रांति के अनेक गुप्त काम किये। वहाँ १८५७ के स्वातंत्र्य-युद्ध की अर्ध-शताब्दी बड़े धूमधाम से मनायी। शिवाजी-उत्सव करने से भी नहीं डरे। इटली के क्रांतिवीर जोसेफ़ मेजिनी का चरित्र लिखा तथा 'भारत का पहला स्वातंत्र्य-युद्ध' नामक ओजस्वी ग्रंथ रचा। इन्हीं दिनों सावरकर ने एयरगन चलाने का अभ्यास किया। बम बनाने के प्रयोग किये। परिणामतः सावरकर की बार-ऐट-ला की पदवी अस्वीकृत की गयी।

इंग्लैंड का स्काटलैंड यार्ड सावरकर की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों से चिंतित हो उठा। ब्रिटिश सरकार इनके हाथों में बेड़ियाँ डालने के लिए उत्सुक हो उठी। कारण ढूँढ़ा जाने लगा। दुर्दैव से सरकार को संधि मिली। सावरकर के बड़े भाई बाबाराव सावरकर को अभिनव भारत के संदर्भ में 'पद्यावली' लिखने मात्र के लिए जन्म भर कारावास का दंड दिया गया। तभी, (१९०९ में) नासिक में वहाँ के जिलाधीश जैक्सन का ख़ून हुआ। बस, सरकार को कारण मिला। फ़्रांस से लौटते समय इंग्लैंड स्टेशन पर ही १३ मार्च १९१० में सावरकर को पकड़ा

गया। उन पर 'वारंट' था कि उन्होंने भारत में राजद्रोह का गुनाह किया है। और खून के लिए मदद कर वे 'फ़रार' हो गये हैं।

वीर सावरकर को क़ैद कर १ जुलाई, १९१० को भारत भेजा गया। ८ जुलाई, १९१० को उन्होंने मार्सेलिस बंदरगाह के पास नौका के 'पोर्ट होल' से कूद कर फ़्रांस का किनारा छुआ। सोचा था कि फ़्रांस की सरकार के अधीन हो जाने पर वे उन्हें ब्रिटिश-सरकार को नहीं सौंपेंगे। लेकिन उन्हें ब्रिटिशों की क़ैद में जाना पड़ा। स्वातंत्र्य-वीर सावरकर का यह साहस भारत के स्वातंत्र्य-इतिहास में स्वर्ण-अक्षरों में लिखा गया। इधर उनकी अनुपस्थिति में भारत में उन पर मुक़दमा चला और उन्हें दो बार आमरण क़ैद का देह-दंड दिया गया।

अंदमान के कारावास में वीर सावरकर को बुरी तरह छला गया। मन और प्राण को थका देने वाला दंड दिया गया। देह-दंड की तो सीमा नहीं। एक खूनी, एक डाकू से भी अधिक मानहानि और उससे भी अधिक शासन के कठोर प्रहार! छिल्का कूटने का काम दिया गया। कोल्हू से जोता गया। भूखे, प्यासे, थके-माँदे, बीमार हालत में उनसे कठोर शारीरिक काम लिया गया। सावरकर मूलत: गोरे, छोटे क़द के, इकहरे बदन के थे। उनकी आँखों में तेज था। मातृभूमि के प्रति उनके हृदय में अपार प्रेम एवं अतुलनीय निष्ठा थी। विलक्षण स्मरणशक्ति थी उनके पास। कारावास की नारकीय यातनाओं में भी इनका चिंतनशील कवि-मन सतत कार्यरत रहा। उन्होंने 'कमल' नामक खंडकाव्य को स्मृति के आधार पर प्राय: कारावास की भित्तियों पर काँटे की क़लम बना कर लिखा था। कोठरी बदली, और काव्य खरोंच कर नाम मिटा दिया गया। कोठरी को रँग दिया गया, कविता की पंक्तियों पर सफ़ेदी हुई। यह थी इस खंडकाव्य की हालत। लेकिन स्मृतिपटल साफ़, सुथरा, सक्षम था। एक-एक पंक्ति अपनी स्मरण-शक्ति से स्मृतिपटल पर अंकित कर रखी। कारावास की नारकीय यातनाओं में भी इनका क्रांतिकारी मन चैन से नहीं बैठा। वहाँ अत्याचारों के विरोध में आवाज उठायी। क़ैदियों के वाजबी हक़ के लिए झगड़ा किया। इसलिए दंड भी भुगतना पड़ा। लेकिन सावरकर हार मानने वाले नहीं थे। क़ैदियों के लिए एक पुस्तकालय की आयोजना की। विशेष तो यह कि सावरकर अनपढ़ क़ैदियों को हिंदी सिखाते; छुप-छुप कर उन्हें भारत के वीरों की गाथा सुनाते; व्याख्यान देते। अपूर्व संघटन-शक्ति थी उनके पास। हिंदी राष्ट्रभाषा है; वह प्रत्येक को आनी ही चाहिए; नागरी ही राष्ट्रलिपि है—यह उनका आग्रह था।

वीर सावरकर की युवा-पत्नी उन्हें डोंगरी के जेल से छूटने के पूर्व मिलने गयीं। इस ऐतिहासिक भेंट के समय सावरकर ने अपनी पत्नी से कहा, **देखो, कभी इस सामान्य जीवन से मोह हो जाय तो सोचना कि बच्चों की संख्या बढ़ा कर और चार तृण इकट्ठा कर घरोंदा बाँधना ही घर-संसार का अर्थ हो तो ऐसा जीवन पंछी भी जीते हैं। लेकिन गृहस्थी का अर्थ इससे भव्यतर होना हो तो एक मानव की गृहस्थी के पुण्यकर्म करने का महान कार्य हमने किया है। हमने अपनी चार हाँड़ियाँ फोड़ डाली हैं; अपना चूल्हा बुझा दिया है, लेकिन शायद इसी से आगे चल कर हजारों के घर से सोने का धुआँ निकलेगा।**

सावरकर राजकीय जीवन न अपनाते तो एक महान साहित्यिक बनते। कारावास की कठोर यातनाओं को झेलते समय भी इनका कवि-मन तरल रहा; संवेदनक्षम रहा। अंदमान में बिताये चौदह सालों की रोमहर्षक कहानी उन्होंने अपने 'माझी जन्मठेप' नामक पुस्तक में ग्रंथित की है। उनका जीवन-इतिहास जितना नाट्यपूर्ण, करुण और गंभीर है उतना ही उनका काव्य अद्भुत है। 'गोमांतक' महाकाव्य, 'कमला' खंडकाव्य, और 'सावरकरांची कविता' यह उनके काव्य-संग्रह सुप्रसिद्ध हैं। प्रखरता और तेजस्विता उनके कविता के प्राण हैं। 'संन्यस्त खड्ग', 'उःशाप', 'उत्तरक्रिया' उनके नाटक हैं। 'कालेपाणी' है उनका उपन्यास। स्फुट-लेख तो पर्याप्त हैं। वे विविध विषयों पर अधिकारपूर्वक लिखते रहे। इनकी लिखी कुल मिला कर ३८ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

उनके वक्तृत्व के विषय में कहना हो तो 'दशसहस्रेषु एक' यही कहना होगा। मराठी, अंग्रेज़ी, हिंदी यहाँ तक कि संस्कृत, बंगाली, तमिल में भी वे धुआँधार वक्तव्य करते थे। जिसने उनका तेजस्वी, प्रखर भाषण सुना है, वे भाग्यशाली हैं।

१९३७ में सावरकर पर लगाये गये बंधन हटा दिये गये। तभी से उन्होंने अपने आपको अखिल भारतीय हिंदू महासभा के कार्य के लिए अर्पित कर दिया। बंबई में साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्षपद से भाषण करते हुए उन्होंने लेखकों को तेजस्वी संदेश दिया, **क़लम तोड़ डालो और बंदूक़ पकड़ो।**

क़रीब साठ वर्ष पूर्व आसफ़ अली ने स्वातंत्र्य-वीर सावरकर के बारे में कहा था कि **वे पर्वतीय प्रपात की भाँति सतत गतिमान तथा स्पानी तलवार की तरह तीक्ष्ण हैं।**

मृत्युंजय वीर सावरकर ने अपनी आँखों भारत की स्वाधीनता देखी और आत्मार्पण किया। और क्रांतिकारियों के मेरुमणि की धधकती अग्निशिखा शांत हो गयी।

चिरंजीव यह हुतात्मा का विजयी अभिमान।
इतिहास-सा कौन समर्थ जो करे इसका सम्मान।

—८५०, 'शीतल,'
शिवाजी नगर,
पुणे-४।

सुखबीर

कहानी

उदासी का रंग

गुरनाम का पत्र आया था; साथ ही एक तार। वह गुरु-ग्रंथ साहब का अखंड पाठ करवा रहा था और उसने मुझे बुलाया था। हर हालत में पहुचने का अनुरोध किया था, "...तुम न आये तो समझूँगा, अखंड पाठ अधूरा ही रहा है।"

पत्र पढ़ कर मुझे आश्चर्य हुआ। सोचा, गुरनाम को अखंड पाठ करवाने की यह क्या सूझी है? और मेरे बिना अखंड पाठ अधूरा! यह कैसा व्यंग्य था? कहीं यह मज़ाक़ तो नहीं था? पर गुरनाम ऐसा मज़ाक़ करने वाला आदमी नहीं था; और वह भी मेरे साथ।

गाड़ी के दस घंटों के सफ़र में भी मैं गुरनाम के बारे में ही सोचता रहा। आख़िर अखंड पाठ करवाने का मतलब? इस हद तक अंधी धार्मिक रुचियों का आदमी तो वह नहीं है!

स्टेशन पर वह आया हुआ था। सोचा था कि उससे मिलते ही सब से पहले उससे पूछूंगा, यह तुम्हारी अक़्ल को क्या हो गया है? पर उसे देख कर पूछने का साहस न हुआ। उसका चेहरा उतरा हुआ था। उसकी आँखों में धुंध थी। किसी ग़म की छाया थी उसके हर नक़्श पर। ऐसा लगता था, जैसे वह लंबी बीमारी काट कर उठा हो।...और दूसरे ही क्षण मैं सब कुछ समझ गया। पत्नी की मौत को वह अभी भी भूला नहीं था। पाँच महीने हो गये थे उसकी मृत्यु को। इतनी अच्छी पत्नी! इतनी स्निग्धता से भरी हुई! क्या जीवन में ऐसी वीरानी भी आती है कि आदमी को हर तरफ़ खँडहर ही खँडहर दिखायी देते हैं?

घर जाते समय, रास्ते में, गुरनाम ने जैसे सफ़ाई देने के ढंग से ख़ुद ही कहा, "मन बहुत उचाट रहता था। किसी काम में तबियत लगती नहीं थी। लोगों ने भी कहा, और मैंने भी सोचा, गुरबाणी (गुरुवाणी) सुनने से शायद मन और तरफ़ लगे। वाणी कभी-कभी मन को बड़ा धीरज देती है। साधारण पाठ कराने का ख़्याल था कि रोज थोड़ा-थोड़ा पाठ होगा तो वाणी को समझने का मौक़ा भी लगेगा। वैसे भला सारी वाणी कहाँ पढ़ी जाती है? समझने की तो बात ही अलग है।"

वह एक क्षण के लिए रुका, जैसे इस संबंध में मेरी प्रतिक्रिया जानना चाहता था। पर जब मैं चुप ही रहा, तब उसने फिर कहना शुरू किया, "आख़िर साधारण पाठ की जगह अखंड पाठ का ही सिलसिला बन गया। इन दिनों संत निहाल सिंह जी इस शहर में आये हुए हैं। उन्होंने बहुत अखंड पाठ करवाये हैं शहर में। मैंने सोचा, पाठ उनके शुभ हाथों से ही आरंभ हो तो अच्छा है। उनके पास जा कर विनती की तो कहने लगे, "हम अब ज़्यादा ठहरेंगे नहीं। हफ़्ते भर के लिए

आये थे, महीना हो चुका है। बस एक-दो दिन ही और यहाँ हैं। अखंड पाठ ही क्यों नहीं रखवा लिया जाता? अखंड पाठ का महातम भी ज़्यादा है। फिर 'भोग' भी हमारे होते-होते पड़ जायगा।"...सो मैं इन्कार नहीं कर सका। सतबचन (सत्य वचन) कह कर घर आ गया।"

वह चुप हो गया।

मैं अभी भी कुछ न बोला।

आखिर उसने फिर कहा, "मैं तुम्हें बुलाना तो नहीं चाहता था, पर पता नहीं क्यों, मुझे लग रहा था कि तुम्हारे बिना मुझसे कुछ नहीं होगा। कुछ भी नहीं हो सकेगा। अखंड पाठ का इतना बड़ा काम मेरे अकेले के करने लायक़ नहीं था, वैसे बेशक़ हाथ बँटाने वाले यहाँ बहुत से लोग हैं। सच पूछो तो पत्नी के मरने पर भी मैंने तुम्हारी इतनी ज़रूरत महसूस नहीं की थी। बहुत अच्छा किया जो तुम आ गये हो। अब लगता है, मैं बहुत हल्का हो गया हूँ।"

इस बार मैंने हौले से कहा, "तुम फ़िक्र न करो। सब कुछ ठीक हो जायगा।"

घर पहुँचे तो संत निहाल सिंह जी के दर्शन हुए जो घर के बरामदे में फ़र्श पर बिछे बिस्तर के ऊपर विराजमान थे। मैंने उनका नाम तो सुना था, पर दर्शन पहली बार किये। उन्होंने बादामी रंग का खुला रेशमी चोला पहना हुआ था। गले में ऊन की सफ़ेद माला थी; सिर पर सँवार कर बाँधी हुई छोटी सी पगड़ी। गेहुएँ रंग का स्वस्थ चेहरा चिकनाई से चमक रहा था। दाढ़ी भी चिकनाई से चमक रही थी, जो आधी से ज़्यादा सफ़ेद हो चुकी थी। उनकी छोटी-छोटी आँखें थीं, जिनमें पता नहीं 'नाम-खुमारी' की धुंध थी या नींद कि वे गँदली हुई सी प्रतीत हो रही थीं। और कुछ फूली हुई भी थीं, जिससे और भी छोटी-छोटी लग रही थीं।

जब गुरनाम ने परिचय कराते हुए मेरा नाम उन्हें बताया तब उनकी आँखों में चमक आयी। उन्होंने मुझे ज़रा ध्यान से देखा। मैं समझ गया। मेरा नाम तो सिखों वाला था, पर मेरी शक़्ल सिखों वाली नहीं थी। न मेरे सिर पर बाल थे, न चेहरे पर दाढ़ी। खैर, संत जी ने उस समय तो कुछ न कहा, बल्कि अपनी बड़ी-बड़ी मूँछों में मुस्करा कर मुझसे मिलने पर खुशी प्रकट की और पास में पड़ी तश्तरी में से, जिसमें बादाम की गिरी, किशमिश, इलायची, खड़ी शक्कर आदि रखी थी। थोड़ा सा प्रसाद मुझे दिया। पर कुछ समय के पश्चात जैसे उनसे रहा न गया और किसी बात पर दाढ़ी-केशों का ज़िक्र करते हुए बड़े विस्तार से उन्होंने मुझे दाढ़ी-केशों की महत्ता बतायी कि केश तो मनुष्य को ईश्वर की ओर से मिली हुई सब से बड़ी दात है। आदिकाल से ही हमारे ऋषि-मुनि केश रखते आये हैं। केशों में अलौकिक शक्ति है...। और दाढ़ी के बिना तो मर्द ज़नाना लगता है; बिल्कुल ज़नाना! ईश्वर ने जानवरों में भी नर और मादा का फ़र्क़ रखा है। असल में यह कलजुग का ज़माना है कि औरतें मर्द बन रही हैं और मर्द औरतें...। आखिर उन्हें मुझसे प्रण ले कर ही संतोष हुआ कि मैं फिर से दाढ़ी-केश रख कर पूर्ण सिख बन जाऊँगा और उनके डेरे पर आ कर अमृत-पान करूँगा।

साथ के कमरे में अखंड पाठ हो रहा था। पाठी की बैठी हुई आवाज़ थी और उसके पाठ करने की इतनी रफ़्तार थी कि मैं हैरान था। शब्द उसकी आवाज़ में खोये हुए थे; आपस में जुड़े और अर्थहीन बने हुये। और वह ऐसी एकरस, एकलय आवाज़ थी कि सुन कर आँखें

बंद होने लगती थीं, जैसे गाड़ी में बैठे हुए उसके पहियों की लगातार एक सी आवाज़ के कारण आँखें बंद होने लगती हैं।

तभी संत जी ने कहा, "अब आप स्नान कर लें। सफ़र की थकावट होगी। और कुछ आराम भी कर लें। फिर बैठ कर 'बचनबिलास' करेंगे।"

मैं उठ कर गुरनाम की ओर चला गया। वह घबराया हुआ सा दो व्यक्तियों को गुरुद्वारे से कुछ सामान लाने के लिए कह रहा था और खुद भी साइकिल पकड़े किसी काम से बाज़ार जाने के लिए तैयार था। मैंने कुछ ही देर में उससे सारा काम-काज समझ लिया और कहा, "अब तुम बेफ़िक्र बैठो और अंदर जा कर आराम से पाठ सुनो। मैं सारा इंतज़ाम कर लूँगा।"

उसे बड़ी तसल्ली हुई और उसके चेहरे पर की घबराहट जाती रही। "देखा!" उसने कहा, "इसीलिए बुलाया था तुम्हें। ख़ैर, अब सारे इंतज़ाम में एक बात का ख़ास ख़्याल रखना। और यह काम ख़ास तुम्हारे ज़िम्मे ही छोड़ता हूँ। देखना, संत जी और पाठियों के खाने-पीने और दूसरी सेवा में किसी तरह की कसर न रह जाय। किसी छोटी सी बात पर भी वे नाराज़ न हो जायँ। नहीं तो समझो अखंड पाठ. . .।"

"अखंड पाठ ही रहेगा।" मैं हलका सा हँसा, "साधारण पाठ नहीं बनेगा। पर अब तुम चिंता छोड़ो और अंदर जा कर पाठ सुनो। संत जी और पाठियों को हर तरह से खुश रखूँगा। तुम्हारे गुण गायेंगे।"

सो अखंड पाठ के और सारे प्रबंध के साथ मैं संत जी और पाठियों का ख़ास ख्याल रखने लगा। बस कुछ अधिक सचेत होने की ज़रूरत थी और कुछ अधिक नम्रता से बात करने की। जब भी उनके पास जाता, दोनों हाथ जोड़ कर पूछता, "कोई सेवा बताइए। दूध लाऊँ? बादाम ख़त्म तो नहीं हो गये? भोजन किस समय करेंगे? कौन सी दाल बनवायी जाय और कौन सी तरकारियाँ? साथ में मीठी चीज़ के तौर पर खीर बनवायें या कस्टर्ड? शाम को चाय पियेंगे या सरदाई; या दूध ही? नहाने के लिए पानी गर्म करवा दें? अंदर सोयेंगे या बाहर बिस्तर लगवा दें? . . .किसी और चीज़ की ज़रूरत हो तो हुक्म कीजिए, दास हाज़िर है . . .। कोई और सेवा?"

कुछ ही देर में यह महसूस कर के मुझे संतोष हुआ कि पाठी और ख़ास कर संत जी मेरी सेवा से बहुत ख़ुश थे।

मैंने सारे कामों की एक सूची बना ली थी और उन कामों को तरतीब दे दी थी। तीन-चार व्यक्ति जो गुरनाम ने मदद के लिए मुझे दिये थे, उनमें मैंने काम बाँट दिये। बस यही कमी थी गुरनाम में कि वह काम-काज को कोई तरतीब नहीं दे सकता था, और इसी से वे काम उलझे हुए और बहुत मुश्किल लगते थे। इसी प्रकार, कुछ चीज़ों के बारे में उसके विचार भी उलझे हुए थे। अब जैसे धर्म के बारे में। वरना अखंड पाठ के चक्कर में क्यों पड़ता! . . .पर ख़ैर, अब कोई उलझन नहीं रही थी। हर काम अपने ठीक समय पर होने लग गया था, और अखंड पाठ, जो एक तरह से व्याह बना हुआ होता है, व्याह न रहा।

इस बीच में मुझे संत जी के पास बैठने का कई बार मौक़ा लगा। उनमें मेरी दिलचस्पी

बढ़ी। और हैरानी की बात थी कि उन्हें भी मुझमें दिलचस्पी थी। कभी खुद ही मुझे आवाज दे कर अपने पास बैठा लेते। मैंने सुना था कि वे बहुत 'करनी वाले' थे, और ईश्वर को पहुँचे हुए। संत जी के पाँच चेले थे—यही पाँचों पाठी, जो अखंड पाठ कर रहे थे। संत जी उन्हें ले कर शहर-शहर जाते और अखंड पाठ करवाते; लोगों का आगा-पीछा सँवारते और गुरुद्वारे बनाने की प्रेरणा देते। उन्होंने बहुत से गुरुद्वारों की बुनियादें रखवायी थीं, और उनके करवाये अखंड पाठों की तो कोई गिनती ही नहीं थी। पहले वे स्वयं भी अखंड पाठ करते थे, पर पिछले कुछ वर्षों से उन्होंने अखंड पाठ करना छोड़ दिया था क्योंकि बैठने में उन्हें तकलीफ़ होती थी। हाँ, अखंड पाठ का आरंभ वे स्वयं करते और उसकी समाप्ति भी स्वयं ही करते। बीच का भाग उनके पाँचों चेले खत्म करते। संत जी के ज़्यादा देर बैठ न सकने का कारण था, उनकी टाँगों में होने वाला हल्का-हल्का दर्द। वे ज़्यादातर पीछे गद्दे के साथ टेक लगा कर टाँगें पसारे बैठे होते (या लेटे रहते) और कोई न कोई श्रद्धालु उनकी टाँगें दबाता रहता। जो भी पाठ सुनने आता, कुछ देर उनकी टाँगें दबा कर ही अंदर जाता। वे अधलेटी हालत में बैठे होते तो उनके दोनों हाथ उनके बढ़े हुए पेट पर टिके हुए होंगे। बातें करते समय उन्होंने कभी अपने हाथों को हिलाया नहीं था। आम तौर पर आदमी बातें करते समय अपने हाथों से कोई न कोई हरकत करता है; पर संत जी के हाथ अडोल रहते। वे केवल जैसे वहाँ सोये हुए लगते। वे तभी हिलते, जब उन्हें कभी प्लेट में से गिरी या खड़ी शक्कर उठा कर किसी को प्रसाद देना होता, या स्वयं मुँह में डालना होता।

अखंड पाठ का प्रवाह चलता रहा। बेरोक चलता रहा।

पाठियों का जो खास ख्याल रखने के लिए गुरनाम ने मुझे कहा था, उसकी इतनी ज़रूरत नहीं पड़ी। शहर में और भी तीन-चार जगह अखंड पाठ हो रहे थे। सो पाँचों पाठी एक चक्कर में घूम रहे थे और उस चक्कर का क्रम संत जी ने अपनी डायरी में लिखा हुआ था। उसमें किसी क़िस्म के परिवर्तन की ज़रूरत होती तो पाठी उनके पास आते, विनती करते, आज्ञा लेते और चले जाते।

उन पाँच पाठियों में से एक पाठी का, जो आयु में सब से छोटा और नौजवान था, पाठ बहुत रसभीना था। बड़ी साफ़ और खनकती हुई आवाज़ थी उसकी। गुरुवाणी के प्रत्येक शब्द को खास साफ़ तौर पर खनका कर बोलता। उन शब्दों की ध्वनियाँ गूँजतीं और उनमें से रंग खिलते; गुरुवाणी की कविता चमकती। उसका लहजा कुछ इस तरह का था कि गुरुवाणी के अपंजाबी शब्द भी पंजाबी बन कर कानों में पड़ते। किसी-किसी समय वह बड़ी लय में आ कर पाठ करता। तब वह जैसे स्वयं गुरुवाणी का आनंद ले रहा होता, उसकी कविता में डूब रहा होता। मैंने सोचा, इसे कविता का शौक़ होगा। शायद खुद भी कविताएँ लिखता हो। मौक़ा लगा, तो उससे बैठ कर बातें करूँगा। पर ऐसा कोई मौक़ा न लगा। जितनी बार भी वह पाठ करने आया, पाठ कर के जल्दी में चला गया। उस पर मुझे तरस भी आया कि वह कहाँ फँसा हुआ है। बाक़ी चार पाठियों के साथ उसकी कैसे पटती होगी, जो ऐसे पाठ करते थे जैसे बेगार कर रहे हों; और किसी समय भी यह महसूस नहीं होता था कि वे गुरुवाणी की सुंदरता

से परिचित होंगे। जिस तरह वे वाणी पढ़ते थे, वैसे तो कोई शुष्क क़िस्म का गद्य भी न पढ़े। आख़िर भाषा की अपनी सुंदरता होती है, शब्दों का संगीत और जादू।

अखंड पाठ का प्रवाह चलता रहा।

कुछ एक बार गुरुवाणी संबंधी चर्चा मैंने संत जी से छेड़ी। पर या तो मैं बोलता रहा और वे चुप रहे या वे बोलते रहे और मैं चुप रहा। हर बार ऐसे लगा जैसे गुरुवाणी संबंधी मेरी बातों में न उन्हें दिलचस्पी रही थी, न मुझे उनकी बातों में दिलचस्पी थी। हम दोनों के दृष्टिकोणों में बहुत ही भिन्नता थी। ख़ैर, यह अच्छा हुआ कि हमारी आपस में बहस नहीं हुई। वैसे संत जी को गुरुवाणी की अपेक्षा मेरे बारे में बातें करने में ज़्यादा दिलचस्पी थी। आख़िर गुरुवाणी के बारे में तो उन्होंने सारी उम्र बातें की थीं। बंबई का जीवन और 'फ़िल्म-व्यवसाय' उनके लिए नयी चीज़ें थीं। और मैंने बंबई के जीवन और फ़िल्म-व्यवसाय को, जिसमें मैं फँसा हुआ था, जितनी ही ज़्यादा गालियाँ दीं, उतनी ही उनकी दिलचस्पी बढ़ी।

अखंड पाठ का प्रवाह चलता रहा।

किसी-किसी समय गुरनाम मेरे पास आता और पूछता, "सब ठीक-ठाक है न ?"

मैं आगे से कहता, "तुम सुनाओ, सब काम ठीक-ठाक हो रहा है न ?"

"बस, इसी तरह निर्विघ्न समाप्त हो जाय, यही 'अरदास' (विनती) है।"

आख़िर तीसरे दिन 'भोग' पड़ा। संत जी ने स्वयं समाप्ति की।

फिर जब संत जी गुरनाम के यहाँ से विदा होने लगे तब उन्होंने मुझे बुला कर पूछा, "कब तक जा रहे हैं बंबई ?"

"बस एक-दो दिन में ही" मैंने कहा, "बचा हुआ काम भी ख़त्म हो जाय।"

"देखो, हम भी शायद आपके नगर का चक्कर लगायें। बुलावा तो और भी कई नगरों से आया हुआ है, पर पहले शायद आपके नगर ही आयें। अपना पता लिखा दीजिए।"

उन्होंने जेब से अपनी डायरी निकाली और उस पर पंजाबी में, मोटे-मोटे बेडौल अक्षरों में मेरा पता लिखा। उन्होंने मेरा नाम भी ग़लत लिखा और 'बंबई' भी। मैंने चलचित्र-विभाग की मार्फ़त अपना पता लिखवाया था। 'चलचित्र-विभाग' लिखते समय उन्हें काफ़ी कठिनाई हुई और उसकी जगह जो शब्द लिखा वह 'चलचित्र-विभाग' नहीं पढ़ा जाता था।

मैंने मन में कहा, "संत जी, आपकी लिखी हुई चिट्ठी मुझे ज़रूर मिल जायगी।"

उस दिन बाक़ी काम ख़त्म करते हुए अँधेरा हो गया। मैं बहुत थकान महसूस कर रहा था, पर ख़ुश था। गुरनाम भी थका हुआ था और उसके चेहरे पर उदासी थी। वह बड़ी अजीब सी उदासी थी, जैसे आदमी का कोई नुक़सान हो गया हो और वह बेबस बना हुआ बहुत उदास हो। उसका चेहरा मुझे पहले की अपेक्षा ज़्यादा उतरा हुआ लगा। उसकी आँखों में गहरी धुंध दिखायी दी। मैंने पूछना चाहा कि क्या बात है, पर कुछ सोच कर चुप रहा।

काफ़ी रात हो गयी तो घर में गुरनाम और मैं अकेले ही रह गये। उस समय घर ख़ाली-ख़ाली सा लगा। तीन दिन तक एक अलग ही दुनिया बसी हुई थी घर में। गहमागहमी रही थी और दौड़-धूप। सो उस समय घर और भी ख़ाली सा लगा; और भी चुप।

"क्या बात है?" कुछ देर की चुप के बाद मैंने गुरनाम से पूछा।

गुरनाम चौंका। "क्या बात है?" उसके मुँह से ऐसे निकला, जैसे वह मेरी बात समझ न पाया हो।

"बहुत चुप हो" मैंने कहा।

"नहीं तो" वह कुछ सम्हला।

फिर वही चुप।

कुछ देर के बाद उसने कहा, "बड़ी थकान है।"

"हाँ," मैंने कहा, "अखंड पाठ की थकान है।"

"कई दिन तक यह नहीं उतरेगी।"—उसने कहा।

"नहीं, आज रात भर की नींद के बाद उतर जायगी।"—मैंने कहा।

"लगता है, आज नींद नहीं आयगी।"

"क्यों?" मैंने ध्यान से उसकी ओर देखा।

"पता नहीं।"—उसने कहा।

"क्यों?"—मैंने फिर पूछा।

"मैं सोना चाहता भी नहीं।"—उसने कहा।

"तो?"

"आज की रात जाग कर काटना चाहता हूँ।"

"तो ठीक है," मैंने कहा, "बातें करते हैं। अखंड पाठ में तो ख़ास बातें हो भी नहीं सकीं।"

वह एक क्षण चुप रहा; फिर बोला, "अगर तुम न आते तो आज की रात बहुत मुश्किल से बीतती।"

"आता क्यों न?" मैंने कहा।

"बहुत अच्छा किया जो तुम आ गये।"—उसने कहा।

"आता क्यों न!"—मैंने फिर कहा।

वह चुप हो गया।

मुझे लगा, उसके मन पर कोई बोझ था, जिसे वह उतारना चाहता था। मैं प्रतीक्षा करने लगा।

काफ़ी देर की चुप के बाद उसने कहा, "दीपो के मरने के बाद बहुत अजीब सा लग रहा है।"

"हाँ," मैंने कहा, "उसके साथ तुम्हारी ज़िंदगी एकदम भर गयी थी।"

वह एक क्षण चुप रहा। फिर बोला, "दीपो के मरने के बाद मैंने तुम्हारी 'अलविदा' कविता कई बार पढ़ी है। अनगिनत बार पढ़ी है। आज तुम यहाँ हो तो तुम्हारे मुँह से सुनना चाहता हूँ।"

यह कविता मैंने एक लड़की के बारे में लिखी थी, जो मेरी ज़िंदगी में आ कर चली गयी

थी। पर काफ़ी लंबी कविता थी, जिसमें उसके जाने का एहसास इतना नहीं था, जितना उसके होने का एहसास था। फिर भी वह कविता उसके जाने के बारे में ही थी।

मैंने टालना चाहा। मैंने सोचा, कविता इसकी उदासी को और बढ़ा देगी। और मैंने कहा, "अब शायद पूरी याद न हो। कल सुनाऊँगा।"

"जहाँ भूलोगे, मैं याद करा दूँगा," उसने कहा, "मुझे ज़बानी याद है। सुनाओ तुम।"

अब क्या चारा था !

मैं कविता सुनाने लगा।

वह कविता सुन रहा था और दीपो को अपने जीवन में महसूस कर रहा था। उसकी आँखों की उदासी आँसू बन गयी थी।

कविता ख़त्म हो गयी तो वह उसी तरह एकटक सामने देखता रहा, जिस तरह कविता सुनता हुआ देख रहा था।

मैं चुप था।

कुछ देर बाद उसने मेरी ओर मुँह मोड़ा और पूछा, "तुम्हें कैसा महसूस होता है यह कविता पढ़ कर ?"

मैंने कहा, "अलविदा ही महसूस होती है, जो अलविदा नहीं है।"

वह हल्का सा मुस्कराया। वह मुस्कराहट मुझे बड़ी अजबी सी लगी।

तभी उसने कविता की पहली पंक्ति बोली। फिर दूसरी बोली। फिर तीसरी। और फिर वह एक-एक कर के अगली पंक्तियाँ बोलता गया। अब वह फिर सामने दीवार की ओर देख रहा था और कविता बोले जा रहा था।

उसके मुँह से अपनी कविता सुनते हुए मुझे कविता के बारे में और उस लड़की के बारे में ऐसा अहसास हुआ, जो कविता लिखते या बाद में कई बार पढ़ते-सुनाते हुए कभी नहीं हुआ था।

कविता ख़त्म कर चुका तो उसने कहा, "इस कविता को पढ़ कर मन भर आता है, पर मन हल्का भी हो जाता है। बहुत बड़ा बोझ था आज मेरे मन पर, और वह बोझ पत्थर की तरह ठोस बना हुआ था। पर अब लगता है कि मैं हल्का हो गया हूँ।" वह धीमे से मुस्कराया, "अब सोचता हूँ, इस अखंड पाठ की जगह, जिस पर तीन, सवा तीन सौ रुपये लग गये हैं, तुम्हें बुला कर यह कविता सुन लेता तो ज़्यादा हल्का हो जाता। . . . पर चलो, जो हो गया सो हो गया। तीन, सवा तीन सौ रुपये इसी में जाने थे, सो चले गये। वैसे इतने रुपये . . . पर ख़ैर, अब चिंता क्यों करूँ।"

"हाँ," मैंने कहा, "मुझे बुला लेते, या हफ़्ते की छुट्टी ले कर मेरे पास आ जाते।"

"यह तो ख़्याल ही न आया।"—उसने पछतावे के अंदाज़ में कहा, "मेरी तो जैसे अक़्ल ही मारी गयी थी। पर ख़ैर, अब तुम्हारे साथ ही चला चलता हूँ—तीन-चार दिन के लिए। यहाँ कुछ दिन मेरा दिल नहीं लगेगा। सो, कल सुबह ही यहाँ से चले चलते हैं। या अभी रहने का ख़्याल है तुम्हारा ?"

"यहाँ मुझे क्या करना है," मैंने कहा, "सुबह की गाड़ी से ही चले चलेंगे।"

वह हल्का हो गया था।

कुछ देर के बाद उसने कहा, "तो अब सो जायें।"

"ठीक है।"

वह लेट गया और कुछ ही देर में उसे नींद आ गयी।

मैं उसकी ओर देखता रहा। अब उसके चेहरे पर कोई उदासी नहीं थी। उसके मन का बोझ भी जैसे उतर गया था—इन तीन, सवा तीन सौ रुपयों के खर्च हो जाने का बोझ, जिसने उसकी उदासी को और भी बढ़ा दिया था। अब वह बहुत हल्का हो गया लग रहा था और गहरी नींद में सोया हुआ था।

—निर्मल निवास, जुनारी रोड,
विले पार्ले, बंबई –५७।

अनंत

कहानी में यथार्थ और समय-बोध

समय को क्षणों में न बाँट कर उसे संपूर्णता में कैसे जिया जाता है, इसका भी कुछ कहानीकार यत्न कर रहे हैं। इन्हें लगता है कि समय एक संपूर्ण इकाई है (जैसा कि सापेक्षतावाद कहता है) और विज्ञान या चिंतन में जो है, वही जीवन में भी है। ऐसा मानने में कोई हानि तो नहीं है, (हानि तो जो अपने जैसा सोचने वाले न हों उन्हें काट कर अलगाने में भी नहीं है) किंतु मनुष्य समय को अपने भरसक बाँट कर ही जीता है या अगर वह संपूर्णता में जीना भी चाहे तो जी नहीं सकता। क्योंकि समय की विराटता उसके मानसिक अंकोर में नहीं आती। समय को अपनी संपूर्णता में बाँध सकने का दावा या यत्न ही हवा को मुट्ठियों में बंद करने जैसा ही है, क्योंकि समय अगर एक संपूर्ण इकाई है तो वह हमारे नक्षत्र से ऊपर सैकड़ों अन्य ग्रहों तक व्याप रहा है और जो अपनी पूर्णता में इस पृथ्वी तक है भी नहीं, उसे उसकी संपूर्णता में जी सकना उन्हीं लोगों के लिए संभव है, जो स्वयं परब्रह्म हों। इसलिए समय अपने आपमें कितना ही अटूट क्यों न हो, उसे इकाइयों में बाँट कर ही लोग जीते हैं। और इसमें नियति को बीच में फँसाने की ज़रूरत तो नहीं मालूम पड़ती, किंतु जो स्वतः अपने चिंतन के व्यूह में भरम रहे हों वे दूसरों पर अपनी अवशता को आरोपित क्यों न करें।

ये लोग दूसरों के सिर विभ्रम का सारा दोष मढ़ कर अपने को एकदम बरी कर लेते हैं, जब कि सचाई यह है कि धुंध पैदा करने में स्वयं उनका हाथ कम नहीं है, कहीं-कहीं तो ज़्यादा ही है—और जब वे दूसरों के द्वारा उठाये गये सवालों की जवाबदेही इसलिए नहीं समझते कि उन्हें सवालों के अंदर झाँकने में भी कँपकँपी होती है, तब वे सवालों से इस तरह आँख मूंद लेते हैं मानों ऐसा करने से ही वे सरहपा या लुइपा जैसे सिद्ध बन जायँगे।

हमारा कहना यह है कि विभ्रम वहीं से शुरू हुआ, जब नयी कहानी अपने को वैसा दिखलाने के लिए 'मेक-अप' करती रही, जो वास्तव में वह नहीं थी। यानी कथ्य को ओट करने की बात तो वहीं की गयी मगर जिस अनुभूति के संप्रेषण का शोर किया गया, एक तो वह अनुभूति ही बहुत छिछली थी, दूसरे जिस शिल्प को उसका वाहन बनाया गया वह अनुभूति से दूर छिटकी हुई मालूम पड़ने लगी। नतीजा वही हुआ जो अपेक्षित था कि संधान में सफलता की कौन कहे, तीर प्रत्यंचा पर ही न चढ़ाया जा सका। और हाथ की उँगलियाँ अकड़ गयीं; बल्कि सुन्न हो गयीं। इसीलिए लाज छिपाने के लिए कहा जाने लगा कि लक्ष्य-बेध का वक़्त अभी नहीं आया।

यह सारा का सारा 'स्वाँग' हिंदी कहानी के पाठकों को पहले तो कुछ अजब तमाशे जैसा लगा किंतु जब उन्होंने देखा कि तीर भी टूटा हुआ है प्रत्यंचा तक चढ़ा सकने का सामर्थ्य भी ग़ायब है और लक्ष्य का तो लक्ष्य, बेधने वाले का भी पता नहीं तो उन्होंने इस बुरी तरह उपहास करना शुरू किया कि 'स्वाँग' करने वाले हैरत में पड़ गये।

समय के गर्त में फँसी अवास्तविक नयी कहानी को दोहरी मार सहनी पड़ी; एक नयी कहानी के वास्तविक प्रतिनिधियों से, जो शिल्प को कथा में घुला देते थे, दूसरे एकाध उन लोगों द्वारा जो अपने परिवेश में डूबने पर भी अपने को परिवेश से अलग कर यथार्थ को बिंबित कर सकने में समर्थ थे और उनकी सहजता अधुनातन जीवन-आवर्तों को समेट कर रूपायित कर रही थी मगर जो संयोग से किसी भी समुदाय में दीक्षित न हुए थे। नयी कहानी के मठाधीशों ने अपनी समझ से उन दो-एक स्वतंत्रचेता कहानीकारों को 'अकेले' पा कर कहानी से बाहर ही ढकेल दिया था। कहानी में सचेतन वृत्ति से हमारा तात्पर्य किसी पत्रिका विशेष में हुड़दंग मचाने वालों से कभी नहीं रहा बल्कि नयी कहानी गतिमान जीवन को जो थिरता में चित्रित कर रही थी उसे झुठला कर समकालीन जीवन को उसकी संपूर्ण जीवंतता या तीव्रता में व्यक्त कर सकने से ही रहा। इसीलिए सचेतन दृष्टि उन कहानीकारों में नहीं मिल सकती जो मात्र किसी आंदोलन के मोह से कहीं एकत्र हो गये हों बल्कि यह उन इने-गिने कहानीकारों की कहानियों में मिलती है, जो समकालीन जीवन को उसकी समग्रता में देखने का भरसक यत्न करते हैं। (पूर्णता में बाँध सकना तो संभव भी नहीं है) मगर उसकी अलग-अलग इकाइयों को जितनी तीव्रता से महसूस करते हैं उतनी ही सहजता से उसे कला में उतार देते हैं। प्रबुद्ध जन अनर्गल प्रलाप करने वालों या बिना किसी कृतित्व के कृतिकार बनने की लालसा रखने वालों की ओर ध्यान नहीं देते—ऐसे लोग तो हर साल बनते-मिटते रहते हैं—किंतु यदि साहित्य की कोई विधा सचमुच ही किसी ओर से नवीन संदर्भों को प्रस्तुत करने लगी है तो उसकी ओर से महज़ अपने स्वार्थ के कारण उदासीन भी नहीं हो जाते।

फिर अनुभूति की प्राप्ति कैसे होती है? उसे कहानी में घुलाने के लिए क्या सब कुछ भौतिक रूप से जीना अपेक्षित है? इसके जवाब में लोग 'हाँ' कहने लगे हैं। ये वही लोग हैं जिन्हें स्वयं भौतिक रूप से संवेदना की प्राप्ति नहीं होती किंतु अपनी ईमानदारी दिखाने के लिए वे इसे कहना ज़रूरी मानते हैं। प्रत्येक दशा में अनुभूति की तीव्रता भौतिक सहयोग से मिलती हो—ऐसा यदि होता तो जिन्हें ऐतिहासिक रचनाएँ कहते हैं वे लेखक की स्वानुभूति से अलग हो जायँगी और कितनी ही कृतियों (जैसे रांगेय राघव, आनंदप्रकाश जैन आदि की ऐतिहासिक कहानियों) का मूल्य समाप्त हो जायगा। इसलिए यह तो अच्छा ही है कि कहानीकार उस स्थिति से स्वयं गुज़रे जिसे वह कलाबद्ध करना चाहता है किंतु न भोगने पर भी वह उसे उतनी ही तीव्रता या शक्ति से उतार सकता है जितना भोगने पर। अनेक स्थितियाँ मानसिक तौर पर भी जियी जाती हैं और यह कहानीकार की सूक्ष्म दृष्टि, उसकी पकड़, उसकी भाषा के सामर्थ्य पर आधारित है कि उन्हें अधिक से अधिक स्वाभाविक बना दे। वेश्या पर लिखने के लिए वेश्यागामी होना ज़रूरी नहीं; मज़दूर पर लिखते समय स्वयं किसी कारखाने में मज़दूर होने की भी दिक़्क़त उठानी ही

पड़े, यह भी ठीक नहीं लगता। कहानीकार बहुत कुछ पढ़ कर, दूसरों से सुन कर भी ठीक वैसी ही स्थिति चित्रित कर सकता है जो अन्य स्वयं वैसा जीने की तक़लीफ़ गवारा करने पर भी नहीं कर सकते। यदि लेखक की अंतर्दृष्टि सूक्ष्म न हुई, वह बिंब ग्रहण कराने भर के लिए सक्षम नहीं है तो वह चाहे जितना भोगे, उसे सहज रूप से आबद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि स्थिति को भोगने के बाद भी उसे रूप देना तो उससे अपने को काटने के बाद ही संभव है न!

तभी तो जीवन में जो गंभीर है, वह अत्यंत रोचक स्थितियाँ खड़ा कर सकता है, जो जीवन में अत्यंत मुखर है वह घोर हृदयविदारक दृश्य उरेह सकता है हालाँकि इसकी संभावना कम ही रहती है। जो मुखर है वह भी अलग अपने में डूबने पर ही गहराई तक जा सकता है। इसलिए थोथे बहिर्मुखी लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि कहानी में या किसी विधा में कुछ भी सहज या स्वाभाविक बनाने के लिए उन स्थितियों का भौतिक संसर्ग आवश्यक है। कहानीकार की चेतना के स्तर जितने ही बारीक होंगे वे कहानी को उतना ही ग्राह्य या तीव्र बना ले जायँगे। इस चेतना के तीव्र होने के लिए न केवल अध्ययन ज़रूरी है बल्कि खुले दिमाग़ से चिंतन भी। चिंतन का यह सौभाग्य उनके हाथ नहीं आता जो वस्तुओं या स्थितियों या जीवन की बदलती प्रक्रिया को ऊपर-ऊपर से ही देख कर रह जाते हैं या उतनी ही देख पाने की उनमें क्षमता होती है। इसी के लिए मानसिक रूप से कभी नितांत अकेले जी सकने से कुछ बिगड़ता नहीं बल्कि वह मन में बिखरी स्थितियों को मज़बूती से एकसूत्र करने में मदद भी देता है।

आज हिंदी कहानी में जो खींचातानी हो रही है वह विचारों के स्तर पर कहानीकारों की चेतना की सूक्ष्मता और स्थूलता को भी दरसाती है। इनमें से यदि उन लोगों को छोड़ भी दें जिनका बौद्धिक स्तर नगण्य है तो अन्य जो लोग अपने को बड़ा सूक्ष्म समझते हैं वे भी अपनी संचेतना के आधार पर ही सूक्ष्मता को ग्रहण करते हैं और इसीलिए कभी-कभी उन लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि वे कहानी को बहुत आगे तक खींच लाये, जो वास्तव में उसे वहाँ तक भी नहीं ले पाये हैं जहाँ तक उनके अग्रज ले जा चुके थे। यहीं हमारा सामना उस प्रबुद्ध पाठक से होता है जो रचना के नयेपन या श्रेष्ठता का निर्णय न केवल पिछले संदर्भों में करता है बल्कि अपने अँकोर में आने वाले समय की संपूर्णता में भी रख कर उससे कुछ पाता है या पाना चाहता है। यह पाठक-वर्ग प्रचार के तमाम साधनों द्वारा आतंकित किये जाने के बावजूद—शायद ही कभी धोखा खाता हो। तभी तो नयी कहानी के नाम पर लिखी गयी उन सैकड़ों कहानियों का आज कोई नामलेवा भी नहीं रह गया। जिनकी श्रेष्ठता सिद्ध करने में काफ़ी मशक़्क़त की गयी और चेखव की 'ऐंटोगोनिस्ट', प्रेमचंद की 'कफ़न' यशपाल की 'भाषा' और रांगेय राघव के 'ऐय्याश मुर्दे' और 'अज्ञेय' की 'हीलीबोन की बतखें' आज भी ताज़ी कहानियाँ लगती हैं।

समाजी सत्य का यानी समाज की इकाइयों से स्वयंनिर्मित दायरों से जो उभरता रहता है—जिसे कुछ लोग सामाजिक यथार्थ कहते हैं, सामना तो कहानीकार को करना ही चाहिए और उतने से ही वह रचना को काफ़ी उठा सकता है किंतु कुछ ऐसा भी छूट जाता है जो उसकी परिधि में नहीं आता या यदि आता भी हो तो उसका थोड़ा अंश ही, और काफ़ी कुछ उसके बाहर रह जाता है। वह क्या है? मुझे लगता है कि वह जीवन-सत्य निर्ममता है। सांस्कृतिक चेतना

के सहस्रों वर्ष बाद भी जीवन में कहीं कुछ इतना निर्मम है जो तमाम सामाजिक, पारिवारिक रिश्तों को तोड़ कर मनुष्य को दहला देता है। प्रेमचद यदि 'कफ़न' न लिखते तो मैं समझता कि वे वहाँ तक नहीं पहुँच सके। चेखब और मोपाँसा तो कई बार उस तक पहुँचे थे और इधर स्टीफेन ज़्विग भी, बल्कि ज़्विग का सपत्नीक आत्मबध जीवन के किसी निर्मम सत्य से भय ही माना जा सकता है। कामू और काफ्का तो खैर उस कोटि के लेखक ही नहीं हैं ? हाँ, सार्त्र 'द वाल' और 'एक्सटैसी' में उसे देख पाये थे। यशपाल उस निर्ममता को दरसा सकने में चेखव से पीछे नहीं हैं, भले ही उनका गद्य उतना लचीला न हो जितना 'अज्ञेय' का है जिससे 'अज्ञेय' 'कुछ नहीं' को भी गंभीरता का बाना पहना देते हैं। और ऐसा कर पाना भी सामान्य बात नहीं है।

जीवन के उन सत्यों तक पहुँचना जो सामाजिक दायरे में नहीं आते, साधारण कहानीकारों के वश की बात नहीं क्योंकि वे अपने से, समाज की रूढ़ियों से तथा बहुत सी अन्य बातों से डरते हैं और यदि वे उसे जानते भी हों तो व्यक्त नहीं कर सकते। किंतु यह सब यदि कलात्मक सौंदर्य के बदले हो तो उस ओर क़दम बढ़ाना ग्राम्य या सस्तेपन के निकट पहुँचना होगा जो हिंदी कहानी में आज धड़ल्ले से हो रहा है और जिसे मैं विनम्रतापूर्वक साहित्यिक परिधि से बाहर मानता हूँ।

साहित्यिकता की अपनी एक परिधि है; भले ही वह इतनी लचीली हो कि समय-सापेक्ष बनती रहे। इसलिए बड़े भोंड़े तौर पर अपने अंचल की भाषा से बार-बार बघारने से कोई पदार्थ सुस्वादु नहीं हो जाता। पहले भी मैं इस बात को कह चुका हूँ और वही दुहराता हूँ कि विभिन्न अंचलों के जीवन को कहानी में अंकित होना है—कुछ हो भी रहा है—किंतु वह अधिकांश बाज़ारू ढंग से हो रहा है जिसमें कलात्मक सौंदर्य होता ही नहीं। जिसे हम हिंदी कहते हैं, वह अपनी आंचलिक बोलियों की चेरी नहीं है कि आप आंचलिक जीवन पर लिखते समय उसमें कुघड़ता और देहातीपन से जो चाहें भरते चले जायँ। इस दृष्टि से प्रेमचंद आज भी हमारे गुरु हैं कि उन्होंने हिंदी के मूल सौंदर्य को क्षति न पहुँचाते हुए भी अंचल की भाषा को ऐसा लचका दिया कि लगे जैसे बेतबनों में बेतों की धजाएँ नम कर अपने ही जल में उझक-उझक कर झाँक रही हैं। हिंदी का नैसर्गिक सौंदर्य उन्होंने क़ायम रखा। आंचलिक कहानियों के नाम पर जो कुछ दिया जा रहा है वह बड़े भद्दे और अकलात्मक रीति से प्रस्तुत होता है। उससे कहानी की कोई वृद्धि हुई हो, ऐसा मैं नहीं मानता। ऐसा करने वाले ये समझते हैं कि अपने अंचल विशेष के साहित्यिक प्रतिनिधि हैं, इसलिए आंचलिक भाषा को तोड़-मरोड़ कर, उसे क्षत-विक्षत करने का उन्हें पूरा हक़ है, जिसे वे बड़ी तत्परता से निबाहे जा रहे हैं। मार्कंडेय की कहानियों में भाषा को अधिक तोड़ने का यत्न नहीं था किंतु उनके साथ कठिनाई यह थी कि वे अपने अंचल की भाषा से भले ही परिचित हों वहाँ के जीवन से उनकी उतनी घनिष्ठता नहीं थी।

जिन जीवन-सत्यों का ज़िक्र मैंने किया है उन्हें अपनी कहानियों में उद्घाटित करने का साहस नयी पीढ़ी के इने-गिने कहानीकारों में रहा है और पूरी निःसंगता से वे भी कर नहीं पाये किंतु सोबती ('बादलों के घेरे'), धर्मवीर भारती ('सावित्री नंबर दो'), अमरकांत ('दोपहर का भोजन'), मन्नू ('यही सच है') और सत्येंद्र शरत् ('एवेन्यू') तथा उषा ('कोई एक दूसरा') में

प्रयत्न अवश्य हुए। इनमें अमरकांत में भावुकता सबसे कम थी किंतु भाषा को वे सँवारते-साधते नहीं रह सके। किंतु कुछ तो देसी परिस्थितियों और कुछ यूरोप-अमरीका से आयातित 'भय' से निर्मल वर्मा को लगने लगा कि अकेलापन ही एकमात्र नियति है। रामकुमार में जो एक तरह की ऊब थी वह स्वयं उनकी चित्रकला का उनकी कहानियों पर प्रभाव था और पश्चिम से वह कर आती हुई अकेलेपन की हवा में साँस लेना निर्मल को अत्यंत प्रिय था; रामकुमार को इस ऊब से बड़ा सहारा मिला और निर्मल उसे अभिव्यक्त करने में रामकुमार से बाज़ी मार ले गये। यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि निर्मल में वह निर्ममता भी मिलती है तो सामान्यता से भिन्न होती है; भले ही उनकी भाषा में कुछ अधिक कसाव हो।

इधर वे लोग जो कहानी में किसी तरह जी रहे हैं और कविता में एकाध तुक्का लगा चुके हैं मगर हाथ कुछ नहीं आया, कविता को साहित्यिक विधा नहीं मानते। ऐसा उस बात की प्रतिक्रिया में वे कहते हैं जो कुछ लोग कहानी का विरोध करते हुए कह चुके थे। यह बात अलग है कि संसार का ढाई-तीन हज़ार साल पुराना साहित्यिक इतिहास बतलाता है कि आज से नहीं, बहुत पहले से कितने साहित्यिक कई विधाओं को बड़ी सहजता से निखार गये हैं। किंतु कुछ तो ऐसा कहना ही चाहिए जिससे लोग चौंकें, चौंक कर बुरा-भला कहें और ग़लत तो कहा नहीं गया है कि बदनाम भी होंगे तो क्या नाम न होगा! सचाई यह है कि कहानी और कविता अलग विधाएँ हैं अवश्य मगर उनका कलेवर भिन्न होते हुए भी वे यथार्थ को व्यक्त करने के ही दो माध्यम हैं। वह लेखक की संवेदना और सामर्थ्य पर निर्भर करता है कि वह किनका उपयोग करे और करे भी तो कैसा?

अब स्थिति आ गयी है जब कहानी या कविता में प्रयुक्त 'मैं' का अर्थ भी लेखक स्वयं न हो कर दूसरा कोई हो। 'मैं' इसलिए तो ठीक है कि उससे लेखक अपने और पाठक के बीच की दूरी को खिसका कर उसका आत्मीय बन जाय किंतु तब भी यह लगते हुए भी कि जो कुछ 'मैं' के माध्यम से कहा जा रहा है वह उसका स्वयं जिया हुआ है पर जो वास्तव में उसके जीवन का नहीं दूसरों के अर्थात सामान्य के जीवन का होना चाहिए। इस 'मैं' में वह निरपेक्षता आनी चाहिए जो श्रेष्ठ रचना को सामान्य पाठक को 'अपनी' लग सके। उनकी तो नहीं कहता जो लेखक नहीं हैं किंतु होने का घनघोर प्रचार करते हैं और दूसरों को इतना बुद्धू समझते हैं मानो उनके कनफोड़ शोर से ही लोग उन्हें लेखक मान लेंगे किंतु उनके लिए उस 'मैं' को भी निजता से मुक्त करना संभव होता है जिसे 'अज्ञेय' सिद्ध साहित्यिक कहा करते हैं। इस सिद्धि की, कहानी या कविता द्वारा, प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए और बार-बार विफल होने पर भी उसमें लगे रहने से वह हाथ से नहीं छूट पायेगी। यशपाल की 'पराया सुख' और 'होली नहीं खेलता' में तथा उषा की 'कोई एक दूसरा' में ऐसे प्रयास हुए हैं। ऐसे प्रयास उन लोगों के हाथों में बड़े हास्यास्पद बन जाते हैं जिनका गोचर वस्तु-जगत से भी एकदम स्थूल संबंध है और जो संपूर्ण भाषा और अलग-अलग शब्दों और उनकी ध्वनि-शक्तियों को तनिक भी नहीं पहचानते। इन सबके लिए अध्ययन से ही काम नहीं बनने का—वह तो बहुतेरे अध्यापक कर सकते हैं और करते ही हैं—बल्कि उस निरपेक्ष चिंतन की भी अपेक्षा है जहाँ संस्कारगत लगाव रचनाकार को छुएँ तो, मगर ज़्यादा दिक न करें और उसकी कृति को किसी

भी तरफ़ से दबायें नहीं। ऐसा करने में अपेक्षित फल न मिलने पर जो हार मान लेते हैं उन्हें असामान्य रचनाकार मान लेना कठिन है और आज तो हिंदी में—चाहे वह कहानी हो, चाहे कविता —ऐसे ही लेखकों की बाढ़ आयी हुई है जो प्रयास तक नहीं करते—शायद कर ही नहीं सकते—किंतु अपने को 'पहुँचा हुआ साहित्यिक' मनवाने में पसीने-पसीने हुए जा रहे हैं। किंतु संभव है, इन्हीं काइयों और कुकरमुत्तों के बीच से कोई ऐसा पौधा उगे जो फलदायक हो।

यहीं स्थानकिता का प्रश्न आ खड़ा होता है। अपने परिवेश से ऊपर उठ कर क्या उस 'शुद्ध मानव-मन' की पकड़ हो सकती है जो देश-काल से परे हो या सभी समाजों में उसका प्रभाव एकसाँ हो? कुछ कहानीकारों की यंत्रणा मैं समझता हूँ। निर्मल वर्मा वैसा करना चाहते हैं। अपने आसपास के मच्छरों की भिनभिनाहट के बावजूद सीमाएँ तोड़ कर वह पाना चाहते हैं जो अलभ्य हो किंतु क्या वे पा सके? क्या स्थानिकता से मुक्त वह 'मानवीय स्थिति' संभव हो पायी है जो सब ओर के लोगों में समान रूप से देखी जा सके? छठीं इंद्रिय समेत इंद्रियों द्वारा किसी ऐसे मानव-मन को बाँध कर कलाबद्ध नहीं किया जा सका, जो विश्व के सभी भागों में एक ही तीव्रता से ग्राह्य की जा सके। इसलिए परिवेश से मुक्ति का यत्न तो ठीक है किंतु अभी कुछ वैसा मिला नहीं है। उसके अतिरिक्त स्थानिकता से मुक्ति का अर्थ है अपने समाज से कट जाना और एकदम आत्मकेंद्रित हो जाना। यह आत्मकेंद्रित स्थिति विचारों की दरिद्रता के सिवा और कुछ नहीं दे सकती, जिससे कृतिकार की रचनाओं में ताज़ापन नहीं रह जायगा। रचनाओं में विविधता को बनाये रखने के लिए कहानीकार को अपने जीवन के दायरों को भी बढ़ाते जाना चाहिए और बार-बार यह कहने से काम नहीं चलने का कि औद्योगिक संस्कृति ने जीवन का सारा स्रोत महानगरों में क़ैद कर रखा है इसलिए क्या करें, हम मजबूरन वहीं पर लीक पीट रहे हैं।

इधर हिंदी में कहानीकारों का एक ऐसा जत्था तैयार हुआ है, जो महानगर संस्कृति को ही मानवीय संस्कृति का पर्याय समझता है मानो आदमी महानगरों में ही रहते हों, बाक़ी छोटे नगरों या गाँवों में रहने वालों से मानवीयता ग़ायब हो गयी हो। ठीक है, नगरों में जो कुछ हो रहा है उसको कलाबद्ध करना—अगर ठीक ढंग से हो सके—उचित ही है किंतु रचना का महत्व इस पर निर्भर करता है कि वह जिस स्थान की है उसकी कितनी गमक रचना में आयी है और वह कितने सुथरे किंतु संश्लिष्ट ढंग से अभिव्यक्त हुई है। चेखव की अनगिनत कहानियाँ गाँवों के जीवन पर हैं जब कि उनके समय में भी मास्को और पीटर्सबर्ग जैसे बड़े नगर थे। प्रेमचंद भी अपने समकालीन नगर और ग्राम दोनों को निकट से जानते थे। रवि ठाकुर को गुज़रे अभी ज़्यादा दिन नहीं हुए और कलकत्ता महानगर बन चुका। ज़्विग की कितनी ही उत्तम कहानियों में गाँव या क़स्बे ही हैं। यशपाल की अधिकांश कहानियों की पृष्ठभूमि लखनऊ, शिमला या मसूरी जैसे छोटे नगर हैं महानगर नहीं। तो क्या इन लोगों को कहानीकार न माना जाय?

यह ठीक है कि औद्योगिक संस्कृति की जड़ें ज्यों-ज्यों देश में गहरी होती गयीं, त्यों-त्यों ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होती गयीं जिन्होंने व्यक्ति की पुरानी मान्यताओं को धसका दिया। किंतु यह कार्य-व्यापार केवल नगरों में ही नहीं, गाँवों में भी हो रहा है और ज़ाहिर है कि वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन होंगे। जो औद्योगिक संस्कृति को केवल बंबई-कलकत्ता-दिल्ली में ही

देखते हैं, वे मशीनी युग के सर्वव्यापी रूप को बिसार देते हैं। इसलिए गाँवों या क़स्बों में बदलते व्यक्ति या समाज को अपनी कहानी का उपजीव्य बनाना कहानी को आधुनिकता से हीन करना नहीं है।

किसी भी रचना की श्रेष्ठता का आधार उसका परिवेश या वर्ग या समाज नहीं है बल्कि यह है कि जिस परिवेश का चित्रण किया जा रहा है वह कितनी बारीकी से रचना में संग्रथित हो सका है। जिस वर्ग को उतारा जा रहा है वह कितनी यथार्थता से रचना में प्रतिबिंबित है और उसमें जीने वाले व्यक्ति की मनोदशा को कितनी गहनता और निःसंगता से उद्घाटित किया गया है। इसलिए शहर या ग्राम से खिसक कर रचना की श्रेष्ठता उसके प्रस्तुतीकरण और रूपबद्धता में समाहित हो जाती है। पहले कुछ मार्क्सवादियों ने भूल से रचना की श्रेष्ठता का आधार विषय या स्थान मान लिया था, जिसका कुफल यह निकला कि नगर या मज़दूर पर लिखी जाने वाली वे रचनाएँ जिनका जीवन की जटिलता या वास्तविकता से कोई रिश्ता न था, मात्र विषय के कारण सराही गयीं। जब तक युगबोध से जीवन की 'निरंतर संचेतना' को मिलाते न चलिए तब तक कुछ काम नहीं बनने का।

व्यक्ति अलग इकाई होते हुए भी विराट सामाजिक शक्ति का ही एक अंग है और वह विराटरूपा शक्ति इन्हीं अलग-अलग इकाइयों से वैसी बनी है जिसमें और समाज में इस तरह का तालमेल है कि एक का बदलना दूसरे से जुड़ा हुआ है। इस रिश्ते को समझना, साथ ही उसे रचना में झलकाते जाना जितना सरल दीखता है उतना है नहीं। तभी तो जिन कहानियों पर खूब चर्चाएँ चलती हैं वे कभी-कभी चर्चाओं से कम समय में ही भुला दी जाती हैं। चर्चाओं की बहुलता और कहानियों की, विशेष रूप से नयी कहानियों की क्षीण आयु एक तरह से उस 'कैंप' के गतिरोध या (अब तो) मृत्यु को ही सूचित करता है।

यथार्थ के हाथ न आ सकने से उन्हें जो अनास्था मिली है उसी ने प्रवंचना की खोल ओढ़ लेने के लिए भी कहा है, तभी उन्हें लगता है कि जो यथार्थ को अलग देखने की बात करते हैं वे भ्रम में हैं और इसीलिए दूसरों की बात को तोड़-मरोड़ कर उनका उत्तर देने में ही उन्हें आनंद आता है और अगर ऐसा न करें तो जो लोग 'अकेलों' को सदा अस्वीकारते रहे हैं उन्हीं के सर आत्म-निषेध का दोष क्यों मढ़ें। ऐसा इसलिए भी हो शायद कि कहानी को कोई मोड़ न देने के बावजूद इकाई के बदले 'दहाई' या तिहाई होने से ही वे अपने को जयी समझें। समझें, किंतु भ्रम तो न फैलायें कि उनके विफल हो जाने पर कहानी का अंत हो गया या कहानी दिशाहारा हो उठी है। बेमतलब के हुल्लड़बाज़ों से अलग ही हट कर वे लोग हैं जो कहानी को 'नयी कहानी' के छल से मुक्त करने के यत्न में हैं। इनमें कितने अपने सुकार्य में कब तक जुटे रहेंगे, यह कहना तो संभव नहीं किंतु शिवानी, जगदीश चतुर्वेदी, रामनारायण शुक्ल, अवधनारायण सिंह, छेदीलाल गुप्त, प्रयाग शुक्ल, सुरेंद्र मल्होत्रा, ललित सहगल, योगेश गुप्त, महीप सिंह, सुरेश सिन्हा, शशिप्रभा शास्त्री, शक्तिपाल केवल, गंगाप्रसाद विमल की कुछ कहानियों ने कहानी को नवीनतम संदर्भों में रूपायित करने का यत्न किया है। जो लोग निरर्थक शोर मचा रहे हैं उनसे कहानी को कोई धक्का नहीं पहुँचेगा क्योंकि उनकी चीख-पुकार उनकी दयनीय असमर्थता को ही प्रकट करती है।

दृश्यमान समाज में संनिहित सत्य को अंतर्दृष्टि से पहचान कर उसे पूर्ण निरपेक्षता से कहानी में बाँध देना ही उसको श्रेष्ठ बनाना है और ऐसा करने के लिए न तो गुट बनाने से कुछ हाथ आयेगा, न निरर्थक शोर से बल्कि इससे कि जीवन में ख़ूब गहराई तक झाँकते हुए भाषा को इतनी 'टेम' कर लेने से कि वह हर सत्य जो दिखे या अनुभूत हो, उसे बाँधती चली जाय। यही चेखव और ज़्विग ने किया था, यही प्रेमचंद और रवि ठाकुर ने, यही यशपाल, 'अज्ञेय' और रांगेय राघव ने किया। अब देखना है, हममें से वह कर सकने में कौन कितना समर्थ है!

—एम० ६३, कीर्तिनगर, नयी दिल्ली–१५।

रामनारायण उपाध्याय

लघुकथा

फ़सलों की शरारत

आसमान ने जब वर्षा से बादलों की गीली चादर को शरद की सुहावनी धूप में सूखने के लिए डाल दिया तो चौमासे अपने मैके में सुख के झूले झूलने वाली फ़सलों के मन में भी अपने घर लौटने की याद जगी।

सावन के महीने बड़े जतन से ओढ़ी हरे रंग की चुनरी को धान में सहेज कर एक ओर रख दिया और वह प्रौढ़ा की तरह पीले वस्त्र पहन कर खेतों की सुनसान डगर से अपने घर जाने के लिए निकली।

रास्ते में शरारती कपास को न जाने क्या सूझा कि उसने अपने कोट के कॉलर में सफ़ेद रंग का फूल लगा कर उससे छेड़खानी करनी चाही।

किसान ने जब उसकी इस हरकत को देखा तो उसने धान को तो अपने घर में स्थान दिया, लेकिन शरारती कपास को कान पकड़ कर व्यापारी के हवाले कर दिया।

कपास के खेत छोड़ कर चले जाने से तूवर का मन भी अब वहाँ लग नहीं रहा था। मूँग, चौलाई जैसी उसकी अनन्य सहेलियाँ भी उससे पहले ही विदा ले चुकी थीं। लाचार एक दिन वह ज्वारी को खेत में अकेले छोड़ कर गाँव वालों के साथ भाग गयी।

अपने सर पर बालदार कलँगी लगा कर हर किसी का मन ललचाने वाले गेहूँ की बालें भी अब पक चुकीं और उसकी तनिक सी हरकत पर नन्हीं सी मिर्च भी उसे लाल-लाल आँखें दिखा कर धमकाने लगी।

सबसे बड़ा बखेड़ा तो उस दिन हुआ, जब लटलूम वधू की तरह मूँगफली ने हरे रंग का फ्रॉक पहन कर गाँव में प्रवेश किया। इस पर नज़दीक़ी खलियान में खड़े मक्के ने उसे दाढ़ी हिला कर अपनी ओर आने का इशारा किया। इस पर गाँव वाले इतने बिगड़े कि उन्होंने उसके वस्त्रों को तार-तार कर फाड़ डाला। लेकिन उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि जिसे वे दाढ़ी-मूँछधारी साधु पुरुष समझ रहे थे, उसकी दाढ़ी नक़ली निकली और वह बेशर्म सा दाँत निकाल कर हँस रहा था।

—साहित्य-कुटीर,
ब्राह्मणपुरी, खंडवा (म० प्र०)

रामस्वरूप चतुर्वेदी

जीवन और नयी कहानी

यह एक कांशस डिपार्चर था कि जीवन जो कुछ दिखायी पड़ता है उसे बग़ैर किसी लाग-लपेट के बग़ैर फुलकारी किये हुए, बग़ैर प्रतीक और बिंबों से डायरेक्टली जितना कहा जा सके उसे कहने की कोशिश की जाय और अपनी सच्चाई को कहा जाय। उसे शिल्प की वर्जिश न करायी जाय। यही क्षण हमारी कहानी का कटा हुआ क्षण था, एक सीमित क्षण। वह अपने में एक संपूर्ण क्षण था।

(कमलेश्वर : 'ज्ञानोदय', फ़रवरी १९६६)

प्रतीक, मिथक, अन्योक्ति आदि की चर्चा वास्तविक का अवमूल्यन करती है। अनुभव की जो प्रत्यक्षता है उसके प्रति एक अवमानना का भाव प्रतीक-चर्चा में निहित रहता है। गोया कि जो प्रत्यक्ष है, वास्तविक है, तात्कालिक है, प्रयोगसिद्ध है, उस अनुभव का प्रस्तुतीकरण महत्वहीन या दिखावा मात्र है और असली अर्थ कहीं भीतर छिपा बैठा है जिसे प्रतीकों के उत्खनन के जरिये बाहर लाना होगा। कहना न होगा कि कथारूपों की मूल संपदा यह प्रत्यक्ष अनुभव ही होता है भले ही वह ऊबड़-खाबड़ या अपिरष्कृत हो।

(देवीशंकर अवस्थी : 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति'—भूमिका)

नयी कहानी के संदर्भ में यह 'बग़ैर किसी लाग-लपेट के' जीवन की सच्चाई को कहने, और 'प्रत्यक्ष अनुभव' पर बल देने की बात बार-बार कही जाती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'जीवन की सच्चाई' और 'प्रत्यक्ष अनुभव' तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतः ही सुलभ है। मुहल्ले के चौराहे पर माँ-बहिन की गाली देते हुए लोग, यौन-व्यापार में रत पशु, कूड़े में से गूदड़ बीनते हुए बूढ़े भिखारी और आकर्षक मुद्राओं में प्रेमियों के युगल—इस / इन सबको लोग सीधे ही देखते हैं। इस देखे हुए दिखाने के लिए किसी कथाकार की अपेक्षा क्यों होनी चाहिए? स्पष्ट है कि 'जो कुछ दिखायी पड़ता है' उसे दिखाना रचनाकार का इष्ट नहीं है। मूल बात है देखे हुए में जो अनदेखा रह जाता है उसे पकड़ना और संप्रेषित करना, प्रत्यक्ष अनुभव के साथ व्यापक कल्पना को संपृक्त करना। यहीं पर अनुभव की विशिष्टता है, और इस विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिए ही खास तरह की भाषा के इस्तेमाल की बात आती है, जिसे प्रतीक या बिंब-विधान आदि कहा जाता है। अनुभव के विशिष्ट तत्व को भाषा के सामान्य-साधारण रूप में इसलिए नहीं व्यक्त किया जा सकता, क्योंकि परंपरित और रूढ़ अर्थों से बँधे हुए शब्द अनुभव के नये आयाम को खंडित कर

देते हैं। यहाँ तक साहित्य मात्र की रचना-प्रक्रिया एक ही होगी, वह चाहे कविता हो या नाटक, उपन्यास हो या कहानी। इसके बाद भाषिक प्रयोग की दिशा और सीमा अलग-अलग होगी, अलग-अलग काव्य-रूपों की प्रकृति के अनुकूल।

सरल कहानी और सरल उपन्यासों में 'जीवन की सच्चाई' और 'प्रत्यक्ष अनुभव' की दुहाई दे कर महज़ घटनाओं को महत्व मिलता है। यह प्रवृत्ति यहाँ तक फैली है कि शायद बंगला के परवर्ती फ़िल्मैया उपन्यासों की 'सफलता' से प्रेरित हो कर हिंदी के कई शीर्षस्थ कथाकार भी इस आसान तरीक़े की ओर झुक गये हैं। यशपाल की बहुचर्चित कथाकृति 'झूठा-सच' इस 'प्रत्यक्ष अनुभव' का ही बृहत संकलन है। एक के बाद एक घटना और जीवन की सच्चाई इसमें 'बग़ैर किसी लाग-लपेट के' रख दी गयी है। पर फिर वही प्रश्न उठता है कि क्या यह साहित्य है? यों तो सारा का सारा मानव-जीवन ही विभिन्न घटनाओं का क्रम या कि संघात है। पर मनुष्य का जीवन घटनाओं का समुच्चय नहीं है, उसकी एक आंतरिक संगति है जिसे अपने-अपने ढंग से सभी रचनाकार और वैज्ञानिक और दार्शनिक पकड़ने के उपक्रम में रहते हैं। और यह आंतरिक संगति वैसे सीधे ('डायरेक्टली') ढंग से नहीं पकड़ी जा सकती जैसा कि नयी कहानी के पुरस्कर्ता दावा करते हैं। यों 'जीवन में जो कुछ दिखायी पड़ता है उसे बग़ैर किसी लाग-लपेट के' बंबइया फ़िल्में भी कहती हैं, पर उन्हें कला नहीं माना जाता।

--१६७ ए, एलेनगंज,
—इलाहाबाद।

देवेन एकाकी

कहानी

बलि का बकरा

ध्यान कुटि, कुटि ध्यान, ध्यान ध्यान, कुटि कुटि. . . .! चितई के गोल्ल मंदिर के आगे का थल बकरियों से भरा था। पुजारी जीत सिंह और आसपास के गाँवों के सभी ग्रामीण चितई गोल्ल के आगे उमड़ पड़े थे। दोड़म गाँव के प्रधान वीर सिंह ने पूजा डाली थी। वीर सिंह के सबल हाथों में जब हरकू कसाई का बड़्याठ चमकता था, तब बकरियों की मिमियाहट चितई गोल्ल के कानों के पर्दों को भी छेद देता था। नैनू गोधनी ढोली, ढोल-दावुक और नगाड़ा दमदमा रहे थे—ध्यान कुटि, कुटि ध्यान, ध्यान ध्यान, कुटि कुटि. . . .!

पीठ पीछे छिपाये हुए वङयाठ को बीर सिंह ने झटके से सामने खींच लिया और एक पैनी दृष्टि उसकी ओर डाली। धार पर तिरछी उँगलियाँ फेरीं। कुछ कुरकुरी सी महसूस हुई। एक हल्की मुस्कान मोटी-काली मूँछों के आरपार नाच गयी। उसी नपे-तुले अंदाज़ से तीखे बड़्याठ को पीठ पीछे छिपाते हुए बीर सिंह ने एक नज़र चारों तरफ़ डाली। लोग आपस में खुसुर-फुसुर कर रहे थे। धोती के लंबे छोरों को उसने दोनों हाथों से कमर में खोंस लिया, हाथों की दृढ़, शिला-मूर्तियों के सख़्त उभारों जैसी, पेशियों पर उँगलियाँ फेरीं और उसकी डरावनी गिरगिट जैसी आँखों में ख़ून उतरने लगा। अचानक लपक कर उसने बड़्याठ हाथों में मजबूती से पकड़ लिया। आँगन में बिछे पटाल जैसा पक्का चौड़ा सीना ऊपर-नीचे होने लगा। मूँछें फड़कने लगीं। क्रूर दृष्टि से उसने सामने देखा। पुजारी जीत सिंह बकरियों के कानों में हाथ से पानी डालता जा रहा था—छपाक्! ! नदी-रौखड़ के सफ़ेद शिलाखंडों-सी पचासों बकरियाँ थल में खड़ी थीं। पिठी-अक्षत लगी बकरियाँ कान फटफटा चुकीं, अंग-अंग झटक चुकीं, तभी—

बोल चितई के गोल्ल देवता की. . . .

जैऽऽऽऽ. . .

बोल हरु सैम की. . .

जैऽऽऽऽ. . .

और जै की इस कर्णभेदी आवाज़ ने नैनू गोधनी के ढोल-नगाड़ों को भी मात दे दी। सारी बकरियाँ बिलबिला उठीं। प्रधान बीर सिंह उनके बीच में कूद पड़ा—ख्याञ्च. . .—प्याञ्च . . . —म्याँऽऽऽऽ. . .शिबौ. . .शिब. . .—चुप !

महायुद्ध ! काश दूसरे महायुद्ध में यही बङयाठ बीर सिंह के हाथों में जर्मनी की भूमि पर

होता ! 'रॉयल-गढ़वाल-राइफ़िल्स' के सिपाहियों में सबसे जोशीला जवान अफसरों की दृष्टि में वही तो था। —जैऽऽऽऽऽ. . .ध्यान कुटि कुटि. . .

ख्याच्च. . . .

चा. . .आ. . .आ. . .र्ज. . .

खच्च. . .

कटी हुई बकरियाँ ज़मीन पर पछाड़ खा रही थीं और बची हुई भय से थरथरा रही थीं। बीर सिंह को लगा जैसे खाई से निकल कर एक बार फिर उसने संगीन से उस जर्मन सिपाही पर धावा बोल दिया है—चा. . .आ. . .आ. . .र्ज ; उसके सामने युद्ध की बीभत्सता नाच गयी; सिपाही का ख़ून खौल उठा।

युद्ध समाप्त होने पर सिपाही बीर सिंह मातृभूमि लौट आया था लेकिन खौलता ख़ून ले कर गाँव के लोग तो उसका पक्का शरीर ही देख कर डर जाते थे, अतः मारपीट की कभी नौबत ही नहीं आती थी। अंत में बकरियाँ काट-काट कर ही शौर्य की, प्रतिशोध की प्यास बुझाने लगा। और इधर चितई के थल में पिछले कई सालों से केवल वही बकरे काटता आ रहा था। लेकिन आज बात कुछ दूसरी थी। पिछले छह-सात साल से घरवाली खाट पर पड़ी कराह रही थी। अकेला लड़का था, वह भी त्योरे साल 'कुमायूँ रेजिमेंट' में भर्ती हो गया था। बीर सिंह रोकता कैसे ? उसी का तो ख़ून था। आज वही बेटे की रक्षा के लिए मुस्तैदी से सीमा पर डटा हुआ था। धीरे-धीरे अतीत पूरी तरह उसके सामने घूम गया। पर दूसरे ही क्षण एक दूसरा चित्र उसकी आँखों के सामने उभरने लगा—खाट पर कराहती घरवाली ! आह, बेटा सीमा पर साँसें गिनती घरवाली खाट पर पड़ी हुई और स्वयं चितई के थल में बड़्याठ थामे हुए ! . . .यह त्रिकोणीय किरमोड़े का शूल हृदय में चुभता रहा—भीतर तक ! . . .अंत समय तिरिया का साथी पति ही तो होता है. . .इसीलिए वह यहाँ है, नहीं तो क्या पता आज वह भी बहादुर बेटे के बग़ल में सीमा पर. . . ! इन्हीं सब दुविधाओं ने घेर रखा है बेचारे को। क्या करे, क्या न करे ? बचना तो पता नहीं. . .अंत समय अपने ही हाथों अपने इष्ट देवता को आखिरी पूजा-प्रसाद चढ़ावा दे, फिर परमेश्वर की इच्छा ! घरवाली की याद आती है तो दिल कसराने लगता है, हाथों में बड़्याठ ढीला पड़ने लगता है। लेकिन कसराने से पूजा विफल हो गयी तो ?

—बली बीर सिंह की. . .

'जैऽऽऽऽ' के उद्घोष के साथ ही बीर सिंह पराक्रमी पुरुष की भाँति इधर से उधर कूदने-फाँदने लग गया था। जोश की अधिकता के कारण उसने अपना बायाँ पाँव दायीं जाँघ पर चढ़ा लिया था और एक ही टाँग पर उछल-उछल कर बकरियों की मुँडियाँ गिराने लगा था। अंत में बच गया मगनुवाँ —डेढ़ सौ बकरियों की गोठ का सयाना मगनुवाँ, बीर सिंह का इष्ट देवता को दिया हुआ अपना ही चढ़ावा, घरवाली की आख़िरी इच्छा। पिठाँ, अक्षत से मगनुवाँ का सिर रँगा था। पिछले सात-आठ सालों से उसे पाल-पोस कर इतना बड़ा किया था, उसके साथ शुरू में कई महीने साथ-साथ बिछौने पर सोया था और उसकी मोहक नृत्य-मुद्राओं में उसने सजीले स्वप्न सँजोये थे। मगनुवाँ उससे पूछ रहा था—क्या यही पुरस्कार देने के लिए प्यार से पाल-पोस कर बड़ा किया था मालिक ?

क्या मेरी मौत से तुम सचमुच मालकिन को जिला लोगे ? बीर सिंह देखता ही रह गया। मगनुवाँ उसकी टाँगों से सट कर खड़ा था; मानो प्राणरक्षक की छत्रछाया में। लेकिन उसे क्या पता था कि मालिक का वही रक्षक हाथ आज . . । बीर सिंह का मन हुआ कि वह अपने प्यारे मगनुवाँ को छाती से लगा ले और उसे बताये कि वह कितना बड़ा धोखा दे रहा था उसे। मगर पिठाँ-अक्षत लग चुका था। अंग ढीले कर अब मगनुवाँ गोल्ल का हो चुका था। और ऐसे दिल कसराने से क्या गोल्ल उसके वंश को मटियामेट नहीं कर देंगे, उसके मकान का खँडहर नहीं बना देंगे ? बड़्याठ को मज़बूती से पकड़ कर बीर सिंह आगे बढ़ आया। मन में उथल-पुथल मची हुई थी . . . मगनुवाँ तुझे मैंने लड़के की तरह पाला है रे ! . . . मेरा अपराध क्षमा कर देना। स्वर्ग से हरु सैम की गोठ की शोभा बढ़ाना अब . . . । मगनुवाँ भी जैसे उसका आशय समझ गया था। चुप-चाप सिर झुका लिया और आँखें मूँद कर जैसे कहने लगा ..स्वामी, अगर ऐसे तुम अपनी घरवाली बचा सकते हो तो मारो बड़्याठ . . . मालकिन जी जायें . . . मेरा भी जनम सफल हो जायगा।

दिल को कठोर बना लिया पधान ने—

ध्यान कुटि, कुटि . . .

ध्याच्च . . .

च्चच् . . . जै इष्ट देवता !

मैदान साफ़ हो गया। धूल में लुढ़कती मगनुवाँ की सजीली आँखें बीर सिंह की आँखों में अब भी झाँक रहीं थीं। मृत शरीर तड़फा तक नहीं। इन्साफ़ तो हो चुका था। उसको लगा कहीं उसने गोली ग़लती से पाँच अंश के कोण पर अपने . . . ! उसके हाथ-पाँव खून से लथ-पथ हो गये थे। ख़ून की पिचकारियों से बदन रँग गया था। तब जर्मनी में भी सूखी ज़मीन के ऊपर कितने जर्मनों के ख़ून से नहाया था बीर सिंह और यहाँ कितने वर्षों से चितई के थल में बकरियों के ख़ून से हाथ-पाँव रँगता चला आ रहा है। लेकिन उस ख़ून और इस ख़ून में तो धरती और आकाश का अंतर है ! आज वह इष्ट के थान (मंदिर) में है। घर में घरवाली बीमार है नहीं तो ऐसे निहत्थे ख़ून में थोड़े ही जवानी बर्बाद करता अपनी। मोर्चे पर . . . चा . . . आ . . . आ . . . र्जे . . .

. . . बट् . . . कट् . . . प्वाइंट . . .

बीर सिंह का दिल पत्थर हो गया था, न दुख न दर्द। एक बार याद कर सभी कुछ बिसरा दिया उसने। हाथ-पाँव जवानी के शौर्य से फड़कने लगे। हरकू क़साई का बड़्याठ हाथों में पतेल सा हल्का हो उठा। उसे छोड़ने को दिल नहीं कर रहा था। वह सोचने लगा कि बकरियाँ ख़त्म क्यों हो गयी ? काश ! लोग बकरे ढकेलते जाते और वह काटता जाता . . . काटता जाता और काटते-काटते बेहोश हो कर वहीं गिर पड़ता . . . ।

उसने अपनी गर्दन चारों ओर घुमायी। बकरियों के निर्जीव शरीर और उनकी एकत्र मुंडियाँ ! प्रस्तर-मूर्ति पर पुजारी ख़ून का टीका लगा रहा था। उसे लगा, जैसे गोल्ल मंदिर का संपूर्ण, घंटियों से लदा हुआ, बाँज का वृक्ष हिल उठा है—टुन . . . टुन . . . टुन . . . । साँय-साँय कर हिमानी बयार डोल उठी। बीर सिंह का दिल कभी ऊँचे डानों (चोटियों) पर जा कर मोर्चे की ओर झाँकने लगता और कभी नीची घाटियों में ग़ोता खा कर घर के भीतर घरवाली की

खाट के पास बैठ जाता। उसका मन फिर-फिर डानों पर चढ़ रहा था कि काश कोई खून का टीका लगा कर उसे भी दूर उत्तर की ओर बर्फ़ानी चोटियों पर उसके बेटे के साथ छोड़ आता। लेकिन फिर पछुवा का झोंका उसे नीचे ले आता—बीर सिंह जीवन का सहारा मत छोड़! आखिरी सहारा बेचारी का तू ही तो है! इसी पशोपेश में डूबता-उतराता वह थल से बाहर की ओर चला आया।

शाबाश बीर सिंह! इस साल तो तुमने ग़ज़ब का जोश दिखाया!
बिरका, तुम तो जैसे फिर लड़ाई पर चले गये थे!
पधान, मगनुवाँ हो . . .।

वह तेज़ी से निकल आया लोगों के बीच से। मन हुआ, कानों में उँगलियाँ डाल ले। न जाने उस समय बीर सिंह क्या-क्या सोच रहा था; न जाने क्या-क्या संकल्प कर रहा था।

अचानक उसे झटका सा लगा कि वह बेकार ही दिल कमज़ोर कर रहा है। बदन से चिपका ख़ून वह क्यों पोंछ रहा है? इतनी दृढ़ता और वीरता के बाद भी वह दिल कमज़ोर क्यों करे? विजयी राजा की तरह उसने बकरियों की एकत्र मुंडियों की ओर देखा और बिना बदन से ख़ून पोंछे ही गणेश का के हाथ से हुक्क़ा ले कर एक ओर बैठ गया। एक ज़ोर का कश खींच कर उसने फूँक निकाली। हुक्क़े का पानी गुड़गुड़ा उठा और धुएँ के बीच पधान बीर सिंह अपने अतीत को टटोलने लगा। परंतु जिस धुएँ के भीतर वह सदा से ख़ून का छितराना देखता चला आ रहा था, डरावनी भयानक—चार्ज . . . धायँ . . . धायँ . . . धायँ . . . की आवाज़ें सुनता आ रहा था, उसी में आज उसे एक ककड़ी के चीरे-सी सूखी, झुरी हुई स्त्री की सूरत दिखायी दी। कराहने की क्षीण आवाज़ कानों में आती गयी। रामबांस के लंबे-तीखे कांटे जैसे उसके सीने में चुभने लगे। दुखी फ़ाख्ते जैसा उसका दिल उसका ऊँचे डानों से कहीं पार हरी-गहरी तलहटियों में उड़ने लगा . . . फुर्र . . . र्र . . . र्र, . . . फु . . . र्र . . . र्र। गीली, दयनीय आँखों से उसने गोल्ल मंदिर की ओर देखा और उसे लगा जैसे सैकड़ों घंटियाँ उसकी आयी पुकार सुन कर धीरे-धीरे हिल-हिल पड़ती हैं—चुन . . . चुन . . ., टुन . . . टुन . . .! उसने सोचा, कौन सी बयार से हिली हैं ये? कौन जाने सुदूर से हिमानी हवाएँ उसके बेटे की पुकार ला कर इन्हें झुला गयी हों। और यह भी हो सकता है कि घर की टूटी चारपाई की चरमराहट ही यहाँ तक पहुँच गयी हो! उसका मन प्रार्थना की गहराइयों में डूबता गया—दाहिने हो जाना परमेश्वर! उस दुखिया माँ को बचा देना, स्वामी! दसों उँगलियाँ मिला कर श्रद्धा से माथे से लगा लीं उसने—यह पूजा स्वीकार कर लेना! अपने दास की आखिरी पुकार सुन लेना परमेश्वर!

पिछले सात साल, गेहूँ माड़ने के खलिहान में घूमते बैलों की तरह, उसके सामने घूमने लगे। जुन्याली (पूर्णिमा) की रातें घिनौड़ी (गौरैया) जैसी फु . . . र्र . . . र्र . . . से उड़ कर उसकी स्मृति के आँगन में बैठ गयीं।—रे साहूकार जा! गुरु के वचन का पालन कर। चार दिन में घर के बाहर-भीतर चलने-फिरने लग जायगी। लेकिन कोई फ़र्क़ नहीं हुआ; बेचारी रोगिणी की रोगिणी ही रही। कितनी ही उजियारी रातों भर प्रताप-जगरिया का हुड़का दमकता रहा, घर की मनहूसियत और साँय-साँय करते सुनसान में—दुंग . . . दुंग . . . दुंग . . .,

लेकिन परेशानियों में ही खून निथरता रहा बेचारी का। देवताओं का वश नहीं चला तो अँधियारी अमावस की रातों भर मशाण-चुड़ैलों की मनौती हुई। गोल्ल मंदिर के वायीं ओर के घिघारु के पौधे में बँधी असंख्य काले कपड़ों की कतरनों के बीच बेचारा वीर सिंह भी काले कपड़े का एक टुकड़ा बांध आया। दास को कुछ खिचड़ी और मांस भी बख़्शीश के रूप में दे आया। लेकिन न जाने ईश्वर क्या चाहता था? डॉक्टर से भी तो कुछ करते नहीं बना!

उसने चिलम गणेश का के हाथ में थमा दी। किसी बहाने मंदिर के पीछे चला आया और एक लकड़ी का टुकड़ा उठा कर ज़मीन कुरेद-कुरेद कर विस्मृति की गहरी जड़ें उखाड़ने लगा। अतीत...शौर्य और उलझनों से भरा हुआ अतीत! बहादुर के बाद एक लड़की पैदा हुई थी—देबा। बेचारी रात-दिन भूमिया के मंदिर की ओर हाथ जोड़-जोड़ कर ढलती साँझ के समय अपनी माँ के रोग-मुक्ति हेतु अपने मूक वंदन में न जाने क्या-क्या कहती रहती थी। झगुली के फटे फेट में ताँबे का बड़ा सा पैसा छिपा कर ठीक भगवान की पाषाण मूर्ति के ऊपर चढ़ाती थी कि हे इष्ट देवता, मेरी ईजा (माँ) को बचा दो! पाँच-छह साल आँगन में घिनौड़ी जैसी चीं-चीं चिचियाती रही और फिर फुर्र...र्र...र्र...से उड़ गयी कहीं सुदूर अनंत की ओर। क्या पता, वही घिनौड़ी बन कर रोज़ आँगन में दाना चुगने के बहाने आती हो!

वीर सिंह उठ कर मंदिर के सामने चला आया और नतमस्तक हो आखिरी याचना की—ले परमेश्वर! तेरी भी आखिरी परीक्षा है और मेरी भी आखिरी भेंट! तू ही उचित विचार करना अब। सब-कुछ तुझ पर छोड़ चुका हूँ। अब बना या बिगाड़; तेरी मर्ज़ी। इसके बाद भी अगर उसे कुछ हो गया तो...।

न जाने क्या करेगा पधान वीर सिंह फिर? आह, ऐसा दुख न देखना पड़े किसी को। कौन जाने क्या हो गया घरवाली को? क्या पता किसी ने घात ही डाल दी हो? एक बड़े से लोटे में पानी लिया वीर सिंह ने और खून को रगड़-रगड़ कर शरीर से छुड़ाने लगा। जवानी का सारा जोश उसे खून की धार के साथ बहता हुआ दिखायी दिया और उसे लगा, कहीं उसका अतीत भी इसी खून के साथ तो नहीं बह चला है! फिर पाठ पढ़ा कर और मंदिर का फूल-प्रसादादि ले कर बुझे दिल से उसने घरकी तरफ़ पाँव डाले। फूलोंकी मुरझायी पंखुड़ियाँ उसने बहादुरकी माँ के उलझे बालोंके भीतर डाल दीं और पाठ एवं बलिके बकरे मगनुवाँके बारे में चंद शब्द कहे।

उजियारी उदास भोर निकल रही थी। छत की मुँड़ेर पर दो कौवे काँव-काँव कर रहे थे। दूर गंगसा नदी के रौखड़ में गंग-लोढ़ों के बीच चिता के धुएँ की लकीर का एक चंदोक सा उठ रहा था। अंतिम सहारे के धुएँ से मिचमिचाती आँखों में भरे आँसू ले कर घुटा रुदन करते हुए पधान वीर सिंह आँगन से घर के भीतर की मनहूसियत की ओर बढ़ रहा था। दरवाज़े पर एक सूखा मरियल सा कुत्ता लेटा था, मगर आज उसे फटकार कर लाह नहीं जमायी। पुराना बंद गले का कोट फ़ौज की फटी सी कमीज़ के ऊपर पहना और फटे कीलदार बूटों के फीते बाँधे। आशा का कफुवा पंछी दूर पर उस धुएँ के चंदोक के पार उड़ा जा रहा था...बर्फ़ीली चोटियों की ओर...हिया हुलसा देने वाली हिमानी हवाओं के बीच बहादुर बेटे के साथ!

—१२, मानसिंह भवन, तल्लीताल, नैनीताल।

रामकुमार वर्मा

स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री के प्रति

पृथ्वी-पात्र रिक्त था
तुमने उसमें भर दी जीवन-धारा,
मधुर हँसी के बुद्बुद उभरे
पात्र भरा ऊपर तक सारा।

भरा भर गया पात्र और भी
उसमें जीवन-रस संचारा,
बिखरा चारों ओर छलक कर
उसे न कोई मिला किनारा।

पृथ्वी के इस जीवन-रस पर अधर स्वर्ग के भी ललचाये,
पीने को वे झुके और—तुम अपने से हो गये पराये।।

●

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

वीरेन्द्रकुमार जैन

अंतर-कक्ष की दो कविताएँ

शय्यालीन

उस तीसरे पहर,
गये थे हम कृष्णगिरि के विजन में
परम एकांत
मिलन-शय्या की खोज में।

पहले आया था पलाश-वन :
स्निग्ध पल्लवों की घनी भीतरिमा
हवा से काँप कर
खुली, विस्फारित हुई :
अब तक कुँवारी गहराइयाँ
उफन आयीं :
बींध कर उनके अथाह को
मैं रातुल फूल में फूट आया :
तोड़ कर वह फूल
तुमने अपनी चूड़ा में टाँक लिया...!

आगे था अमलतास-वन :
उसके पीले फूलों में जा छायी
तुम्हारी ओढ़नी :
एक विवसन तनिमा
काँपती खड़ी रह गयी
शाखांतरालों में....
मेरी देह शून्यायित हो
उसके आर-पार बह गयी...!

आगें थीं पथहीन
अनाम अरण्यानियाँ :
...वह तनिमा
उनके अंतहीन शाखा-जालों में व्यापती.
अनेक छाया-उजियालियों में
आँखमिचौनी खेलती
पकड़ाई से बाहर हो गयी...!
उसे पकड़ने को आकुल
मेरी विकल बाँहें फैल कर
पार की गिरिमाला बन गयीं :
...और मेरी श्रृंगिनी छाती पर
एक अनंतिनी नीलिमा
शय्यालीन हो रही...!

नील कमल

ओ मेरी नील कमल,
जन्मांतरों की कितनी रातों में
तुम्हारे अनगिन पाँखुरी-प्रदेशों में
अभिसरण किया है मैंने
अपने अंतिम निजत्व की खोज में;
तुम्हारी अगोचर नील रगों में हैं
जाने कितनी दुर्भेद्य गिरिमालाएँ :
उनमें विचित्र ममताली सुरभियों से अखिल
अगाध मार्दव की सर्प-गुंजलकी गुहाएँ :
उनके अगम्य अँधियारे छोरों में
रह-रह कर चमक जाती हैं
तरंगायित अग्निम मणियाँ :
मेरे व्याकुल संचरण से
वे मणियाँ कभी-कभी
इंद्रधनुषी झीलों में लहरा उठती हैं :

और एकाएक
उनकी निस्सीमगामी लहरों पर
एक श्वेताभ हंसिनी पंख पसारे . . .

स्निग्ध निश्चल उड़ती दिखायी पड़ जाती है :
अनायास ही मेरा आपा
तट पर केंचुली-सा उतर जाता है :
और मैं उस हंसिनी के पंखों का संवाही
आकाश बन छा जाता हूँ—
निस्पंद, सुस्थिर, अनाहत प्रवाही . . . !

●

भारतीय विद्या भवन,
चौपाटी रोड, बंबई—७।

श्यामसुन्दर घोष

संशयविजड़ित लोगों का गीत

एक किरण बंदी है तम के व्यूह बीच हम देख रहे हैं।

एक किरण जो उदयाचल से चल कर इस धरती पर आयी,
बिना थके जो रही लाँघती ऊँचे पर्वत, गहरी खाईं,
दरवाज़े पर आ कर जिसने फूल खिलाये, दीप जलाये,
जो कमरे के अंदर जा कर अंधकार से घिर घबरायी,
जो संघर्षों से न डरी है, जिसने लाख प्रहार सहे हैं।

हम सब संशय के हरकारे, असमंजस है धर्म हमारा।
लँगड़े-लूले सोच-विचारों से आपूरित जीवन सारा।
अपनी सीमाएँ खीची हैं हमने, खुद ही हैं अब बंदी।
रेत-ढेर में छिपा दिया है हमने चकमक तीक्ष्ण दुधारा।
बिना हिचक हमने संशय-कुंठा-जड़ता के गीत कहे हैं।

हम अपने रंग में रँग कर हैं देख रहे युग को, जीवन को।
कोस रहे जी भर के युग के युवा रक्त के स्वप्न सृजन को।
सब कुछ है विकलांग दीखता, हम अभिशप्त बने जीते हैं।
इतिहासों का सत्य मानते दुरभिसंधियों, प्रेत-कथन को।
रुद्ध प्रवाहों बीच सर्प बन रेंगे हैं, सौ बार बहे हैं।

एक किरण बंदी है तम के व्यूह बीच हम देख रहे हैं।

●

गोड्डा, संताल परगना (बिहार)

अजयकुमार

आग्रह

पीपल के पत्तों-सा खड़काओ
हरी घास-सा मुझे हिलाओ
ओ वर्षाभीगे तरल पवन-झकोरे,
अपरिचित बच्चे की मायूस निगाहों से हेर
मुझे मत ऐसे अनदेखा कर जाओ।
इस सुबह की बहुत सुनहरी सी धूप ने उगाया—
नन्हीं चिड़ियों की ट्वी-ट्वू ने परदे उठा दिये
मौसम तुम्हें मेरे पास तक ले आया
थोड़ी सचमुच थोड़ी उमर है तुम्हारी
थोड़ी देर ही मैं यह बेतरतीब उगी घासें देखूंगा
तब तक मेरा यह कमरा अपना पड़ाव बनाओ।
मुझे मत अनदेखा कर जाओ।
कुछ और रुको ऐसे अच्छे मौसम
हवा अपनी, ठहरो कुछ देर और
दीवारों पर चढ़ते नागबेल-से सन्नाटे पर।
ड्योढ़ी के अभाव दरवाज़े के चुप पर
छायी रहने दो कुछ देर और
        अपने आशीषों की छाया
देखो, उल्लासों के शंख फूंकते हैं
कब के सूखे बंदनवार
द्वार-रखे कलशों में
काँप रही है जैसे पानी की धार
थोड़ा ठहरो और
यह सूनापन हो जाने दो कुछ नम।
इतने अच्छे मौसम, कुछ और रुको—

●

राजा कॉलेज, सेवा प्रेस, जौनपुर।

ब्रजेश 'चंचल'

ज़िंदगी

मूल्यों का चढ़ाव-उतार,
खिन्नता, प्रसन्नता।
मुलम्मेचढ़े भूषण-सा,
आज का समाज यह !

सबका सब झोल-झाल
नाटकीय बोल-चाल।
रिश्तों के पिंजरे में,
बेमन से चित्रित सी
रटी हुई जिंदगी !

मिठबोली, इतराती
बढ़बोली बतियाती
पिंजरे की मैना-सी
रटी, रची जिंदगी !

काग़ज़ के फूल-सी,
गंधहीन ! फिर भी तो
युग के गुलदस्ते में
सजी हुई जिंदगी !

●

कोटा (राजस्थान)।

पद्मधर त्रिपाठी

तीन आवाज़ें : एक प्रतिध्वनि

उस रात जाने क्यों मुझे नींद नहीं आ रही थी। लोग कहते हैं, कॉफ़ी नींद तोड़ती है। और मैंने उस शाम कॉफ़ी पी थी।...बनारस आने के बाद कॉफ़ी एक तरह से छूट चुकी है। कभी-कभार यूँ ही साथ होने पर ले लेता हूँ। इधर जल्दी सोना भी शुरू कर दिया है, मगर उस रात तो एक बजे तक 'नॉसिया' ही पढ़ता रहा था।...कॉफ़ी पी थी, मुझे नींद भी नहीं आयी, लेकिन फिर भी मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जो कॉफ़ी को बदनाम करते रहते हैं। इसमें बेचारी कॉफ़ी का क्या दोष! दोष तो आँखों का था जो 'नॉसिया' को बंद करने के बाद कमरे से बाहर भी कुछ—बहुत कुछ देखना चाह रही थीं।...और मैंने भरी सर्दी में अपनी चारपाई के पास वाली खिड़की खोल दी थी। सामने एक लंबी सपाट—भयानक क्षणों में जीती हुई गली थी।

अभी रात बीती थी। भरपूर अँधेरा चारों तरफ़ फैला हुआ था। मकान के आसपास का वातावरण जैसे किसी बहुत गाढ़ी स्याही में डूबा हुआ। एक डरावनी खामोशी इधर-उधर टहल रही थी। थोड़ी ही देर के लिए सही—पर लगता था जैसे सब कुछ एक बहुत बड़े जबड़े में समाया हुआ हो। खामोशी के टुकड़े खिड़की के रास्ते धीरे-धीरे आ-आ कर मेरे कमरे में भी भर रहे थे। चारों तरफ़ एक चिपचिपा स्पर्श लग रहा था। सारी खामोशी बीच-बीच में तभी टूटती, जब चोट-खाये 'मसीहाओं' जैसे गली के कुत्ते सहसा ही भूँक पड़ते। खामोशी तो टूटती, मगर पूरे वातावरण में भय और अधिक घुल जाता। लगता, जैसे किसी गहरे कुएँ में बहुत बड़ा पत्थर झम्म से फेंक दिया गया हो; कि उससे भी ज़्यादा किन्हीं खूँखार हाथों सारा सन्नाटा बेदर्दी से टुकड़े-टुकड़े कर के छितरा दिया गया हो!

हवा भी बर्छीली थी; दिसंबर की, तेज़ और ठंडी। उस रोज़ तेज़ हवा शाम से ही बह रही थी। जाड़े की पुरवा भी शायद अपने अस्तित्व को और अधिक गहराई से महसूस करती है। बहरहाल उसकी तेज़ी का एहसास शाम को उतना नहीं हुआ था, जितना आधी रात गये हो रहा था। लगता था—भारी और लंबे डग भरती हवा गली के सीने पर चढ़ कर चली जा रही है; दोनों तरफ़ के मकान काँपते हैं और एक झोंका बीतने के बाद दोबारा काँप कर राहत पा लेते हैं।...

नींद नहीं आ रही थी। सोचा, शायद खिड़की बंद करने पर ही नींद आये। न जाने कितने लोग हैं, जो खिड़कियाँ बंद रखते हैं, बल्कि रज़ाई से मुँह ढाँक कर सोते हैं। वे सोते हैं

या नहीं, या सोते हैं तो कैसी नींद?—यह नहीं पता। मुमकिन है सोने की हज़ारहा कोशिश करने के बावजूद अधनींदे ही रहते हों। मगर इतना तो है ही कि देखने पर वे सोते हुए ही लगते हैं।....

और तभी—खिड़की बंद करनी चाही कि हवा का एक तेज़ झोंका आया। उसकी तेज़ी देख मानना पड़ा कि यह है पहले से भी अधिक तीखा और कँपाने वाला। गली की उस पट्टी वाले ऊँचे मकान की सपाट दीवार पर लगे हुए कई-कई फटे और उखड़े हुए 'पोस्टर' काँप उठे। एक ज़ोर की फड़फड़ाहट हुई और देर तक होती रही। क्षण भर को लगा—उस पूरी दीवार के बल्कि समूचे मकान के अस्तित्व ने एक गहरे आघात का अनुभव किया है। वह हिल गया है। जाने क्यों वह अनुभूति मुझे अच्छी लगी।....

'पोस्टरों' की फड़फड़ाहट बराबर होती रही। वह पहले भी होती रही होगी, मगर मैं ध्यान न दे सका। बहरहाल, नहीं ध्यान गया तो भी कोई बड़ी बात नहीं।...फटे हुए 'पोस्टर' तो हवा के झोंकों में फड़फड़ायेंगे ही, कुछ ग़लत ढंग से चिपकाये गये 'पोस्टर' उखड़ भी सकते हैं। प्रायः उखड़ जाते हैं।...और खिड़की का एक पल्ला मैं बंद कर ही रहा था कि ज़ोर की एक आवाज़ कौंधी। उस आवाज़ ने अँधेरे में उड़ते सन्नाटे को चींथ-चींथ कर बिखेर दिया। उस आवाज़ में एक घबराहट थी। वह व्यस्त जैसी थी। वह उस अँधेरे के बाहर किसी और अँधेरे में जीने वाली आवाज़ लग रही थी। मैंने सिर उठा कर टोह ली तो लगा—आवाज़ उन फटेहाल 'पोस्टरों' में से कहीं से निकल रही है। मगर अपनी इस मूर्खता पर खुद को हँसी भी आ गयी।

बचपन में दादी माँ ढेरों कहानियाँ सुनाया करती थीं। कभी-कभी भूतों और चुड़ैलों की कहानी भी वे कहतीं। एक बार खैरा पीपल वाली चुड़ैल की कहानी कहते समय उन्होंने उसकी आवाज़ की भी नक़ल की थी। मैं डर गया था। अजीब तरह की नक्की आवाज़ उन्होंने सुनायी थी। ...और 'पोस्टरों' में से आती वह आवाज़ भी नकिया-नकिया कर चिल्ला रही थी—हुँऽ हूँऽ हुँहूऽऽ....। मगर मैं डरा नहीं। मुझे फिर अपनी नासमझी पर हँसी आयी और मैंने खिड़की का वह पल्ला पूरा बंद कर दिया। दूसरे पर हाथ पहुँचा ही था कि वह आवाज़ अपने नक्की सुर में चीखी... 'नहीं, बंद मत करो, मैं बात करना चाहता हूँ।' मुझे आश्चर्य हुआ कि यह आवाज़ किसी चुड़ैल की नहीं, भूत की है। मैंने निवेदन किया—'आप सतायी हुई पीड़ित आत्मा हैं, शांति पायें। मैं भला आपसे क्या बातें कर पाऊँगा!'

आवाज़ एक मिनट मौन रही, फिर बोली—'ठीक है, तुम मत बोलना, मैं ही कहता रहूँगा। अस्ल में मैं आदमी से बात करना चाहता हूँ। हाँ, यह जान लो कि मैं भूत नहीं हूँ। मैं पीड़ित हूँ।'

उसकी बातों पर मुझे विस्मय हुआ, मगर मैं मौन रहा। बस, हल्की हँसी आ गयी। मैंने यह भी तै कर लिया कि सुनता ही रहूँगा, बोलूँगा कुछ नहीं। आवाज़ फिर एकाएक कड़की.. 'तुम हँस रहे हो। ठीक है, हँस सकते हो। तुम लेखक हो; कवि हो। तुम फिर हँसोगे, जब यह सुनोगे कि मैं भी लेखक हूँ।...और सचमुच मुझे फिर हँसी आ गयी। मुझे हँसते देख

खी-खी कर के ज़नानी हँसी शायद वह भी हँस पड़ा था। तुरत सँभल कर बोला—'बंधु . . .'। उसके इस संबोधन पर मैं अचानक बोल पड़ा . . . 'क्षमा करें, कृपया इस प्रकार के संबोधन का प्रयोग मेरे साथ न करें।"

मैं बोल तो गया, पर अपनी सहसा की हुई भूल पर पछताया भी। तभी आवाज़ थोड़ी तेज़ हो गयी—'क्यों, यह संबोधन तुम्हें नहीं पसंद आया ? तुम तो आधुनिक बनते हो न! तुम ख़ाक आधुनिक हो। देखो, आधुनिक मैं हूँ। किसी के भी दु:ख-दर्द में साझीदार बन सकता हूँ। . . . .' बात कहते-कहते शायद सफ़ाई देने की भी ज़रूरत उसे महसूस हुई—'मेरे हर शब्द को काफ़ी ध्यान से सुनना। सबके सब प्रतीक हैं। एक गहरा अर्थ और 'तटस्थ संवेदना' उनके पीछे है। . . .तो असल बात तुमसे जो कहनी है, वह यही कि मैं तुमसे ज़्यादा आधुनिक हूँ। तुम पूछ सकते हो—क्यों ? तो बं . . . ., नहीं-नहीं, 'सॉरी', तो इसलिए कि मेरी आत्मा हिमालय की तराई में एक चीड़ वृक्ष की फुनगी पर लगे बया के घोंसले में बंद रखी हुई है। उसे मैं जान-बूझ कर अपने पास नहीं रखता। इसके अनेकों कारण हैं। सबसे बड़ा कारण तो यही है कि उसे मैं किसी से भी, किसी चीज़ से स्पर्श भी नहीं कराना चाहता। यहाँ तक कि धूप और हवा से भी नहीं। इस धूप को ही लो—मैं बरहमेस यह देखता रहा हूँ कि धूप का भी भरोसा नहीं। उसकी भी पात्रता पर मुझे संदेह है। वह सड़े हुए अंडे पर भी पड़ सकती है और 'सन बाथ' करती किसी खुली हुई योनि पर भी और. . . .'

वह आवाज़ आगे कुछ और बोलती कि मुझे बीच में ही फिर बोलना पड़ा—'क्षमा करें, आपकी इन बातों से मुझे उबकाई आने लगी है। मैं ज़रा मुँह साफ़ करूँगा।'

और कुछ कहूँ कि वह अपने पुराने अंदाज़ में कड़की—'तुम आधुनिक हो ! छि:। इतनी सी बात पर तुम्हें उबकाई आने लगी ? तुम आधुनिक नहीं हो सकते। तुमसे साहित्य का नुक़सान हो रहा है। बंद कर दो यह कविताई।' मन ही मन मैंने कहा—आप धन्य हैं। ठीक कहते हैं. और उठ कर मुँह साफ़ करने आँगन में चला गया।

लौट कर आया तो देखा, आवाज़ चुप हो चुकी है। खिड़की से बाहर इधर-उधर भी झाँका कि मुमकिन है कहीं वह भी मुँह साफ़ कर रही हो ! मगर वह जा चुकी थी। सामने दीवार के 'पोस्टर' उसी बेहूदा तरीक़े से फड़फड़ा रहे थे।

मैं जानता हूँ कि अपने ढंग से किसी के प्रति किसी तरह की राय बनाने का अधिकार किसी को भी है। और मैंने भी उस आवाज़ के बारे में अपनी राय बनानी चाही थी। एक क्षण के लिए मुझे लगा था—आवाज़ बेक़सूर है। वह उस 'स्पंज' की तरह है जो अपने भीतर पानी तब तक पचाना चाहता है, जब तक वह अपने को जल से पूरा हुआ न मान ले। वह एक निरर्थक उपसर्ग की तरह अकारथ टाँक दी गयी है। . . .वह आवाज़ अधूरी है। वह शांत होना चाहती है। वह ऐसी गहरी नींद में सोना चाहती है, जिससे कभी न उठ पाये। स्पष्ट कहें तो वह निष्प्राण होना चाहती है !—शायद हो चुकी है। उसका अस्तित्व एक घुमेरदार रास्ते में भटक रहा है। वह भयभीत है अपने से. . .

उस बीच यह भी ध्यान नहीं रहा कि उसके जाते ही मुझे खिड़की के पल्ले बंद कर देते

चाहिए थे। और अपनी इस भूल का एहसास तब हुआ, जब एकाएक फिर से हवा का एक तेज़ झोंका आया। दीवार के सारे के सारे 'पोस्टर' एक साथ फिर फड़फड़ा उठे। कोई एक उखड़ कर अपनी असमर्थता की कैफ़ियत देता अँधेरे में उड़ गया। . . कि सहसा फिर एक आवाज़ आयी. . . 'आप सोना चाहते हैं न?'

मैंने जान कर कोई उत्तर न दिया। मुझे यह समझने में भी कोई कठिनाई नहीं हुई कि यह आवाज़ पहली से भिन्न है और भूत नहीं है। मेरे न बोलने पर शायद उसे बुरा लगा। उसने तेज़ हो कर कहा, 'आप सो सकते हैं, मगर यह अशोभन है कि किसी के आने की बात जान कर भी इस प्रकार की उपेक्षा बरती जाय। मैं इसे अपना अपमान समझता हूँ।'

मैं फिर भी कुछ न बोला। उसे शायद मेरा रुख़ और अधिक अप्रीतिकर लगा। तभी बड़ी खीझ और झुँझलाहट में वह आवाज़ तेज़ हो गयी—

'मैं अभी आप लोगों की बातें सुन रहा था। आप उस कमीने से बोल रहे थे। . . .' मैं विस्मय में पड़ा कि अजीब है यह तमाशा। यह छिप कर सारी बातें सुन रहा था। फिर भी मैं कुछ न बोला। दूसरी आवाज़ प्रतीक्षा में थी कि मैं कुछ भी कहूँ। मगर मेरी बेरुखी को देख कर वही चीखी—

'आप सब लोग धोखा दे रहे हैं। आप में से एक भी ऐसा नहीं, जो ईमानदारी से सब कुछ कह सके। मुझे देखिए—अपना सब खो कर भी मैं ज़िंदा हूँ। जिस कमीने से अभी आप बातें कर रहे थे, उसने ही मुझे धोखा दिया है—वह बहनचो . . .'

अचानक मैं बोल पड़ा— 'अरे गाली मत बकिए।'

दूसरी आवाज़ दबी-दबी खिलखिला पड़ी। शायद मेरे बोलने से उसे प्रसन्नता हुई थी। इत्मीनान में होती जैसी बोली—'मैं बहुत दुखी हूँ और अपनी असमर्थताओं पर ही 'रिसर्च' कर रहा हूँ। संतोष केवल यही है कि मैं अति आधुनिक हूँ। मेरी अति आधुनिकता की वजह से ही वह कमीना आधुनिक बन गया है। यद्यपि मुझे वेदों से बड़ा लगाव है। ध्यान दीजिएगा—लगाव है, आस्था नहीं। मुझे वेदों की ऋचाएँ अच्छी लगती हैं। उसी 'रिद्म' पर मैंने कुछ लिखा भी है। पर इतना सब होने पर भी मुसीबत यही है कि मैं जीना नहीं चाहता। इस दुनिया में मुझे कुछ भी ऐसा नहीं दिखता, जिससे तनिक भी सुख और संतोष पा सकूँ। सबके बीच अपने-आपको बहुत हलका महसूस कर रहा हूँ। इसीलिए अब पीता हूँ और घर के पास ही बहते गंदे कोढ़ियल नाले के किनारे जब कभी जा कर बैठा रहता हूँ। लोग उसे कोढ़ियल नाला कहते हैं। वहाँ मुझे बहुत अच्छा लगता है। आपको इस बात पर आश्चर्य भी हो सकता है, मगर मुझे एक अजीब तरह की अनुभूति होती है वहाँ। हमेशा नाले के बहते हुए गंदे पानी की आवाज़ें सुनता हूँ और पानी में जब भी अपने चेहरे की परछाईं देखता हूँ, उस पर थूक देता हूँ। . . .

यह कहते-कहते उसका गला भारी हो आया था। मुझसे न रहा गया, तो बीच में ही टोक कर मैंने कहा—'यह आप क्या कह रहे हैं।' मुझे जाने क्यों उससे हमदर्दी सी हो गयी थी। और अधिक आधुनिक ढंग से कहें तो तरस आ गयी थी।

मेरी बात सुन कर वह मौन रहा। अचानक मेरी नाक में जली हुई तंवाकू की गंध भरने लगी। मैं समझ गया कि वह सिगरेट पी रहा है। शायद धुएँ की कड़वाहट को ही, जो उसकी साँस थी, थूकते हुए बोला—'माफ़ कीजिएगा मेरे सिगरेट पीने से आपको तकलीफ़ हुई, लगता है। ख़ैर छोड़िए इसे, मैं जो कहना चाहता था—बात अस्ल में यह है कि हमारा समाज देवत्व की ही प्रतिमूर्ति नहीं है। उसकी सद्भावनाएँ और सदिच्छाएँ ख़त्म हो चुकी हैं। उसमें है केवल छल और कपट। एक बड़ी बदबूदार विद्रूपता। समूचा समाज भय और अनास्था में जी रहा है। यही हमारी आधुनिकता है। यही हमारी सभ्यता है। और स्थिति यह है कि इसी परिवेश में जीने के लिए हम प्रतिश्रुत भी हैं।

'ईमानदारी से एक बात और—केवल आपसे—कहना चाहता हूँ—वैसे भी यह सब केवल आपसे मैं कह रहा हूँ, किसी और से मत कहिएगा—जो मैं कह रहा हूँ, सब अपने अनुभव से। मैंने देखा है और पाया है कि आज की सभ्यता, इसे आप चाहें तो आधुनिकता भी कह सकते हैं, केवल बड़ी सफ़ाई से अपराध करने का नाम है। हम ग़लत और बुरे से बुरा काम कर सकते हैं, करते ही हैं, उस पर बड़े अंदाज़ से परदा भी डाल सकते हैं। और तो और—अपने चेहरे का रंग भी बदल कर पूरे समाज के दर्द में साझीदार बन सकते हैं। उसे छलावे में रख सकते हैं। प्रत्यक्ष ही आज सापेक्ष्य भी यही है। आज का सारा तंत्र, लगता है गहरे अँधेरे के छलावर्त में फँस गया है।....'

और अचानक आवाज़ चुपा गयी। मैं आँखें मूँद उसकी बातें सुन रहा था। मुझे लगा था कि बातें वह कुछ गंभीरता से कह रहा है। सहसा उसके रुक जाने से अधिक सतर्क भी हो जाना पड़ा। सोचा, शायद अपने से ही वह कुछ बोले। मगर तुरत अपने को ही एक अजूबे प्रसंग में उलझते हुए पाया।

'पोस्टरों' की फड़फड़ाहट तेज़ हुई। लगा उसमें छपे हुए चेहरों की जमी हुई साँसें गरम हो गयी हैं। किसी खूँख़ार अँधेरे में एक लक्ष्यहीन फड़फड़ाहट।....और फिर एक बड़ी गुरु-गंभीर आवाज़ सुनायी पड़ी। आवाज़ इतनी भारी थी कि कोई भी डर सकता था। मगर भारी आवाज़ों से अभ्यस्त होने के कारण मेरे साथ भय की कोई बात न थी। मेरे साथ एक दूसरी तरह की कठिनाई थी। तीसरी आवाज कुछ समझ में नहीं आ रही थी। अति 'अमूर्त' ढंग की थी वह! अमूर्त चित्रों को देख कर तो मनमाना अर्थ दे लेता हूँ। कुछ 'अमूर्त कविताएँ' भी पढ़ी हैं और किसी तरह उन्हें अपनी विशेष इड़ा शक्ति के ज़ोर से पचा भी लिया है। मगर यह तो अमूर्त आवाज़ थी। बड़ी कठिनाई की स्थिति बनी। आश्चर्य की बात एक यह भी थी कि तीसरी आवाज़ थोड़ी पहचानी सी लग रही थी। विवश हो तीसरी आवाज़ से मैंने अनुरोध के स्वर में कहा—'कृपया कुछ सफ़ाई से कहें, आपकी बातें समझ पाने में मैं असमर्थ हो रहा हूँ।'

तब तक मैंने मन में यह निश्चय कर लिया था कि दूसरी आवाज़ दुबक कर भाग गयी है। और तीसरी आवाज़ को सुन कर यह भी लग गया था कि पहली दोनों आवाज़ों की अपेक्षा यह बुज़ुर्ग है।

तीसरी आवाज़ पर मेरे अनुरोध का शायद अतिरिक्त असर हुआ। उसने दोबारा जब कहना शुरू किया तो बातें कुछ-कुछ समझ में आ रही थीं। बात की शुरुआत ही उसने की—'स्साला भाग गया। लड़का है अभी...ठीक हो जायगा। अजीब तमाशा है साहब, इन दोनों नमकहरामों के ही पीछे मैंने अपना सब बर्बाद कर दिया। इसके लिए मैंने क्या-क्या नहीं किया, क्या-क्या नहीं सहा ! मगर ये हैं कि कहीं मेरा नाम लेने की बात तो दूर, गाली भी बेढंगी देते हैं। इन्हीं लोगों के चलते मुझे अपने ऊपर, अपनी कला के महत्व और उसकी महत्ता पर स्वयं ही कई बार लेख लिख कर छपवाने पड़े।...'

इतनी बातों से तो मैं यह समझ गया था कि तीसरी आवाज़ कलाकार है। शायद चित्रकार ! मैंने विनीत भाव से पूछा—"क्या आप आधुनिक चित्रकार हैं ? मुमकिन है, आपके बनाये चित्र मैंने कहीं देखे हों ?'

अपने प्रति इस प्रकार की तटस्थता बरती जाने पर तीसरी आवाज़ चिढ़ सी गयी : 'आपको मैं भला आदमी समझता था। आपने यह सवाल पूछ कर मेरा अपमान किया है। काश ! मेरे दोनों गण इस समय होते, —आपको मेरा और मेरी कला का इतिहास जानते देर न लगती।' तीसरी आवाज़ के इस कथन पर मुझे विस्मय हुआ। तत्काल मुझे ध्यान आ गया कि योग्यता और कर्तव्य-बुद्धि की उपेक्षा और तथाकथित अधिकार के लिए सतत संघर्ष—यह आज के युग की विशेषता है। और यह सब कुछ सहने-झेलने के बावजूद यह किंचित बुज़ुर्ग तीसरी आवाज़ आधुनिक जीवन को, ग़लत ढंग से जी रही है।

तीसरी आवाज आगे कहती जा रही थी—'बहरहाल, मैं यहाँ आया था उन्हीं दोनों की खोज में। अब जा रहा हूँ। लेकिन जाते-जाते आपको यह बता देना चाहता हूँ कि आधुनिकता का यह तक़ाज़ा है कि इस प्रकार के प्रश्न आप किसी से न करें। जनाब, मैं आधुनिक यानी निहायत आधुनिक अमूर्त चित्र बनाता हूँ। यही नहीं, मैं कविताएँ भी लिखता हूँ और वह भी अमूर्त !..' और जाते-जाते उसने यह भी कहा कि 'प्यारे, अब तो यही लगता है कि यह ज़िंदगी टूटने-जुड़ने की सीमा से बाहर बिलकुल निरपेक्ष हो चुकी है। कहीं कोई टकराव होता है, मगर नियति के अलगाव का एहसास होते ही वह भी ख़त्म हो जाता है।'

और तीसरी आवाज़ भी चली गयी। हवा का एक ज़ोर का झोंका फिर आया। मेरी आँख दीवार पर गयी तो सारे के सारे 'पोस्टर' एक साथ हिल रहे थे। और फिर 'पोस्टरों' की फड़फड़ाहट एकाएक काफ़ी तेज़ हुई और ग़लती हुई रात के अँधेरे में ठिठुर कर थम गयी।

मुझे इस तीसरी आवाज़ के आने पर कोफ़्त हुई थी। क्योंकि दूसरी आवाज़ थोड़ा ढंग से बातें कर रही थी। उसकी बातों से मुझे उसके प्रति दया आयी थी। वह सतायी हुई आवाज़ थी। वह कुंठित हो कर अपने ही एक दायरे में सिकुड़ गयी थी। वह भटक गयी थी अपने ही बनाये हुए रास्ते पर। अपनी थकन और टूटन को वह महसूस कर रही थी। एक सड़ी हुई ज़िंदगी जीने वाली वह दूसरी आवाज़ भाग गयी छिप कर, मुझे यह अच्छा न लगा था।

तीसरी आवाज़ को सुनते ही जाने क्यों मुझे लगा था कि यह किसी बूढ़े दिल वाले बाज़ की चीख है, जिसका अर्थ, जिसकी संवेदना किसी की समझ में नहीं आ रही है। उसकी आँख केवल मुर्दों को देख रही है। तीसरी आवाज़ के पीछे अवश्य ही कोई घिनौनी सूरत होनी चाहिए, एक ऐसा आदमी होना चाहिए जो केवल अपनी अमूर्तता के लिए पूरी भीड़ को जी रहा है--पूरी भीड़ को मूर्ति बना कर उसके हाथ अपनी बेपनाह चोटों से तोड़ देना चाहता है।...

--भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड, वाराणसी।

अमृता भारती

अँधेरा कमरा : सूर्योदयी वातायन

मन, जो कभी किसी की बात मानता नहीं, मानता भी है, तो वही बातें जो उसे अच्छी लगती हैं—अपनी आदत के अनुसार एक दिन उदास हो गया। सूरज डूबने ही वाला था और चाँद के उगने की पूरी तैयारी हो चुकी थी। याद आया, आज पूनम है, पूरा चाँद निकलेगा, और मैं उसे बड़ी देर तक बाल्कनी की रेलिंग पर बैठ कर देखती रहूँगी।...पर जाने कब सूरज डूब गया, कब चाँद ऊपर उठ आया, मैंने बत्ती नहीं जलायी; मैं उठी नहीं, मैंने दरवाज़ा नहीं खोला, सिर्फ़ खिड़की का पर्दा थोड़ा सा खिसका कर उसकी जालियों पर पीठ टिका देर तक बैठी रह गयी।...आज मन नाराज़ ही नहीं था, बहुत विषण्ण और क्लांत था। कोई भी बात अच्छी नहीं लग रही थी। हर शब्द, हर वाक्य और हर बात के आगे प्रश्नचिन्ह था। शब्द खो जाता था; बात खो जाती थी; वाक्य खो जाता था; रह जाता था मात्र वही प्रश्नचिन्ह, जो अक्सर उठ आया करता है। लेकिन शायद मैं ग़लत हूँ—यह अक्सर उठ आने वाला प्रश्नचिन्ह नहीं था, यह कभी-कभी बहुत उठ आने वाला प्रश्नचिन्ह था, जो जब उठता है तो सभी सत्य शिव, सुंदर वस्तुओं की इयत्ता पर पहरेदार बन कर खड़ा हो जाता है, सत्यता, शिवता और सुंदरता का विश्वास छीन लेता है, उनकी ज्योति पर काला परदा डाल देता है।

अपने इस विश्वास के अभाव में हम अति सामान्य हो जाते हैं। सोचते लगने हैं जब सत्य, शिव, सुंदर ही नहीं है, उनकी स्थिति संदेहास्पद है; प्रश्नग्रस्त है तब क्यों हम उनके बारे में सोचें? आखिर ये सत्य, शिव, सुंदर हैं क्या—मानसिक संस्कार और उसकी स्थितियाँ ही तो! हमारा आग्रह इन्हीं की तरफ़ क्यों हो? जो असत्य है, अशिव है, असुंदर है (वस्तुतः हम नहीं जानते सत्य, शिव सुंदर क्या है और असत्य, अशिव और असुंदर क्या है) वह तिरस्कार की वस्तु बन कर क्यों रहे। (यह उस विषादग्रस्त गड्ढे में पड़े मन का प्रश्न होता है, जो अपने अनजाने ही विपरीतगामी विचारधाराओं से सूत्र जोड़ते चलने में ही संतुष्ट होता है)।

तो उस शाम ऐसी ही थी मेरे मन की स्थिति, जब मैं जीवन का अंतिम भाग्य और लक्ष्य मृत्यु को ही मान बैठी थी; और तब केवल यही लग रहा था, यदि मृत्यु ही आनी है तो वह देर से क्यों आये? क्यों हम संघर्ष करते हुए उसकी प्रतीक्षा करें? वह क्यों न अभी इसी क्षण हमारे जीवन का फ़ैसला कर दे?

मन धीरे-धीरे डूबता चला गया था और उस घोर अवसाद में रुलाई भी इतनी घुट चुकी थी कि उसका बाहर आना संभव नहीं रह गया था। जिन प्रश्नचिन्हों ने मुझे भूत-प्रेतों के कारवाँ की तरहं घेर लिया था, अब वे भी नहीं रह गये थे; सिर्फ़ रात थी—कालरात्रि; और मुझ किसी ने कुएँ के अंतिम तल में बंद कर दिया था। डूबती चेतना में एक चाह कहीं अधजली या अधबुझी सी शेष थी कि इस समय मेरे होश में आने का एक ही उपाय है: कोई मेरे बदन पर पानी के छींटे डाल दे।...और उसे संयोग कहो या चमत्कार, हवा के झोंकों के साथ बरसात की तेज़ फुहारों ने खिड़की पर टिकी मेरी पीठ को समूचा भिगो दिया।. . .अभी और . . .अभी और. . .मैं चाहती रही, और वर्षा मुझे भिगोती रही। मेरे बाल भीग चुके थे, और कंधों को भिगोती फुहारें अंदर बिस्तर तक पहुँच रही थीं।.....मैंने होश पा लिया था।

मौत का परदा हट गया था, अवसाद की स्थिति गुज़र चुकी थी और शाश्वत आनंद से मेरा तन-मन भीग रहा था।. . .

यह पहले दिन शाम की घटना है; अगले दिन सुबह जब मेरे हाथ में वीरेंद्रकुमार जैन का घोषणा-पत्र—**हम सनातन सूर्योदयी नूतन कविता की घोषणा करते** हैं आया तो मैंने उसे यही सोच कर रख दिया कि शाम को पढ़ूँगी। यों उत्सुकता बहुत थी पर कुछ काम थे जो मुझे दिन में ही समाप्त करने थे, सो मैंने निश्चिंत होना ही ठीक समझा। दुपहर पीछे मुझे फिर लगा कि गत शाम की वही स्थिति मुझे दुबारा ग्रस्त करने जा रही है। मैंने अपने को कई बार झटका दे कर उबार लेना चाहा, पर प्रश्नचिन्ह का प्रवेश हो गया था और धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती जा रही थी। मुझे यह भय खाये जा रहा था कि अभी फिर शाम होगी, और मुझे उसी डूबन और अवसाद का सामना करना पड़ेगा। और सचमुच ही मैं उस नकारात्मक स्थिति में गहरे और गहरे उतरती चली गयी—कि तभी मुझे घोषणा-पत्र की उस पुस्तिका की याद आयी।. . . सूरज डूबने में एक घंटा शेष था, मैंने अँधेरा होने से पहले ही बत्ती जला ली; खिड़की, दरवाज़े खोल दिये और मैं पढ़ने लगी। अपनी उस निराश स्थिति में—सूरज डूबने की उस बेला में मुझे 'सनातन' और 'सूर्योदयी' शब्द बहुत अपरिचित और अग्राह्य से लगे—लेकिन शब्द अपनी जगह पर थे और बड़े-बड़े अक्षरों में थे और लेखक की ओर से वे उतनी ही ताक़त से आये थे जितनी शक्ति से क्षितिज के पार से सूरज या चाँद को आसमान में फेंका जाता है।

मैंने चारों तरफ़ से अपने मन को समेट कर उसे उस 'घोषणा-पत्र' में केंद्रित करना चाहा, पर वह मुझे बहुत आसान न लगा। उस पत्र का पहला वाक्य ही **आज समूची विश्व-मानवता एक दुर्निवार महामृत्यु के द्वार पर खड़ी है** मुझे अटका गया। प्रश्न पर प्रश्नचिन्ह लगा कर बात उठी, मृत्यु तो दुर्निवार है ही, उसे रोका कैसे जा सकता है, और वह तो हमारा अंतिम भाग्य है, फिर उससे परहेज़ भी क्यों हो?....लेकिन गुज़री हुई कल शाम की वे फुहारें, उसके बाद का वह अनंत आनंद, चेतना का वह पवित्र स्पर्श, वह सब क्या था? या तो मृत्यु सत्य है या यह आनंद सत्य है, क्योंकि दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते? यदि दोनों ही सत्य हैं तो एक कालगत सत्य है और एक अनंतकालीन सत्य है। प्रश्न इतना ही उठना चाहिए कि हमें कालगत सत्य स्वीकार करना है (जो वस्तुतः सत्याभास है; सत्य नहीं) या अनंतकालीन सत्य?

इस प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं देना है क्योंकि प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है। मुझे सिर्फ़ अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण करना है कि यह जो अटकन और भटकन है, यह जो अंधकार और पीड़ा है, यह क्यों है? यह जो निरर्थकता और अकेलेपन का एहसास है, क्यों है? प्रश्न 'क्यों' तक ही नहीं रुकता! इसकी व्याप्ति एक मेरे मन में ही नहीं, समूचे जीवन-जगत में ही दिखायी देती है। जीवन, जो अन्य हर वस्तु की कसौटी है, चाहे वह कला हो, साहित्य हो, रंग-रूप-आकार हो या अन्य कुछ भी हो, आज इतना खोखला और बेमाने क्यों हो गया है? आज के मनुष्य के पास किस वस्तु का अभाव है? विज्ञान हमारी हर चाह का उत्तर है—हमारी पृथ्वी पर आज वह सब कुछ है, जिसकी कभी हमने कल्पना की होगी। तब हमने क्या खो दिया जो हमारे पास था?—यह 'क्यों' पानी में तेल की बूंद-सा बहुत दूर तक फैल जाता है।—मैं पढ़ती हूं।

आज जगत के चिंतन-दर्शन, सर्जन और साहित्य के सारे ही क्षेत्रों में यह जो पराजय, आत्म-दैन्य, आत्मघृणा, आत्मभीति, कुंठा, एकाकीपन, निराशा, विषाद, लक्ष्यहीनता, जगत और जीवन की निरर्थकता, मानव की सीमितता और लघु मानव की उद्घोषणा की पुंसत्वहीन आर्त वाणी सुनायी पड़ रही है, वह मनुष्य के ईश्वर-द्रोही क्षुद्र अहंकार की चरम ट्रैजेडी है।

मेरी विषादग्रस्त मनःस्थिति को एक झटका लगता है। क्या मैंने सचमुच अपने जाने या अनजाने ईश्वर-द्रोह का अपराध किया है? लेकिन ईश्वर है क्या? भगवती-शक्ति है क्या? क्या यह वही सत्ता है जिसके बारे में सुना बहुत है, लेकिन देखा नहीं?....मुझे फ़ौरन ही प्रतीति हो जाती है कि मेरा मन कहीं अन्यत्र भाग रहा है—वह 'सनातन' को 'पुरातन' कह कर उससे भाग जाना चाहता है, और जो पल-अनुपल द्रष्टव्य है, उसे अनदेखा कर रहा है। आख़िर मैं पराजित क्यों हूँ? आखिर मैं अकेली क्यों हूँ, यह आत्म-दैन्य और यह आत्म-भय क्यों है मुझमें? पर यह हर पल क्यों नहीं है, क्यों यह कुछ देर के लिए ही मुझे ग्रस्त करता है? यदि मैं अपनी इस कुछ देर की नकारात्मक स्थिति को ही सत्य मान स्वीकार करना चाहती हूँ तो फिर मुझे क्यों अच्छा लगता है, एक बढ़िया 'ट्रे' में सजी बढ़िया 'फ़्लेवर' की चाय पीना। क्यों मुझे विशेष रुचिकर है स्टील के चमचमाते बर्तनों में कई तरह का खाना? क्यों किन्हीं कमतर पात्रों में मामूली खाना मुझे भाता नहीं? नगर के सबसे बढ़िया हाउस में 'पिक्चर' देखना मुझे क्यों पसंद है? क्यों मुझे विशेष खींचता है वह मकान, जिसके आकाशी बरामदे हों और समुद्री खिड़कियाँ और यदि इन सबको भोग कर मुझे सुख मिलता है तो क्या केवल इसलिए कि मैं मर जाऊँगी? क्यों इन सबको भोगते समय यह ध्यान नहीं रहता कि मृत्यु ही एकमात्र सत्य है और वह मेरे दायें-बायें कहीं भी खड़ी है? इन सबको भोग कर इन्हें मिथ्या कहने का मुझे क्या अधिकार है?

मैं अनायास अपनी आत्म-दैन्य की स्थिति से ऊपर उठ जाती हूँ और उन पर दया कर सकती हूँ, जो इस आत्मदैन्य, पराजय और एकाकीपन में, 'कुछ देर के लिए' नहीं, हर पल जीते हैं और उनके लिए कोई ऐसी वर्षा की फुहार नहीं आती, जो उन्हें उनकी इस अंधकारमयी स्थिति से मुक्त कर दे। मुझे उन अनेक बौद्धिक मित्रों का खयाल आता है जो दिन में कई बार नक़ाब बदलते हैं, कितने ही रंगों की नक़ली हँसी पहनते हैं, लेकिन जिनका असली चेहरा या जिनका

असली रंग रात के किसी अँधेरे पहर में ही देखा जा सकता है। लेकिन मैं रात के अंधकार को अपवित्र क्यों करूँ, वह आखिर है क्या? सूर्य या प्रकाश का अभाव नहीं, बल्कि उसका थोड़ी देर के लिए स्थानांतर। मुझे उनका ख़्याल भी आता है, जो चौबीसो घंटे इस नक़ाव का बोझ ढोते हैं, यहाँ तक कि नींद भी वे इसी चेहरे से लेते हैं और स्वप्न भी इसी चेहरे की आँखों देखते हैं।

उनकी इस दीन स्थिति का राज़ क्या है? क्या यही नहीं कि उन्होंने **पतन, पराजय, विफलता, कुंठा, सीमितता, एकाकीपन, आत्म-भीति, लघु-मानवत्व, बिछोह, यातना, रोग, बुढ़ापा, मौत** को अपनी अंतिम सीमा अथवा अंतिम भाग्य मान लिया है; कि उन्होंने असत्य को स्वीकार कर लिया है! कि उन्होंने **स्थितिगत अस्थायी अवस्थाओं के संमुख** अपने घुटने टेक दिये हैं और इन पर **अपनी अंतिम हार का हस्ताक्षर** कर दिया है?

मैं सोचती हूँ, वे जो इतने नक़ली और लक्ष्यहीन हो उठे हैं, इसका कारण किसी ऐसी असलियत और किसी ऐसे लक्ष्य से विच्छिन्न हो जाना है, जिससे जुड़ कर वे अपनी वस्तु-स्थिति में लौट सकते हैं। वह असलियत या वह 'सत्य' क्या है?

निखिल चराचर सृष्टि के भीतर एक ऐसी जीवंत, प्रज्ञापूर्ण और अखंड महासत्ता विद्यमान है, जो जीव और वस्तु मात्र को अविच्छिन्न एकता में बाँधे हुए है। प्राणी-प्राणी के बीच, मानव-मानव के बीच और सचेतन प्राणि-जगत तथा अचेतन जड़-जगत के बीच, जो एक आकर्षण-सम्मोहन और प्रेम की शक्ति सतत क्रियाशील है, वह सर्व के भीतर विद्यमान उसी 'एक' की अखंड सत्ता की साक्षी देती है।...निखिल विश्व की इसी समष्टिगत एक और अखंड महासत्ता को आप वैज्ञानिक दृष्टि से अविच्छिन्न 'कास्मिक एनर्जी'...कह सकते हैं।

मुझे 'कॉस्मिक एनर्जी' शब्द बहुत सुंदर और आधुनिक लगता है। असल में हज़ारों बरस हो गये 'भगवान' और 'भगवती' शब्दों का प्रयोग करते हुए। इनकी ध्वनि बहुत पुरातन हो गयी है और यदि अब वह उतनी प्रिय नहीं लगती, तो कहीं मेरा अत्यधिक आधुनिक होना ही आड़े आता है। मुझे 'वैश्विक शक्ति' से भी आपत्ति हो सकती है, लेकिन 'कॉस्मिक एनर्जी' से नहीं; इसलिए मेरे नये मन के निकट 'कॉस्मिक एनर्जी' शब्द ही ग्रहणीय है। यह बात अलग है कि पानी, अग्नि, सूरज या चाँद अपने इन पुरातन नामों के साथ भी नित नवीन हैं।

तो मैं कह रही थी कि प्राण-प्राण के बीच के इस सूत्र से विच्छिन्न हो कर हम अपने केंद्र से बिछुड़ जाते हैं। मुझे उन व्यक्तियों का ख़याल आता है जो अपनी वैयक्तिकता रख कर चलना चाहते हैं, व्यक्तित्वमत्ता नहीं; क्योंकि उनमें व्यक्ति प्रधान हो गया है; व्यक्तित्व नहीं। व्यक्तित्व कभी परंपरा और भावी से विच्छिन्न नहीं होता, वह इन दोनों के बीच की कड़ी होता है जिसमें पूर्व का संस्कार और भावी के दर्शन का सामंजस्य होता है। लेकिन व्यक्ति, वह भी आज का व्यक्ति जो रेगिस्तान में खड़े किसी ठूँठ की तरह इतना अकेला और सबसे अलग ही रहना चाहता है कि उस रेगिस्तान से भी अपना संबंध नहीं जोड़ना चाहता, जिसमें वह खड़ा है, तो उसकी क्या इयत्ता है? मूल रूप से तो वह उस रेगिस्तान से भी जुड़ा है, लेकिन उसकी स्थिति ऐसी है कि वह उस पृथ्वी को भी इन्कार कर देना चाहता है, जहाँ उसकी जड़ें पड़ी हैं और उस

आकाश से भी पलायन कर जाना चाहता है, जहाँ उसकी शाखाएँ फैली हैं या जिसके भीतर वह अस्तित्व धारण किये हुए है और जिसके बिना उसे अपने को 'मैं' कहने तक का अधिकार नहीं है।

शाम बीते एक घंटा हो गया है और मुझे महसूस हो रहा है कि मैं कहीं रुक गयी हूँ; स्थिर हो गयी हूँ और यह स्थिरता अच्छी है, कम से कम मुझे सोचने तो देगी, मैं यह तो समझ सकूँगी कि वे कौन सी गाँठें थीं जिन्होंने मेरी शिराओं में बहते हुए रक्त-प्रवाह से ही मुझे तोड़ दिया? क्या यह मेरा **अहं-स्वार्थ-ग्रस्त अति वैयक्तिक रूप** था या मेरे प्रेम की असफलता थी? प्रेम कर के अपरिचय को मैंने जाना है, प्रेम कर के न प्रेम करने के सत्य को मैंने पहचाना है। इसका कारण? कारण था सत्य का अभाव, मैं की सर्वोपरिता। मेरी **चेतना जड़त्व के एक सत्ताहीन शून्य में, अपने ही 'मैं' के बंद अँधियारे नरक में अनाथ हो कर घुटने** को अकेली छूट गयी थी। तब मैं इस नरक को ही अपने **अस्तित्व की अंतिम बेबसी, पराजय और सीमा मान कर प्रेम को झूठ, धोखा और आत्म-वंचना** मान बैठी थी। वस्तुतः प्रेम दो हृदय अथवा आत्माओं के बीच की संपूर्ण संवादी स्थिति है। मैंने **अति वैयक्तिक** हो कर इस संवादिता को भंग करना चाहा, उसे भंग तो न कर सकी, लेकिन उसे अपनी तरफ़ से समेट कर उससे अलग 'कुछ और' की तलाश में लग गयी।

आज के व्यक्ति में, खास तौर से बौद्धिक व्यक्ति में जो आज यह हर पल 'कुछ और' की खोज चल रही है, वह उसे स्थिर नहीं रहने देती। वह इस 'कुछ और' का अर्थ नहीं समझता है, समझता है तो सिर्फ़ इतना ही कि उसे किसी भी भूमि में अपनी जड़ें नहीं डालनी हैं, क्योंकि तब वह रुक जायगा, किसी एक भूमि का हो जायगा। यह रुकना उसे मौत लगता है। वह इसे स्थिति नहीं, गतिहीनता मानता है। पृथ्वी अपनी धुरी पर घूम रही है, यह उसके निकट पृथ्वी की मौत है, क्योंकि वह किसी धुरी पर टिकी है। मैं भी उसकी तरह इस स्थिति को रुकना माने लेती हूँ और सोचती हूँ, वृक्ष की तरह किसी पृथ्वी से जुड़े रहने से तो बेहतर है एक तिनका बन जाऊँ, ताकि आँधी भी आये तो उड़ने का तो स्वाद मिले; आकाश की ऊँचाई तो देखने को मिले।

लेकिन यह गतिमत्ता भी कैसी है, जिसमें गति का रस ही चला जाता है। जिसमें केवल ऐसा निष्प्राण, निर्जीव बहाव रहता है, ऐसी मृत और शव सरीखी उड़ान रहती है कि बहाव या उड़ान का भान ही नहीं रहता। यह आत्मदान, समर्पण या विगलन की स्थिति नहीं; यह तो वह स्थिति है, जिसमें कुछ देर के लिए 'क्लोरोफ़ॉर्म' सुँघा कर मनुष्य या जीव की चेतना को उससे बिछुड़ा दिया जाता है; और जब वह होश में आता है तो उसे मिलती है पीड़ा, अंगभंग, घाव या मौत।

'कुछ और' की तलाश में भटकती स्वार्थग्रस्त वैयक्किता इसे कहती है : 'मुझे रुकना नहीं है, मतलब मुझे स्थिर नहीं होना है क्योंकि रुकना मौत है, रुक कर तो हम तालाब ही हो सकते हैं, नदी नहीं।' वे इतनी मामूली बात भी क्यों भूल जाते हैं कि नदी निर्मूल नहीं है अर्थात उसका स्रोत भी कहीं न कहीं है ही और वह निर्लक्ष्य भी नहीं है। तो जो भूत और भविष्य को जोड़ते हुए बहता है, आत्मदान के लिए बहता है, वह पराजित, असफल या स्वार्थग्रस्त क्यों होगा?

लेकिन वे केवल बहना चाहते हैं, बहना ही उनका लक्ष्य है क्योंकि उन्हें 'कुछ और' की तलाश है। और यह 'कुछ और' उन्हें अपने से बेहद बाहर ले जाता है। यह विकास का सूचक 'कुछ और' नहीं, बल्कि भटकन और निर्लक्ष्यता की ओर ले जाने वाला 'कुछ और' है। यह अंतहीन तृष्णा की मृग-मरीचिका है। स्वार्थग्रस्त जड़ता से निष्पन्न दायित्वहीनता और पलायन है। व्यक्ति के बाद व्यक्ति, वस्तु के बाद वस्तु...और तब एक अंत—जहाँ कोई व्यक्ति नहीं; कोई वस्तु अपनी है।

मैंने भी अपने को आदि और अंतिम (फ़ाइनल) से तोड़ कर 'कुछ और' की तलाश की। क्योंकि मेरी मूलगत चेतना में कहीं वह अविच्छिन्नता बनी हुई थी, कहीं उस दारुणतम अंधकार की घड़ी में भी एक सूर्य-किरण मेरे साथ जुड़ी हुई थी इसलिए मैं जल्दी ही यह महसूस कर सकी कि इस उथले क़िस्म के 'कुछ और' की खोज में आदमी इतना चूक जाता है कि उसके पैरों के नीचे धरती नहीं रहती, बर्फ़ रहती है और मुट्ठियों में आकाश नहीं, केवल शून्य का तमसाकुल भय रहता है।

रात हो चुकी है, बाहर अंधेरा है, बत्ती बंद हो जाने पर भीतर भी अंधेरा हो जायगा; लेकिन मैं भयभीत नहीं हूँ; क्योंकि आज मेरा कमरा अंधा बंद कमरा नहीं है; मैंने वातायन खोल दिया है—मुझे मालूम है, कुछ ही घंटे की देर है जब सूर्योदय होगा—और मेरी चेतना इस सूर्योदयी वातायन की राह अनंत आकाशों के पार के अनंत क्षितिजों तक उड़ेगी।

—लवली हाउस,
सांताक्रूज़ (पूरब), बंबई—५५।

एम० ग़यासुद्दीन अन्सारी

राष्ट्रीय एकता के प्रबल समर्थक : 'मीर' साहब

बंबई-कलकत्ता रेलमार्ग पर स्थित भाटापारा एक छोटा सा स्टेशन है। ब्रिटिश शासन-काल में यहाँ दीवान बहादुर दाऊ कल्याण सिंह की ज़मींदारी थी। इसी ज़मींदारी के व्यवस्थापक की हैसियत से अमीर अली 'मीर' ने अपने जीवन का अंतिम समय व्यतीत किया था तथा १९ जनवरी १९३७ को दुर्घटनावश रेल से कट कर सदा के लिए अपने को इसी भूमि में समर्पित कर दिया था।

मीर साहब का स्मरण आते ही स्मृति-पटल पर साँवले रंग, मध्यम क़द, घनी-लंबी दाढ़ी, शांत, गंभीर, सौम्य एवं तेजस्वी मुखमंडल वाले वृद्ध पुरुष का एक धूमिल सा चित्र उभरता है, जिनकी वाणी में मधुरता थी, व्यवहार में स्नेह था, विचारों में सादगी थी तथा मन में प्रत्येक छोटे-बड़े के लिए समान आदर-भाव था।

इन पंक्तियों के लेखक को उनके दौहित्र होने का सौभाग्य तो प्राप्त था ही, साथ ही उनके सर्वाधिक स्नेह-पात्र होने का भी सौभाग्य प्राप्त था। उस समय मेरी आयु लगभग ७ वर्ष की रही होगी। छोटी चेचक की बीमारी से उसी दिन स्वस्थ हुआ था। मेरे स्वास्थ्य-लाभ की ख़ुशी में 'मीर' साहब ने उस दिन शाम को मुझे बिस्कुट के खिलौने उपहारस्वरूप ला कर दिये थे तथा सोडावाटर की बोतलों के रंग-बिरंगे ढक्कन। नमाज़ वे नियमित रूप से पाँचों समय पढ़ते थे। घर से एक फ़र्लांग की दूरी पर मसजिद थी। शाम को वे अपने एक मित्र के साथ मसजिद गये। नमाज़ पढ़ कर जब निकले तो अँधेरा हो चुका था। उस समय भाटापारा में विद्युत-प्रकाश की व्यवस्था नहीं हुई थी। स्टेशन मसजिद के बिलकुल सामने ही पड़ता था। बंबई से आने वाली डाकगाड़ी के आने का समय हो चुका था, सिगनल गिरा हुआ था। नासिक से आने वाले अपने स्वामी की अगुवानी हेतु उन्हें स्टेशन पहुँचना था। एक तो अंधकार, दूसरे वृद्धावस्था की मंद दृष्टि। सामने मालगाड़ी के कुछ डिब्बे खड़े दिखायी दिये। प्लेटफ़ार्म पर पहुँचने की जल्दी में सोचा कि डिब्बे के नीचे से निकल जायें। लाइन पर शंटिंग हो रही थी इंजिन ने माल-गाड़ी के एक डिब्बे को उसी लाइन पर शंट किया था जो पूरे वेग से चला आ रहा था। अंधेरे के कारण ये उसे देख न सके और ये जैसे ही डिब्बे के नीचे से निकलने लगे, वेग से आते हुए उस डिब्बे ने खड़े हुए डिब्बों को ज़ोर का धक्का दिया। धड़ाके की आवाज़ के साथ डिब्बे चल पड़े। चक्का

इनकी एड़ी काटता हुआ आगे बढ़ गया और ये लाइन से आगे जा गिरे। दुर्भाग्यवश इनके ऊनी ओवरकोट का बेल्ट बफ़र में फँस गया। उसने फिर इन्हें लाइन पर खींच लिया और गाड़ी का चक्का इनकी छाती को चीरता हुआ निकल गया। स्ट्रेचर पर डाल कर इन्हें घर लाया गया, जहाँ दो घंटे तक मृत्यु से संघर्ष करने के पश्चात अपने आश्रितों के भविष्य के सामने प्रश्नचिन्ह लगा कर 'मीर' साहब ने सदा के लिए इस संसार से विदा ले ली। यों तो प्रत्येक जीवन का अंत मृत्यु ही है परंतु सामान्य परिस्थितियों की अपेक्षा इस प्रकार की हृदयविदारक आकस्मिक दुर्घटना में होने वाली मृत्यु अपनी एक मार्मिक एवं करुण स्मृति छोड़ जाती है, जो बहुधा मृतक के प्रियजनों के हृदय को झकझोरती रहती है।

सैयद अमीर अली 'मीर' का जन्म २२ अक्टूबर, १८७३ को सागर (म० प्र०) में हुआ था। जन्म के दो वर्ष पश्चात ही वे पितृविहीन हो गये और इनके चाचा मीर रहमत अली के संरक्षण में इनका पालन-पोषण हुआ। प्रारंभ से ले कर अंत तक इनका जीवन उस गुलाब के पुष्प की भाँति रहा, जो सदा काँटों में घिरा होने पर भी अपनी मधुर मुस्कान लिये खिला रहता है और अपनी मनमोहक सुगंध से वातावरण को सुवासित करता रहता है। असाधारण एवं बहुमुखी प्रतिभा वाले, सरस्वती के आराधक मीर साहब ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी कार्यकुशलता का परिचय दिया। जबलपुर के अंजुमन इस्लामिया हाई स्कूल में ड्राइंग मास्टरी की और मध्यप्रांत में सर्वप्रथम ब्राउनिंग टीचर्स स्कॉलरशिप प्राप्त की। रियासत धर्मजयगढ़ में स्कूल के प्रधानाध्यापक भी रहे, पुलिस इंस्पेक्टर भी और फिर मजिस्ट्रेट भी। भावुक हृदय कवि होने के साथ-साथ अच्छे-खासे शिकारी भी थे और धर्मजयगढ़ के राजा साहब के साथ कई शेरों का शिकार कर चुके थे। व्यापार भी किय। तथा साप्ताहिक पत्र का संपादन भी। अभिनय तो वे बड़ा अच्छा कर लेते थे। छात्र-जीवन में अपने गाँव देवरी कलाँ के रंगमंच पर उन्होंने 'सत्यवादी हरिश्चंद्र' में हरिश्चंद्र का 'धनुषयज्ञ' में परशुराम का और 'रामराज्याभिषेक' के आयोजन के समय राजा दशरथ का सजीव एवं प्रभावशाली अभिनय प्रस्तुत कर दर्शकों के मन में अपने अभिनय की अमिट छाप छोड़ दी थी। एक मुस्लिम बालक द्वारा हिंदू धार्मिक पात्रों का इतना सफल एवं सजीव अभिनय निश्चय ही 'मीर' की विलक्षण प्रतिभा एवं अद्‌भुत कार्यकुशलता का द्योतक है। 'मीर' साहब संस्कृत के भी विद्वान थे तथा फ़ारसी के आलिम भी। अरबी भाषा पर भी उनका अच्छा अधिकार था। इस्लाम धर्म का उन्हें विस्तृत ज्ञान था। हिंदी पत्रिकाओं में वे 'विशाल भारत', 'माधुरी', 'सरस्वती', उर्दू में 'मआरफ़', 'मदीना' तथा गुजराती भाषा का मासिक 'निज़ाम' वे नियमित रूप से मँगाते थे। उनका मन राष्ट्र-प्रेम की भावना से ओतप्रोत था तथा वे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के कट्टर अनुयायी थे। जीवन-पर्यंत उन्होंने खादी के वस्त्र ही धारण किये। खिलाफ़त आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण ही उन्हें रियासत की मजिस्ट्रेटी से पृथक किया गया था।

'मीर' साहब ने आजन्म हिंदी साहित्य की निःस्वार्थ भाव से सेवा की। उर्दू में उन्होंने बहुत ही कम लिखा। हाँ, अपने अंतिम समय में वे महात्मा शेख़ सादी की विश्वप्रसिद्ध कृति **'गुलिस्ताँ' व 'बोस्ताँ'** का हिंदी पद्यानुवाद कर रहे थे, जिसके कुछ ही अंश उपलब्ध हो सके हैं।

इनकी साहित्य-सेवा का सम्मान करते हुए कुछ प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं द्वारा इन्हें 'साहित्य-रत्न', 'काव्य-रसाल' आदि उपाधियों से सम्मानित किया गया। ओरछानरेश तथा अन्य कई साहित्यिक संस्थाओं द्वारा भी इन्हें पुरस्कृत किया गया था। आचार्य द्विवेदी जी द्वारा इन्हें 'मातृ-भाषा की महत्ता' नामक निबंध पर प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। 'मुहर-मीमांसा' नामक इनका पुरातत्व संबंधी लेख काफ़ी प्रशंसित हुआ था तथा अंग्रेज़ी के अलावा कई अन्य भाषाओं में भी उसका अनुवाद हुआ।

अनमेल विवाहों की उस समय देश में बड़ी धूम थी। धनवान लोग पैसे के बल-बूते पर वृद्धावस्था में अल्पवयस्क कन्याओं को ब्याह लाते थे और अपनी वासना की तृप्ति करते थे। समाज-सुधारक, प्रबुद्ध जन इस घृणित कुरीति से अत्यंत क्षुब्ध थे। 'मीर' साहब का भी ध्यान इस ज्वलंत समस्या की ओर आकृष्ट हुआ और इन्होंने 'बूढ़े का ब्याह' नामक खंड काव्य की रचना कर डाली। उक्त पुस्तक का समर्पण इन्होंने कितने हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी ढंग से किया है, ज़रा मुलाहिज़ा हो,

जो यौवन का लूट चुके सुख, अब मलते रहते हैं हाथ,
बाबा कहलाते, पर रहती विषय-वासना जिनके साथ।
देख किशोरी को हो जाते जिनके आनन कूप सनीर,
उन बूढ़ों के कंपित कर में करें समर्पण सादर मीर'।

स्वतंत्रता के पुजारी इस देशभक्त कवि ने अपने देश की दुर्दशा से क्षुब्ध हो कर 'उलाहना-पंचक' में निम्न प्रकार से अपने हृदय की वेदना व्यक्त की है जिसमें खिन्नता और अवसाद का भी स्वर है, आदेश और उत्साह का भी। 'उलाहना-पंचक' में कवि हिमगिरि को उलाहना देते हुए लिखता है :

गर नहीं जीने के क़ाबिल हम रहे, तो ढहा कर शृंग हिमगिरि दे दबा।
अन्यथा जो अरि हमारे हों यहाँ, पेट में अपने उन्हें तू ले दबा।

'गंगा' को कवि उलाहना देता है :

नाम सुनते हैं तुम्हारा हम बहुत,
सार्थक करतीं नहीं क्यों नाम को,
मात गंगे, पाप अरि को दो बहा,
शुद्ध कर दो हिंद के हुक्काम को

कवि 'हिंद सागर' को संबोधित करता है :

हिंद सागर तुम हमारे गार्ड थे
हाय, की तुमने मगर कैसे दग़ा,

जब घुसा था, शत्रु छाती चीर कर
टाँग धर पाताल को देते भगा

मातृभूमि को भी कवि उलाहना दे बैठता है :

वीर प्रसवा ! तू भरत की भूमि है
नाम को कैसा दबा तूने दिया
सुत दुखी, पर हैं विरोधी सब सुखी
देखकर खुद खोल आँखें क्या किया

और अंत में कवि विश्वरक्षक को पुकार उठता है :

विश्वरक्षक क्या नहीं हम विश्व में,
क्यों नहीं देते हमें हो तुम स्वराज,
ग़ैर हैं आज़ाद, हम घर में ग़ुलाम,
क्या यही इंसाफ़ है बंदानवाज़,

'मीर' साहब स्वभाव से अत्यंत शांत, गंभीर और सहिष्णु थे। उच्च पदों पर आसीन रहते हुए भी दंभ तथा आडंबर उन्हें छू नहीं गया था। वे हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक तथा सांप्रदायिकता के घोर विरोधी थे। स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार को वे अनिवार्य समझते थे। अपने सिद्धांतों के प्रचार से वे सदैव दत्तचित्त रहे। 'मीर' एक सुधारवादी कवि थे जिन्होंने सांप्रदायिकता की कड़ियों को तोड़ कर सार्वभौमिक दृष्टिकोण जनता के सामने रखा और अपने उदार विचारों से समाज का हित किया। साहित्य-क्षेत्र में वे हिंदू आदर्शों से काफ़ी प्रभावित थे। भारतीय संस्कारों की जो अमिट छाप उनके मन पर पड़ी थी उसकी झलक इनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखायी देती है। पूर्व पुरुषों की गौरवमयी गरिमा का बखान वे इन शब्दों में करते थे :

आत्म-शक्ति थी उनमें अविचल, नहीं सताता था भय भूत।
मन पवित्र था सदाचार से, अनाचार की लगी न छूत।
उन सगुणों को यदि हम सीखें बता रहा है जो इतिहास,
कहो दाँत किसके मुंह में है ? करे हमारा जो उपहास।

यदि धार्मिक बंधनों के सीमित दायरे को पार कर, भेद-भाव के संकुचित दृष्टिकोण से परे हट कर, एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया जाय और 'मीर' साहब के व्यक्तित्व का इस दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया जाय तो निस्संदेह उन्हें एक सच्चे राष्ट्रप्रेमी भारतीय की संज्ञा दी जा सकती है।

'मीर' साहब अपने हिंदू मित्रों को दशहरा-दीवाली आदि पुनीत पर्वों के शुभ अवसर पर बहुधा पद्य से बधाई-संदेश भेजा करते थे। २० अक्तूबर, १९२२ को अपने अभिन्न मित्र तथा सुविख्यात साहित्यकार लोचनप्रसाद पांडेय को दीवाली का बधाई-संदेश निम्न कविता के रूप से प्रेषित किया था:

दीपमालिका का दिवस मंगलमय है आज,
मंगलमय हो आपको दीपमालिका साज।
दीपमालिका दीप्ति शुभ, हरै व्याधि अज्ञान,
भरै धान्य धन, स्वास्थ्य सुख, करै सकल कल्यान।
ज्यों इकत्र हो सोंहिहीं, ललित दीप की माल,
त्यों सोहै भवदीय कुल मिलित वृद्ध आबाल।
जैसे झाड़ बुहार कर शुद्ध किये घर-द्वार,
वैसे ही मन हो विमल होवे दूर विकार।
जैसे दीपक दीप्ति है करती रम्य प्रकाश,
वैसे ही भवदीय का होवे विभव विकास।
भारत संपत्तिवान हो, नसै फूट, दुख, पीर,
खादी की गादी रहे सदा सलामत 'मीर'।

आज 'मीर' हमारे बीच नहीं, परंतु उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से राष्ट्र-प्रेम तथा एकता का जो संदेश हम भारतवासियों को दिया है, उसी के प्रकाश में हमें अपना मार्ग प्रशस्त करना है। दीपावलि के झिलमिलाते हुए अनगिनत दीपों की ज्योति को साक्षी कर हमें यह प्रण करना है कि हम राष्ट्रीय एकता के बंधनों को सुदृढ़ करते हुए सांप्रदायिकता के विकराल दानव को कभी भी इस पावन धरती पर अपना अंधकार नहीं फैलाने देंगे। देश की सुख-समृद्धि एवं स्वतंत्रता की रक्षा हेतु सर्वस्व त्याग करने को सदा तत्पर रहेंगे। इस स्वाभिमानी देशभक्त साहित्यकार की यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

—कोहली गुड्स कैरियर,
ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर (म० प्र०)

विविधा

●●

वीरेन्द्र शर्मा

विघटन की प्रक्रिया

मद्यपान

सामाजिक एवं व्यक्तिगत विघटन के अन्योऽन्य कारणों में शराब के प्रयोग का बड़ा हाथ है। पाश्चात्य देशों तथा उच्च घरानों में मद्य-प्रयोग को आधुनिक सभ्यता का एक आवश्यक अंग माना गया है। अन्योऽन्य सामाजिक उत्सवों में उसका प्रयोग होता है। व्यापारिक समझौतों के अवसर पर, परिणय-संस्कारों के समय, बच्चे के जन्म पर, युद्ध या खेल-कूद में विजय होने पर, नितांत पीड़ा के क्षणों में मानव हमेशा मद्य के प्याले की ओर बढ़ा है ताकि वह होने वाली पीड़ा की अनुभूति को एक निश्चित काल-खंड के लिए भूल सके। मद्य-प्रयोग के पश्चात मनुष्य अपने दुख-दर्द की सीमाएँ लाँघ कर एक नयी दुनिया में प्रवेश करता है, जहाँ वह है और उसकी अपनी खुशियाँ।

बावजूद इन सबके, मद्य-प्रयोग अनैतिकता की जननी है। इसके प्रभाव में चरित्रवान व्यक्ति भी यौन-विकारों का शिकार होता है। एक बार अपनी जड़ें जमा लेने के पश्चात इससे छूटने के तरीक़े लगभग नहीं हैं। इसका प्रयोग निश्चय ही व्यभिचार के मार्ग पर ले जाता है।

मद्य-प्रयोग से होने वाले शारीरिक कुप्रभाव किसी से छिपे नहीं हैं फिर भी निस्संदेह कहा जा सकता है कि श्रेष्ठतम साहित्य की रचना मद्यपान के अनंतर ही की गयी है। इसके प्रयोग से ही मनुष्य उन कार्यों का संपादन सफलतापूर्वक कर सका जिनका किया जाना साधारण स्थितियों में असंभव था। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मद्य का प्रयोग नहीं वरन् दुष्प्रयोग विघटन का कारण है। व्यक्तिगत रूप से विघटन तब आरंभ होता है जब व्यक्ति बहुत अधिक मात्रा में मद्य-पान आरंभ कर देता है। उसका एकमात्र उद्देश्य होता है शराब पी कर अपना होश गँवा देना और जीवन की वस्तु-स्थितियों से नाता तोड़ लेना।

चिकित्सा-विज्ञान हमें बताता है कि कुछ मनुष्यों की शारीरिक बनावट ही ऐसी होती है कि उन्हें मद्य की आवश्यकता महसूस होती है। बोमान एवं जेलीनेक के अनुसार आनुवंशिक विषमताओं के कारण कुछ व्यक्तियों में मद्यपान के पश्चात उसे पचा सकने की क्षमता अन्य की अपेक्षा अधिक होती है। जिनमें यह क्षमता कम होती है उनके शराबी होने की संभावना अधिक होती है। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार साधारण मात्रा में मद्यपान के परिणामस्वरूप व्यक्ति का शरीर मद्य पर निर्भर रहने का आदी हो जाता है। मद्य पर शारीरिक निर्भरता को शरीर पर होने वाले रासायनिक प्रभावों एवं परिवर्तनों के द्वारा समझाया गया है। यह सिद्धांत हमें यह नहीं बताता कि कुछ व्यक्ति जो मद्यपान करते हैं, क्यों नहीं इसके आदी हो जाते जब कि अन्य व्यक्तियों के साथ ऐसा होता है।

विटमान के अनुसार शराबी मानसिक एवं नैतिक प्रतिरोध के अभाव एवं अस्थिर मनोविचारों के कारण अपनी इच्छाओं एवं उनकी विकृत अभिव्यक्तियों पर रोक लगाने में असमर्थ रहता है। उसके मानसिक गठन में स्वार्थी एवं असामाजिक तत्वों का हाथ रहता है। मद्यपान के पश्चात व्यक्ति का अंतर्मन अपने सच्चे रूप में प्रकट होता है। एक शराबी तथाकथित साधारण व्यक्ति से भिन्न होता है। उसका पालन ऐसे परिवार में हुआ जहाँ माता की पात्रता प्रबल थी; पिता बहुत ही शासन-प्रिय थे। बहुत कम स्वतंत्रता में रहते हुए बच्चे को आज्ञाकारिता का पालन करना पड़ा। इस पार्श्वभूमि ने बच्चे में असुरक्षा की भावना को पनपाया। विपरीत यौन वालों के लिए उनके मन में तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ, प्रणय-व्यापारों में भी वह बहुत आगे रहा, किंतु ब्याह होने पर वह हमेशा असफल रहा। यह बात उसके दिमाग़ में बैठ जाती है कि वह दुनिया के सर्वाधिक हीन एवं तिरस्कृत व्यक्तियों में से एक है और मद्य-प्रयोग हीनता एवं तिरस्कार से कुछ समय के लिए छुटकारा दिलाता है।

स्ट्रेकर के मतानुसार शराबी वह व्यक्ति है जो वास्तविक परिस्थितियों का सामना मद्य-प्रयोग के बिना नहीं कर सकता। अत्यधिक मद्यपान हीन-भावना को प्रगट करता है। अपने बारे में उसकी जो मान्यताएँ हैं और उसकी समाज में जो वास्तविक स्थिति है—इन दोनों के बीच एक खाई है जिसे वह मद्य के अत्यधिक प्रयोग से पाट देना चाहता है। इस भाँति उसका अहम् अपनी सीमित परिधियों के बारे में जानबूझ कर अचेत बना रहता है।

मनोविश्लेषण हमें बताता है कि मद्य-प्रयोग समलिंगी भावनाओं का द्योतक है। वह पुरुष जिसने अपनी जन्मजात समलिंगी भावनाओं का पूर्णतया दमन नहीं किया है; मद्य-प्रयोग के द्वारा इस दिशा में क़दम उठाता है। यह बात इसलिए प्रमाणित मानी जा सकती है कि मद्य-प्रयोग का प्रचार पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होता है। शराब यौन-भावना की हीनता पर विजय प्राप्त करने का एक अचूक तरीक़ा है। परिणामस्वरूप पुरुष मद्य के प्रभाव में अधिक पौरुषशील हो जाता है और इस तरह यौन-शक्ति की क्षीणता के साथ ही इसके प्रयोग की मात्रा बढ़ती जाती है।

स्लेसिंजर के अनुसार अत्यधिक मद्यपान को अनेक कारणों के प्रकाश में समझा जा सकता है। शराबी उन स्थितियों से भाग जाना चाहता है, जिन्हें वह सहन नहीं कर सकता। विघटित

व्यक्तित्व की सूचना देता है उसका निरंतर मद्य-प्रयोग शारीरिक दर्द एवं मानसिक यातना से सामयिक छुटकारे के लिए भी इसका प्रयोग होता है।

मद्यपान एक अर्थ में यौवन एवं पौरुष का प्रतीक है। कुछ व्यक्ति मद्य-प्रयोग के पश्चात अधिक वाचाल, अधिक सामाजिक एवं साहसी हो जाते हैं। यह भी हो सकता है कि इन्हीं गुणों की प्राप्ति के लिए ही कुछ लोग इसका प्रयोग करते हों। विपरीत इसके, कुछ व्यक्ति मद्यपान के पश्चात अधिक उदास, असामाजिक एवं वहशी हो जाते हैं। अपने समस्त विचारों तथा कार्यों के केंद्र वे स्वयं होते हैं। शराबी को वे सब सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिनका अधिकारी वह साधारण स्थिति में नहीं होता। शराब पीने के बाद वह ध्यान-आकर्षण का केंद्र बन जाता है, परिवार के सदस्यगण उसके लिए योजनाएँ बनाते हैं, मित्रों की सहानुभूति उसे प्राप्त होती है; यहाँ तक कि राह चलते अनजान व्यक्ति भी उसकी मदद करते हैं।

अतः मद्यपान व्यक्तिगत एवं सामाजिक विघटन की जननी है, अन्योऽन्य कुसंस्कार इसके आश्रय में पनपते हैं, व्यभिचार एवं अपराध को प्रश्रय मिलता है और व्यक्ति का जीवन स्वयं अंधकारमय एवं निराशाजनक हो जाता है। कहा जाता है कि इससे त्राण इस जीवन में नहीं वरन मृत्यु के बाद ही मिलता है।

मद्यपान की कार्य-कारण-श्रृंखला में जो वास्तविकता है वही वास्तविकता उसकी दुर्वृत्ति में भी है यद्यपि इसका सेवन सद्वृत्ति से भी होता है। सेवन की सद्वृत्ति यदि आदर्श है तो दुर्वृत्ति यथार्थ। विचार और आचार के संयुक्त सहगमन के लिए शक्ति की ज़रूरत होती है; भले ही ये आचार या विचार सद्गति के हों या परागति के। मद्य आचारहीन व्यक्ति के व्यक्तित्व या विचार की अभिव्यक्ति है। इसका जितना ही आचार तथा विचार से गहन कार्य-कारण-संबंध है, उतना ही नगण्य संबंध है समाज के विभिन्न स्तरों से। उच्च वर्ग आनंद और विलास के लिए सभ्यता व संस्कार के नाम पर तो निम्न वर्ग कुसंस्कार एवं कुरीतियों से इसका प्रयोग करता है। मध्य वर्ग डावाँडोल स्थिति में उच्चवर्गीय सुख की लालसा अथवा दुख-दमन की भावना से मद्य-प्रयोग करता है। सामान्यतः क़ब्ज़, चिंता, प्रिय वस्तु का अभाव, उदासी, सामाजिक तिरस्कार, आत्म-अवहेलना अथवा असंतुष्ट भावनाओं से छुटकारा पाने के लिए मद्य का व्यापक प्रयोग होता है। मनुष्य जिन परिस्थितियों से घिरा होता है उनकी पुनरावृत्ति से उसके चित्त को प्रसन्नता नहीं मिलती, अतः वह उन परिस्थितियों से मुख मोड़ कर उस छोर को पकड़ना चाहता है जिसका वास्तविक जगत की वस्तुस्थितियों एवं मान्यताओं के प्रत्यक्षीकरण से सीधा संबंध नहीं। मद्य-प्रयोग इसी अंतर एवं बाह्य की वास्तविकता से पलायन है। शराबी वह है जिसका यथार्थ पर पूर्ण अधिकार नहीं। निरंतर मद्यपान उस व्यक्तित्व की सूचना देता है जो यथार्थ की पुनः सृष्टि के प्रयत्न में असफल रहा है। मद्यहीनता की अभिव्यक्ति है, विघटन की सूचना है एवं कुंठा का पर्याय है। जहाँ आदर्श कुंठित हो गया है और आदर्शहीन हो कर जीने की क्षमता नहीं, वहाँ शराब ही सहारा है। निरंतर प्रयोग से जैसे-जैसे यह हावी होती जाती है, मानव तथा मानवीयता टूक-टूक हो जाती है। यह हीनता एवं कुंठा विशिष्ट नहीं, सामान्य है और देश, काल अथवा वर्गविशेष से बाधित है।

आत्महत्या

संभवतः व्यक्तिगत विघटन की अंतिम सीमा आत्महत्या है। इसे दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है—(१) आत्महत्या जिसमें व्यक्ति का उद्देश्य अपने जीवन का अंत करना होता है, (२) आत्महत्या करने के वे प्रयास जो सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से किये जाते हैं।

आत्महत्या के सिद्धांतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) मनोवैज्ञानिक एवं (२) सामाजिक। मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को फ़्रायड से बल मिला। मानव-व्यवहार को उसने दो विरोधी इच्छाओं के द्वारा समझाया—जीवन की इच्छा एवं मरण की इच्छा। एक व्यक्ति दूसरे को मारने की इच्छा रखता है किंतु विषम परिस्थितियों में ऐसा न कर सकने के कारण वह अपने जीवन का अंत कर देता है।

मेनिंजर ने फ़्रायड की मृत्यु-इच्छा को तीन खंडों में विभक्त किया है—(१) मरने की इच्छा, (२) मारने की इच्छा एवं (३) मारे जाने की इच्छा। प्रथम एवं द्वितीय इच्छाओं के अभाव में स्वयं-पीड़न-प्रणाली के द्वारा व्यक्ति आत्महत्या करता है।

विलियम आर रॉल्फ़ के अनुसार आत्महत्या किसी दूसरे की हत्या करने की इच्छा या किसी समस्या से जान छुड़ा कर भागने की इच्छा का प्रदर्शन करती है। यह बात सच भी हो सकती है, क्योंकि व्यक्ति निराशा की चरम स्थिति में, उस व्यक्ति अथवा वस्तु को नष्ट कर देना चाहता है जो उसकी निराशा के लिए ज़िम्मेवार है। किंतु सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति की इच्छाओं की तुरंत पूर्ति नहीं होने देतीं, अतः नष्ट करने की जो तीव्र भावना व्यक्ति में है वह स्वयं में केंद्रित हो जाती है और वह व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। यदि वह व्यक्ति, जो दूसरे के दुख अथवा निराशा का कारण है, स्वयं किसी बीमारी से मर जाता है तो उस स्थिति में भी यह सोच कर संतोष किया जा सकता है कि उसकी मृत्यु के ज़िम्मेवार हम स्वयं हैं। आत्महत्या के द्वारा व्यक्ति उन स्थितियों से भाग जाना चाहता है जो उसके लिए कष्टकर हैं; दुखदायी हैं।

डब्लिन एवं बुंजेल के मतानुसार आत्महत्या की भावना उन्हीं तत्वों के द्वारा पनपती है जो अन्य मानसिक रोगों को जन्म देते हैं—जैसे कि डर एवं चिंता, अपराध की भावना, घृणा आदि और इन्हीं के दमन के परिणामस्वरूप आत्मघात की भावना विकसित होती है।

हीनता एवं अयोग्यता की भावना सामाजिक अनुबंधों के विपरीत पड़ती है। यदि ये भावनाएँ इतनी तीव्र हैं कि इन पर मानसिक प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता तब आत्महत्या के प्रयत्न हो सकते हैं।

आत्मघात के सामाजिक सिद्धांत मुख्यतः डुरखेम व कैव्हन के द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। डुरखेम के अनुसार आत्मघात की धारा सामूहिक चेतना का अंश रूप में प्रदर्शन करती है। यह व्यक्ति एवं सामाजिक संगठन के संबंध का भी परिचय देती है। आत्महत्या के प्रभावी कारणों में से एक व्यक्ति पर से सामाजिक नियंत्रण का उठ जाना है अथवा इसकी गहनता का कम हो जाना है, जिसमें व्यक्ति अराजकताप्रिय हो जाता है। इस तरह डुरखेम आत्मघात को तीन श्रेणियों

में बाँटता है—(१) प्राचीन समाज में वृद्ध, रोगी एवं अशक्त व्यक्तियों का आत्मघात, धार्मिकता से प्रेरित आत्मघात, महिलाओं के द्वारा अपने पति की मृत्यु पर आत्मघात एवं आधुनिक समाज में सैनिकों का युद्ध में भाग लेना जिसका अर्थ है—निश्चित मृत्यु, (२) वे आत्मघात जिनमें व्यक्ति क्रमबद्ध असफलताओं, निराशाओं तथा हीन भावनाओं से जूझने की शक्ति खो बैठता है। इस तरह उसके सामाजिक संबंध टूटते जाते हैं और वह एक तरह से 'अकेला' हो जाता है। वह समाज के प्रति कोई आभार अनुभव नहीं करता और अंततः वह सामूहिक चेतना के अंश के रूप में निष्क्रिय हो जाता है। सामाजिक शून्यता एवं निष्क्रियता की स्थिति में वह कभी भी उत्तेजित होने पर आत्महत्या कर सकता है। (३) वे आत्मघात जो सामाजिक अनुबंधों के छिन्न-भिन्न हो जाने से होते हैं जिनमें व्यक्ति के ऊपर से सामाजिक नियंत्रण हट जाता है और वह स्वेच्छाचारी हो जाता है और सामाजिक समानता एवं नैतिकता का अंत हो जाता है। भीषण आर्थिक उतार-चढ़ाव इस तरह के आत्मघात के प्रभावी कारण हो सकते हैं।

कैव्हन के मतानुसार आत्महत्या उन तरीक़ों में से एक है जो व्यक्ति सामाजिक अनुबंधों के मध्य उठने वाली समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोग में लाता है। अन्योन्य समस्याओं का समाधान वह प्राकृतिक रूप से स्वभावतया ही कर लेता है, किंतु समाधान की असफलता व्यक्ति को निराश, असंतुष्ट एवं व्यक्तिगत रूप से विघटित बना देती है और इस तरह व्यक्तिगत विघटन कई प्रकार से प्रश्रय पाता है—मद्यपान, यौन-विकार, अपराध, पागलपन और अंततः आत्महत्या।

साधारणतया आत्महत्या को श्रेणी की दृष्टि से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) जिसमें व्यक्ति पूर्णतया सोच-विचार के पश्चात स्वनाश की योजना बनाता है। उसे इस बात का पूर्ण ज्ञान होता है कि उसके समक्ष आत्महत्या के सिवा अन्य कोई चारा नहीं। (२) दूसरे प्रकार की आत्महत्या को फ्रायड 'वास्तविकता से पलायन' के प्रकाश में समझाता है। व्यक्ति जब सब तरफ़ से निराश हो जाता है या असफल हो कर उससे जिया जाना असंभव हो जाता है तब वह आत्महत्या का सहारा लेता है।

किशोर वय की आत्महत्याएँ एक अजीब ही समस्या का प्रतिपादन करती हैं। किशोर पीछे लौट कर देखता है कि उसके सुख एवं निश्चितता के दिन बचपन के साथ ही समाप्त हो गये, वह महसूस करता है कि उसके निर्बल कंधों पर अनायास ही अनेकानेक उत्तरदायित्व का भार आ पड़ा है—उसका कार्यक्षेत्र घर, पड़ोस व स्कूल की चहारदीवारियों को लाँघ कर विस्तृत हो जाता है, अनजान व्यक्तियों के बीच वह अपने आपको एक अजनबी की तरह ही महसूस करता है, और इस तरह उसका व्यक्तित्व उलझनों एवं दबावों का अनुभव करता है। डर एवं असुरक्षा की भावना उसे आत्महत्या का शिकार बना देती है, बचपन में 'अँधेरे का डर' किशोरावस्था में 'अनजान व्यक्ति से मिलने में संकोच' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जीवन की अन्योन्य समस्याएँ, तूफ़ानी लहरों की तरह, किशोर मन में उमड़ा करती हैं, वह स्पष्टतया अनुभव करता है कि उसके विचार एवं आदर्श वास्तविक जगत से मेल नहीं खा रहे हैं, इस तरह की आत्महत्याओं में बदले की भावना का पुट होना—कोई आश्चर्य की बात नहीं, किशोर यह सोच सकता है कि उसके आत्महत्या करने से वे सब दुखित होंगे, जो उसे प्यार करते थे। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने आत्महत्या का साधन

निर्माण किया है। ऐसा देखा जाता है कि कई स्थानों में संस्कृति एवं सभ्यता ने आत्महत्या को बढ़ावा दिया है, तो कितने स्थानों पर इसमें रोक लगायी है, जैसे जापान में हाराकीरी व भारत में सती-प्रथा। सती-प्रथा को भारत में सामाजिक मान्यता प्राप्त थी, जिसके अनुसार पति की मृत्यु होने पर पत्नी जीते-जी, जलती चिता पर कूद जाया करती थी—और उसका यह कृत्य पति के प्रति उसकी अंतिम निष्ठा के रूप में एक उत्तम प्रतीक समझा जाता था। ईसाई संस्कृति ने आत्म-हत्याविरोधी पृष्ठभूमि का निर्माण किया है। ईसाई धर्म बताता है कि व्यक्ति को उसके कृत्यों का फल अच्छे या बुरे के अनुरूप इसी जीवन में मिलता है। कैथलिक चर्च ने आत्महत्या से मृत्यु का वरण करने वालों को गिरजाघरों में दाहसंस्कार के लिए स्थान देने से इंकार किया है। तात्पर्य यह कि आत्महत्या करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में स्थान पाने का अधिकारी नहीं हो सकता; इस धार्मिक विचारधारा ने आत्महत्या का परोक्ष रूप से विरोध किया है।

आधुनिक विश्व की प्रकृति ने एवं उसकी अन्योऽन्य संस्कृतियों ने ऐसे स्वभाव को पनपाया है जो आत्महत्या के स्थानापन्न रूप में सामने आया है। नितांत अपमान एवं क्षोभ के वातावरण से व्यक्ति भाग कर बिल्कुल नये वातावरण में नव जीवन आरंभ करता है—जैसे उसका पहला जीवन समाप्त हो गया हो। इसी भाँति जितने आधुनिक समाज को अत्यधिक परेशानियों एवं उलझनों व उत्तरदायित्वों से भरा पाया उन्होंने निर्जन स्थान में एकाकी जीवन का चुनाव किया। दक्षिणी समुद्रों के रोमांटिक द्वीपों का प्रयोग सामाजिक जीवन से त्रस्त. आधुनिक सभ्यता से क्लांत अभियांत्रिक प्रगति से भौंचक व्यक्तियों के द्वारा होता है।

बड़े-बड़े नगरों की हलचल से दूर उपनगर होते हैं जहाँ शहर का व्यस्त जीवन नहीं दीख पड़ता, यह सामाजिक अलगाव जीवन के प्रति उदासीनता को प्रकट करता है—साथ ही यह स्वघात का मार्ग है। समाज, उसकी व्यवस्था, उसके आचार-व्यवहार, सभ्यता एवं संस्कृति को व्यक्ति जब मान्यता प्रदान करने से इंकार करता है—या इन्हीं कर्तव्यों के उत्तरदायित्वों से दूर भागना चाहता है, तो वह जीवन की सामान्य धारा से अलग हट जाता है। कुछ धर्मों ने इस विचारधारा का प्रतिपादन किया है कि वास्तविक जीवन, मृत्यु के बाद है, यह शरीर पार्थिव है, मृत्यु के पश्चात समस्त दुखों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। प्रिय व्यक्ति से अगले जन्म में मिलने की उत्सुकता, उसके साथ ही क़ब्र पर स्थान पाने की आकांक्षा—ने भी आत्मघात की भावना को बढ़ावा दिया है।

अस्तित्ववादी दर्शन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि आधुनिक सामाजिक व्यवस्था, क्षोभ, निराशा, कुंठा, पीड़ा एवं अनवरत अकेलेपन से ऊब कर हर व्यक्ति एक बार आत्महत्या की बात अवश्य सोचता है, या जीवन से पलायन का अवश्य ही एक प्रयास करता है। साथ ही पश्चात्ताप या दंड पाने की भावना ने भी स्वघात की भावना के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण किया है। कुछ व्यक्तियों का मानसिक गठन, कुछ ऐसा होता है कि उन्हें चारों ओर सिर्फ़ विरोध व असफलताएँ ही दीख पड़ती हैं। उन्हें लगता है कि जीने के लिए उन्हें हर पग पर विरोधी तत्वों एवं कंटकपूर्ण परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। जीवन ने जो कुछ प्रदान किया है वे उस पर ही दृष्टिपात नहीं करते। जीवन की दौड़ में थके या हारे हुए, मनोविकारों से ग्रस्त, स्वनिर्मित पीड़ाओं से टूटे हुए, व्यक्तिः

स्वघात की योजना बना कर, सामाजिक अनुबंधों व नियंत्रणों से मुक्त होने का दिवास्वप्न देखता है। शायद ज्याँ पाल सार्त्र ने इन्हीं कारणों के प्रकाश में कहा है कि मानव और पशु में सिर्फ़ एक अंतर है--कि व्यक्ति आत्महत्या कर सकता है जब कि पशु नहीं। किंतु आत्महत्या का मार्ग संभवत हमें पशुता की ओर प्रेरित करता है।

—ग्राम तथा पोस्ट कटनई,
द्वारा अकलतरा,
द० पू० रेलवे,
बिलासपुर (म० प्र०)

श्रीकृष्ण

विवाह की अनोखी प्रथाएँ

हम लोगों में तो लड़की सयानी हुई नहीं कि माँ-बाप को उसके विवाह की चिंता का बुखार चढ़ा। लेकिन आपको जान कर आश्चर्य होगा कि इंडोनेशिया में लड़की वालों को नहीं, लड़के वालों को शादी की फ़िक्र करनी पड़ती है। अपने लड़के को विवाह योग्य देख कर वे लड़की ढूँढ़ते हैं। लड़की मिलने पर वे लड़की देखने पहुँचते हैं; लेकिन मज़े की बात यह कि इस उद्देश्य का ज़िक्र वे बिल्कुल नहीं कर सकते। इन लोगों की कोई ख़ास ख़ातिर नहीं की जाती। बाद में लड़की भोजन परोसने आती है। लड़की पसंद आने पर लड़के वाले खुले रूप में अपना प्रस्ताव रखते हैं। अब लड़की वालों की इच्छा पर है कि संबंध स्वीकार करें अथवा मना कर दें। यदि वे मान जाते हैं तो लड़के वालों को अपनी हैसियत के अनुसार बढ़िया-बढ़िया उपहार भेजने पड़ते हैं। यदि ये उपहार लेने के बाद लड़की वाले संबंध तोड़ना चाहें तो उन्हें उपहारों का दुगुना मूल्य लौटाना पड़ता है। यही कारण है कि लड़के वाले बहुमूल्य से बहुमूल्य उपहार भेजते हैं ताकि या तो रिश्ता टूटे नहीं, और टूटे तो ख़ूब रुपया वापस मिले।

यहाँ विवाह के समय वधू को फूलों से सजाया जाता है। शादी के बाद ये फूल वधू की सहेलियों में बाँट दिये जाते हैं। समझा जाता है कि इससे उसकी सहेलियों की शादी भी जल्दी होगी।

मोटापा ही सौंदर्य

शायद आप विश्वास न करें कि इस धरती पर एक ऐसी भी जाति है जिसमें पतली लड़की की अपेक्षा मोटी लड़की को पति आसानी से मिल जाता है।

इब्रो जाति में जो स्त्री जितनी अधिक मोटी होती है उतनी ही अधिक रूपवती समझी जाती है। यही कारण है कि इब्रो युवकों में मोटी से मोटी पत्नी पाने की होड़-सी लगती रहती है। इन लोगों में लड़की मुँह देख कर नहीं पसंद की जाती, बल्कि पीछे से देख कर या तोल कर मोटी से मोटी स्त्री चुन ली जाती है।

विवाह की तिथि से कई महीने पहले ही से लड़की को एक अलग कमरा दे दिया जाता है। उसको ख़ूब खिलाया-पिलाया जाता है और रोज़ उसके शरीर में तेल की मालिश की जाती है। परिणामस्वरूप विवाह की तिथि तक लड़की काफ़ी मोटी हो जाती है।

बधू विवाह-मंडप से भागती है

बंजारों की विवाह-प्रथा भी कुछ कम अनोखी नहीं। रिवाज़ के अनुसार कुछ संस्कारों के बाद वधू विवाह-मंडप से भागती है और पंडित को दौड़ कर उसे पकड़ना होता है। यही कारण है कि हैदराबाद के बंजारे इस अवसर पर अपनी लड़कियों को बहुत हल्के कपड़े पहनाते हैं ताकि लड़की तेज़ी से भाग सके। जब पंडित लड़की का पीछा करता है तो कन्यापक्ष के लोग पंडित को चावल, सुपारी और इमली फेंक कर मारते हैं। यदि पंडित को चोट लग जाय और वह चिल्लाये, तो शुभ माना जाता है। जब पंडित वधू को पकड़ कर लाता है, तब उसे वरपक्ष की ओर से दक्षिणा दी जाती है।

शराब की बोतल का प्रतीक

तिब्बत में एक स्थान है फारो। यहाँ विवाह की बड़ी ही अद्भुत प्रथा है। लड़के का पिता लड़की वालों के साथ विवाह की बात चलाने के लिए एक दलाल नियुक्त करता है। यह दलाल ख़ूब बन-ठन कर और हाथ में शराब की बोतल ले कर लड़की के घर जाता है। यह बोतल विवाह के प्रस्ताव का प्रतीक होती है। अगर लड़की का पिता बोतल ले लेता है तो समझा जाता है कि उसे यह विवाह-संबंध स्वीकार है। इसके बाद लड़के का पिता लड़की की माँ को एक निश्चित रक़म देता है जो लड़की को पिलाये गये उसके दूध का मूल्य माना जाता है।

नियत दिन वरपक्ष के लोग लड़की के घर जाते हैं। लड़का स्वयं बारात में नहीं जाता। इन्हीं बारातियों के साथ लड़की की बारात लड़के के घर आती है। घर के दरवाज़े पर दोनों पक्षों में रोचक वाद-विवाद होता है और अंत में वधू घर के अंदर प्रवेश करती है। वधू के घर में क़दम रखते ही वर की माँ पाँच रंगों के फूलों का एक तीर वधू की गर्दन पर रखती है। बस, इस रस्म के बाद विवाह संपन्न समझा जाता है।

यदि वर के छोटे भाई भी हों तो यहाँ की प्रथा के अनुसार वधू को एक-एक वर्ष के अंतर से अपने सब देवरों की भी पत्नी बनना पड़ता है। फारो-समाज में जिस स्त्री के जितने अधिक पति होते हैं, वह उतनी ही अधिक सौभाग्यशाली और अधिकारसंपन्न समझी जाती है।

१०

सौतों में मल्ल-युद्ध

न्यू ब्रिटेन में जब कोई पुरुष एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह करना चाहता है तो उसे एक विचित्र किंतु रोचक प्रथा का पालन करना होता है। उसकी पूर्वपत्नी और नयी पत्नी दोनों अपने-अपने शरीर पर काला रंग पोत कर समुद्र के किनारे जाती हैं और परस्पर लड़ती हैं। दोनों में जो ज़्यादा ताक़तवर होती है वह कमज़ोर को समुद्र में ढकेल देती है; फिर उसे निकाल लिया जाता है। इसके बाद दोनों फिर हाथ में हाथ डाल, हँसती हुई घर लौट आती हैं।

पान का बीड़ा कामदेव की भूमिका अदा करता है

बोर्नियो के नरमुंड के शिकारी, ड्याक नामक आदिवासियों में कोई युवक जिस लड़की से प्रेम करता है, रात में उसके पास जा कर उसकी हथेलियों को सहलाते हुए पान का बीड़ा भेंट करता है। यदि उसकी प्रेमिका उसे स्वीकार कर लेती है, तो प्रेमलीला प्रकट रूप में होने लगती है। आस-पास के सभी लोग मानो उनकी ओर से आँख-कान बंद कर लेने का ढोंग रचते हैं। कई रात तक उनकी प्रेम-क्रीड़ा चलती रहती है। अंत में मुखिया की सहमति से दोनों विवाह-सूत्र में बँध जाते हैं। इस उपलक्ष में पति की ओर से पत्नी के परिवार को घड़ियाल भेंट किया जाता है।

पत्नी में भी भाइयों की साझेदारी

दक्षिण भारत में नीलगिरि की उपत्यका में तोडा नामक एक अत्यंत रूपवान जाति निवास करती है।

जायदाद को बँटने से बचाने के लिए तोडा लोगों में प्रथा है कि एक स्त्री सभी भाइयों की पत्नी होती है; यहाँ तक कि विवाह के बाद अगर इन भाइयों का और कोई भाई पैदा होता है तो युवा होने पर वह भी अपने भाइयों की अपने से कहीं बड़ी उम्र की पत्नी का पति बन जाता है।

सभी भाइयों द्वारा एक ही स्त्री से विवाह कर लेने से यह समस्या अवश्य पैदा हो गयी है कि तोडा लड़कियाँ काफ़ी बड़ी संख्या में अविवाहित ही रह जाती हैं। इसी का दुष्परिणाम है कि तोडा लोगों में प्रायः लड़कियों को जन्म लेते ही मार डाला जाता है।

दर्पण में भेंट

अफ़ग़ानिस्तान में विवाह संबंधी एक मनोरंजक रिवाज़ है—'आइने मसफ़'। इसका अर्थ है—'दर्पण में भेंट'। वर और वधू एक चौकी पर बैठ जाते हैं और उनके सामने एक बड़ा दर्पण रख दिया जाता है। वे अपनी पहली भेंट में एक-दूसरे की ओर सीधे नहीं देख सकते। पहले वे दर्पण में एक-दूसरे का मुँह देखते हैं। लड़के को इस अवसर पर बड़ी शिष्टता बरतनी पड़ती है।

राजा की आज्ञा के बिना विवाह नहीं

दक्षिणी अफ़्रीका के पूर्वी भागों में बसने वाली जुलु जाति में बहुत पहले विवाह की एक

बड़ी ही विचित्र प्रथा प्रचलित थी। यह प्रथा जुलु राजाओं ने अपने सैनिक संगठन को दृढ़ करने के लिए चलायी थी। इस प्रथा के अनुसार एक वर्ष अथवा दो-तीन वर्षों की अवधि में पैदा हुए लड़कों का एक दल बना लिया जाता था। इसी प्रकार लड़कियों का भी एक दल बना लिया जाता था। जब लड़कों का दल बड़ा हो जाता था, तब राजा या तो उन्हें युद्ध में भेज देता था या उन्हें झोपड़ियाँ बनाने या खेत जोतने का काम सौंपता था। राज्य के क़ानून के अनुसार वे बिना आज्ञा लिये विवाह नहीं कर सकते थे। जब राजा चाहता था तब लड़कों और लड़कियों के एक-एक दल को विवाह की अनुमति दे देता था। उस दल के लड़के केवल उन्हीं लड़कियों में से अपनी पत्नी चुन सकते थे। यदि कोई लड़की दल के बाहर के किसी युवक से विवाह करती थी, तो उसे दंड दिया जाता था। इस क़ानून का उद्देश्य यह था कि युवक-युवतियाँ देर से विवाह कर के स्वस्थ संतान पैदा करें। किंतु अब यह क़ानून उठ गया है। अब वहाँ क़बीले के मुखिया के संमुख विवाह होता है। मुखिया क या से पूछता है कि क्या वह अपनी पसंद के युवक से विवाह कर रही है? जब विवाह की बातचीत पक्की हो जाती है तब यह तय किया जाता है कि लड़की के पिता को कितना दहेज़ दिया जायगा। वह दहेज पशुओं के रूप में होता है। यदि कन्या को बुरा व्यवहार करने के कारण तलाक़ मिल जाता है या वह निःसंतान मर जाती है तो कन्या का पिता इन पशुओं को उसके पति को लौटा देता है, लेकिन यदि पति स्त्री के साथ बुरा व्यवहार करता है जिससे दुःखी हो वह मैके लौट जाती है तो कन्या का पिता उन पशुओं को ज़ब्त कर लेता है।

विवाह का उपहार पा कर वधू रोती है

फ़िजी द्वीप में विवाह के तीन दिन पहले से ही वर को नित्य नारियल का तेल शरीर में लगाना पड़ता है और वधू को हल्दी। चौथे दिन वर वधू को किसी दुर्लभ वस्तु का उपहार देने ज़ाता है। उपहार पा कर वधू ऊँचे स्वर में रोना शुरू कर देती है। उसके परिवार की स्त्रियाँ उसे समझा-बुझा कर चुप कराने की कोशिश करती हैं और उसके चुप होते ही उसे नज़दीक़ के किसी त लाब में ले जा कर नहलाया जाता है। इसके बाद वर और वधू के परिवार वाले उसी तालाब में विवाह-भोज के लिए मछलियाँ पकड़ते हैं। भोज के समय वर-वधू एक साथ एक ही पात्र में भोजन करते हैं और विवाह संपन्न समझा जाता है

लड़की दे कर लड़की लेना

ब्रिटिश न्यूगिनी प्रदेश में पलाई नदी के किनारे जो आदि जाति बसती है, किवाई पायल कहलाती है। इन लोगों में शादी उसी स्थिति में हो सकती है, जब वर वधू के बदले में अपने संबंध की कोई लड़की, लड़की की बिरादरी में दे। यह आदान-प्रदान एक आम रिवाज़ है—लड़की दे कर लड़की लेना। दोनों पक्षों में इसी बात पर अक्सर खून-ख़राबी भी हो जाती है।

क़िस्तों में वधू-मूल्य

नेफ़ा का एक भाग है लोहित की घाटी। इस इलाक़े में मिश्मी नामक जाति के आदिवासी

क़बीले रहते हैं। मिश्मी लोगों में यदि किसी युवक का मन किसी लड़की पर आ जाय तो वह लड़की की सहमति लेने के लिए एक दूती उसके पास भेजता है। यदि लड़की की भी सहमति हो तो वर-पक्ष की ओर से कोई बुज़ुर्ग विवाह का प्रस्ताव ले कर लड़की के माँ-बाप के पास जाता है। अगर वे भी इस विवाह-संबंध के लिए सहमत हों तो फिर वधू-मूल्य ठहराया जाता है, जो क़िस्तों में दिया जाता है। वधू-मूल्य की पहली क़िस्त अदा करने के बाद वर को वधू के साथ यौन-संबंध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। पर जब तक पूरी रक़म चुकायी नहीं जाती, लड़की अपने मायके में ही रहती है। इस बीच यदि उसके बच्चे पैदा हो जायँ तो वे भी माँ के साथ रहते हैं।

विवाह के बाद भी पूर्व प्रेमियों से यौन-संबंध

'कोन्यक' नागा जाति में विवाह के पश्चात जब तक पहला बच्चा न हो जाय, स्त्रियाँ मैके में ही रहती हैं। इस काल में उन्हें विवाह से पूर्व की भाँति ही अपने प्रेमियों से मिलने-जुलने, यहाँ तक कि यौन-संबंध बनाये रखने की भी स्वतंत्रता रहती है। वह पहला बच्चा पति का हो या किसी दूसरे का, इससे पति-पत्नी के आपसी संबंधों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

विवाह से पूर्व लड़का-लड़की इकट्ठे रहते हैं

मणिपुर की पहाड़ियों में बसने वाली 'कूकी' जाति में विवाह से पूर्व लड़के-लड़की को कुछ समय तक इकट्ठे रहने दिया जाता है ताकि दोनों एक दूसरे को भली भाँति समझ सकें, एक-दूसरे के स्वभाव और आदत से परिचित हो सकें। इसके बाद यदि दोनों सहमत होते हैं तो विवाह-सूत्र में बँध जाते हैं। यदि युवक उस युवती से विवाह न करना चाहे तो कुछ हरजाना दे कर अलग हो सकता है। परंतु यदि इस काल में लड़की के गर्भ रह जाय तो उस युवक को उससे विवाह करना ही पड़ता है।

विवाह करो या हरजाना दो

पीलीभीत के उत्तर तथा नैनीताल की तराई में रहने वाली 'थारु' नामक आदि जाति में लड़की का पिता लड़की तथा उससे होने वाली संतान के बदले वधू-मूल्य ले कर लड़की का विवाह करता है, जो संतान न होने की दशा में उसे लौटाना पड़ता है। इन लोगों में स्त्री बिना कोई कारण बताये एक पुरुष को छोड़ कर दूसरे से विवाह कर सकती है। ऐसी दशा में नया पति पुराने पति को वधू-मूल्य देता है। यही कारण है कि जो युवक अपनी आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण वधू-मूल्य नहीं दे पाते, उन्हें विवश हो कर अपने से काफ़ी बड़ी आयु की स्त्रियों से विवाह करना पड़ता है।

इस जाति में यदि कोई थारु स्त्री किसी युवक से प्रेम करती है तो वह अपनी पसंद के प्रेमी के घर में ज़बर्दस्ती घुस कर बैठ जाती है। यहाँ की प्रथा के अनुसार उस दशा में या तो उस युवक को उस स्त्री से विवाह करना पड़ता है अन्यथा हरजाना देना पड़ता है।

दादी की आयु की पत्नी

आस्ट्रेलिया की कुछ जंगली जातियों में जब औरत अधेड़ हो जाती है, तब उसका पति उसे किसी युवक को सौंप देता है और बदले में युवक की युवती बहन से विवाह कर लेता है। कभी-कभी तो इन युवकों की पत्नियों की आयु उनकी दादी की आयु के बराबर हो जाती है, जब कि दूसरी ओर बूढ़ों की पत्नियाँ छोटी-छोटी बालिकाएँ मात्र होती हैं।

जूता फेंकना सामान्य का सूचक

अमरीका में विवाह के बाद जब वर-वधू नये घर में पहुँचते हैं तब वर उसे गोद में उठा कर घर के अंदर ले जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि यह प्रथा उस प्राचीन रोमन प्रथा पर आधारित है, जब रोमन सिपाही सेबाइन जाति के लोगों के घरों में घुस कर उनकी पत्नियों को ज़बर्दस्ती उठा ले जाते थे। आज भी मानो पति अपनी 'हरण' की हुई पत्नी को ज़बर्दस्ती घर के अंदर ले जाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार विवाह की अंगूठी भी उस पुराने युग की स्मृति है। कहते हैं कि अँगूठी उन जंज़ीरों और छल्लों का प्रतीक है जिनमें बाँध कर पति अपनी उस 'हरण' की हुई पत्नी को 'बंदिनी' बना कर रखता था। अंगूठी केवल बायें हाथ की तीसरी अँगुली में पहनाने का कारण यह बताया जाता है कि उस अँगुली में एक 'नस' होती है जो सीधे हृदय तक पहुँचती है और उसके बँध जाने से स्त्री का हृदय बँध जाता है।

इसी प्रकार की एक और पुरानी प्रथा है, विदा के समय माँ-बाप का अपनी बेटी पर जूता फेंकना। आजकल जूता फेंकते समय यह कहा जाता है कि यह सौभाग्य का सूचक है। लेकिन कोई ज़माना था जब इस तरह जूता फेंकने का अर्थ था कि अब उनका अपनी लड़की पर कोई अधिकार नहीं रहा।

यहाँ के लोगों का विश्वास है कि विवाह के समय वधू को हरा रंग नहीं पहनना चाहिए। यदि वह हरा रंग पहनेगी तो उसकी शीघ्र मृत्यु हो जायगी और वह जीवन भर मुसीबतें झेलेगी; क्योंकि हरा रंग परियों का रंग है और यदि वधू उसे पहनती है तो परियाँ नाराज़ हो कर बदला लेती हैं। वधू को मोती पहनने की भी कड़ी मनाही है क्योंकि मोती आँसुओं का प्रतीक है। किंतु उसे अपने मुँह पर नक़ाब अवश्य पहननी चाहिए क्योंकि नक़ाब 'बुरी नज़र' से रक्षा करती है।

लड़का लड़की को भगा ले जाता है

भीलों में लड़की भगाने की प्रथा है। लड़का लड़की को भगा ले जाता है, तब लड़की के माँ-बाप लड़के के घर धरना देते हैं। बाद में मामला समझौते से तय हो जाने पर विवाह होता है।

'हल्दी-पानी' विवाह

कुछ आदिवासियों में तो अगर लड़की अपने मनचाहे युवक के ऊपर हल्दी का पानी डाल दे तो बस शादी संपन्न समझी जाती है। फिर वे दोनों पति-पत्नी की तरह रहने लगते हैं। ऐसे विवाहों को 'हल्दी-पानी' विवाह कहते हैं।

—द्वारा भारतीय ज्ञानपीठ,
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, दिल्ली-६।

हरीशचन्द्र उप्रेती

भोट प्रदेश में 'रंगबंग-प्रथा'

उत्तराखंड के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश भोट अथवा भूटान प्रदेश के नाम से प्रख्यात है। यह प्रदेश अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थिति के कारण कूर्मांचल,से अलग रह गया है तथा आज भी आवागमन के साधनों के अभाव में अधिकांश मानव-समाज इससे अपरिचित ही है। अस्कोट (काली नदी) से कयकोटा को सीधी रेखा से मिलाने पर रेखा का उत्तरी भाग भोट प्रदेश को बनाता है। भोट प्रदेश की ल्वान बस्ती दुनिया की सबसे ऊँचाई पर बसी मानव-बस्ती है। हिमपात के भय से ये बस्तियाँ इनके मार्गों से हट कर बसी हैं। चीन के आक्रमण से पूर्व इनका मुख्य कार्य तिब्बत से व्यापार करना था। इसके अतिरिक्त पशु-पालन इनका अन्य मुख्य व्यवसाय है। तीव्र सर्दी से बचने के लिए ये लोग नीचे के भागों में उतर आते हैं और जौलजीवी, बागेश्वर तथा थल के मेले में व्यापार भी करते हैं। इस प्रकार से ये लोग खानाबदोशों का सा जीवन व्यतीत करते हैं।

ये लोग क्षत्रिय जाति के तथा हिंदू मतावलंबी हैं। हिंदी और तिब्बत की मिश्रित भाषा बोलते हैं तथा बड़े ही हृष्ट-पुष्ट एवं परिश्रमी हैं। इनमें स्त्रियों को भी सामाजिक समानता प्राप्त है।

इस प्रदेश की घुटुल प्रथा (रंगबंग) जो कि इनके सामाजिक जीवन का मुख्य अंग है, बहुत ही विचित्र एवं आकर्षक है जिसके माध्यम से हमारे संमुख इन लोगों के सामाजिक रीति-

रिवाज़ तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों की रूपरेखा उपस्थित होती है। यह घुटुल प्रथा भारत की आदिम जातियों में ही नहीं अपितु विश्व की कई आदिम जातियों में पायी जाती है। एस० इ० मिल ने अपनी रचना 'दि कम्यूनल वैरेक्स ऑफ़ प्रिमिटिव रेसेज़' में इस तथ्य का समर्थन किया है कि विश्व में भूटान से न्यूज़ीलैंड और मारक्वीस से नाईजर तक यह प्रथा पायी जाती है।

घुटुल प्रथा भोट प्रदेश में 'रंगबंग' के नाम से प्रचलित है। यह अविवाहित स्त्री-पुरुषों का क्रीडा-व्यापार है तथा भारत की अन्य जातियों—जैसे होज, मुंडा, ओरन तथा छोटा नागपुर की अन्य जातियों में विद्यमान है। नागा प्रदेश की कोनयक जातियों में भी इस प्रथा का प्रचलन है यद्यपि इनके रूप भिन्न-भिन्न हैं। कहीं-कहीं लड़के-लड़कियों के लिए पृथक-पृथक तथा कहीं पर संमिलित केंद्रों की व्यवस्था होती है। जहाँ लड़के-लड़कियों के पृथक केंद्र होते हैं वहाँ इस तथ्य का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है कि ये केंद्र पर्याप्त दूरी पर स्थित हों तथा लड़के-लड़कियों पर एक दूसरे के घोटुल में जाने पर नियंत्रण रखा जाता है। भोट प्रदेश में लड़के-लड़कियों के लिए संमिलित घोटुल हैं तथा वहाँ पर उनमें पर्याप्त निकट संबंध स्थापित हो पाता है, जिस पर इनके माता-पिता को कोई आपत्ति नहीं होती।

चूंकि भोटिया लोगों का मुख्य व्यवसाय व्यापार है अतः ये लोग अक्सर अकेले अथवा अपने परिवार के साथ भ्रमण करते हैं। प्रायः पुरुष अपने व्यापार में संलग्न रहते हैं तथा स्त्रियाँ गृह-कार्य सम्हालती हैं। घुटुल संस्थाओं की व्यवस्था भी प्रायः स्त्रियाँ, कुँवारी लड़कियाँ या नव-विवाहिताएँ करती हैं। घुटुल संस्थाएँ गाँव के एक छोर पर पायी जाती हैं अतः इनका उद्देश्य-गाँव की रक्षा करने से भी हो सकता है। प्रत्येक गाँव में एक 'रंगबंग' संस्था अवश्य पायी जाती है; बड़े ग्रामों में एक से अधिक भी मिल सकती हैं। दूसरे ग्रामों के लोगों को घुटुल में आने की अनुमति युवतियों की सहमति पर ही मिल सकती है। भारतवर्ष की अन्य जातियों में घुटुल में विवाहित लोगों का प्रवेश निषिद्ध होता है किंतु भोट प्रदेश के घुटुल में विवाहित दंपति भी जाते हैं। रंगबंग-कुड़ी के अंदर मध्य भाग में आग जलायी जाती है तथा उसके चारों तरफ़ लड़के-लड़कियाँ विभिन्न रंगबंग कार्यक्रमों में भाग लेते हुए पर्याप्त रात्रि तक बैठे रहते हैं।

युवतियाँ १५ वर्ष की आयु के पश्चात घुटुल में जाना प्रारंभ करती हैं। जब एक ग्राम की युवतियाँ दूसरे ग्राम के युवकों को आमंत्रित करना चाहती हैं, तब पहाड़ी पर जा कर एक लंबे वस्त्र को दो छोरों से पकड़ कर इस प्रकार हिलाती हैं कि पर्याप्त दूरी तक दृष्टिगोचर हो जायँ; पर्वतीय प्रदेश होने के कारण ऐसा होना संभव भी होता है। मित्रों तथा प्रियजनों की विदाई के अवसर पर भी इस प्रकार कपड़ा हिलाया जाता है जो पर्याप्त सुहावना लगता है तथा आधुनिक सभ्यता में रूमाल हिला कर विदा लेने के फ़ैशन से साम्यता रखता है। निकट ग्राम के लड़के संकेत पा कर सूर्यास्त से पहले एकत्र होना आरंभ कर देते हैं। घुटुल में लड़के-लड़कियाँ कभी कभी संमिलित रूप से तथा कभी-कभी पृथक रूप से सामूहिक लोकगीत व लोकनृत्य आयोजित करते हैं। प्रमुख सामूहिक नृत्यों में उडयाला, चमकुली, घुंशका और घुरुंग चुरूण विशिष्ट एवं प्रसिद्ध हैं। इनके गीतों में पर्वतीय प्रदेश, शांत तथा भयानक देवी-देवताओं की कथा आदि के वर्णन मिलते हैं। यह साहित्य कहीं लिखित रूप में प्राप्त नहीं होता, अपितु मौखिक रूप से ही

सुरक्षित एवं संरक्षित चला आता है। व्यापार के लिए मैदानों में आ कर वहाँ के गीतों को सीख कर ये अपने यहाँ उनका प्रचार करते हैं। इनका प्रमुख वाद्य-यंत्र हुड़का है। इसके अतिरिक्त मुरली, विनयी आदि का भी पर्याप्त प्रयोग किया जाता है। इन स्थानों में युवक-युवतियों में पारस्परिक संपर्क तथा अंततः विवाह-संबंधों की स्थापना होती है।

भोट प्रदेश में नारी को सामाजिक संबंधों में उतनी ही स्वतंत्रता प्राप्त है, जितनी पश्चिमी नारी को। इसका मूल कारण पुरुषों की अनुपस्थिति में संपूर्ण गृह-व्यवस्था को सम्हालना है। घर की आर्थिक व्यवस्था में सुधार के लिए कंबलों तथा पंखियों का निर्माण कर यहाँ की स्त्रियाँ अर्थोपार्जन में सक्रिय सहायता प्रदान करती हैं। इस आर्थिक समानता के कारण ही इन स्त्रियों को समान सामाजिक स्तर प्राप्त हो सका है। परिणामस्वरूप लड़के-लड़कियाँ स्वेच्छा से विवाह करते हैं; माता-पिता इस विषय में उन्हें बाध्य नहीं करते। कभी-कभी उचित जीवन-साथी के न मिलने पर ये लोग पर्याप्त आयु तक अविवाहित भी रह जाते हैं। आधुनिक सभ्यता के आगमन से 'रंगबंग' संस्था का उपयोग कम होता जा रहा है और वैवाहिक विषयों पर माता-पिता का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है तथा लड़की के विवाह के अवसर पर दहेज-प्रथा भी आरंभ हो गयी है। 'रंगबंग' के माध्यम से होने वाले विवाहों में सर्वप्रथम युवक-युवती अपने जीवन-साथी का निर्वाचन करते हैं तथा विवाह का निश्चय कर लेते हैं। विवाह-उत्सव का प्रारंभ युवक युवती के पास कुछ धनराशि भेज कर करता है। यह धन युवक अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार कितना भी भेज सकता है। अधिकांशतया यह धन प्रत्यक्षतः न दे कर युवती की सखियों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में पहुँचाया जाता है। इस अवसर पर माता-पिता की इच्छा जानने का प्रयत्न भी किया जाता है, जो प्रायः उनकी पुत्री के समर्थन में ही होती है। उस धनराशि की स्वीकृति ही विवाह निश्चित हो जाने का संकेत मानी जाती है।

तत्पश्चात विवाह-तिथि के निश्चय का प्रश्न उठता है तथा सोमवार को शुभ कामों के लिए अमंगलकारी दिन माना जाता है। यदि लड़की के माता-पिता विवाह के इच्छुक होते हैं तो लड़का रात्रि में अपने कुछ मित्रों को ले कर 'रंगबंग' में जाता है, जहाँ लड़की अपनी सखियों के साथ होती है और अपनी भावी वधू को बलपूर्वक अपनी बाँहों में उठा कर ले आता है। ऐसा 'राक्षस विवाह' अथवा बलपूर्वक विवाह की परंपरा को निभाने के लिए किया जाता है; यद्यपि युवती पर्याप्त इच्छुक होती है। तत्पश्चात युवक अपने साथियों सहित अपने ग्राम में पहुँचता है, जहाँ गाँव वाले उनका मदिरा से स्वागत करते हैं।

गाँव में पहुँचने के बाद उसका और वधू का गठबंधन किया जाता है तथा उस उत्सव की प्रसन्नता में ये लोग विशिष्ट भोजन ग्रहण करते हैं और मद्यपान भी करते हैं।

इसके बाद विवाहोत्सव का दूसरा चरण आरंभ होता है, जब कि कोने के छोटे-छोटे टुकड़े किये जाते हैं तथा उनका वर और वधू में परस्पर आदान-प्रदान कराया जाता है। यह उत्सव देवताओं, वृद्धजनों व वधू की सखियों के संमुख किया जाता है, जो इस उत्सव को प्रमाणित करने वाली होती हैं। विवाहोत्सव के अंतिम चरण में वर-वधू का गठबंधन पूर्ण रूप से किया जाता है तथा इसे 'पाथम दिन' कहा जाता है। वधू की सखियों का सत्कार अब वर पक्ष वाले उन्हें अपना

निकट संबंधी मान कर करते हैं तथा विदा के अवसर पर विवाहोत्सव के संकेत रूप में छड़न का निर्माण करते हैं जो लंबवासी को ज़मीन में गाड़ कर उस पर रस्सी की सहायता से किताबें, टोपी, शीशा व क़ैंची जैसी विभिन्न वस्तुओं को बाँध कर किया जाता है। यह वर पक्ष वालों के लिए वधू पक्ष वालों की ओर से आमंत्रण का संकेत होता है, जो पर्याप्त संमानपूर्ण माना जाता है।

तत्पश्चात वधू के पिता के पास समझौता करने के लिए तथा विवाह को स्वीकार कर लेने का संदेश ले कर दूत भेजे जाते हैं। पिता प्रायः स्वीकृति प्रदान कर देता है। तब वर वधू की माता के सामने दूध और संपत्ति का उपहार तथा पिता के सामने भी कभी-कभी कुछ संपत्ति का उपहार प्रस्तुत करता है।

कभी-कभी लड़की तथ्यतः बलपूर्वक उठा कर ले जायी जाती है। ऐसी अवस्था में जब तक लड़की उस युवक के साथ भोजन तथा मद्य ग्रहण नहीं कर लेती है, वह उस युवक की विवाहिता नहीं मानी जाती।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भोट प्रदेश के निवासियों में घुटुल प्रथा सामाजिक समानता तथा भ्रातृत्व की भावना पर आधारित है। युवक-युवतियों के पारस्परिक संबंधों को आर्थिक विषमता दूषित नहीं कर पाती।

भोट प्रदेश की स्त्रियों को पुरुषों के समान सामाजिक महत्ता प्रदान की गयी है। इसका मूल कारण भोटिया स्त्रियों का परिश्रमी तथा पति के साथ अर्थोपार्जन में सक्रिय होना है। जीवन-साथी चुनने में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाती है तथा उनकी सहमति के अभाव में उनका विवाह नहीं किया जा सकता है, जैसा कि अन्य भारतीय युवतियों के साथ होता है।

घुटुल संस्थाएँ इस एकांत पर्वतीय स्थल में मनोरंजन का एकमात्र साधन हैं। आवागमन तथा संचार के साधनों के अभाव में यह स्थान आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से अछूता रह गया है तथा इन संस्थाओं में आ कर युवक-युवतियाँ अपने परिश्रमपूर्ण दिन को भूल कर अपना मनोरंजन कर पाते हैं।

यह संस्था युवक-युवतियों के विवाह-संबंध को स्थापित करने में सक्रिय सहयोग प्रदान करती है। ग्रामों के पारस्परिक संबंध इस संस्था के द्वारा सुदृढ़ बनाये जाते हैं। 'रंगबंग' युवक-युवतियों का मिलन-स्थल तो है ही, साथ ही उनकी विशिष्ट संस्कृति को वंशानुगत रूप से बनाये रखने वाली संरक्षण-संस्था भी है, जिसके माध्यम से उनके सामूहिक लोकगीत व लोक-नृत्य अपना वास्तविक रूप बनाये रखते हैं।

अन्य प्रदेशों के साथ स्थापित संबंधों ने भोट प्रदेश के लोगों के विचारों में परिवर्तन उपस्थित कर दिया है, जिसने घुटुल संस्थाओं के लिए कठिनाई उत्पन्न कर दी है। आर्थिक वैमनस्य असमानता का कारण बन गया है, जिसने घुटुल की आधारशिला समानता पर घातक प्रहार किया है।

लड़के तथा लड़कियों के शीघ्र विवाह ने ही घुटुल संस्थाओं की उपयोगिता कम कर दी है। वधू के बढ़ते हुए मूल्य ने जीवन-साथी के चुनाव में बाधा उत्पन्न कर दी है तथा इस कारण

वैवाहिक विषय पर माता-पिता का अनावश्यक हस्तक्षेप वढ़ने लगा है। निश्चय ही घुटुल अथवा 'रंगबंग' की बढ़ती हुई अनुपयोगिता भोट प्रदेश के लोगों को सांस्कृतिक जीवन में एक विशिष्ट प्रथा के अभाव की सृष्टि कर रही है।

—डी० १०६, बापू नगर, जयपुर।

माध्यम
के लेखकों से विनम्र निवेदन
है कि

- जहाँ तक संभव हो किसी भी रचना में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग न करें।
- हम रचनाओं की अस्वीकृति की सूचना नहीं देते।
- स्वीकृत रचनाओं की सूचना साधारणतया रचना-प्राप्ति के एक पखवारे के भीतर दे देते हैं।
- स्वीकृति-सूचना के बाद प्रकाशन के संबंध में रचनाकार कृपया पत्र-व्यवहार प्रायः न करें, क्योंकि उनकी उदारता के कारण रचनाओं का बाहुल्य रहता है और न चाहते हुए भी उनके प्रकाशन में विलंब अनिवार्य है।
- रचनाओं की वापसी के लिए टिकट-लगा लिफ़ाफ़ा अवश्य भेजें।

जगदीश गुप्त

विवेचना

'रस-सिद्धांत' अथवा 'सिद्ध रस' का अंत

(उत्तरार्द्ध)

साधारणीकरण और कवि की अनुभूति

यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में काव्य की आत्मा की खोज एक मौलिक समस्या के रूप में निरंतर वर्तमान रही है तथापि काव्याचार्यों ने अपनी दृष्टि वस्तु से कभी विमुख नहीं होने दी। वह एक साथ आत्म-केंद्रित और वस्तु-केंद्रित दोनों ही कही जा सकती है। उसका स्वरूप केंद्रीय वृत्त (सर्किल) की तरह न हो कर द्विकेंद्रीय वृत (एलिप्स) जैसा रहा है। काव्य की आत्मा को इसीलिए कवि में न खोज कर शब्दार्थमूलक काव्य में खोजने की चेष्टा की गयी। इससे कवि-पक्ष की उपेक्षा भी हुई जो रस-निष्पत्ति की प्राचीन व्याख्याओं में विशेषतः मिलती है। डॉ० नगेंद्र को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि उन्होंने एक ओर अभिनवगुप्त से प्रेरणा पा कर तथा दूसरी ओर आधुनिक कवि-केंद्रित पाश्चात्य काव्य-दृष्टि से शक्ति ग्रहण कर के बलपूर्वक यह स्थापना की कि साधारणीकरण वस्तुतः आलंबन-आश्रय, नट-नटी आदि का न हो कर मात्र कवि की अनुभूति का होता है। इस आधार पर उन्होंने पूर्ववर्ती मतों का सतर्क खंडन किया परंतु स्वयं उसके प्रवाह में एक-दूसरे अतिरेक से ग्रस्त हो गये। वस्तु का आत्यंतिक निषेध, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, किसी प्रकार संगत नहीं कहा जा सकता। डॉ० गुलाब राय भी जिनका गुरुत्व नगेंद्र जी का पथ-प्रदर्शक रहा है, इस विषय में उनका समर्थन नहीं कर सके और उन्होंने अपने सिद्धांत और अध्ययन में लिख दिया कि **डॉ० नगेंद्र ने कवि को एकांत महत्व प्रदान कर के विषय के अस्तित्व को मिटा सा दिया है। आलंबन का विषयगत अस्तित्व बिल्कुल उठाया नहीं जा सकता।** डॉ० मनोहर काले ने इस संबंध में विविध मत देते हुए विशेष विचार

किया है।[१] 'क्रियेशन एंड डिस्कवरी' नामक पुस्तक में उसके लेखक एलीसियो वाइवस ने इधर इलियट आदि नये कवि-चिंतकों के मतों का सारगर्भित परीक्षण किया है। मुझे आश्चर्य है कि डॉ० नगेंद्र ने टी० एस० इलियट के प्रसिद्ध काव्य-सिद्धांत वस्तुगत उपस्थान (आब्जेक्टिव कोरे-लेटिव) से साधारणीकरण प्रक्रिया का साम्य क्यों लक्षित नहीं किया। बिंबविषयक लेख में (नयी कविता—७) मैंने और 'काव्यात्मक बिंब' के लेखक अखौरी ब्रजनंदन प्रसाद ने (पृ० २०८, २०९) इस ओर संकेत किया है। इससे भी अनुभूति और वस्तु का संश्लेष प्रमाणित होता है। अखौरी ने डॉ० नगेंद्र के मत को आगे चल कर भ्रम-कुहेलिका में फँसा बताया है। मेरे विचार से रस के प्रसंग में 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' के स्थान पर 'काव्यानुभूति का साधा-रणीकरण' कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि कवि की अनुभूति क्या है, इसका बोध काव्य से इतर हो नहीं सकता, साथ ही काव्यरूप ग्रहण करने पर कवि की निजी अनुभूति वस्तु-निरपेक्ष रह नहीं जाती, किसी न किसी रूप में वह विषयात्मक हो ही जाती है, चाहे कवि आत्मानुभूति को ही विषय क्यों न बनाये। गुलाब राय जी ने कवि के समानांतर सहृदय के 'त्र्यात्मक व्यक्तित्व' की कल्पना कर के साधारणीकरण की जितनी बुद्धिसंगत व्याख्या की है उतनी 'कवि की अनुभूति' को ही सब कुछ मान कर चलने के कारण नगेंद्र जी नहीं कर सके। स्वयं कवि अपने काव्य का 'रस' कवि हो कर नहीं, सहृदय हो कर ही पा सकता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से भी कवि की अनुभूति को रस-रूप में साधारणीकृत नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन्होंने साधारणीकरण को वैयक्तिक नहीं, सामूहिक क्रिया माना है। इस तथ्य को अभिनव के मत का परिचय देते हुए डॉ० नगेंद्र ने स्वयं प्रस्तुत किया है।[२] काव्य तो केवल मानव-व्यापार से भी संभव हो सकता है, पर साधार-णीकरण में रासायनिक विधि से संयोजित विभावन-व्यापार की अनिवार्य आवश्यकता होती है। दृश्य-काव्य में विभाव पक्ष पात्रादि के रूप में अतिरिक्त और स्वतंत्र महत्व रखता है, इसलिए काव्य की अपेक्षा साधारणीकरण की सार्थकता नाटक के क्षेत्र में अधिक संगत दिखायी देती है। काव्य की प्राथमिक आवश्यकता 'प्रेषणीयता' है जो साधारणीकरण से भिन्न वस्तु है। बिना साधारणीकरण घटित हुए भी भावों का यथेष्ट संप्रेषण संभव है, विशेषतः श्रव्य काव्य में, अतः 'भाषा के भावमय प्रयोग' को ही विभावन-व्यापार की संपन्नता के बिना साधारणीकरण का आधार नहीं माना जा सकता। साधारणीकरण को भाषा या काव्यभाषा के धर्म के रूप में व्याख्यायित करना सर्वांश में सत्य नहीं है। भाषा के भावमय प्रयोग द्वारा व्यक्त 'मानव-सुलभ सहानुभूति' का अधिकांश सह-अनुभूति की कोटि में आता है। आगे 'शक्ति और सीमा' में (पृ० ३६०-६१) जो कुछ कहा गया है, उससे भी यही परिणाम निकलता है।[३]

सुंदर और सरस : पर्याय ?

डॉ० नगेंद्र ने सौंदर्य और रमणीयता को ले कर अपनी रसवादी दृष्टि से जो विचार व्यक्त किये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वे सुंदर और सरस को पर्याय समझते हैं।

---

१. आधुनिक हिंदी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १९५।
२. रस-सिद्धांत, पृ० १९६। ३. काव्यात्मक बिंब, पृ० २१३।

(१) अर्थ की रमणीयता का आधार निश्चय ही भाव होता है। (पृ० ३२५)

(२) अर्थ की रमणीयता भाव-रंजित ही होती है। (पृ० ३२५)

(३) अतः शब्दार्थ और उसके विन्यास की चारुता का आधार वस्तुतः भाव ही है। (पृ० ३२५)

(४) सुंदर और सरस में भेद नहीं किया जा सकता। (पृ० ३५५)

ग्रंथ के आरंभ में सौंदर्य-चेतना को एक मिश्र वृत्ति बताते हुए उसके दो योजक तत्व माने हैं—१. प्रीति अथवा आनंद, २. विस्मय। उनके अनुसार प्रीति का प्राधान्य रसवाद में और विस्मय का अलंकारवाद में हुआ। 'विश्रांति' भी उसका योजक तत्व हो सकती है, इस ओर उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया, जब कि भरत ने रस-निष्पत्ति की परिणति इसी विश्रांति में मानी है। 'विश्रांति' और 'आनंद' में इतना भेद है कि शैवकला दृष्टि ने एक स्तर पर विश्रांति उत्पन्न करने वाली कला को कला ही नहीं माना; केवल उसी को परा कला बताया, जो आत्मा को परमानंद में लीन कर दे। डॉ० नगेंद्र ने दोनों धारणाओं को एक में मिला दिया है। (पृ० ८३)

प्रसिद्ध मराठी कवि एवं साहित्य-चिंतक मर्ढेकर ने सौंदर्य का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसके आगे नगेंद्र जी की उपर्युक्त धारणा बहुत सपाट दिखायी देती है, क्योंकि इसमें सौंदर्य-बोध के लिए आवश्यक अंतरंग-व्यवस्था या ढाँचे (स्ट्रक्चर) के बोध की बात ही नहीं उठायी गयी है, साथ ही 'सुंदर' को परिभाषित करने की कठिनाई के प्रति कोई सजगता व्यक्त नहीं की गयी है और न उसकी जटिलता का ही आभास दिया गया है। डॉ० सुरेंद्र बारलिंगे ने 'सौंदर्य-तत्व और काव्य-सिद्धांत' नामक कृति में मराठी चिंतकों के सौंदर्यविषयक विवेचन को प्रस्तुत किया है, जिसमें व्यवस्थापरक तत्वों पर पूरा विचार किया गया है तथा रूप-आकार और गठन के प्रति भी सजगता व्यक्त की गयी है। डॉ० नगेंद्र का कलाओं से घनिष्ठ संपर्क नहीं रहा, इसी-लिए वे साहित्य की सीमा में ही सौंदर्य पर विचार कर सके। सौंदर्य के स्वरूप-निर्धारण में (पृ० १७५) अभिनव से बहुत प्रभावित होने के कारण नगेंद्र जी ने साहित्य के 'कृति' रूप की उपेक्षा की है। अभिनव ने शैवाद्वैती होने के कारण सृष्टि को 'कृति' न मान कर 'अभिव्यक्ति' माना है, पर कला और साहित्य 'अभिव्यक्ति' की अपेक्षा रचनाकार के कृतित्व का बोध अधिक कराते हैं, अतः उनकी व्याख्या कृति रूप में करना उचित है। एक 'अल्पना' केवल भावरहित आकार और रूप-रचना हो कर भी सुंदर लगती है, इसी से सिद्ध हो जाता है कि भाव सौंदर्य-बोध के लिए अनिवार्य नहीं है। रस में सत्वोद्रेक द्वारा साधारणीकरण हो जाने के कारण भाव-विभाव-अनु-भाव से विनिर्मित ढाँचे की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वह भावावेग में घुल जाता है पर ध्वनि और अलंकार आदि में ढाँचा उभर कर सामने आता है और सर्जन-शक्ति की प्रतीति भी कराता है, इसलिए इनकी स्थिति सौंदर्य-दृष्टि से कुछ भिन्न कही जा सकती है। हर्बर्ट रीड ने कला ही नहीं, कविता में भी रूप (फ़ार्म) को उसकी सौंदर्य-प्रतीति का आधार बताया है।

कालिदास ने सौंदर्य या चारुता का फल 'सौभाग्य' कहा है, जो द्विवेदी जी के अनुसार एक के प्रति अनेक के बहुविध आकर्षण का द्योतक है। रस का परिचय आकर्षण से भिन्न उस

तन्मयता से मिलता है जो खींचने के स्थान पर द्रवित होने और बह जाने का बोध कराती है। 'सरस' से 'सुंदर' को इसलिए भी अलग करना होगा कि इन शब्दों का प्रयोग सर्वथा एक अर्थ में न आज होता है और न पहले होता रहा है।

भरत ने जिन नृत्यों और चित्रों को 'रसभावविवर्जित' कहा है, क्या उनके सौंदर्य में संदेह किया जा सकता है? द्विवेदी जी ने उनको परमार्थतः सुंदर कह कर 'मांगलिकता' का द्योतक बताया है। वे सुंदर में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय देखते हैं, केवल भाव ही नहीं, जैसा नगेंद्र जी ने किया है।

एलीसियो वाइवस की पूर्वोल्लिखित कृति से यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है कि कविता में सारी वस्तु-योजना केवल भाव को व्यक्त करने के लिए नहीं होती—बट आई सी नो रीज़न टु एज्यूम दैट आल इन अ पोयेम इज़ पुट देयर मेयरली टु अराउज़ ऐन इमोशन। (पृ० १८८)

रस-दृष्टि से आधुनिक साहित्य की व्याख्या

शैव-दर्शन ने औपनिषदिक आनंदवाद को आगम-शास्त्र की शक्ति दे कर जिस उदात्त एवं समन्वित रूप में प्रतिष्ठित किया, उसकी प्रेरकता इस बीसवीं शती के यथार्थवादी और वस्तु-वादी युग में भी समाप्त नहीं हुई। यद्यपि शैव मत को दर्शन की कोटि प्रदान कर के भारतीय षड्दर्शनों में कोई स्थान नहीं दिया गया तथापि 'सर्वदर्शन-संग्रह' के अंतर्गत प्रस्तुत पंद्रह दर्शनों में न केवल उसे वरन अभिनवगुप्त द्वारा प्रवर्तित प्रत्यभिज्ञा दर्शन को भी मान्यता दी गयी है। काव्य के क्षेत्र में इस दर्शन से 'प्रसाद' ने प्रेरणा ग्रहण कर के जैसे 'कामायनी' में आनंदवाद को प्रतिष्ठित किया उसी प्रकार 'रस-सिद्धांत' में नगेंद्र जी ने भी रस की आनंदवादी दृष्टि को, अभिनवगुप्त से वैचारिक शक्ति प्राप्त करते हुए पूरी तरह स्थापित करने का उपक्रम किया है। किंतु 'रस-सिद्धांत' का पारायण कर जाने के बाद भी मैं इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका हूँ कि 'कामायनी' की सही और सच्ची व्याख्या रस को ही आधार मान कर की जा सकती है। मुझे यह भी नहीं लगता कि 'प्रसाद' जी ने रस-निष्पत्ति के लिए 'कामायनी' रची अथवा उसके द्वारा रागतत्व को आस्वाद्य बनाना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। 'प्रसाद' जी का 'रस' शीर्षक छोटा सा निबंध इस बात का साक्षी है कि वे रस के तात्विक स्वरूप को डॉ० नगेंद्र की तुलना में कम गहराई से नहीं समझे थे। 'प्रसाद' के अनुसार **रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व है।**[१] वैचारिक स्तर पर 'कामायनी' का निर्माण जिस रूप में हुआ है और उसमें जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह राग-तत्व के ऊपर उठा हुआ दिखायी देता है। उससे अलग तो वह कदापि नहीं किया जा सकता। 'प्रसाद' की 'कामायनी' ही क्या, उनके नाटकों तक की सही और संतोषजनक व्याख्या रस-सिद्धांत के आधार पर नहीं की जा सकती। डॉ० नगेंद्र ने उससे भी आगे बढ़ कर शेक्सपियर के नाटकों को भी

---

१. काव्य-कला तथा अन्य निबंध, पृ० ७६।

रस के आधार पर व्याख्यायित करने का जो साहस दिखाया है[1] उसे रस-सिद्धांत को सार्वभौम सिद्ध करने की स्वाभाविक परिणति कहा जा सकता है।

डॉ० नगेंद्र ने शुक्ल जी के रसवादी दृष्टिकोण की सीमा को छायावाद के मूल्यांकन में स्वयं पहचाना और छायावाद का पक्ष ग्रहण किया परंतु बाद में उन्होंने शुक्ल जी के आगे पराजय स्वीकार कर ली और छायावाद को ही नहीं, 'अज्ञेय' और 'नयी कविता' तक की रस के आधार पर व्याख्या करने लगे। इसकी क्या उपयुक्तता है, यह प्रस्तुत ग्रंथ में की गयी 'सोनमछली' की व्याख्या से जाना जा सकता है। 'सुमित्रानंदन पंत' नामक पुस्तक में जब रस-रसांग के आधार पर पंत जी के काव्य की व्याख्या करने में उन्हें कठिनाई का अनुभव हुआ, तो उन्होंने पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत उद्धृत किया, जिसमें स्पष्ट कहा गया है—**आजकल सम्यक उद्‌बुद्ध रसों की व्यंजना न हो कर भावों की ही अभिव्यक्ति होती है।** किंतु आगे चल कर डॉ० नगेंद्र ने साहित्य को गौण और साहित्य-सिद्धांत को प्रधान मान लिया। उन्होंने भुला दिया कि सिद्धांत साहित्य और कला की बुद्धिसंगत तात्विक व्याख्या के लिए होता है, बाधक बनने की सीमा तक उसका नियमन करने के लिए नहीं। साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में उन्होंने किसी नये सिद्धांत की उद्‌भावना का मौलिक कार्य संपन्न करने के स्थान पर एक पिष्ट-पेषित सिद्धांत को पुनः व्याख्यायित तथा पुनः प्रतिष्ठित करने का कार्य सम्हाल लिया। इसके लिए भी अभिनवगुप्त ही उत्तरदायी हैं, क्योंकि उन्होंने पूर्व-प्रतिष्ठापित मत की योजना में मूल की प्रतिष्ठा का फल देखा है—**पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनंति।** इस प्रकार व्याख्या-कार्य को मौलिक उद्‌भावना के समकक्ष रख दिया गया है। कुछ भी हो, मेरे विचार से मौलिक उद्‌भावना का मूल्य, विशेषकर आज के युग में व्याख्या से ऊपर माना जायगा। व्याख्या उससे ऊपर तो कदापि नहीं जा सकती।

जिन लोगों ने रस-सिद्धांत के गौरव को पूरी आस्था के साथ स्वीकार किया है, उनके दो वर्ग किये जा सकते हैं। पहला वर्ग उनका है, जिन्होंने रस-सिद्धांत को हिंदू जाति और भारतीय साहित्य-शास्त्र के संदर्भ में महत्वपूर्ण माना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और पंडित बल्देव उपाध्याय इसी वर्ग में आते हैं।[2] उन्होंने रस को भारतवर्ष की जातीय विशेषता के रूप में ग्रहण किया है। मेरी दृष्टि में भी यह मान्यता बहुत दूर तक साधार प्रतीत होती है। दूसरे वर्ग में वे आते हैं, जो रस को समस्त काव्य की, चाहे वह प्राचीन हो या नवीन, व्याख्या के लिए उपयुक्त मानते हैं। डॉ० रामअवध द्विवेदी, डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित तथा अन्य अनेक व्यक्तियों के नाम इस प्रसंग में लिये जा सकते हैं[3] यह कहना कठिन है कि समय की सीमा से रस को ऊपर मानने

---

१. रस-सिद्धांत, पृ० २८४।

२. (i) हिंदू कवि का उद्देश्य रस को व्यक्त करना है, वक्तव्य को अभिव्यक्त करना नहीं।
—ह० प्र० द्विवेदी—कालिदास की लालित्य-योजना, पृ० ४९।

(ii) भारतीय साहित्य-शास्त्र का सर्वस्वभूत सिद्धांत है : एको रसः।
—भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ६४०।

३. (i) रस-सिद्धांत अपने व्यापक रूप में समस्त काव्य को सन्निविष्ट कर लेता है। अतः

के साथ इन्होंने उसे देश की सीमा से भी परे माना है, पर जहाँ तक डॉ० नगेंद्र का प्रश्न है उनके मत में पूर्वोक्त सभी मतों का समावेश हो जाता है, साथ ही वह सार्वकालिक होने के साथ सार्वदेशिक भी मान लिया जाता है—

वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र का पर्यालोचन करते हुए किसी भी प्रबुद्ध आलोचक को अनायास ही स्पष्ट हो जाता है कि उसका मेरुदंड रस-सिद्धांत ही है और उसमें इतनी क्षमता है कि प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश के साहित्य का मार्मिक मूल्यांकन कर सके।[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि नगेंद्र जी ने रस-सिद्धांत को हिंदू कवि की ही विशेषता नहीं माना है और न केवल भारतीय साहित्य तक ही सीमित माना है। जैसी विशाल उनकी रस के प्रति आस्था है, वैसा ही विशाल रूप उन्होंने रस-सिद्धांत को दे दिया है। वे इसको रस-सिद्धांत का ही नहीं, वरन संपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र का दुर्भाग्य मानते हैं कि लोग उसे बिना पढ़े, बिना समझे ही रूढ़ मान लेते हैं।[2] जहाँ तक मुझे दिखायी देता है, रस-सिद्धांत को यथोचित रीति से समझने-सोचने वालों ने भी उसकी अपर्याप्तताओं और सीमाओं की ओर निर्देश किया है; अतएव मैं कहूँगा कि 'दुर्भाग्य' एकतरफ़ा ही नहीं, दुतरफ़ा है। नगेंद्र जी ने विरोधियों को नासमझ और अपढ़ मान कर अपना काम जितना आसान समझ लिया है, उतना वह है नहीं। कुछ समझदार और पढ़े-लिखे लोगों ने भी अपनी वास्तविक कठिनाइयाँ सामने रखी हैं।

पूर्वोक्त मतों के विपरीत या उनसे कुछ भिन्न मान्यता प्रदर्शित करते हुए रसविषयक अनुसंधान करने वाले अनेक विद्वानों ने यह स्पष्ट रूप से बताया है कि सारे काव्य में केवल रसानुभूति ही नहीं होती। डॉ० राकेश गुप्त ने काव्य से छह प्रकार की प्रतिक्रियाएँ (संवेदनात्मक, प्रतिवेदनात्मक, स्मृत्यात्मक, औत्सुक्यात्मक, चिंतनात्मक और आलोचनात्मक—मुंशी अभिनंदन-ग्रंथ, पृ० ३२५) संभव बताते हुए कहा है कि काव्य के लिए रुचिकर होना ही पर्याप्त है, रसमय होना आवश्यक नहीं। अपने रस संबंधी अंग्रेज़ी शोधग्रंथ में भी उन्होंने यही कहा है कि—

आइ हैव आलवेज़ टाक्ड ओनली ऑफ़ पोयेटिकल इंटरेस्ट एंड नेवर ऑफ़ पोयेटिक प्लेज़र।

(साइकोलॉजिकल स्टडीज़ इन रस, पृष्ठ ३५)

राकेश जी डॉ० रसाल की परंपरा में आते हैं, जो रस से अलंकार को डंके की चोट पर अधिक महत्वपूर्ण मानते रहे हैं। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि विश्वनाथ के सुप्रसिद्ध लक्षण

उसकी परिधि को संकुचित मानना ठीक नहीं।—डा० रा० अ० द्विवेदी—साहित्य-सिद्धांत, पृ० ४३।

(ii) जिस सिद्धांत ने भाव से ले कर भावाभास, रसाभास, रस भावशवलता, भावोदय, भाव-संधि आदि को स्वीकृति दी, उस पर यह दोषारोपण करना कि वह आज की कविता के मूल्यांकन के लिए खोटी कसौटी है, निश्चय ही उचित नहीं है। —रस-सिद्धांत : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ४२९।

१. रस-सिद्धांत, पृ० ७४।

२. वही, पृ० ३५५।

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् को पंडितराज जगन्नाथ ने उपयुक्त न समझ कर 'रमणीयता' का आधार ले कर एक नया लक्षण प्रस्तुत किया, जो रस की अपेक्षा अधिक व्यापक और उपयुक्त दिखायी देता है, क्योंकि उसमें रस की भी स्वीकृति निहित है। ग्रंथ का नाम 'रसगंगाधर' ही स्वतः प्रमाण है, परंतु प्रश्न यह है कि उन्होंने रस को स्वीकार करते हुए भी विश्वनाथ के काव्यलक्षण को अनुपयुक्त क्यों माना और उसकी इतनी तीखी आलोचना क्यों की, जब कि व्यवहारतः विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में आनंदवर्धन आदि की तरह रस को ध्वनि का एक भेद मान कर उसे उसके अंतर्गत ही स्वीकार किया है। इस विषय में डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त का शोध-प्रबंध 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' बहुत ही महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। डॉ० नगेंद्र ने अपने ग्रंथ में उसका उपयोग भी नामोल्लेख के साथ किया है। डॉ० प्रेमस्वरूप की धारणा इसीलिए द्रष्टव्य है—

(i) सर्वत्र काव्य में अनुभूति रसात्मक ही नहीं होती। अनौचित्य की अनुभूति को आभासात्मक कहा गया है। औचित्य की कमी में साधारणीकरण की अपूर्णता स्वाभाविक है। अतः रसाभास और भावाभास काव्यों में तथा अपूर्ण साधारणीकरण के स्थल वाले काव्यों में विगलित वेद्यांतरत्व तथा तन्मयीभाव की दशा न होने के कारण ऐसे स्थलों की अनुभूति का विवेचन रसानुभूति के विवेचन से कुछ पृथक होना चाहिए। उसके साम्य तथा वैषम्य का निरूपण पृथक से करना चाहिए। (पृ० ३२६)

(ii) रस का आस्वादन तो मुख्यतया व्यक्त रति आदि भावों में होगा, अमुख्य या आभास रूप भावों में नहीं। (पृ० ३३३)

डॉ० नगेंद्र ने रसाभास की समस्या को बहुत गहराई के साथ पृथक रीति से सामने रखा है, परंतु मौलिक कठिनाई उससे दूर नहीं हुई। **प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है।** लिख कर उन्होंने औचित्यवादी दृष्टि को पूर्ण मान्यता देते हुए रसाभास के विषय में निष्कर्ष प्रस्तुत किया—**रस की अनुचित प्रवृत्ति का नाम ही रसाभास है।** (पृ० २०७)

प्रश्न यह उठता है कि औचित्य वस्तु में है अथवा उसके प्रवर्तन में। यदि वस्तु में अनौचित्य है तो क्या उसका निर्धारण भी रस-दृष्टि से हुआ है अथवा किसी अन्य दृष्टि से। यदि अनौचित्य के निर्धारण में आधारगत भेद है अर्थात वस्तु का अनौचित्य दूसरे कारणों से माना गया है और प्रवर्तन के कारण उनसे भिन्न हैं तो फिर सवाल यह रह जाता है कि प्रवर्तन की संगति यथार्थ वस्तु से होनी चाहिए या आदर्श रस से। आधुनिक मत यथार्थ की यथार्थ से संगति खोजता है। किसी आदर्श रूप की कल्पना कर के यथार्थ को असंगत ठहराने को स्वयं असंगति मानता है। यहीं आधुनिक सौंदर्य-बोध मध्यकालीन प्रतिमानों से अलग हो जाता है। नगेंद्र जी ने आदर्श को ही माना है। यथार्थ उनके हाथ से छूट गया है। मैं ऐसे अनेक आलोचकों के नाम ले सकता हूँ, जिन्होंने रस के प्रतिमान को आधुनिक साहित्य के लिए अपर्याप्त माना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रस-दृष्टि कोई दृष्टि ही नहीं है; वरन यह कि वह एक विशेष दृष्टि मात्र है। डॉ० रामशंकर तिवारी लिखते हैं—

आधुनिक काव्य-दृष्टि रसाश्रयी नहीं रह गयी है, अतः रसवाद को काव्य-निकष के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।...काव्य के मूल्य-मापन के लिए रसवाद को आत्यंतिक

कसौटी के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। (आलोचना, अंक २९, पृ० ३०-३५) **रस-विवेचना और नाटक का आस्वाद** नामक लेख में वीरेंद्रनारायण ने लिखा है—**काव्य-शास्त्री साधारणीकरण जैसे शब्द की आड़ ले कर चाहे जो कहें आज की कलात्मक कृति हमें एक साथ कई स्तरों पर छूती है और किसी एक स्तर की प्रतिक्रिया या उपलब्धि को पूरी प्रतिक्रिया या उपलब्धि का बोधक नहीं माना जा सकता।** (कल्पना, अंक १६६ पृ० २४)

मैं जानता हूँ कि जिनके ये मत हैं वे बहुत प्रसिद्ध और मान्य रस-शास्त्री नहीं हैं परंतु इनको प्रस्तुत कर के मैं केवल इतना ही निर्दिष्ट कर देना चाहता हूँ कि रस को एकमात्र या सर्वोपरि प्रतिमान मानने में जो कठिनाई है, उसका अनुभव व्यापक रीति से किया जा रहा है, विशेषतः आधुनिक साहित्य के संदर्भ में। डॉ० रघुवंश जिन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र, पाश्चात्य मनोविज्ञान और आधुनिक साहित्य तीनों का पर्याप्त गंभीरता से अध्ययन किया है, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—**आज के युग में पुरातन साधारणीकरण की स्थिति बदल गयी है। व्यक्ति और समाज की प्रतिक्रियाओं को व्यापक आधार देना ही साधारणीकरण है। कविता केवल रस की सिद्धि नहीं ढूँढ़ती। वरन मन को संवेदन मात्र का प्रभाव दे कर भी सिद्ध होती है। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी ध्वनि का सिद्धांत सर्वमान्य रहा है।** (हिंदी काव्य की प्रवृत्तियाँ, भूमिका)

डॉ० मनोहर काले को भी जिनका शोधग्रंथ **आधुनिक हिंदी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन** डॉ० नगेंद्र की ही प्रेरणा से लिखा गया और उनके ग्रंथ का प्रमुख उपजीव्य बना, रस के विषय में ऐसी ही कठिनाई का अनुभव हुआ। उन्होंने तुलनात्मक शोध कर के यह निष्कर्ष निकाला है:

हिंदी-मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने रस-सिद्धांत की विभिन्न दृष्टियों से प्रत्यालोचनाएँ की हैं और इसे आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन का एकांत मानदंड स्वीकार करना अनुपयुक्त ठहराया है। (पृ० २८२)

जब डॉ० नगेंद्र अपने द्वारा प्रेरित शोधक को ही यह नहीं मनवा सके कि साहित्य का एकमात्र सार्वकालिक सार्वभौमिक सिद्धांत रस-सिद्धांत ही है तो सारी दुनिया को मनवाने की बात करना भारी साहस और अटूट आत्मविश्वास का कार्य लगता है।

डॉ० नगेंद्र के समीक्षक व्यक्तित्व के दो विकास-सोपान स्पष्ट दिखायी देते हैं; पहले में वे साहित्य को प्रधानता दे कर उसकी कसौटी पर सिद्धांत को जाँचने-परखने का यत्न करते रहे और जड़ीभूत सिद्धांत से उन्होंने विद्रोह करने का भी साहस किया। उस समय शुक्ल जी का मत उन्हें अग्राह्य लगता था। यथा:

मेरा साहित्यिक संस्कार छायावादी युग में हुआ था, शुक्ल जी सुधार-युग की विभूति थे। उनकी रस-दृष्टि सर्वथा नैतिक और आदर्शवादी थी। मुझे नैतिकता के उस रूप के प्रति कभी श्रद्धा नहीं रही, साथ ही शुक्ल जी उस समय छायावाद और छायावादी कवियों पर कस-कस कर प्रहार कर रहे थे। मेरे मन को बड़ा क्लेश और विक्षोभ होता था पर उनके निष्कर्षों को मानने के लिए मैं बिल्कुल तैयार न था। परंतु उनके प्रौढ़ तर्क और अनिवार्य शैली मेरे ऊपर बुरी तरह हावी हो जाते थे। (२१ मार्च के 'दिनमान' से)

पर जब वे विकास के दूसरे सोपान में पहुँचे तो उन्हें लगने लगा कि शुक्ल जी बहुत ठीक ही कहते हैं कि उनकी बातें रस सिद्धांत पर आधारित हैं :

शुक्ल जी के प्रभाव के कारण ही मैं भारतीय काव्य-शास्त्र और रस सिद्धांत की ओर मुड़ा। मेरे सामने नयी दिशाएँ और नये द्वार खुल गये। (डॉ० कमलेश द्वारा 'मैं इनसे मिला' में आकलित)

बाद में अपनी विद्रोह-वृत्ति को तिलांजलि दे कर साहित्य के आधार पर शास्त्र को विकसित करने, परखने और माँजने का मौलिक कार्य एवं उचित मार्ग छोड़ कर उन्होंने 'सिद्धांतं शरणं गच्छामि' ही नहीं 'रस-सिद्धांतं शरणं गच्छामि' के द्वितीय सोपान पर चरणन्यास किया और तब से अब तक साहित्य को एक पूर्वनिर्धारित सिद्धांत विशेष के अनुरूप चलाने का द्राविड़ी प्राणायाम साध रहे हैं। शुक्ल जी ने भी इतनी कट्टरता से रस-सिद्धांत को नहीं अपनाया क्योंकि उन्होंने प्रकृति-काव्य में ही नहीं प्रकृति के प्रत्यक्ष संपर्क में भी साक्षात प्रकृति रस की कल्पना की है। और उसे मुक्त भाव से स्वीकार किया। पर डॉ० नगेंद्र इतना बड़ा ग्रंथ लिखते हुए भी यही कहते हैं कि **स्वतंत्र प्रकृति रस की उद्भावना न आवश्यक है और न संगत** (पृ० २७२) क्योंकि **शास्त्र में साक्षात अनुभव को. . .रस नहीं माना गया।** स्पष्ट है कि शुक्ल जी जीवन से सिद्धांत को देख रहे हैं और नगेंद्र जी सिद्धांत से जीवन को, इसीलिए वे शास्त्र की दुहाई देते हैं। बहस यह नहीं है कि निष्कर्ष किसका ठीक है, वरन यहाँ प्रश्न दृष्टिकोण का है जिसके आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। सही स्थिति मेरे विचार से यही है कि पहले साहित्य फिर सिद्धांत। भारतीय काव्यशास्त्र के गंभीर तत्व-चिंतकों को यह स्थिति सदा मान्य रही है। उन्होंने काव्य को प्रमाण मान कर अपने सिद्धांत में बराबर संशोधन-परिवर्धन किया है और आवश्यकता पड़ने पर सर्वथा नयी उद्भावनाएँ करने में किंचित भी संकोच नहीं किया है। कवियों की निरंकुशता से वे भली भाँति परिचित थे। मेरी दृष्टि में नये साहित्य के मूल्यांकन के लिए नये रसों का नामकरण रूढ़िवादी मनोवृत्ति का परिचायक है, पर उनकी सत्ता का प्रत्याख्यान तो निश्चय ही संकीर्णता का द्योतक है जैसा डॉ० नगेंद्र ने देश-भक्ति आदि के प्रसंग में किया है। एक ओर **सर्वेऽपि रसनाद्रसाः** का आधार दूसरी ओर अमुक रस 'भाव' माना जा सकता है, 'रस' नहीं, एक भारी विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न करता है। जब यथार्थवादी साहित्य को रस के भीतर समेटने का और कोई उपाय नहीं सूझता तो 'जीवन-रस' की शरण में जाना पड़ता है—**'आखिर यथार्थवादी कला में भी तो अपना आकर्षण रहता है, वह भी तो सहृदय के चित्त का अनुरंजन करती है। इस आकर्षण का रहस्य क्या है? अभिप्र जीवन-रस ही न!** (पृ० ३३५) और जीवन रस की यह कल्पना भी नगेंद्र जी को हजारीप्रसाद जी से मिली है—(कालिदास की लालित्य-योजना, पृ० ७) यह भी उनकी अपनी नहीं है।

डॉ० नगेंद्र का निष्कर्ष है कि **साहित्य-सर्जन और साहित्यालोचन दोनों का आधार है साहित्य और साहित्य का आधार है राग-तत्व।** उनकी यह धारणा रस-सिद्धांत के केंद्र में स्थित है और इसी से उन्हें सारी शक्ति मिली है। 'प्रसाद' की स्थिति इससे भिन्न है और वे मानते हैं कि **दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही साहित्य का ध्येय रहा है और है भी। वर्तमान**

साहित्यिक प्रेरणा जिसमें व्यक्ति-वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य हैं मूल रूप में संशोधनात्मक ही हैं। कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न कर के समाज का संशोधन है, कहीं समाज की दृष्टि से व्यक्ति का।' (काव्य-कला तथा अन्य निबंध, पृ० ८५)। 'प्रसाद जी' रस में लोक-मंगल की कल्पना को प्रच्छन्न रूप में अंतर्निहित मानते हैं किंतु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। नगेंद्र जी भी **भावों की संवेदन-शक्ति का आधार** मानव-सुलभ सहानुभूति (री० का० की भू०, पृ० ५२) मानते हैं। किंतु यथार्थवादी साहित्य की व्याख्या करने में वे इस तत्व का निर्देश न कर के जीवन-रस की रहस्यमय बात करने लगते हैं, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। वास्तव में देखना उस तत्व को चाहिए जो रसानुभूति के भी मूल में हैं और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ मुझे डॉ० देवराज द्वारा की गयी आलोचना का स्मरण आता है :

डॉ० नगेंद्र की आलोचनात्मक दृष्टि में हमें जो चीज़ खटकती है, वह है उनकी एकांत आत्म-निष्ठता। साहित्य का, रागात्मक अंश के अतिरिक्त एक बोधांश भी होता है, उसका बदलते हुए परिवेश से, युग से, शास्त्रीय पदावली में विभाग-तत्व से भी आवश्यक संबंध होता है, जो देश-काल में उसके स्वरूप को निर्धारित करता है—उसे देखने-समझने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया है। (दिनमान, २२ मार्च ६५ के अंक से, पृ० ४४–४५)

'प्रसाद' जी ने आधुनिक युग को सही ढंग से समझा और रस के तत्व को उससे भी अधिक। वे मुख्यतः कवि थे; उनका काम दोनों दृष्टियों के बीच की खाई को पाटना नहीं था, पर डॉ० नगेंद्र से यह आशा की जा सकती थी कि वे केवल 'राग-तत्व' की महत्ता का उद्घोष न कर के 'बोधांश' और उस युग-बोध को भी उचित महत्व देंगे, जिसे प्रसाद जी ने मूल रूप से संशोधनात्मक कहा है। ब्रह्म को आनंद का ही नहीं ज्ञान और सत्य का भी अधिष्ठान कहा गया है। यदि ब्रह्मवादी दृष्टि से ही देखा जाय तो भी साहित्य में केवल रस को महत्व देना एकांगी बात है। सत्य की प्रतीति जिस रूप में होती है, ज्ञान जिस दिशा में ले जाता है, उसको अलग कर के केवल रागबोध को मूल्यांकन का आधार नहीं माना जा सकता। साहित्य के मूल्य जीवन के इतर मूल्यों से सर्वथा पृथक नहीं किये जा सकते। जिस काल में राग की निंदा और विराग की महत्ता का दृष्टिकोण सर्वोपरि था, उस समय के साहित्य को केवल रसदृष्टि से परखना संभव नहीं है, यहाँ तक कि भक्तों के व्यक्तिपरक आत्मनिवेदनों और संतों के नीतिपरक अनुभवसिद्ध साहित्य को भी रस की कसौटी पर कसने से ग़लत परिणाम निकलते हैं, आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन की तो बात ही क्या है। रस जिस मोक्ष के आदर्श पर प्रतिष्ठित है उसको वैष्णव भक्तों ने अपने व्यक्तित्व और भक्तिपरक स्वतंत्र दृष्टि के बल से मध्यकाल में ही अपदस्थ कर दिया था। मोक्ष की निंदा कर के भक्ति का समादर करने में उन्हें भय नहीं लगता था और न यही बोध होता था कि वे भारतीय मत का विरोध कर रहे हैं। 'भेद-भक्ति' की कल्पना में पृथक व्यक्तित्व के महत्व की स्पष्ट स्वीकृति है और मोक्ष का उतना ही स्पष्ट प्रत्याख्यान भी। आज भक्ति भी आदर्श नहीं रही है अतः रसों को मानस में मछलियों जैसा स्थान भी नहीं दिया जा सकता। साहित्यिक मूल्यांकन का अर्थ केवल भाव को समझना नहीं है, वरन कवि के मूल दृष्टिकोण और युगीन पृष्ठभूमि के सद्भाव सौंदर्य-भाव को समझना है जिसमें संश्लिष्टता रहती है।

अनुभूति का मंत्रबल

ये शब्द उन्हीं के हैं और पृ० ३५६ पर देखे जा सकते हैं। डॉ० नगेंद्र को अनुभूति का ऐसा मंत्रबल प्राप्त हो गया है कि वे साहित्य में व्यक्त हर प्रकार की अनुभूति को या यों कहें अनुभूति मात्र को रससिद्ध कर देते हैं। कहीं-कहीं कलात्मक अनुभूति कह कर उसे शब्दशः मर्यादित करने का थोड़ा सा उपक्रम किया गया है, पर मतलब वहाँ भी शुद्ध अनुभूति से ही दिखायी देता है। यदि कहा जाय कि इस मंत्रबल को पाने में उन्हें तीस वर्ष की कठिन साधना करनी पड़ी तो सिद्ध होगा कि उन्हें लगातार रस-दशा में रहना पड़ा। यदि इस उपलब्धि को बुद्ध की तरह किसी आत्म-साक्षात्कार या अंतर्बोध से उत्पन्न माना जाय तो कहना होगा कि उसके बाद उन्होंने साक्षात्कार करना बंद कर दिया है। कला और साहित्य में अनुभूति जितने भी रूपों में व्यक्त होती है, उस सबको रस कहना प्रकारांतर से यह कहना है कि रसानुभूति की कोई निजी विशेषता नहीं है, परंतु पूर्ववर्ती शास्त्रकारों ने स्पष्टतः सत्वोद्रेक और भावन-व्यापार के साथ विभावन-व्यापार के सामंजस्य को रस के लिए अनिवार्य माना है। यदि कोई अनुभूति कलात्मक होते हुए भी चित्त में सत्व का उद्रेक कर के तल्लीन नहीं करती या उसमें विभाव का योग नहीं है तो माना जायगा कि वह रसानुभूति नहीं है। यह कहना कि वह निम्न कोटि की रसानुभूति है, ठीक नहीं, क्योंकि रस एक परिणति है। या तो वह घटित होती है या नहीं होती। रस दशा तक जिसमें नहीं पहुँचा गया है, अथवा जो सहृदय को तन्मय कर देने की शक्ति अपने में नहीं रखती, उस सह-अनुभूति को रस कहना स्पष्टतः अतिव्याप्ति है। मैं चूँकि दोनों प्रकार की कविता से संबद्ध रहा हूँ, अतः अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि रसानुभूति और सहानुभूति को केवल इसलिए एक सिद्ध नहीं किया जा सकता कि दोनों ही साहित्यिक अनुभूतियाँ हैं। यदि इतना भी विवेक नहीं किया जा सकता तो सिद्धांत किस काम का? रस-सिद्धांत की स्वीकृति का अर्थ होता है अनुभूति की विशेषता एवं अंतर को उपेक्षित करना तथा उसे हीन एवं द्वितीय-तृतीय कोटि की स्वीकार करना, जब कि आज के वैज्ञानिक युग में अंतर उपेक्षणीय न हो कर अन्वेषणीय माने जाते हैं; साथ ही अब नये मानव-मूल्यों का विकास भी हो रहा है, अन्वेषक को जिनसे नयी दिशा में जाने और नये सिद्धांतों का आविष्कार करने की प्रेरणा मिलती है। **तन्मयत्वं रसेण** कह कर कालिदास ने स्पष्टतः रसानुभूति की सबसे बड़ी विशेषता की ओर इंगित कर दिया। मेरे विचार से यह तन्मयता, सत्वोद्रेक और विभावन एवं भावन दोनों व्यापारों को मिला कर रसानुभूति की विशिष्टता निर्धारित हो जाती है। उससे भिन्न अनुभूति को आज रस कहना उचित नहीं है। अन्यथा इसे सैद्धांतिक साम्राज्यवाद की संज्ञा देनी होगी या उस ब्राह्मणवाद की जिसने अपनी वर्ण-व्यवस्था में सबको स्वीकृत किया परंतु उत्तरोत्तर हीन समझ कर। रस-सिद्धांत साहित्यिक वर्ण-व्यवस्था से कम नहीं है, उसमें रस को जो गौरव प्राप्त है रसाभास को वह कदापि नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रतिमान रस है।

रस-चक्र, रस का घेरा और रस की परिधि ही नहीं रस-पाश और रस का बंधन भी

कुरुक्षेत्र में इस आधुनिक साहित्य की समस्या पर आयोजित गोष्ठी में डॉ०

नगेंद्र ने मुझ पर यह आरोप लगाया था कि मैंने 'रस-पाश' और 'रस-चक्र' को संदर्भ से अलग कर के लेखक के प्रति अन्याय किया है। यहाँ देखा जा सकता है कि क्या सचमुच ही उनका संदर्भ कोई ऐसा है जिसमें रस-पाश और चक्र न हो कर कुछ और सिद्ध होता है—अथवा उसका कोई ऐसा अर्थ लिया जा सकता है जो परिसीमन के विरुद्ध हो।

१. प्रस्तुत सिद्धांत को यथावत स्वीकार कर लेने पर रस का क्षेत्र सीमित हो जाता है—मानवात्मा की वह दिव्य कांति **रस के घेरे में** नहीं आती। (पृ० २०८) २. पर **रस-चक्र** में उसके लिए भी स्थान है। (पृ० ३४८) ३. इस प्रकार **रस के बंधन** से मुक्त होने के लिए नयी कविता के प्रायः समस्त प्रयास विफल हो जाते हैं। (पृ० ३४९) ४. रसाभास का **रस की परिधि** में अंतर्भाव इस बात का सूचक है कि नैतिक मूल्यों के द्वारा पुष्ट होने पर भी रस-सिद्धांत उनसे परिबद्ध नहीं है। (पृ० ३२०) ५. ऐसी उक्ति भी. . .अनुभूति के मंत्रबल से **रस-चक्र** में अनायास ही प्रविष्ट हो जाती है। (पृ० ३५६) ६. रस के पाश से वह यह कह कर भी नहीं निकल सकती कि हमारी अनुभूति शुद्ध मानव-अनुभूति है, आनंदानुभूति नहीं है, क्योंकि प्रत्येक सच्ची अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति या **प्रत्येक कलात्मक अनुभूति** तीव्र से तीव्र छंद की कलात्मक अनुभूति भी—समंजित अर्थात अद्वंद्वमयी ही हो सकती है। (पृ० ३४७)

जब चक्र, परिधि और घेरे जैसे ज्यामितिक रूप-बोध के लिए पाश और बंधन शब्द प्रयुक्त किये जायँ तो इससे क्या यह सिद्ध होता है कि लेखक तर्कजाल में किसी को बाँधने का प्रयास न कर के केवल रस-परिकर का बोध करा रहा है? डॉ० सावित्री सिनहा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में तथा अन्यत्र भी इसे **रस की जकड़बंदी** कह कर सारी स्थिति स्पष्ट कर दी है। 'जकड़बंदी' शब्द से किसी ऐसे प्रत्यय का बोध नहीं होता जिसमें सीमा का द्योतन ही न हो अथवा जिससे आंतरिक व्यवस्था के असह्य होने का बोध न होता हो।

रस की यदि कोई परिधि है और वह दिखायी भी देती है तो यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से किया जा सकता है कि उसका केंद्र कहाँ है और उसका व्यास कितना है। आप उसकी परिधि को देखते भी रहें और व्यास को अनंत भी घोषित करते रहें, यह कार्य एक साथ संभव नहीं है। यदि आप रस की कोई सीमा वास्तव में मानते हैं, तो हर विरोधी मत को अपदस्थ करते समय उसके व्यापकत्व का ही तर्क क्यों रखा गया है? सिद्धांत की शक्ति विरोध-पक्ष को 'दुराग्रह' और 'अल्पबोध' कहने से सिद्ध नहीं होती। दूसरों में भी वस्तु-बोध और सत्य के आग्रह की संभावना मान कर होती है। अंतिम अध्याय 'शक्ति और सीमा' में डॉ० नगेंद्र ने रस के हर विरोध को दुराग्रह या अल्पबोध कहा है। (पृ० ३५७)

अंत के कुछ पृष्ठ छोड़ कर सारे ग्रंथ में लेखक ने सभी मतों की शक्ति और सीमा स्वयं निर्धारित की है परंतु **रस-सिद्धांत के विरुद्ध आक्षेप और उनका समाधान** शीर्षक से जो कुछ कहा गया है, उससे यही लगता है कि शक्ति-शक्ति लेखक दिखा रहा है और सीमा-सीमा अन्य लोग।

विरोधी मतों में निहित सार वस्तु को लक्षित न करने की बात छोड़ दी जाय, तो इस 'रस-सिद्धांत' ग्रंथ की महत्ता इस बात में मानी ही जानी चाहिए कि एक बहुज्ञ,

अधीत, कुशल एवं अनुभवी आलोचक ने जहाँ तक उसके द्वारा संभव था, रसविषयक समस्त परंपरागत शास्त्रीय ज्ञान और विवेचन को पर्याप्त व्यवस्थित ढंग से विषयोपयुक्त सुसंगठित और समर्थ भाषा में विभिन्न विचारकों की प्रायः सभी महत्वपूर्ण स्थापनाओं की शक्ति और सीमा प्रदर्शित करते हुए अपनी धारणा को अधिक से अधिक वस्तुपरक बना कर व्यक्त करने का गंभीर प्रयास किया है; साथ ही उसमें तत्संबंधी नवीन अनुसंधान और चिंतन को अखिल भारतीय स्तर पर प्रस्तुत करते हुए अंग्रेज़ी के माध्यम से उपलब्ध पाश्चात्य साहित्य-चिंतन को भी समाविष्ट करने की सम्यक चेष्टा की है। इस कठिन कार्य को अनवरत श्रम के साथ संपन्न करने में उसकी निजी दृष्टि तिरोहित नहीं हुई है।

किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि रसविषयक विविध प्रकार के वैमत्य का इसके द्वारा पूरा निराकरण कर दिया गया है या कि रस संबंधी सारा ज्ञान इसमें समाविष्ट हो गया है और अब साहित्य-चिंतकों के लिए, चाहे वे भारत के हों या बाहर के, उसे स्वीकार भर करना शेष रह गया है।

—मोतीमहल, दारागंज, इलाहाबाद।

'विवेचना' में 'रस-सिद्धांत'

'विवेचना' की १९वीं गोष्ठी डॉ० आत्माराम शाह के निवास-स्थान ४, टैगोर नगर, इलाहाबाद में दिनांक ७ नवंबर को सायंकाल ५।। बजे हुई।

प्रवर्तक डॉ० जगदीश गुप्त के लेख-पाठ के बाद अध्यक्ष बालकृष्ण राव ने सामान्य विचार-विनिमय के पहले प्रश्न पूछने और शंकाओं का समाधान माँगने के लिए सभा को अवसर देना उचित समझा।

अध्यक्ष ने प्रवर्तक से 'विज्ञानवाद' का अंश एक बार पुनः पढ़ने के लिए कहते हुए तद्विषयक जिज्ञासा व्यक्त की। प्रवर्तक ने बताया कि बौद्ध विचारकों का प्रभाव भी रस-सिद्धांत पर पड़ा। **विज्ञानवादावलंबनार्थ** कह कर शंकुक या रसवादियों ने बौद्ध दर्शन को छोड़ा नहीं। संक्षेप में ज्ञान से ही सभी कुछ नियोजित है, ऐसा विज्ञानवादियों का अभिमत है।

पुनः अध्यक्ष ने 'सौभाग्य' और 'चारुता' की नयी व्याख्या के विषय में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से **सौभाग्यफला हि चारुता** के अंतर्गत 'सौभाग्य' के सीधे अर्थ पर बल दिया। प्रवर्तक ने डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का हवाला देते हुए बताया कि संस्कृत में 'श्रवण-सुभग' एक शब्द है जिसका अर्थ है 'सुनने का आकर्षण'। इसी प्रकार 'चारुता का फल सौभाग्य है' में 'सौभाग्य' का अर्थ हुआ 'आकर्षण'।

शंका-समाधान के बाद विजयदेवनारायण साही ने कहा: कभी परिश्रम से मैंने मूल पुस्तक पढ़ी थी और लगभग उतने ही परिश्रम से आज समीक्षा भी सुनी। रस-सिद्धांत पर बहस इधर रह-रह कर उठती रही है। अधिकांशतः आज के लेखकों और आलोचकों की धारणा या आदत पड़ती जा रही है कि रस-सिद्धांत पर बहस बंद हो जानी चाहिए और लगभग प्रच्छन्न रूप से सब सहमत होते जा रहे हैं कि अब फ़ायदा नहीं निकलेगा। 'रस' कहने से जो सहसा साहित्यिक रुचि की प्रतीति होती है, उससे मैं निश्चय ही अपने मत को भिन्न पाता हूँ। लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए इस शास्त्र से उलझना आवश्यक है। प्रच्छन्नतः यह मान्यता विद्यमान है कि आज का लेखक या विचारक आधुनिक साहित्य पर ही विचार करेगा, प्राचीन पर नहीं। यदि प्राचीन के लिए रस-सिद्धांत ज़रूरी है तो फलतः दो रुचियाँ सामने आती हैं। यानी जब कालिदास को पढ़ें तो रस-सिद्धांत लागू करें और लक्ष्मीकांत वर्मा को पढ़ें, तो आज की रुचि लागू करें। यह अवसरवादिता साहित्यिक रुचि से बहिष्कृत करना बहुत ज़रूरी है।

जब मैं कालिदास या तुलसी या रीतिकाल को पढ़ता हूँ, तो मेरे मन में जो जागता है,

क्या वह रस है? निश्चय ही वह रस नहीं है। तो क्या मेरी सहृदयता में कमी है? जो मैंने पढ़ा है, उससे मेरी सहृदयता विस्तृत भी हुई है या नहीं? कालिदास को रस कहाँ तक व्याख्यायित करता है। शायद नहीं करता। मैं इसीलिए रस को नहीं मान पाता। गेटे की विभोरावस्था क्या रस की प्रतीति है? गेटे वस्तुत: 'शकुंतला' के अलौकिक चरित्र पर मुग्ध है। रसार्द्रता, हो सकता है, उसमें नहीं हुई। बल्कि विभाव में पर्यवसान हो गया। यह दृष्टि आस्वादन में यदि बाधक नहीं है तो जिस प्रकार समस्त भावों, अनुभावों को रस में लिया जा सकता है, उसी प्रकार ठीक उसके विपरीत क्यों नहीं हो सकता?

जितना विशद ऊहापोह कालिदास कौन थे, कहाँ के थे, आदि पर इधर हुआ, क्या यह सिर्फ़ भटकन है? यह दृष्टि-परिवर्तन क्यों हुआ? संस्कृत के विद्वान (स्वयं अभिनवगुप्त भी) रस-प्रेमी ही होते तो रस-सिद्धांत से इतर दृष्टियाँ कैसे आतीं? इसका उत्तर डॉ० नगेंद्र की पुस्तक में नहीं मिलता।

साहित्य मूलत: निरंतर विकसित करने का एक प्रयास है। इसके प्रति हम सजग हैं कि हम मृत तो नहीं होते जा रहे हैं, हम जीवित रह सकते हैं या बने रह सकते हैं या नहीं। अक्सर सुनायी पड़ता है, यह विधा मर चुकी; यह विधा नयी है। यह 'जीवन-रस' नहीं है क्योंकि वह आस्वादन मात्र है। यह दृष्टि दार्शनिक है। केवल भावना की दृष्टि से नहीं, अनुभूति की शक्यता की दृष्टि से। आलोचक या कवि इसी कर्म को 'मृत्यु की निरंतर प्रक्रिया' तथा 'जीवन की सतत प्रक्रिया' कहता है। क्षेमेंद्र ने 'औचित्य' पर बल दिया है। अनौचित्य की सीमा में आज वही प्रवेश नहीं कर सकते। जगदीश जी ने जो कुछ कहा है, यदि मैं समझ सकता हूँ, तो इससे भिन्न नहीं है। क्या जीवित हो रहा है, क्या मर रहा है, आज की शब्दावली में कहें, और जो उचित भी है, तो उसे 'सर्जनशीलता' कहेंगे।

प्राचीन साहित्य की ओर जब हम लौटते हैं तो उसमें दो पीठिकाएँ मिलती हैं। एक कसती चलती है; दूसरी मुक्त रखती है, क्योंकि वह उदार है।

अतीत को निरंतर सर्जनशील मान कर बराबर नये तत्व विकसित किये जा सकते हैं। सर्जनशीलता इससे बराबर जीवंत रहेगी। प्रक्रिया के रूप में इससे इतिहास लिखा जा सकता है। क्योंकि इस प्रकार वर्धनशीलता सिद्ध होती है। इससे हम निश्चय ही रस-सिद्धांत को ऐसी स्थिति में बड़ा सिद्धांत कह सकते हैं।

लेकिन मेरी मौलिक आपत्ति यही है कि एक सिद्धांत अधिक उदार है, मुक्त है और उसकी आंतरिक प्रवृत्ति को, धड़कन को, रस कहीं मूलत: खंडित कर देता है।

यह धारणा अपने में ठीक है कि अपने यहाँ भी बहुत कुछ है, केवल मैथ्यू आर्नल्ड या औरों में नहीं है। हमारे यहाँ जो है वही अच्छा है, यह कम दासवृत्ति नहीं है। रस-सिद्धांतवादियों ने केवल संप्रदाय दिया, इसलिए कि कहीं अतीत के प्रति अरुचि न पैदा हो। लेकिन डॉ० नगेंद्र जैसे लोग अतीत का मुख छोटा कर रहे हैं। ध्वनि-सिद्धांत ज़्यादा मुक्त है। यह कविता रसीली है, रसाग्रही है तो हम क्या करें? वह है।—स्वयं डॉ० नगेंद्र भी गौण प्रश्नों को छोड़ कर मूल

पर आने की ओर आकृष्ट हैं। तो उससे आगे जाइए; रस के आग्रह से आगे जाइए; कविता के ढाँचे की ओर जाइए; फिर और आगे जाइए, तो आपको काव्य के अंतर में, संगठन में मिलेगा वही इलियट का 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव'। इस प्रकार रस एक प्रकार की संप्रदायात्मक प्रवृत्ति है।

डॉ० नगेंद्र ने दार्शनिक आपत्तियों का उत्तर नहीं दिया है। विभावों का पर्यवसान भाव में और क्रमशः इसी प्रकार सब। यानी रस आनंद की निर्बाध प्रतीति है। यदि यह आनंद की प्रतीति है, तो एक पुराना प्रश्न लें, करुण रस में आनंद की प्रतीति कैसे? लौकिक न्याय से दुख से दुख की प्रतीति न हो कर आनंद की प्रतीति कैसे? होता यह है कि हम कला की प्रशंसा करने लगते हैं, जो शायद आनंद नहीं है और यदि समस्त रसों की प्रतीति आनंद है, तो नवरस क्यों? इस प्रकार तो नौ भाई हुए; नौ ब्रह्मानंदसहोदर हुए! यह आनंद की एक ही कोटि है या अलग-अलग? रसराज का प्रश्न पहले भी था। इसीलिए। शैव्या, हरिश्चंद्र और शकुंतला, कण्व और दुष्यंत के दृश्यों में कौन प्रधान है या क्या प्रभाव अलग-अलग नहीं हैं? यह प्रभाव एक ही प्रकार का है? हास्य-नाटक और त्रासदी दोनों के प्रभाव एक जैसे हैं या अलग? निश्चय ही ये एक प्रकार के आनंद नहीं हैं। अतः रस का ढाँचा टूट जाता है।

जब भावों का पर्यवसान हमने रस में देखा तो रस की आनंद-वृत्ति किसी महानंद रस में पर्यवसित होगी। तब रस की परिभाषा बदलती जायगी। तब वह होगी 'एस्थेटिक एक्सपीरियंस' या सर्जनशीलता, जीवंतता। ब्रह्म को मानने की ज़रूरत नहीं, लौकिक ही रखें, तब कवि की निरंकुशता प्रमाण होगी। तब रस-सिद्धांत छोटा पड़ेगा। केवल ढाँचे के कारण दृष्टि बदल जाती है। यह बात विभिन्न बलाबल के साथ अरस्तू और नये कवि में भी मिल जायगी।

पन्नालाल 'अज्ञान' ने 'विवेचना' के विचार-विनिमय की परंपरा का उल्लेख करते हुए बताया कि साही जी ने अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने न समीक्षा को देखते हुए विचार प्रस्तुत किये हैं, न कृति या कृतिकार को देखते हुए। साही जी ने उत्तर देते हुए कहा कि केवल कुछ ही पंक्तियाँ जोड़ने मात्र से उस परंपरा की रक्षा हो सकती थी, लेकिन इसका यह रूप पहले भी रहा है, और मुझे यह ज़रूरी भी लगा था। पाठक जी ने इसका समर्थन किया।

प्रभात शास्त्री ने कहा कि मैंने नगेंद्र जी की पुस्तक नहीं पढ़ी है क्योंकि मैं जानता था कि उन्होंने संस्कृत ग्रंथों को ही आधार बनाया होगा, जिन्हें मैंने विधिवत पढ़ा है। डॉ० जगदीश गुप्त तथा साही जी ने भ्रामक बातें कही हैं। कई संप्रदाय थे, जो रस से भिन्न भी देखते थे। यह कोई नयी बात नहीं, शब्द-चित्र, अर्थ-चित्र आदि की ओर भी काव्य के परकोटे देखे जा सकते हैं। आंध्र प्रदेश में चमत्कार-संप्रदाय था। उसका ग्रंथ अनुपलब्ध है। लेकिन रस-संप्रदाय की मलामत उसमें है। रस-संप्रदाय और ध्वनि-संप्रदाय भिन्न नहीं हैं। जहाँ पर रस है, वहाँ पर ध्वनि है, यह निर्विवाद है। इसी प्रकार जहाँ ध्वनि है, वहाँ रस है। रस का शिष्ट, सुसंस्कृत रूप ध्वनि है। जगदीश जी ने शंकुक के साथ बौद्ध दर्शन को जोड़ दिया जब कि इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि शंकुक का ग्रंथ नहीं मिलता, केवल रस-सूत्र की व्याख्याओं के

संदर्भ में उनके कुछ वाक्य मिल जाते हैं। जब तक उनका ग्रंथ नहीं मिलता तब तक केवल 'अभिनवभारती' के बल पर कैसे ऐसा कह सकते हैं? बौद्ध दर्शन को न्याय दर्शन से जोड़ना भी ठीक नहीं है। नवरस-विभाजन मनोवृत्तियों को व्यक्त करता है। इसीलिए एक रस नहीं माना गया। कह सकते हैं, कपड़ा एक ही बने, कई प्रकार का क्यों बने! यह कोई तर्क नहीं है। वासना नामक तत्व होने पर ही आनंद की अनुभूति होती है, बिना उसके नहीं।

उमाशंकर शुक्ल ने कहा : जगदीश जी ने बारीकियों में जाने की कोशिश की, छान-बीन की। अस्ल में जो भी कहें, यह जो सारी समस्या है, वह शायद आलोच्य विषय की कठिनाई के कारण है। जैसे मनुष्य को समझना बड़ा कठिन है, वैसे ही उसकी धारणाओं और उसके सिद्धांतों को भी समझना बड़ा दुष्कर है, क्योंकि यह सब पसारा उसी के कारण तो है। मुझे वही पुरानी हाथी वाली कहानी याद आती है : जिसने जैसा देखा, बताया। काव्य के संबंध में जिज्ञासा कैसे विकसित होती गयी, काव्य-शास्त्र का इतिहास इसी जिज्ञासा का परिणाम है। मैं प्रभात जी की बात को भिन्न ढंग से कहूँगा। रस की व्याप्ति या सीमा के बारे में कठिनाई हमारी तरह प्राचीनों को भी हुई थी। सापेक्षिक दृष्टि से आज और यहाँ सबमें मूलतः तर्क अच्छा है। साही जी का जो आग्रह है, प्राचीन काव्य-शास्त्र के इतिहास को देखें, तो वह बात मिलेगी। अतीत घरौंदे में बंद नहीं है। रस का जादू इसीलिए है कि उसने मानवीय मनोरागों को पकड़ा और समझने की कोशिश की। प्राचीनों ने नाम को महत्व नहीं दिया।

आज एक दूसरी कठिनाई है। प्राचीन सिद्धांतों की त्रुटियाँ तो आ गयी हैं, लेकिन आज की दृष्टि बिखरी हुई है व्यवस्थित नहीं है। जगदीश जी ने बोध-तत्व पर बल दिया, ध्वनि की चर्चा करते हुए वस्तु-व्यंग्य की चर्चा की। प्रतीयमान अर्थ के प्रति लाचारी, लावण्य की तरह है, कह के आचार्य ने बता दी। और फिर कहा : अन्यदेव। तो जितना मनुष्य विशाल है, उतनी ही दृष्टि विशाल है, क्योंकि दृष्टि आखिर उसकी ही है। दृष्टि विकसनशील होनी चाहिए। नगेंद्र की पुस्तक में इसीलिए सार्थकता है कि रस के विषय में सारा ज्ञातव्य आ गया है।

अब जगदीश जी ने शोध की समस्या ही उठा दी। वात्स्यायन के कामसूत्र की तिथि क्या है, समस्या है। ऐसा भरत के नाट्यशास्त्र और 'ध्वन्यालोक' के साथ भी है। सुशीलकुमार डे को तो तिथियाँ भी लिखनी पड़ीं। इसके लिए उन्होंने बड़ी समझदारी की कि उसे मूल विषय से अलग रखा। लेकिन दृढ़ता से जब कहा जाता है, तो यह समस्या तो उठती है। नगेंद्र की पुस्तक रस के दावे की दृष्टि से अवश्य पठनीय है।

डॉ० रघुवंश ने कहा : मैंने रस पर लिखा है और मैं इसी आधार पर जानता हूँ कि इन सिद्धांतों में व्याप्ति भी है। जैसा साही जी ने कहा, रस को हम 'एस्थेटिक एक्सपीरियंस' के रूप में ले सकते हैं। मैंने ऐसा लिखा भी है। सबसे पहले प्रश्न यह है कि साहित्य अपने युग की सापेक्षता में है। उसकी अपनी विशिष्टता है। लेकिन साहित्य के दो तत्व हैं : विशिष्टता और सार्वभौमित्व। चिंतन का विषय सार्वभौम रहा है। क्योंकि साहित्य में वह अतिरिक्त है। हर युग के साहित्य की विशिष्टता के कारण उसकी दृष्टि एक होती है।

एक न होने पर कई हो सकती है। युगविशेष की रचना के संदर्भ में हम पुनर्रचना करते हैं। शाकुंतल या किसी भी कृति का अनुभावन हमारा अपना होता है। यही प्रश्न मूल है।

वैशिष्ट्य का सहायक साहित्य का व्यापक तत्व होता है। तो क्या हम रस-सिद्धांत का पुनरन्वेषण करें ?—इसे हम यों समझ सकते हैं कि एक तो उस युग की विशिष्टता के प्रतिपादन की क्षमता, जो सिद्धांत होता है, उसमें भी सार्वभौम तत्व रहता है। और पांडित्य दिखाना है, जैसे पुराने आचार्यों ने दिखाया, वह आसान है अतः व्यर्थ है। मैं पहले अलंकार पर ही मुग्ध था, जब पढ़ता था, और सोचता था पांडित्य के पराक्रम से अलंकार के माध्यम से ही सब कुछ दिखा सकता हूँ। लेकिन अब लगता है, असली बात ही असली है, पांडित्य का कोई मतलब नहीं होता। अपनी विशिष्टता की सिद्धि के लिए वह रस अब सार्थक नहीं है। पुनरन्वेषण का अर्थ फिर क्या हुआ—पुराने मूल्य को नये मूल्य में रूपायित करना मात्र। यानी पांडित्य को चुनौती पांडित्य से ही दी जा सकती है।

वस्तुतः एक अंतर है। एक अंतर तो यह है कि काव्य की प्रक्रिया के अंदर से सिद्धांत को देखना। जैसे शुक्ल जी ने भक्ति और रीतिकाल को देखा। शुक्ल जी के रस-सिद्धांत को तार्किक कसौटी के बल पर भले काट दिया जाय, उसमें पर्याप्त मौलिकता और सर्जनशीलता है—काव्य-दृष्टि के अनुभव के कारण। इससे शास्त्र के शब्द का एक अर्थ करना पड़ेगा। इन शब्दों—रस, सर्जन आदि—के माध्यम से व्यापक रूप देखने पर सब संभव होगा। लेकिन विशिष्टता के कारण संदर्भों के कारण कठिनाई पड़ेगी। क्योंकि अंतर बहुमूल्य है। इसलिए आलोचक कर्म की दृष्टि से व्यापकता के बल पर समेट सकते हैं, कालिदास से ले कर आज तक को समेट सकते हैं।

वास्तव में रस का मूलाधार है भाव ही। लेकिन सौंदर्य-बोध, अनुभूति आदि को जोड़ें (सौंदर्य के भी कई स्कूल हैं) तो उन्हें समझना होगा; अर्थों के अंतरों को समझना होगा।

अब मौलिक अंतर आ गया है। हम संपूर्ण सर्जनशीलता को महत्व देते हैं। और पुनः सर्जन के द्वारा पाठक तक पहुँचाते हैं। विज्ञान ने सारा अनुभव बदल दिया है। इसलिए रस के भाव मात्र से काम नहीं चलेगा। अनुभव—भावपरक—फिर नहीं होगा। अनुभव-बोध=सर्जनशीलता, संपूर्ण सर्जनशीलता। तब भाव से अनुभव की ओर आना ही होगा, जिसे हम उपलब्ध करना, संपन्न होना कहते हैं, सौंदर्य-बोध भी नहीं कहते, बल्कि व्यक्तित्व की संपन्नता कहते हैं।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के विचार से 'रस-सिद्धांत' गठन और विवेचन की दृष्टि से अच्छा प्रस्तुतीकरण है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सामने रस को रख कर एक नयी क्षमता प्रमाणित की गयी है। टकराहट से यह शक्ति-संपन्न होती है। रस का इस प्रकार एक नये ढंग का आस्वादन होता है। पर इस सारी सामग्री का उपयोग किस दिशा में है ? वह ले कहाँ जाती है ? आग्रह—शास्त्र का आग्रह—जो किसी भी शास्त्र के लिए लागू है। हम पाते हैं कि शास्त्र और साहित्य दोनों भिन्न प्रकार के सर्जन हैं। कालिदास और शंकराचार्य एक जैसे व्यक्तित्व नहीं हैं। साहित्य सबसे अधिक क्षमतावान सर्जन है। इसीलिए वह विकसनशील है; उसमें अर्थ की छायाएँ विकसित की जा सकती हैं। विकसित होती हैं। मानस और हैमलेट इसके प्रमाण

हैं। शास्त्र भले ही सर्जनशील हो, उसकी सर्जनशीलता एक सीमा तक ही है; उसके बाद उसकी क्षमता समाप्त हो जाती है। कठिनाई यही है। रचना को शास्त्र से, कालिदास को शंकराचार्य से तौलें, यह कठिनाई हैं। रिचर्ड्स, इलियट आदि के साथ भी यही कठिनाई है। सर्जनात्मकता समकालीन संदर्भ में ही समझी जा सकती हैं। नगेंद्र रचना को पुराने शास्त्र से सिद्ध करते हैं। शास्त्र का पल्ला पकड़ कर सर्जनशीलता को नहीं समझा जा सकता। पुनर्व्याख्या से व्याख्या संभव नहीं है। एक सीमा के बाद ज्ञान मात्र इतिहास हो जाता है।

नगेंद्र के अनुसार आधुनिक विचारक द्वंद्व पर बल देते हैं। द्वंद्व वाली कविता—नयी कविता—रस से सिद्ध नहीं की जा सकती, शमन वाली कविता की जा सकती है। वे कहते हैं, द्वंद्व तो प्रक्रिया में है, परिणति सामंजस्य में हो जाती है। इसलिए नयी कविता भी रस के अंतर्गत है। यह ग़लत है कि प्रक्रिया से बड़ी है निष्पत्ति। वस्तुतः मेरी दृष्टि में प्रक्रिया ही बड़ी है। निष्पत्ति तो समापन है। यह किसी भी कविता के लिए सत्य है। यह सही है कि यहाँ त्रासदी को महत्व नहीं दिया गया। यूरोप में द्वंद्ववाद विकसित हुआ। तो भी जो सत्य है, वह सार्वत्रिक है।

जगदीश जी ने नगेंद्र को संस्कृत-ज्ञाता की दृष्टि से अविश्वसनीय कहा है। यह ख़तरनाक रास्ता है। हम मार्क्स, सार्त्र और न जाने किन-किन का बड़े घरेलू ढंग से उल्लेख करते हैं और केवल उन्हें अंग्रेज़ी के माध्यम से जानते हैं। क्यों नहीं फिर मूल में पढ़ें। मूल भाषाएँ पढ़ कर तब उन्हें जानें। इसीलिए मैं कहता हूँ, यह ख़तरनाक रास्ता है। आक्षेप करना कोई अच्छी परंपरा नहीं है।

वि० दे० ना० साही ने डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शास्त्र की पुनर्व्याख्या के संबंध में किये गये कथन का विरोध किया। उन्होंने कहा : शास्त्र की पुनर्व्याख्या एक सीमा के बाद इसलिए झूठी नहीं पड़ती क्योंकि वह 'एप्रोच' है। अरस्तू के शास्त्र पर माइमेसिस का 'एप्रोच' है। नगेंद्र का रस-सिद्धांत उनका 'एप्रोच' है, शास्त्र नहीं। तब यह कहना उचित है कि 'एप्रोच' ही ग़लत है।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'एप्रोच' को उचित शब्द न मान कर 'सिस्टम' (पद्धति) को सही माना। शास्त्र की नयी व्याख्या की प्रक्रिया डॉ० चतुर्वेदी की दृष्टि में ग़लत है।

अंत में बालकृष्ण राव ने जगदीश जी को इतने परिश्रम और लगन के साथ निबंध लिखने पर बधाई देते हुए कहा कि 'विवेचना' के मूल उद्देश्य के साथ सिद्धांत-चर्चा की संगति और सार्थकता इसी में है कि चर्चा सिद्धांत के व्यावहारिक पक्ष पर हो, और आज की गोष्ठी में उसी पक्ष पर बल दिया गया। काव्य के आस्वादन और मूल्यांकन की पुरानी आधारभूमि की उपयुक्तता को देश-काल-निरपेक्ष सिद्ध करने का डॉ० नगेंद्र का प्रयास हमें मान्य हो या न हो, हमारा ज्ञानवर्द्धन करता ही है, इस दिशा में गंभीरता से सोचने की प्रेरणा देता ही है। यदि इसका महत्व केवल इतना ही हो तो भी यथेष्ट है।

—विवेचक

समीक्षाएँ

समयातीत

कांता का कविता-संग्रह । नवहिंद प्रकाशन, हैदराबाद । सन १९६४ । मूल्य : ३.०० ।

'समयातीत' कांता जी की कविताओं का दूसरा संग्रह है। यों समीक्षा के दौरान इस तथ्य से विशेष संकुचित अनुभव न करते हुए भी शायद इतनी स्वीकारोक्ति समीक्षक की ओर से आवश्यक है कि उसने पहला संग्रह नहीं पढ़ा है। वैसे पत्रिकाओं के माध्यम से कवयित्री की अनेक रचनाएँ पिछले वर्षों के दौरान उसकी निगाह से गुज़री हैं, जिनमें से कई एक प्रस्तुत संग्रह में भी मौजूद हैं।

यह कहना कि ये कविताएँ एक नितांत निजी अंतर्जगत से संबद्ध हैं—व्यक्ति-मन के एकांत जीवन से ही प्रेरित और सीमित—कवयित्री की विशिष्ट संवेदना को भी परिभाषित करने के लिए अपर्याप्त है। किंतु शायद इसी कारण पाठक के किन्हीं आम या खास पूर्वग्रहों को भी पहले से ही अनुकूलित (शमित नहीं) कर लेने और उनका भी ज़रा अलग क़िस्म के काव्य के समुचित ग्रहण एवं आस्वादन की दिशा में भरसक उपयोग कर लेने की जो ज़रूरत महसूस होती है, उस नाते इस तथ्य को प्रारंभ में ही रेखांकित कर देने में कोई हर्ज़ नहीं। नयी कविता की हर मुद्रा चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे अति बौद्धिक, चाहे व्यक्तिलिप्त और मनोवैज्ञानिक, हमारे इस युग की नब्ज़ है। स्थापित मूल्यों के निरंतर विघटन एवं उद्घाटित तथ्यों के अराजक अंबार से आक्रांत आज का संशयात्मा साहित्य एक जटिल परिस्थिति ढो रहा है। आज एक ओर जहाँ कवि की संवेदना इस चतुर्दिक आक्रांति के दबाव में अत्यंत विशेषीकृत होने को बाध्य है, वहीं दूसरी ओर उसकी बुद्धि का—कहूँ कि ज्ञानात्मक चेतना का—अधिकाधिक निर्विशेषीकरण भी उतना ही स्वाभाविक और अनिवार्य हो उठा है। भावना के स्तर पर आज भी चाहे व्यक्ति की चेतना में मीरा या सूर की-सी तन्मयता के संस्कार मौजूद हों, किंतु बुद्धि और अनुभूतिनिरपेक्ष अनुभव की यह दुर्निवार आक्रांति—'सतहें, सतहें, सतहें'—('अज्ञेय' की शब्दावली में) उस तन्मयता की शक्ति को कुंठित और संत्रस्त कर के चेतना को विभक्त कर देती है। और व्यक्ति अपनी ही अनुभूति से बिछुड़ने लगता है। एक अजीब साँसत में संवेदना फँस जाती है जहाँ व्यक्ति निरंतर आत्म-चेतना के फैलते-सिमटते दायरों में घुटते रहने की बाध्यता के बावजूद (या फलस्वरूप) कभी भी संपूर्णतः आत्म-चेतन नहीं हो पाता। चेतना जैसे स्व-रति का पर्याय बन कर रह जाती है और अभिव्यक्ति

उन दायरों में घुटती, उनको तोड़ती और फिर-फिर उनसे घिर जाती चेष्टाओं का दर्पण।

नयी कविता की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने प्रमुख कवियों की कविता को पाँच वर्गों में बाँटा है—यथार्थवादी अहंवाद, व्यक्ति-अभिव्यक्ति, व्यंग्य, रस-रोमांच तथा विववाद। प्रस्तुत संग्रह की कविताओं को इनमें से किसी एक के अंतर्गत रखना हो तो कहा जा सकता है कि इनमें व्यक्ति-अभिव्यक्ति का ही प्राधान्य है। हालाँकि वर्मा जी ने जिन कवियों को इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधि बतलाया है, उनके साथ क्या भाषा, क्या संवेदना किसी भी स्तर पर शायद ही कवयित्री का कोई साम्य घटित हो सके। अंतर्जीवन की जिस दुर्बोध्य और विश्रृंखल संकुलता की तीखी चेतना में से ये कविताएँ निपजी हैं, उसकी अभिव्यक्ति उतनी तीखी और निस्संग नहीं हो पायी है। वस्तु जितनी व्यक्तिगत है, उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही स्वप्रेरित और स्वकेंद्रित। इसका आशय यह नहीं कि शिल्प में असंतुलन है। वास्तविकता तो यह है कि ये कविताएँ अधिकांशतः अनुभूति और अभिव्यक्ति का सहज संतुलन प्रस्तुत कर रही हैं। जटिल मनोदशाओं को सूक्ष्म अंतर्चित्रों द्वारा उद्घाटित करने में कवयित्री को खूब सफलता मिली है। नयी कविता के क्षेत्र में संप्रति जितनी कवयित्रियाँ काम कर रही हैं उनमें कांता जी निश्चय ही इस दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। अवश्य ही सभी रचनाओं में स्तर का एक सा निर्वाह नहीं हुआ है। तो भी अधिकांश के संबंध में इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रेरणा, चाहे वह जीवंत आवेग की हो, चाहे गहरी कुंठा की, हमेशा अपना योग्य रूपाकार पा लेती है। भीतर की हलचल या घुटन जैसे अपने ही संपीड़न द्वारा शब्दों को स्वानुरूप ढालते चले जाते हैं। जिस लाघव के साथ कवयित्री का सूक्ष्म वेदन-तंत्र अंतर्मन के बारीक से बारीक स्फुरणों को अंकित करता चलता है, उसी अचूक लाघव के साथ उसके शब्द भी जैसे एक मौलिक अंतर्विवशता में उन अंकनों को यथावत अनूदित करते चले जाते हैं। वेदन-तंत्र और शिल्प-तंत्र जैसे एक ही यंत्र के दो परस्परावलंबित अंग—प्रेषक और ग्राहक हों।

उस एक क्षण में स्थिर हो गयी शाम
मैं पूर्ण
पूरा होने के बाद
अधूरापन और बढ़ गया :
आ :, यह समय को थाम
समय को व्यापता
अकेलापन !

आज सचमुच सूना है आकाश।

मुझे इस कविता को पढ़ते हुए १७वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी कवि और (आधुनिकों के आराध्य) जॉन डन की एक कविता—'लव्ज़ फिलासफी' याद आ रही है जिसकी अंतिम पंक्तियाँ. . .शायद ये थीं :

लव इज़ ए ग्रोइंग, ऑर फुल कांस्टेंट लाइट।
एंड हिज़ फ़र्स्ट मोमेंट आफ़्टर नून इज़ नाइट।

अतीत के युगों की मन-बुद्धि-समन्वित एकीकृत संवेदना के लिए किसी भी अनुभूति में रम कर उसको सांगोपांग रूपक की संपूर्णता में प्रत्यक्ष कर देना, दर्शन के रूप में उसका साक्षात्कार कर लेना सहज संभाव्य था; जैसा कि उदाहरण के लिए उनकी इस समूची कविता को पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा। किंतु आज की

खंडित चेतना के लिए यह उस तरह संभव नहीं रह गया है। आज का कवि तो अपनी पल-पल परिवर्तित, अहरह उच्छिन्न आंतरिकता के 'इनस्केप' को आँक कर ही 'आत्माभिव्यक्ति' का संतोष पाने की राह खोजता है। यह स्थिति चिंतनीय होते हुए भी एक हद तक अपरिहार्य है। हालाँकि नयी कविता के प्रमुख कवियों के विकास-क्रमको देखते हुए लगता है कि यह स्थिति एक अनिवार्य पड़ाव भले हो, असल मंज़िल आज भी उससे कहीं आगे होनी चाहिए और है। उनके कृतित्व से यह प्रमाणित है।

कांता जी की रचना अभी इस स्थिति से उवरने का संकेत नहीं देती। निकट भविष्य में दे पावेगी—यह भी नहीं कहा जा सकता। अभी उनमें बेतरह मानसिक उलझाव है; और उस उलझाव के प्रति एक निरीह स्वीकार भी। हाँ, कुछेक कविताओं में इस उलझाव के साक्षात्कार करने की चेष्टा जिन गहरे स्तरों पर व्यंजित हो सकी है, वह स्वयं में एक सिद्धि है। अवश्य ही अनुभूति का प्रज्ञा-पारदर्शन यहाँ नहीं मिलेगा। किंतु 'अनुभूत' के प्रति एक निभ्रांत, बल्कि अतिरिक्त आत्म-सजगता पग-पग पर मिलेगी। संकलपात्मक अनुभूति के नाम पर 'यथार्थ' के साथ खींचातानी कवि को बिलकुल अभीष्ट नहीं है। 'निस्तार चाहने' की कामना उसके लिए स्वाभाविक है; पर साथ ही आर-पार छाये धुएँ की अभेद्यता की आत्म-स्वीकृति भी उसके लिए उतनी ही अनिवार्य है। अनुभूति की यह गहरी ईमानदारी ही कवि की अभिव्यक्ति को पारदर्शी निर्मलता प्रदान करती है। 'अनात्मीयता' के आतंक को भी कवि की संवेदना इसी से सहज आत्मीय अभिव्यक्ति दे सकी है:

आकाश जैसे आकाश में डूब गया है
पृथिवी जैसे पृथिवी से दूर हो गयी है
मुझमें मेरी आत्मीयता
धुआँ बन उड़ गयी है
प्रतिक्षण लगता
मैं जैसे अपने से पृथक हो गयी हूँ।

अपने एहसास को अक्षुण्ण संप्रेषित करने की अंतर्विवशता ही जैसे कवि के लिए रचनाशीलता की शपथ है। उससे उबरने की उतावली नहीं है। और यह प्रक्रिया हमें आश्वस्त करती है। स्वयं कवयित्री के लिए इसकी सार्थकता का प्रमाण यह है कि सीमित भावबोध और अपेक्षाकृत एकरस कथ्य के बावजूद हर बार शिल्प की एक नयी भंगिमा उद्घाटित होती है। एक ही दृश्य-चित्र को कई -कई कोणों से देखा जाता है और हर बार कवि पाठक की संवेदना को एक नयी जगह पर स्पर्श करता है। इतना ज़रूर है कि कहीं तो अनुभूति के दबाव में अंतर्चित्र केंद्र में आ कर उजागर हो जाता है तो कहीं थोड़ी कसर के कारण धुँधला रह जाता है। दृष्टांत के लिए 'तेज़ हवा . . .' (पृष्ठ ३२) एवं 'दीये या मोमबत्ती की रोशनी ..' (पृ० ५५) इन दो कविताओं की तुलना की जा सकती है।

यों तो छोटी कविताओं का सफल निर्वाह कवयित्री की विशेषता है, तो भी किन्हीं कविताओं में लगता है, जैसे कथ्य कुछ बिखर गया हो। ठीक उसी तरह, जैसे रवा बनते-बनते एकाएक घोल में से निकाल लिया गया हो या अपेक्षित सांद्रता के अभाव में बन ही न पाया हो। इस प्रकार का अनुभव मुझे संग्रह की कुछेक कविताओं को पढ़ते हुए हुआ—खासकर 'सिर्फ़ एक उदासी भरी हँसी', 'हाँ, चाहती हूँ,

निस्तार चाहती हूँ', 'स्पंदित हो रही हैं साँसें आज', 'शहर जैसे जंगल', 'खुद अपने से भी प्यार नहीं' में।

एक खटकने वाली चीज़ जो इन कविताओं में विद्यमान है, वह है कुछ शब्दों की अत्यधिक पुनरावृत्ति। संग्रह की एक कविता 'घरों को छूता हुआ आकाश' पढ़ते हुए मुझे एक अजीब सी अनुभूति हुई। कविता बड़ी मार्मिक है और उसका शिल्प तत्काल हमारी संवेदना में रच जाता है; स्पंदित होने लगता है। पर जाने क्यों पढ़ने के बाद मुझे लगा जैसे अखीरी स्पश देते हुए एकाएक चित्र हिल गया हो। दूसरी बार पढ़ने पर प्रतीत हुआ कि इस अवांछित विक्षेप की ज़िम्मेदारी अंतिम दो पंक्तियों पर ही है:

आः मन को काटती हुई मृत्यु
क्षण भर टूट सकती अगर...।

हालाँकि यह नहीं कहा जा सकता कि ये पंक्तियाँ पूरी कविता के स्पंदन से विच्छिन्न हो गयी हैं। तो भी मैं समझता हूँ कि सिर्फ़ अकेली यह कविता कोई पाठक पढ़े तो उसे तब ये पंक्तियाँ उतनी नहीं खटकेंगी जितनी कि पूरे संग्रह के परिप्रेक्ष में इस कविता को पढ़ने पर। और पूरा परिप्रेक्ष तो महत्वपूर्ण है ही। उसके अभाव में अकेली कविता के साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं किया जा सकता। तब वह विक्षेप कहाँ घटित होता है? मैंने पाया कि सिर्फ़ इस 'मृत्यु' शब्द की ही पुनरावृत्ति संग्रह की कम से कम पचीस कविताओं में हुई है और इस पुनरावृत्ति ने उसकी धार कुंद कर दी है। ऐसा ही मोह कवयित्री का 'धुंध' और 'अँधेरा' के प्रति भी प्रतीत होता है।

कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं—हालाँकि वे बहुत कम हैं—जहाँ बात को एकदम सतह से उठा कर सतह पर ही छोड़ दिया गया है जैसे 'जब ढाँक रही थी मन' और 'दो दो दो' शीर्षक कविताओं में। एकाध जगह ऐसा भी हुआ है कि एक बिंब की अनुभूति को पकड़ कर एक ही स्पर्श से कविता बना देने की उतावली की गयी है। इसके ठीक विपरीत हम देखते हैं कि बिना किसी बिंबाग्रह के बिना किसी शिल्पगत आत्म-चेतना के बड़े सादे ढंग से बात को कह कर ही मार्मिक प्रभाव की सृष्टि की गयी है जैसे उदाहरण के लिए 'मैं रात की पनाह में आयी थी' में।

संग्रह का शीर्षक बहुत सटीक है: हालाँकि जिस (संग्रह की अंतिम) कविता में यह शब्द आया है वह, संग्रह की अपेक्षाकृत असफल कविताओं में है। समापक पंक्तियों की सारगर्भिता के बावजूद। यह ध्यातव्य है कि 'समयातीत' शब्द की व्यंजना को विशेषीकृत कर के ही हम उसकी उपयुक्तता के संबंध में आश्वस्त हो पाते हैं:

आः सुख खोजने गया था समय
स्वयं हो गया समयातीत।

समयातीत कौन? कवि नहीं,—बल्कि उसके 'मन के भीतर चलता समय।' अपने-आप से कट जाने, अपनी ही अनुभूति से बिछुड़ जाने की कितनी सूक्ष्म व्यंजना है! यह आकस्मिक नहीं कि 'समय' शब्द काफ़ी पुनरावृत्ति के बावजूद जहाँ कहीं प्रयुक्त हुआ है, अत्यंत मर्मसार्थक बन कर आया है। मसलन 'पृथ्वी को पैरों तले रौंदता' में या इससे भी अधिक सफल रूप में 'है भी, नहीं भी है' में। यह दूसरी कविता

वैसे भी संग्रह की महत्वपूर्ण कविताओं में है। आंतरिक अवबोध की सूक्ष्मता देखिए—'अर्थ की लय' से संयुक्त :

जरा देर के लगाव-सा
अपने आपसे टूट गया मन।
फिर भी
और कस गये
बंधन।

बड़ाऽ
बड़ा अजीब है ढब
समय का।

वस्तुतः देखा जाय तो संग्रह की हर कविता इसी 'समय के एक अजीब ढब' को पकड़ने का प्रयास है। समय ही इन रचनाओं पर आदि से अंत तक छाया हुआ है। पूरा संग्रह जैसे एक नाटक का एक अंक है और हर कविता उसका एक दृश्य। और हर दृश्य को फेंकता-समेटता समय। पात्र हैं—कवि के संवेदन जो उस निरपेक्ष सूत्रधार के हाथों पुतलियों की तरह गतिशील हैं। कभी-कभार अनायास अचानक ही वे हाथ शिथिल पड़ जाते हैं और वे मूर्तियाँ एक स्वतंत्र जिजीविषा से स्पंदित होने लगती हैं : जैसे 'उदास एक शांति लिये', 'सामने मुस्कराता गुलाब', 'अँधेरे कमरे में' इत्यादिक रचनाओं में। पर यह मोहलत टिकती नहीं। चेतना फिर-फिर उसी अंधी, अनबूझ गति में जकड़ जाती है। एडवर्ड टॉमस की एक पंक्ति याद आती है :

हाउ ड्रियरी स्विफ़्ट विद नाट टु ट्रैविल टु इज टाइम।

उसी तरह कवयित्री भी यात्रा के एक मोड़ पर पाती है कि :

समय तो बीता नहीं
फिर भी बीत गया
मुड़ कर देखता तो है,
पर देखता नहीं।
दोपहर-सी सूनी हो गयी
अलस्सुबह
पता नहीं यह जंगल
मुझमें है, या लोगों में ?

यह एक मूलभूत जिज्ञासा है। इसमें चाहे आत्मान्वेषण की गहराई प्रकट न हो, जगत्गति के व्यापक अवबोध का भी कोई संकेत न उभरता हो, पर कवि के व्यक्तित्व के लिए वह निश्चय ही एक मौलिक महत्व का तत्व प्रश्न है। संग्रह की कई कविताओं में इस प्रश्न की बेचैन छटपटाहट है। पर क्या उस छटपटाहट में से कोई दृष्टि उभर पायी है ? या सिर्फ़ वह प्रश्न ही तीखा हो कर चेतना में स्पष्ट हुआ है ?

यह एक सवाल है जो इस संग्रह का हर सजग अध्येता कवयित्री से पूछना चाह सकता है। साथ ही यह भी कि क्या इस सवाल की चुनौती स्वयं कवयित्री के निकट भी उतनी ही प्रासंगिक और प्रखर है ?

अगर हाँ, तो 'समयातीत' के कोहरे को काट कर सांप्रत और चिरंतन के बीच नये सार्थक रिश्तों की खोज और 'मन को काटने' वाले समय के बीच ही मानव-व्यक्तित्व की प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली कविता के उन्मेष की प्रतीक्षा की जा सकती है। शमशेर की एक कविता याद आ रही है :

रिक्त रक्तिम हृदय आँचल में समेटे
घिरा नारी-मन उचाटों में
भूल-धूमिल जाल मानस पर लपेटे
नागफन के धूल काँटों में
खड़ी विजड़ित चरण. . .संध्या मूल प्राणों की
छाँह जीवन वन-कुसुम की स्थिर।
(वास्तव को स्वप्न ही परसा करेगा क्या ?)

—रमेशचंद्र शाह,
अध्यक्ष अंग्रेज़ी विभाग, गवर्नमेंट
डिग्री कॉलेज, सीधी (म० प्र०)

मुझमें जो शेष है

उदयशंकर भट्ट का कविता-संग्रह। आत्माराम एंड संस, दिल्ली। सन १९६५। मूल्य : २.५०।

इस पुस्तक की भूमिका में लेखक ने अपने को केवल मानवतावादी कवि न मान कर और भी कुछ माना है। कम से कम इस काव्य-संग्रह में भट्ट जी की कविताएँ अनेक आयामों को छूती हैं, जिसमें सबसे प्रमुख स्वर आधुनिक जीवन की विडंबना तथा ढहते हुए प्राचीन प्रतिमानों का स्वर है। इसके अतिरिक्त यह भी माना जा सकता है कि कवि का अंतर्लोक मानवतावादी दृष्टि को त्याग नहीं सका है, जो मेरे विचार से एक शुभ तत्व है। यही कारण है कि 'महात्मा गांधी', 'अमृत पुत्र', 'संत', 'ऋत-पुरुष' आदि कविताएँ, इसी दृष्टिकोण को ले कर लिखी गयी हैं। विषय की दृष्टि से इन कविताओं में कोई विशेष नवीनता नहीं है क्योंकि इनमें प्रशस्ति तथा भावी मानव की कल्पना प्राप्त होती है।

अन्य कविताओं में कवि की दृष्टि अधिक पैनी तथा गंभीर है। उनमें आत्मनिष्ठता का स्वर प्रमुख है, जो आधुनिक जीवन की विडंबना तथा विशृंखलता को अनेक बिंबों तथा प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त करता है। उदाहरण-स्वरूप 'ज़िंदगी और कूड़ा-कर्कट', 'साँप और मैं' तथा 'विद्रोही' (पृ० ५३) कविताओं में जीवन की निरर्थकता तथा व्यक्ति की अर्थ-हीनता के सुंदर दर्शन होते हैं। यथा·

तुम्हारे लिए सारे तत्वज्ञान
काव्य के संदेश
महाप्राण का आवाहन

× ×

व्यर्थ है, व्यर्थ है
(केवल मनोविनोद
माया-जाल है; भ्रम है)
इसीलिए मैं व्यर्थ हूँ
व्यर्थ हूँ।

(विद्रोही पृ० ५३-५४)

ऐसी कविताओं में अनास्था का स्वर होते हुए भी कवि की दृष्टि उस अनास्था में आस्था का स्वर भी देता हुआ प्रतीत होता है। इस बिंदु पर आ कर कवि कहीं अधिक आशावादी भी हो गया है। कुल मिला कर इस संग्रह की उपर्युक्त कविताएँ तथा अन्य कविताएँ पाठकों को एक नया भावबोध देने में अवश्य समर्थ होंगी। यहीं पर कवि व्यक्तिनिष्ठता के दायरे में न बँध कर, अपने अस्तित्व के प्रति, जिसे उसने कभी नहीं पहचाना था

('मैंने नहीं पहचाना', पृ० ३१-३२), उसे पहचानने का भी प्रयत्न करता हुआ प्रतीत होता है।

एक वर्ग अन्य कविताओं का भी है, जिनकी संख्या सीमित है। वह वर्ग है चीनी आक्रमण तथा राजनीतिक प्रभावों का। 'मृत्युभक्षी भारतीय हम' नामक कविता में उपर्युक्त राजनीतिक संवेदना का रूप प्राप्त होता है जो अहं तथा गर्व की भावना (?) से कुछ अधिक बोझिल है। इसी प्रकार 'बलिदान का गीत' (पृ० ६७) तथा 'पुण्य-प्रशस्ति' में देश की गरिमा तथा त्याग के आवाहन का जो स्वर है, वह भी समयानुकूल है।

इस काव्य-संग्रह में भाषा का रूप आधुनिक जीवन के भावबोध को व्यक्त करने में सफल है, परंतु दूसरी ओर अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिनमें भाषा तत्समप्रधान है और उसमें वह लचीलापन तथा छटपटाहट नहीं है, जो आधुनिक जीवन की विडंबना से संबंधित कविताओं में है। 'ज़िंदगी और कूड़ा-कर्कट' कविता में ऐसी ही भाषा का रूप मिलता है, जिसमें बिंब-विधान भाषा को और भी निखार दे देता है।

काल की बुहारी से साफ़ किये जाने पर
झुक कर हवा के साथ
बेबस—
नवाये माथ
सूम के मंसूबे से
अनचाही जिंदगी की तरह।

(पृ० ३)

इस प्रकार भट्ट जी की काव्य-भाषा में एक नया लोच प्राप्त होता है।

—वीरेन्द्र सिंह
१४३ सी, सूर्य मार्ग,
तिलक नगर,
जयपुर।

बीजुरी काजल आँज रही

माखनलाल चतुर्वेदी का काव्य-संग्रह। भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी। सन् १९६४। मूल्य: ३.०० ।

काव्य-ग्रंथो में विविध प्रकार की रचनाओं के संकलन की परिपाटी है। इस दृष्टि से माखनलाल चतुर्वेदी के इस संग्रह में थोड़े भिन्न पथ का अनुसरण किया गया है। ये गीत शुद्ध प्रकृति-वर्णन से संबंध रखते हैं। इसी को लक्ष्य कर के कवि ने भूमिका में कहा है, **प्रस्तुत कविता-संग्रह में प्रकृति की पूजा की गयी है।** 'निराला' जी के समान माखनलाल जी भी ओज और कोमलता के कवि हैं। अपने जीवन के अंतिम चरण में जैसे 'निराला' जी प्रार्थनापरक गीतों की ओर मुड़ गये थे, वैसे ही चतुर्वेदी जी प्रकृति-पूजा की ओर झुक गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि परम चेतन के समान प्रकृति की गोद भी संघर्षप्रिय साहित्यकारों को शांतिमयी प्रतीत होती है। इस प्रकार इन रचनाओं की प्रेरणा बड़ी है, भाव-भूमि व्यापक है और प्रभाव कुल मिला कर सात्विक सिद्ध होता है।

हिंदी में प्रकृति-वर्णन का इतिहास मात्र इतना है कि आदि काल में वह उपेक्षित रही, भक्ति-काल में आध्यात्मिक भावों के लिए प्रयुक्त हुई और रीति-काल में अलंकरण का माध्यम बनी। केवल आधुनिक युग में उसकी स्वतंत्र सत्ता घोषित हुई। इसके अंतर्गत उसे जड़ न मान कर चेतन स्वीकार किया गया। उसका मानवीकरण हुआ, यहाँ तक कि कवियों ने उसके प्रति आत्म-समर्पण तक किया। बीसवीं शताब्दी का शायद ही कोई ऐसा कवि हो, जिसने स्फुट रूप से प्रकृति के संबंध में कुछ न कुछ न लिखा हो; लेकिन जहाँ तक शुद्ध प्रकृति-वर्णन का संबंध है, उसके लिए दो ही कवियों को विशेष ख्याति मिली—भव्य एवं गरिमापूर्ण वर्णन के लिए सुमित्रानंदन पंत को और सरल तथा साधारण रूप के अंकन के लिए गुरुभक्त सिंह को। माखनलाल चतुर्वेदी की स्थिति इन दोनों कवियों के बीच की है। उनके विषय साधारण हैं, लेकिन चित्रण अत्यधिक भावप्रवण।

प्रकृति को इन्होंने बहुत व्यापक दृष्टि से देखा है, यद्यपि यह व्यापकता काव्य में प्रसिद्ध विषयों तक सीमित है। ये विषय चिर परिचित हैं जैसे धरती, आकाश, पर्वत, नदी। झरना, ऋतुएँ, फूल, पवन, पत्ती आदि। भाव का संबंध जहाँ कुछ गहरा है, वहाँ ये वस्तुओं के नाम भी लेने लगते हैं जैसे पहाड़ों में विंध्याचल और नदियों में बेतवा तथा नर्मदा के। इनकी प्रकृति सामान्य रूप से सुंदर, चेतन और भावमयी है। उदाहरण के लिए फूल का यह वर्णन लीजिए जो विलक्षण न होने पर भी रम्य है—

कुसुम हैं ये
या कि ऋतुओं के चरण के रूप हैं।

समय-श्रम पर खिल रहीं लुनाइयाँ ये,
बेछुपी-सी छुप रहीं अँगड़ाइयाँ ये,
प्रकृति की अनपाइयों-सी पाइयाँ ये,

शीश पर रह कर हिले—
छवि-भूप हैं ये।
कुसुम हैं ये
या कि ऋतुओं के चरण के रूप हैं ये।

इनके प्रकृति-वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि उसे ये संबंधित वस्तुओं के उल्लेख तथा वातावरण-अंकन द्वारा विश्वसनीय बनाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। गाँव का वर्णन करेंगे, तो गाय-बैल, ग्वाला-ग्वालिनी की चर्चा होगी; जंगल के चित्र में बेर-बबूल के साथ सर्प और बंदर का उल्लेख होगा और नदी की ओर दृष्टि उठायेंगे, तो माँझी नाव खे कर पार की ओर जाता दिखायी देगा। इससे इनके ये वर्णन गतिशील और सजीव हो उठे हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं की विशेष उलझन उनके अभिव्यक्ति पक्ष को ले कर है। जहाँ इनके विषय ग्राह्य हैं, विचार उन्नत, भाव गंभीर और कल्पना कोमल, वहाँ कला समय के साथ विकसित नहीं हो पायी। इनका रूप-विधान ऊबड़-खाबड़ है। सच पूछिए, तो इसी ने इनके अधिकांश काव्य-सौंदर्य को दबा रखा है। भाषा इनकी खिचड़ी है। एक ओर संस्कृत के शब्दों का यत्र-तत्र का प्रयोग है, तो दूसरी ओर अरबी-फारसी के ऐसे शब्द भरे पड़े

हैं, जिनसे हिंदी के कवियों को अब अपना गला छुड़ाना चाहिए—उदाहरण के लिए **ज़ालिम, गुस्ताख़, यार, दिलदार, अदा, नज़र, महफ़िल, मेहरबानी, इबादत, क़दर, ग़रीब, ग़ायब** आदि। इस संस्कृत-फ़ारसीमिश्रित भाषा से जब तद्भव, ग्रामीण और विकृत शब्दों का प्रयोग होता है, ब्रजभाषा का झोंक लगाया जाता है, मनमाने ढंग पर बहुवचन बनाये जाते हैं, तो अभिव्यक्ति उभरने के स्थान पर लुंज-पुंज हो जाती है। इनकी रच-, नाओं में **ऊगा,** और **आगी, उट्ठे** और **लिक्खे, दूख** और **धूली, पैयाँ** और **लटकनियाँ, चाँदनियाँ** और **पंखिनियाँ, पहिरन** और **बरसन** आदि के प्रयोग देख कर पाठक की चेतना मूर्च्छित सी होने लगती है। कहीं-कहीं इनके उपमान एकदम पुराने ढंग के हैं, जैसे **ग्रीष्म** की तुलना इन्होंने **मुनीम, बादल** की **भिश्ती** तथा **चंद्रमा** की **लालटेन** से की है। इससे बच्चों का मनोविनोद होता हो तो होता हो।

काव्य के क्षेत्र में माखनलाल चतुर्वेदी की स्थिति कुछ विलक्षण सी है। जन्म उनका भारतेन्दु-युग में हुआ, लिखना उन्होंने छायावाद-युग में प्रारंभ किया और ग्रंथ उनके प्रयोगवादी युग में प्रकाशित हुए; लेकिन संस्कार उनके द्विवेदी-युग के हैं, राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने और अपनी रचनाओं द्वारा उसे बल प्रदान करने के कारण उनका अपना एक व्यक्तित्व है और उसी के अनुकूल महत्व भी, उनकी प्रेम-भावना लौकिक ढंग की ही है; यद्यपि उसमें कहीं-कहीं वैष्णव-भाव के पुट के कारण एक प्रकार की दिव्यता की झलक दिखायी देती है। प्रकृति के प्रति झुकाव नैसर्गिक और निश्छल है। इस प्रकार श्री माखनलाल चतुर्वेदी को हम प्रलय, प्रणय और प्रकृति का कवि कह सकते हैं।

—विश्वम्भर 'मानव',
८८८, कल्याणीदेवी,
इलाहाबाद-३।

प्रतिनिधि रचनाएँ
(मराठी : दो)

ना० सी० फड़के की काव्य-पुस्तक। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। सन १९६४। मूल्य : ४.५०।

इधर मराठी की विभिन्न रचनाएँ हिंदी में अनूदित हो कर आयी हैं। किसी भाषा के साहित्यिक व्यक्तित्व को जानने-मानने के लिए इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि उस साहित्यकार का लेखन, विभिन्न विधाओं का लेखन, कहीं एक जगह संकलित किया जावे। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञानपीठ का उक्त प्रकाशन मूल्यवान है, जिसमें मराठी के वरिष्ठ साहित्यकार श्री ना० सी० फडके का विभिन्न विधाओं का लेखन संकलित किया गया है।

मराठी कथा-साहित्य के पाठक, फड़के जी का नाम आते ही श्लील-अश्लील की बात उठाने लगते हैं। एक मासिक पत्रिका को ले कर इधर इस विषय का मामला कचहरी तक जा पहुँचा था जिसमें फड़के जी ने स्वयं पैरवी कर साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न बेबुनियाद सिद्ध कर दिया था। मराठी के ऐसे साहित्यिक, जिन्होंने साधना और लगन से साहित्य-सर्जना की, जिन्होंने अपनी अनोखी प्रतिभा से, सर्जनात्मक शक्ति से मराठी

कथा-साहित्यकी अभिवृद्धि की—ऐसे साहित्यकार ना० सी० फडके से हिंदी जगत परिचित हो—इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का अत्यधिक महत्व है।

संकलन में फड़के जी की विभिन्न रचनाएँ—चार कहानियाँ (सात रुपये दस आने, धूप और छाँह, पार्वती, कश्मीरकी कहानी), एक उपन्यास का अंश (इशारा), एक एकांकी (आग), तीन ललित निवंध (सर्कस का खेमा, अलगनी पर सूखने वाले कपड़े, ताला-चाभी), एक शब्द चित्र (सिक्सरों के बादशाह : सी० के०) दो यात्रा-संस्मरण (कथाकली के नैहर में, सारनाथ) दो प्रबंध के अंश (प्रतिभा साधना, कहानी लेखन : मंत्र और तंत्र) संकलित हैं।

प्रकाशकीय वक्तव्य में सभी रचनाओं को प्रतिनिधि घोषित किया गया है। मेरे विचार से 'ख्यातिप्राप्त लेखकों की बहुमुखी साहित्यिक प्रतिभा से परिचित होने के लिए' (वाक्य प्रकाशकीय वक्तव्य से साभार) इस बात की आवश्यकता थी कि फड़के साहित्य के किसी समीक्षक से प्रतिनिधि रचनाओं का चयन करवाया जाता और फड़के जी पर एक विशेष परिचयात्मक लेख, उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को ले कर लिखवाया जाता। संकलन की रचनाओं का संपादन किसने किया है? यदि मूल लेखक ही संपादक है (यदि 'लेखक का स्वसंकलन' से यह ध्वनि निकलती हो) तो प्रतिनिधि रचनाएँ मूल लेखक द्वारा चुनी गयी हैं—फिर 'प्रतिनिधि' और 'चुनी हुई' रचनाओं में अंतर होता है। प्रश्न यह रहता है कि लेखक स्वयं अपनी रचनाओं में से किसे प्रतिनिधि मानता है, और समीक्षक किसे? फड़के जी के कथा-साहित्य में एक चुलबुलापन, एक अजीब गहरी मादकता और रंगीनियत रहती है। प्रतिनिधि कहानियों में इस तरह की एक भी कहानी नही ली गयी, अच्छा होता यदि उनकी 'वत्सला' अथवा 'शांता' कहानी भी संकलित की जाती। उपन्यास का १४ पृष्ठों का अंश मात्र संकलित करना अजीब सा लगता है। आवश्यकता इस बात की थी कि उनका कोई लघु उपन्यास पूर्ण संकलित किया जाता। फड़के जी के उपन्यास विशेष रूप से प्रसिद्ध रहे हैं—उपन्यास के अंश मात्र से उनके 'औपन्यासिक कला' का ज्ञान तनिक भी नहीं हो पाता।

एकांकी, निबंध, यात्रा-संस्मरण आदि का चयन सुंदर किया गया है। श्री फड़के के व्याख्यान के अंश और कुछ कविताएँ भी प्रकाशित की जातीं तो फड़के जी का समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व झलक उठता।

समस्त रचनाओं का अनुवाद श्री माणिकलाल परदेशी ने किया है। फड़के साहित्य के एकमात्र अनुवादक परदेशी जी ही हैं। अनुवाद-कार्य कठिन कार्य है। समस्त रचनाओं का अनुवाद बहुत ही सुंदर हुआ है। भाषा-प्रवाह, मूल लेखक की भावना, मुहावरों का प्रयोग—सभी दृष्टि से मुझे अनुवाद खूब पसंद आया। एकांकी और निबंधों का अनुवाद अपेक्षाकृत कठिन होता है, परंतु परदेशी ने उनका अनुवाद भी अच्छा किया है। लगता है कि परदेशी जी अनुवाद-कार्य में माहिर हैं। इस पर भी कुछ वाक्यों में भाषा संबंधी दोष खटकने वाले हैं। उदाहरणार्थ:

(१) पृष्ठ २० पर : वाक्य इस प्रकार है:
उसे हुआ कि उन सबको जो मारकर गालियाँ देवे।
यहाँ **उसे हुआ** प्रयोग समीचीन प्रतीत नहीं होता। मराठी में **त्याला वाटले** की प्रयोग उपयुक्त

है पर हिंदी में उसका अनुवाद **उसे हुआ** ठीक नहीं है।

(२) पृष्ठ ८१ पर : वाक्य इस प्रकार है : **तेज रोशनी से सड़कों पर के खड्डे दिखायी दे रहे थे।** **खड्डे** शब्द मराठी का है। मेरे विचार से सामान्यत: **खड्डे** शब्द हिंदी में प्रचलित नहीं हैं। इसके स्थान पर **गड्ढे** शब्द उपयुक्त था।

एकांकी में संवादों के अनुवाद में विशेष सजगता की आवश्यकता रहती है। पृष्ठ ९५ पर संवाद इस प्रकार है :

मीरा . **पिता जी की मेज में हमेशा कैंची रहती है इसलिए दराजें छान मारीं लेकिन कम्बख्त मिल ही नहीं रही है। कहाँ रखी है ? अब दीजिए मुंशी जी, आप ही ढूँढ़ कर।**

यहाँ स्थिति यह है कि दोनों बहनें मुंशी जी से अपना काम निकलवाना चाहती हैं, इसलिए अंतिम वाक्य अनुवाद रूप में इस प्रकार होना समीचीन था : **अब जरा आप ही ढूढ़ दीजिए न।**

निस्संदेह कुल मिला कर अनुवाद बहुत ही सुंदर हुआ है--इसमें दो मत नहीं हो सकते।

भारतीय ज्ञानपीठ का प्रस्तुत प्रतिनिधि संकलन अपनी सामग्री और साज-सज्जा में ठीक ही बन पड़ा है। वास्तव में आज ऐसे महत्वपूर्ण प्रकाशन की अत्यंत आवश्यकता है। ज्ञानपीठ का यह कार्य सराहनीय और अनुकरणीय है।

--विजय बापट,
हिंदी विभाग,
माधव महाविद्यालय, ग्वालियर।

साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा भावात्मक

एकता

के

'माध्यम'

का

केरल विशेषांक

[मई, १९६६ में प्रकाश्य]

कुछ प्रमुख सामग्री

- केरल की समसामयिक काव्यधारा, कथा-साहित्य, नाट्य-विधा, लोक-संस्कृति, शिल्प और कला।
- केरलीय समाज-परंपरा और प्रचलन।
- केरल की संतधारा, धर्म, दर्शन, ज्योतिष तथा तंत्र-मंत्र।
- केरलीय संस्कृत साहित्यकारों की देन।
- मलयालम भाषा और लिपि का परिचय।
- मलयालम कविताएँ, कहानियाँ तथा अन्य विधाएँ।

कुछ प्रमुख लेखक

सर्वश्री ए० चंद्रहासन, वी० आर० नारायणन नायर, वी० रा० जगन्नाथन, एम० ए० ऊमेन, एम० जार्ज, जी० गोपीनाथन्, पी० नारायण, अब्राहम जेकब, एस० वेंकट सुब्रह्मण्य अय्यर, विश्वनाथ अय्यर, किलिमानूर एन० विश्वंभरन्, टी० भास्करन्, ए० श्रीधर मेनन, के० नारायणन्, एन० चंद्रशेखरन् नायर, वी० ए० केशवन नंपूत्तिरि, आर० रामन नंपूत्तिरि, एन० पुरुषोत्तम मल्लय्या, रवि वर्मा, रामचंद्र देव, जी० शंकर कुरुप्पु, पी० कुंजुरामन नायर, वेलोप्पिल्लि श्रीधर मेनन, अक्कित्तम अच्युतन नंपूत्तिरि, तकाषी शिवशंकर पिल्ला, श्रीमती बालामणि अम्मा तथा सुगत कुमारी

केरलीय साहित्य, संस्कृति, कला और दर्शन
का अवश्य पठनीय तथा संग्रहणीय संदर्भ-ग्रंथ

संपादक : बालकृष्ण राव

मूल्य : १ अंक : १.०० : वार्षिक : १०.०० : प्रस्तुत अंक : २.५० ।

संपादकीय
पो० बॉ० नं० ६०,
इलाहाबाद।

संपर्क-सूत्र

व्यवस्थापकीय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
इलाहाबाद।

ज्ञानोदय

●

सम्पादक

लक्ष्मीचन्द्र जैन : रमेश बक्षी

आधुनिक भावबोध, कला-संचेतना और नवीनता का प्रतिनिधि मासिक

'कथा-मंच : विशेष परिशिष्ट' के बाद मार्च १९६६ का साधारण अंक

अब नये स्तंभ

- समय-बोध ○ मुक्त चिंतन ○ ताज़े संदर्भ
- साहित्य-भूमि ○ नयी कला
- प्रश्नान्तक ○ तारीखें

विशेष शीर्षक

- संवाद——माईकेल एंजिलो : साये बढ़ रहे हैं...
- मलयाली वंशी——सप्तक : शंकर कुरुप्पु की कविताएँ
- अंतर्राष्ट्रीय राम-झरोखा : नयी कला
- सोवियत कवि के घर एक शाम : एक गोष्ठी
- घायल दिशाओं में टूटे हुए आकाश की तलाश : सन पैंसठ की कविता
- कैकेयी का आत्मनिवेदन : तीखा व्यंग्य

कहानियाँ : स्व० मुक्तिबोध की लंबी कहानी 'विपात्र' के साथ ही कर्तारसिंह दुग्गल, पानू खोलिया, हिमांशु जोशी तथा बटरोही की कहानियाँ।

कविताएँ : बच्चन। अंचल। रामदरश मिश्र। कैलाश वाजपेयी। रणजीत। निर्मला वर्मा। देवदत्त। नीलम सिंह। ऋतुराज। विनय दुबे।

अन्य स्तम्भों के साथ ही : हरिभाऊ उपाध्याय, वीरेंद्र अग्रवाल, कोलिन विल्सन की रचनाएँ भी...

●

एक प्रति : एक रुपया : : वार्षिक दस रुपये

संपादकीय कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता – २७
वितरण-केंद्र : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी
प्रमुख वितरक : बेनेट कोलमैन एंड कंपनी लि० बंबई – १


मुक्ता

नटरंग | भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक

संपादक : नेमिचंद्र जैन

रंगमंच और साहित्य क्षेत्र के सभी विचारक और कर्मी एक स्वर से सहमत हैं कि 'नटरंग' का प्रकाशन हिंदी जगत की एक अभूतपूर्व घटना है। तीन अंक प्रकाशित हो चुके हैं; चौथा अंक समकालीन भारतीय रंगमंच पर विशेषांक होगा। उसकी योजना इस प्रकार है:

रचनाएँ

बंगला, मराठी, उड़िया के व्यावसायिक रंगमंच का सर्वेक्षण ० हिंदी रंगमंच और निर्देशक ० बंगला और मराठी रंगमंच पर अभिनय-शैलियों का विकास ० बहुरूपी : एक अनोखा नाट्य-संगठन ० गुजराती रंगमंच और लोकप्रिय प्रदर्शन ० मलयालम नाटकों में समसामयिक समस्याओं का चित्रण और कला-मूल्य ० पंजाबी आपेरा : उपलब्धियाँ और समस्याएँ ० समकालीन कन्नड़ नाटक ० उर्दू का नाट्य-साहित्य ० तमिल रंगमंच पर दृश्य-सज्जा संबंधी परिवर्तन ० असमिया रंगमंच पर लोक-रंगमंच का प्रभाव ० लोक-नाट्य की वर्तमान स्थिति : जात्रा, तमाशा, नौटंकी, यक्षगान, कुचीपुडी ० विश्वविद्यालय और रंगमंच० प्रचारात्मक रंगमंच ० नाटकघरों की समस्या० भ्रमणशील नाटक-मंडली : समस्याएँ और संभावनाएँ ० रंगमंच की नैतिकता ० आधुनिक भारतीय रंगमंच की टेक्निकल आवश्यकताएँ, महानगरों का अंग्रेज़ी रंगमंच ० अभिनेताओं से भेंट ० संस्मरण ० पुस्तक-समीक्षा ० नाट्यवृत्त, आदि।

लेखक

शंभु मित्र० ई. अल्काज़ी० सुरेश अवस्थी० आद्य रंगाचार्य० कुमार राय० ध्रुव गुप्त० के० के० मुखर्जी० शांता गांधी० परितोष गार्गी० अमरनाथ पाठक० मोहम्मद हसन० श्यामानंद जालान० ज्ञानेश्वर नाडकर्णी० मोहन महर्षि० गुलशन कपूर० बृजमोहन शाह० के. नारायण स्वामी० यशवंत केलकर० के. वी. सुब्बन्ना० के. एस. कुरुप० के. वी. राजगोपाल० चंद्रवदन मेहता आदि।

वार्षिक शुल्क १०.०० : विशेषांक ४.०० : एक अंक २.५०

३ एफ़, जंगपुरा ऐक्सटेंशन, नयी दिल्ली–१४

फ़ोन : ७०१६२

श्री मध्य-भारत हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर

की

मासिक मुख-पत्रिका

वार्षिक मूल्य ५-०० एक संख्या-५० पै०

वीणा

हिंदी साहित्य सम्मेलन, मध्यप्रदेश, राजस्थान, विहार, उत्तर-प्रदेश और बड़ौदा की शिक्षा-संस्थाओं के लिए स्वीकृत।

जो पिछले ३८ वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित होकर हिंदी साहित्य की अपूर्व सेवा कर रही है। भारत की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इसका उच्च स्थान है।

साहित्य के विभिन्न अंगों पर तथ्यपूर्ण एवं गंभीर प्रकाश डालने वाले लेख तथा परीक्षोपयोगी विषयों पर आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित करना इसकी प्रमुख विशेषता है।

हिंदी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा एवं उत्तमा (रत्न) तथा बी० ए० और एम० ए० के छात्रों के लिए इसके निबंध अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

'वीणा' का भारत में सर्वत्र प्रचार है

ज्ञानवृद्धि के लिए वीणा अनुपम साधन है !

अवश्य देखिए !

समिति के कुछ प्रमुख प्रकाशन

मालवा में युगान्तर	४)	बेंजामिन फ्रैंकलिन	३)
हिंदी के सामाजिक उपन्यास	१।।)	संसार की शासन-प्रणालियाँ	१।।।=)
इंद्रधनुष	१=)	त्याग का तीर्थ [कहानी-संग्रह]	१।)
आत्म-परिणय [कहानी-संग्रह]	१।।।)	पंद्रह अगस्त [एकांकी नाटक]	२।)
जीवन-दीप [नाटक]	१)	किसानों की आर्थिक उन्नति के उपाय	।।।-)।।।
पुष्पांजली	१=)	मालवी लोकगीत	३)

साहित्य मंत्री

श्री मध्य-भारत हिंदी-साहित्य-समिति, तुकोगंज, इंदौर-- (मध्य भारत)

यश की वृद्धि ज्ञान से होती है !

हिन्दी ही क्यों ?   अंग्रेज़ी सर्वथा अनावश्यक क्यों ?

साहित्यवाचस्पति डॉ० सेठ गोविंददास की अमूल्य कृति

हिन्दी-भाषा-आन्दोलन

संकलनकर्ता : श्री लक्ष्मीचन्द

भूमिकालेखक : डॉक्टर सम्पूर्णानन्द

●

- इस ग्रंथ में हिंदी-भाषा-आंदोलन के यशस्वी कर्णधार सेठ गोविंददासजी के भाषणों का प्रामाणिक संकलन है।
- इस ग्रंथ में हिंदी-भाषा और साहित्य के विषय में सेठजी के विचारों तथा दृष्टिकोणों का उल्लेखनीय समावेश है।
- इस ग्रंथ में राष्ट्रभाषा और राजभाषा जैसी जटिल समस्याओं के रचनात्मक सुझाव तथा समाधान सुगम शैली में प्रस्तुत किये गये हैं।

●

मूल्य : ९ रुपये

●

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मुद्रक तथा प्रकाशक : रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

एक साथ पँचों खण्डों का सौ रुपया